



“जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका  
एक तुलनात्मक अध्ययन”

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

के

दर्शनशास्त्र विभाग

में

पी-एच.डी.

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

2012

शोध केन्द्र

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

शोध-निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

संस्थापक, निदेशक

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

शोधार्थी

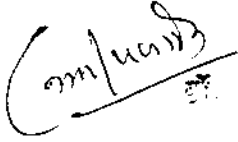
साध्वी प्रियश्रद्धांजना श्री

विक्रम विश्व विश्वविद्यालय , उज्जैन (म.प्र.)

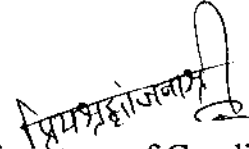
### Declaration by the Candidate (Para 12 b)

I declare that the Thesis entitled – "जिनमद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका : एक तुलनात्मक अध्ययन" is my own work, conducted under supervision of *Dr. Sagarmal Jain* at *Prachya Vidhyapeeth, Shajapur (M.P.)* approved by the research degree committee. I have put in more than 200 days of attendance with the supervisor at the centre.

I further declare that to the best of my knowledge the thesis does not contain any part of any work which has been submitted for award of any degree either in this University or in any other university deemed university without proper citation.



Signature of Supervisor श्री. ... जैन  
शास्त्र विभाग, शाजापुर



Signature of Candidate




Signature of the Director of Prachya-Vidyapeeth Shajapur

**Certificate of the Supervisor (Para 12 C)**

This is to certify that the work entitled "जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका : एक तुलनात्मक अध्ययन" is a piece of research work done by साध्वी श्री प्रियश्रद्धांजना श्री जी under my guidance and supervision for the degree of Doctor of Philosophy (in the deptt. of Philosophy) University-Vikram Vishwavidyalay, Ujjain (M.P.) India, That the candidate has put in an attendance of more than 200 days with me.

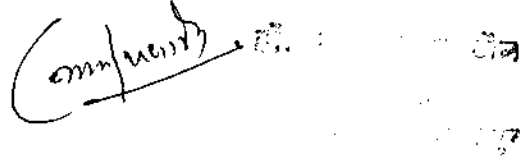
To the best of my Knowledge and belief the thesis:

- (i) embodies the work of the candidate himself.
- (ii) has duly been completed.
- (iii) fulfills the requirements of the Ordinance relating to the Ph.D. Degree of the University.
- (iv) it is up to the standard both in respect of Contents and language for being referred to the examiner.



Signature of the Supervisor

Forwarded.....



Signature of Director of Prachya Vidyapeeth

## प्रस्तावना

वर्तमान युग में मनुष्य तनाव से ग्रस्त है। तनाव का उद्भव संकल्प-विकल्पों से होता है। संकल्प-विकल्प मनोजन्म अवस्थाएँ हैं। वे मन की भाग-दौड़ की सूचक हैं। जब तक चंचल मन संकल्प-विकल्पों में उलझा हुआ है और चाह एवं चिन्ता से युक्त है, तब तक वह तनावग्रस्त है। तनावों से मुक्ति के लिए चित्त या मन की चंचलताओं को समाप्त करना आवश्यक होता है, इसी कारण योग-साधना का लक्ष्य चित्तवृत्ति-निरोध माना गया है।

चित्त या मन की चंचलता की परिसमाप्ति ध्यान के माध्यम से ही संभव है, इसीलिए कहा गया है कि चित्त की स्थिरता ही ध्यान है।

कहा भी गया है -

**जं धिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं।** - ज्ञाणज्झयण, गाथा-2

चित्तवृत्ति के निरोध के लिए योग और ध्यान की साधना की परमावश्यकता है। आज विश्व में ध्यान के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है, क्योंकि मानव तनावग्रस्त होता जा रहा है। परिणामतः, आज अनेक प्रकार की ध्यान-पद्धतियाँ अस्तित्व में आई हैं।

जैन-परम्परा में ध्यान का विशेष रूप से महत्त्व रहा हुआ है, क्योंकि वह चित्तवृत्ति की समाधि को ही अपनी साधना का लक्ष्य मानती है।

'इसिभासियाइ-सूत्र' में कहा गया है --जैसे शरीर में सिर की प्रधानता है, उसी प्रकार साधना में ध्यान की प्रधानता है।

वर्तमान युग में ध्यान पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है और प्रयोग में भी लाया जा रहा है। जैन-परम्परा में भी ध्यान को लेकर विभिन्न आलेखादि लिखे गए हैं, फिर भी ध्यान-संबंधी मूल-ग्रन्थों को टटोलने का प्रयत्न कम ही हुआ है। जैन-परम्परा में ध्यान के सम्बन्ध में आगम के पश्चात् यदि कोई ग्रन्थ उपलब्ध होता है, तो वह 'ध्यानाध्ययन' या 'ध्यानशतक' है। यह ग्रन्थ जिनभद्रगणि

क्षमाश्रमण के द्वारा प्राकृत भाषा में विरचित है। इसका रचनाकाल छठवीं शताब्दी है। इस पर सबसे पहले जो टीका लिखी गई है, वह आचार्य हरिभद्रसूरि के द्वारा आठवीं शताब्दी में लिखी गई है। मेरी जानकारी में इस विषय पर कोई शोध-कार्य नहीं हुआ था, अतः मैंने अपने शोध का विषय 'जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक की हरिभद्रीयवृत्ति : एक तुलनात्मक अध्ययन' निश्चित किया।

जैसा कि मैंने प्रारंभ में उल्लेख किया है कि वर्तमान युग की प्रमुख समस्याओं में से एक समस्या 'मानव का तनावग्रस्त होना' है और तनावों से मुक्ति का मार्ग ध्यान के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। ध्यान के माध्यम से ही चित्त को निर्विकल्प बनाया जा सकता है और यह चित्त की निर्विकल्पता ही तनावों से मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

सिद्धान्ततः, इस सम्बन्ध में भी कोई मतभेद नहीं है कि ध्यान चित्त को निर्विकल्प बनाकर उसे तनाव से मुक्त करता है। मानव-जाति को तनाव से मुक्त करने के लिए जो अनेक उपाय सुझाए गए हैं, उनमें ध्यान एक प्रमुख उपाय है, किन्तु ध्यान की साधना किस प्रकार हो और उससे चित्त या मन को किस प्रकार निर्विकल्प बनाया जाए — यह पक्ष सदैव ही गवेषणा का विषय रहा है।

प्राचीनकाल से आज तक विभिन्न परम्पराओं एवं ध्यान-साधन की विभिन्न पद्धतियों को ध्यान में रखकर उसके प्रयोगात्मक-पक्ष को स्पष्ट करने के प्रयत्न होते रहे हैं और इसके परिणाम-स्वरूप अनेक प्रकार की ध्यान-पद्धतियाँ अस्तित्व में आई हैं और तत्सम्बन्धी साहित्य का सर्जन हुआ है। जहाँ तक जैन-परम्परा का प्रश्न है, उसमें ध्यान के स्वरूप, लक्षण, आलंबन आदि को लेकर आगम काल से ही बहुत कुछ लिखा गया है। आगमों में 'ठाणांगसुत्त' में इस सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा उपलब्ध है। उसके पश्चात्, इस विषय पर विस्तृत विवेचन की दृष्टि से जिनभद्रगणि ने ध्यानाध्ययन या ध्यानशतक नामक इस ग्रन्थ की प्राकृत-भाषा में रचना की थी, जिस पर आचार्य हरिभद्रसूरि ने सर्वप्रथम संस्कृत-भाषा में टीका की रचना की थी।

ध्यानशतक के पूर्व 'तत्त्वार्थ' में भी ध्यान-सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण पाए जाते हैं, फिर भी ध्यान के क्षेत्र में जैन-परम्परा की दृष्टि से जो विशिष्ट विवरण ध्यानशतक में उपलब्ध है, वह विशिष्ट तो है ही, साथ ही, प्राचीन भी है।

यद्यपि भगवतीसूत्र और औपपातिकसूत्र में भी ध्यान-सम्बन्धी कुछ उल्लेख मिलते हैं, किन्तु फिर भी ये विवरण संक्षिप्त ही हैं। इस ग्रन्थ के महत्त्व एवं मूल्यवत्ता को ध्यान में रखकर ही आचार्य हरिभद्र ने अपने 'आवश्यकसूत्र की टीका' में इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को ही उद्धृत किया है। इसी प्रकार, दिगम्बर-परम्परा में षट्खण्डागम की टीका 'धवला' में भी आचार्य वीरसेन ने ध्यानशतक की कुछ गाथाएँ अवतरित कीं। इसका उल्लेख पं. बालचन्द्रजी शास्त्री ने किया है। इतना निश्चित है कि लगभग दसवीं शताब्दी तक जैन-परम्परा में ध्यान के सन्दर्भ में ध्यानशतक के अतिरिक्त किसी भी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना नहीं हुई थी।

दिगम्बर-परम्परा में 'ध्यानस्तव' नामक जो ग्रन्थ 'भास्करनन्दी' के द्वारा लिखा गया, वह भी बारहवीं शताब्दी का है और इसके कुछ पूर्व आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' में (लगभग ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ध्यान की विशिष्ट चर्चा हुई, फिर भी यह ध्यान के सम्बन्ध में स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार, बारहवीं शताब्दी में श्वेताम्बर-परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में भी ध्यान की विस्तृत चर्चा की, किन्तु इसे भी ध्यान का स्वतन्त्र ग्रन्थ तो नहीं माना जा सकता है। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् जैन एवं जैनेतर तान्त्रिक-ग्रन्थों में भी ध्यान के सन्दर्भ में यत्र-तत्र कुछ संकेत मिलते हैं, किन्तु कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ इस सम्बन्ध में लिखा गया हो—ऐसा मेरी जानकारी में नहीं आया है। ध्यान से सम्बन्धित स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में श्वेताम्बर-परम्परा में ध्यानशतक और दिगम्बर-परम्परा में ध्यानस्तव—ये दो ही ग्रन्थ मेरी जानकारी में हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर-परम्परा में उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' नामक अपने ग्रन्थ में 'ध्यानस्तुति-अधिकार' ऐसा एक स्वतन्त्र विभाग रखा है, किन्तु उसे भी ध्यान का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। जहाँ तक आधुनिक युग का प्रश्न है, ध्यान को लेकर कुछ चर्चा डॉ. नथमल टाटिया और पं. सुखलाल ने की थी। पं.

सुखलाल ने अपने ग्रन्थ 'समदर्शी हरिभद्र' में तथा डॉ. नथमल टाटिया ने अपने ग्रन्थ 'Studies in Jain Philosophy' में ध्यान और योग के सन्दर्भ में एक स्वतन्त्र विभाग रखा है। आचार्य हरिभद्र और उनकी योग-साधना से सम्बन्धित जो शोध-कार्य हुए हैं, उनमें यत्र-तत्र ध्यान की चर्चा तो मिलती है, फिर भी ये शोध-ग्रन्थ भी ध्यान का सांगोपांग विवेचन नहीं करते हैं। मेरी जानकारी में ध्यान के सन्दर्भ में सर्वप्रथम शोध-कार्य साध्वी प्रियदर्शनाजी द्वारा 'जैन साधना-पद्धति में ध्यान-योग' विषय पर हुआ है। यह ग्रन्थ प्रकाशित है और इसकी पूर्व-पीठिका के रूप में डॉ.सागरमल जैन की लगभग चालीस पृष्ठों की भूमिका है। दूसरा शोध-ग्रन्थ 'जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास-क्रम' के नाम से डॉ. सागरमल जैन के मार्गदर्शन में साध्वी उदितप्रभाजी द्वारा लिखा गया है। प्रथम ग्रन्थ में ध्यान के स्वरूपादि की विस्तृत चर्चा है, अतः इसे ध्यान के स्वरूप-विवेचन सम्बन्धी-ग्रन्थ कहा जा सकता है। दूसरा ग्रन्थ मूलतः ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया है और इसमें महावीर से महाप्रज्ञ तक ध्यान की जो विधियाँ विकसित हुई हैं, उनकी चर्चा है, जबकि मेरा यह शोध-ग्रन्थ मूलतः ध्यानशतक और उसकी हरिभद्रसूरिकृत टीका पर आधारित रहेगा और इस प्रकार यह एक ग्रन्थ आधारित अध्ययन होगा।

जहाँ तक प्रथम शोध-ग्रन्थ के विषय का सम्बन्ध है, वह मुख्यतः ध्यान की सामान्य चर्चा करता है, जबकि दूसरा ग्रन्थ ध्यान के ऐतिहासिक विकास-क्रम को बताता है, किन्तु ये दोनों ग्रन्थ ध्यान के सन्दर्भ में व्यापक दृष्टिकोण को लेकर ही चले, जबकि मेरा यह अध्ययन मूल ग्रन्थ और उसकी प्रथम हरिभद्र की टीका पर आधारित है। जहाँ तक इस मूल ग्रन्थ के प्रकाशित संस्करणों का प्रश्न है, मेरी जानकारी में हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रथम प्रकाशन वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली से हुआ था, तत्पश्चात् गुजराती अनुवाद सहित इसका द्वितीय प्रकाशन दिव्यदर्शन कार्यालय, कालूपुर, अहमदाबाद से हुआ है। इसका तृतीय प्रकाशन सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद से सम्पादक श्रीमद्विजयकीर्तियशसूरि द्वारा हुआ है, जो हरिभद्र की संस्कृत टीका सहित है।



मेरा यह अध्ययन इसी टीका-ग्रन्थ पर आधारित है, किन्तु इसे मैंने मात्र विवरणात्मक न रखकर तुलनात्मक बनाने का प्रयत्न किया है और यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि इस आगमिक-ग्रन्थ का प्रभाव किस रूप में है तथा इसने अपने परवर्ती लेखकों को कैसे प्रभावित किया है।

जैसा मैं पूर्व में ही संकेत कर चुकी हूँ कि मानव-जगत की आज की प्रमुख समस्या तनावग्रस्तता है और समाज में जब एक व्यक्ति तनावग्रस्त होता है, तो वह दूसरों को भी तनावग्रस्त कर देता है। परिणामतः, आज सम्पूर्ण विश्व ही तनावग्रस्त है, अतः तनावमुक्ति आज की प्राथमिक आवश्यकता बन गई है, जो ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए इस अध्ययन का औचित्य निर्विवाद है। दूसरी प्रमुख बात यह है कि आज शोध के क्षेत्र में ग्रन्थाधारित शोध-कार्य कम ही हो रहे हैं। इस शोध-कार्य का औचित्य यह है कि इसके माध्यम से हम जैन-परम्परा में ध्यान के सन्दर्भ में जो प्राचीनतम स्थिति रही है, उसे समझ सकें।

दूसरा <sup>बिन्दु</sup> यह है कि इस शोध-कार्य के माध्यम से आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में योग-परम्परा और जैन-परम्परा के ध्यान के सम्बन्ध में जो समन्वय के अनेक सूत्र प्रस्तुत किए हैं, उन्हें भी समझा जा सके। तीसरे यह कि मूल ग्रन्थ से टीका में ध्यान से सम्बन्धित अवधारणाओं का विकास किस रूप में हुआ है, इसे भी समझा जा सके।

प्रस्तुत अध्ययन का मूलभूत उद्देश्य यह है कि जैन-परम्परा में ध्यान की क्या प्रक्रिया रही है और उस पर अन्य परम्पराओं का प्रभाव कैसे आया है ? यह देखना है, किन्तु इसके साथ-साथ इस अध्ययन का एक अन्य उद्देश्य ध्यान के प्रायोगिक पक्ष को लेकर भी है। यद्यपि विपश्यना और प्रेक्षा की पद्धतियाँ मूल-आगमों में सांकेतिक रूप में ही उपलब्ध हैं, उन संकेतों के आधार पर ध्यान की वर्तमान पद्धतियों का विकास कैसे और किस रूप में रहा है, यह समझना भी प्रस्तुत शोध का उद्देश्य है। आचार्य हरिभद्र ने ध्यान की आगमिक-धारा को किस प्रकार विकसित कर उसे योग की परम्परा के साथ जोड़ा है, इसे भी इस शोधकार्य के माध्यम से सम्यक् रूप से समझा जा सकेगा। मूल ग्रन्थ को आधारभूत बनाकर

कालक्रम में कैसे-कैसे परिवर्तन हुए हैं, उन्हें देख सकेंगे, साथ ही यह भी समझ सकेंगे कि आगमयुग से लेकर आज तक महावीर से लेकर महाप्रज्ञ तक जैन ध्यान-परम्परा में कैसा विकास हुआ है और उसमें इस मूलग्रन्थ की क्या भूमिका रही है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महावीर से लेकर आज तक जैन-ध्यान की परम्परा जीवित तो रही, किन्तु मध्यकाल में उसमें जो एक जड़ता आ गई थी, उसे आज की प्रेक्षा ध्यान-पद्धति ने किस प्रकार तोड़ा है, उसे भी समझ सकें। प्रस्तुत शोध-कार्य मूलतः ग्रन्थ आधारित है, अतः इसकी शोध-प्रविधि में इसके समकालिक एवं पूर्ववर्ती तथा परवर्ती ग्रन्थों का अध्ययन ही मुख्य रहेगा। पूर्ववर्ती ग्रन्थ के अध्ययन के माध्यम से मैं यह देखने का प्रयत्न करूंगी कि प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में उनकी अवधारणाओं को किस प्रकार समाहित किया गया है अथवा उन्हें किस प्रकार परिष्कारित किया गया है।

इसी प्रकार, परवर्ती ग्रन्थों के अध्ययन के माध्यम से यह भी जानने का प्रयत्न करेंगे कि इन ग्रन्थों में इस मूल ग्रन्थ एवं उसकी टीका की अवधारणाएँ किस प्रकार समाहित हुईं और कालक्रम में उनमें कैसे नवीन तथ्य जुड़े।

यद्यपि यह शोध-कार्य ग्रन्थ आधारित है, अतः इसमें प्रायोगिक विधि का समावेश संभव तो नहीं है, फिर भी एक साध्वी होने के नाते मैं इतना प्रयत्न तो अवश्य करूंगी कि ध्यान के प्रयोगों के माध्यम से मानव-मन को किस प्रकार तनाव-मुक्त बनाया जा सकता है।

## अध्याय संरचना –

प्रस्तुत कृति छह अध्यायों में विभक्त है। इस शोध-प्रबंध के प्रथम अध्याय में ग्रन्थ के नामकरण, परिचय, भाषा तथा विषय-वस्तु की चर्चा के साथ-साथ मूलग्रन्थ का, उसके टीकाकार का परिचय तथा उनके साहित्यिक अवदान और विशेष रूप से ध्यान और योग से सम्बन्धित अवदान की चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय ध्यान की परिभाषा, जैन-परम्परा तथा अन्य-परम्परा के अनुसार ध्यान का स्वरूप और प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान की परिभाषा से सम्बन्धित है। इस अध्याय में मूलग्रन्थ और उसकी हरिभद्रीय टीका के आधार पर ध्यान के प्रकार, चार ध्यानों के शुभत्व और अशुभत्व का प्रश्न, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान बन्धन के हेतु तथा अन्त में साधना की दृष्टि से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का स्थान और महत्त्व का वर्णन किया गया है।

तृतीय अध्याय में मुख्य रूप से मूलग्रन्थ और उसकी टीका के आधार पर चारों ध्यानों के स्वरूप, लक्षणों एवं उपप्रकारों को समझाया गया है। इस अध्ययन में हम यह भी देखेंगे कि मूल आगमिक-परम्परा से इस ग्रन्थ और उसकी टीका में हरिभद्र ने कितना और क्या लिया है, साथ-ही-साथ धर्मध्यान के विभिन्न द्वार और शुक्लध्यान के द्वारों की चर्चा की गई है। इसी क्रम में, आगे आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के चिन्तन के विषय और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के आलंबन पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में, ध्यान के आलंबन की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि सालंबन ध्यान से निरालंबन ध्यान की ओर कैसे बढ़ा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, ध्यान के क्षेत्र में कहाँ आलंबन की आवश्यकता है और कहाँ एवं किन परिस्थितियों में आलम्बनों की आवश्यकता नहीं है, यह निर्णय करना होगा।

चतुर्थ अध्याय में ध्यान के स्वामी को लेकर चर्चा की गई है। ध्याता और ध्यातव्य में भेदाभेद का प्रश्न, ध्याता के आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न भूमिकाओं अर्थात् चौदह गुणस्थानों में से किस गुणस्थानक से किस गुणस्थानक तक कौन-से ध्यान-साधक की मनोस्थिति किस प्रकार रहती है, यह समझना आवश्यक है। इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान में मूलभूत अन्तर क्या हैं और उनमें किस कषाय की प्रमुखता रहती है।

इसी क्रम में, धर्मध्यान के स्वामी की चर्चा करते हुए यह भी देखने का प्रयत्न किया है कि इस सम्बन्ध में दिगम्बर-परम्परा और श्वेताम्बर-परम्परा में क्या मतभेद रहे हुए हैं और वे मतभेद क्यों हैं ? साथ में, यह अध्याय यह भी स्पष्ट करेगा कि धर्मध्यान में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यानों तथा पार्थिवी,

आग्नेयी, वारुणी, वायवी और तत्त्वभू —इन पाँच प्रकार की धारणाओं का जैन-परम्परा में कैसे विकास हुआ है और यह किस परम्परा का प्रभाव था ? यह विचारणीय है, क्योंकि मूलग्रन्थ में और उसकी हरिभद्र की टीका में धर्मध्यान की इन चार अवस्थाओं एवं पाँच धारणाओं की कोई चर्चा भी नहीं मिलती है। क्रमानुगत शुक्लध्यान की चर्चा करते हुए इसमें यह भी देखा गया है कि शुक्लध्यान किन अवस्थाओं में सम्भव होता है और उस समय उसके ध्याता की मानसिक-स्थिति किस प्रकार की होती है।

पंचम अध्याय में मूलतः ध्यानशतक और स्थानांग, भगवती, औपपातिक, तत्त्वार्थ, मूलाचार, भगवती-आराधना, धवला तथा आदिपुराण का तुलनात्मक विवरण, तत्पश्चात् ध्यान की उपलब्धियों अथवा ऋद्धियों की चर्चा की गई है, साथ ही यह भी देखने का प्रयत्न किया गया है कि जैन-परम्परा में इन लब्धियों की चर्चा किसके प्रभाव से आई है। तदनन्तर, ध्यान और कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग और समाधि की चर्चा करके प्रस्तुत अध्याय को समाप्त किया गया है।

षष्ठ अध्याय तुलनात्मक रूप में है। यह ध्यान के ऐतिहासिक विकास-क्रम से सम्बन्धित होगा और इसमें इस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती ग्रन्थों का इस पर कितना प्रभाव एवं समरूपता है —यह देखा गया है, साथ ही परवर्ती ग्रन्थों में जो ध्यान का विकास किस रूप में हुआ है और वे इससे किस रूप में प्रभावित हुए हैं, यह भी समझाने का प्रयत्न किया गया है।

तत्पश्चात्, जैन, बौद्ध और हिन्दू-परम्परा के ध्यान तथा योग के सन्दर्भ में किस प्रकार की समरूपताएँ एवं विभिन्नताएँ रही हुई हैं, इसका तुलनात्मक-विवरण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में, तान्त्रिक-साधना और जैन-ध्यान-साधना पर प्रकाश डाला गया है।

अंतिम अध्याय उपसंहार के रूप में रहा है। इसमें यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि ध्यान-साधना के माध्यम से मानव-जाति को तनावमुक्त किस तरह बनाया जा सकता है।

## कृतज्ञता—ज्ञापन

मुझे यह व्यक्त करते हुए अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है कि "जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक और उसकी हरिभद्रीय टीका : एक तुलनात्मक अध्ययन" नामक मेरे शोध-ग्रन्थ का लेखन-कार्य व्यवधानरहित सम्पन्न होने जा रहा है।

लेखन-कार्य की सम्पन्नता के इस अवसर पर सर्वप्रथम मैं उन अनंत उपकारी शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान् के श्रीचरण-कमलों में अनन्त-अनन्त आस्थायुक्त नमन करती हूँ, जिनकी कृपा से अनेकानेक भव्यात्माओं का उद्धार हुआ है।

चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर तथा उनके शासन की भी मैं ऋणी हूँ कि उनके पावन-पवित्र जिनशासन में मुझे संयम-साधना का अवसर मिला।

मेरे परमाराध्य गुरुदेव, मेरी अनन्त आस्था के केन्द्र, प्रातः स्मरणीय चारित्र-चूड़ामणि, युगप्रधान प.पू. चारों दादा गुरुदेवों के चरणाम्बुजों में कोटि-कोटि वन्दन करती हूँ, जिनकी दिव्य कृपा सदैव बरसती रहती है।

नतमस्तक हूँ मैं आगम-परम्परा के पोषक आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के प्रति, जिनके ग्रन्थ-रत्न पर यह शोध-कार्य करने का मुझे अवसर मिला। उनकी असीम कृपा से उच्छलित होती ध्यानमूलक उर्मियों का संस्पर्श करते हुए मेरा यह लेखन-कार्य निर्विघ्न रूप से पूर्ण हुआ, अतः मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

जिनके पुण्य-प्रताप तथा अदृश्य आशीर्वाद से मेरा यह शोध-कार्य सम्पन्न हुआ, जन-जन के श्रद्धाकेन्द्र, प्रज्ञापुरुष प.पू. श्रीमद्जिनकान्तिसागरसूरीश्वरजी म.सा. को मैं श्रद्धायुक्त वन्दन करती हूँ।

प्रस्तुत शोध-कार्य की पूर्णता के इस पावन अवसर पर आचार्य भगवंत प.पू. कैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा. को भी मेरा भाव-भरा नमन।

मुझे इस स्तर तक पहुँचाने में जिनकी सतत प्रेरणा रही और आत्मीयता के साथ इस लेखन-कार्य में जिनका सहयोग मिलता रहा, ऐसे परममनीषी, प्रज्ञा-सम्पन्न, मरुधरमणि, गुरुदेव उपाध्यायप्रवर प.पू. मणिप्रभसागरजी म.सा. के पादपद्मों में भी हृदय से सविधि वन्दना करती हूँ।

प्रातः स्मरणीया, सरलहृदया प.पू. प्रेमश्रीजी म.सा. तथा प.पू. तेजश्रीजी म.सा. के दिव्याशीष से यह शोध-यात्रा सफल रही, उन्हें करबद्ध वन्दन करती हूँ और आपसे यही अपेक्षा करती हूँ कि आपका दिव्याशीष सतत मुझ पर रहे, जिससे मैं आत्म-साधना तथा आध्यात्मिक-विकास के प्रगति-पथ पर आगे बढ़ती रहूँ।

अपने इस शोध-कार्य में जिनके ज्ञानपुंज एवं तपोपुंज के पावन परमाणु सतत मिलते रहे, जिन्होंने मुझे प्रतिपल विद्या-साधना तथा तपोमय-जीवन जीने के लिए प्रेरणा दी और व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक-शिक्षण के पथ पर अग्रसर होते हुए उत्तरोत्तर आगे बढ़ने की हितशिक्षा दी तथा जिनके वरदहस्त का स्पर्श पाकर मैं इस कार्य को पूर्ण कर सकी, ऐसी ममजीवनरूपी बगिया में संयम-पुष्प खिलाने वाली सरलमना, शासनदीपिका, गणरत्ना, मातृहृदया, पार्श्वमणितीर्थप्रेरिका, वर्धमान-तपाराधिका प.पू. गुरुवर्या सुलोचनाश्रीजी म.सा. एवं प.पू. गुरुवर्या सुलक्षणाश्रीजी म.सा. के चरण-सरोजों में श्रद्धा-भक्तियुक्त वंदन अर्पित करती हूँ। आपने मेरे संयमी-जीवन के प्रथम दिन से लेकर आज तक अध्ययन हेतु सम्पूर्ण सुविधाएँ उपलब्ध करवाईं, जिसके परिणाम-स्वरूप मैं आज यहाँ तक पहुँची हूँ। आपके वात्सल्य एवं प्रेरणा के ऋण से मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकूंगी। मैं अपने इस शोध-ग्रन्थ को अंजलीबद्ध होकर आपश्री के चरण-कमलों में समर्पित करती हूँ।

सेवाभावी, विशालहृदया, ममभगिनी प्रीतियशाश्रीजी म.सा. को भी नमन करती हूँ, जिनकी प्रेरणा से मेरी अभिरुचि अध्ययन के क्षेत्र में हुई, जिनके द्वारा बचपन से ही मुझे मातृछाया-सा साया मिलता रहा है, साथ ही इस पावन-प्रसंग पर प.पू. प्रीतिसुधाश्रीजी, पू. प्रियस्मिताश्रीजी, पू. प्रियलताश्रीजी, पू. प्रियवन्दनाश्रीजी, पू. प्रियकल्पनाश्रीजी, पू. प्रियरंजनाश्रीजी, प्रियस्नेहांजनाश्री, प्रियसौम्यांजनाश्री,

प्रियदिव्यांजनाश्री, प्रियस्वर्णांजनाश्री, प्रियप्रेक्षांजनाश्री, प्रियश्रुतांजनाश्री, प्रियवर्षांजनाश्री, प्रियमेघांजनाश्री, प्रियविनयांजनाश्री एवं प्रियकृतांजनाश्री आदि समस्त गुरुबहनों के प्रति सश्रद्धा-सभक्ति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनका समय-समय पर सहयोग मिलता रहा और उसी के फलस्वरूप यह शोध-प्रबन्ध सानंद सम्पन्न हुआ।

विशेष रूप से मैं कृतज्ञ हूँ, साध्वी प्रियश्रेष्ठांजनाश्रीजी की, जिन्होंने स्वयं अध्ययनरत होने पर भी मेरे अध्ययनकाल के दौरान मुझे हर तरह की सेवाएँ प्रदान करने की भूमिका अदा की और ज्ञानोपासना के पलों में निरन्तर मेरी सहचरी बनी रहीं।

इस चातुर्मास में विराजित शान्तमना साध्वीरत्ना प.पू. शुद्धांजनाश्रीजी, प.पू. योगांजनाश्रीजी, प्रमुदिताजी एवं संवेगप्रियाजी की सेवा एवं सहयोग की भावना अनुमोदनीय रही है। मैं हृदय की गहराइयों से आपके सहयोग के प्रति कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ की पूर्णाहूति के प्रसंग पर साध्वीरत्ना प.पू. जिनेन्द्रप्रभाश्रीजी एवं प.पू. मैत्रीपूर्णाश्रीजी आदि के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मंडार, पाटण आदि ग्रन्थालय से पुस्तकें भिजवाकर मेरे शोध-कार्य को शीघ्र पूर्ण करने हेतु प्रोत्साहित किया।

जिन्हें इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य श्रेय प्राप्त होता है, उन अनेक ग्रन्थों के लेखक तथा चिन्तक, मेरे ज्ञानगुरु, मार्गदर्शक, विद्वत्वरत्न डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति अपनी सद्भावना प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे यह शोध-ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी और इसके मार्गदर्शन हेतु अपनी स्वीकृति प्रदान की। आपके मार्गदर्शन एवं सहयोग से यह कार्य पूर्णता की ओर पहुँचा। ज्ञानदान देने की आपकी अभिरुचि प्रशंसनीय है। बहुत बार शारीरिक अस्वस्थता और अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद आपने स्वाध्याय-स्वरूप प्रतिदिन आगमों की वाचना प्रदान करने में कोई कमी नहीं रखी, साथ-ही-साथ पितृतुल्य वात्सल्यभाव रखते हुए 'प्राच्य-विद्यापीठ, शाजापुर' में ग्रन्थालय, आहार-पानी, औषधि आदि की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान

की। अन्त में आपसे यही अपेक्षा रखती हूँ कि अध्ययन के क्षेत्र में आपका मार्गदर्शन मुझे सदैव प्राप्त होता रहे।

ग्रन्थ की पूर्णाहूति के अवसर पर पाटण निवासी पण्डित चन्द्रकान्तभाई एवं चेन्नई निवासी डॉ. ज्ञान जैन के सुझावों ने शोध-प्रबन्ध को निर्दोष बनाने में सहायता की है। मेरे लक्ष्य तथा संकल्प को प्रोत्साहित करने वाले श्रीमान प्रेमसा गुलेच्छा, सुरेशसा ओसवाल, नवरतनसा बोहरा, चुन्नीलाल कोठारी, हस्तिमलसा मुथा, कैलाशसा छाजेड़, ललितसा मेहता, वीरेन्द्रसा बागरेचा, राजूसा सेठिया, संतोषसा बरडिया, विजयसा संचेती, लक्ष्मण कवाड, भूषणजी शाह और कोमल नाहर आदि सभी की आत्मीयता के प्रति अनुगृहीत हूँ, जिनका अध्ययन के दौरान सराहनीय सहयोग रहा।

अध्ययनकाल में 'प्राच्य-विद्यापीठ, शाजापुर' के रामसा तथा प्रवीणसा का सहयोग प्रशंसनीय रहा है।

विशेष रूप से साधुवाद देती हूँ सुश्री नीलम चौरडिया, शिल्पा बालड़, मिनी बरडिया, ममताजी तथा सरोजजी कोठारी को, जिनकी मेरे शोध-कार्य के निष्पादन में प्रचुर सहायता मिली है।

इस शोध-प्रबन्ध को कम्प्यूटर पर मुद्रण का कार्य करने में राजा'जी'. ग्राफिक्स, शाजापुर के श्री शिरीष सोनी एवं प्रूफ-संशोधन में श्री चैतन्यकुमारजी सोनी शाजापुर का विशिष्ट सहयोग रहा है। इनको भी धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। अन्त में, शोध-ग्रन्थ के प्रणयन में ज्ञात-अज्ञातरूप से जो भी सहयोगी रहे हैं, उन सभी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

मैंने इस शोध-प्रबन्ध को प्रामाणिकतापूर्वक पूर्ण करने का प्रयत्न किया है, फिर भी जो कुछ भी शास्त्र-विरुद्ध लिखने में आया हो अथवा लेखन, प्रूफ संशोधन आदि में कुछ त्रुटियाँ रह गई हों, तो उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

— साध्वी प्रियश्रद्धांजनाश्री



**प्रथम अध्याय**

**1-65**

1. ग्रन्थ का नामकरण एवं परिचय
2. ग्रन्थ की भाषा
3. मूलग्रन्थ की विषय-वस्तु
4. मूलग्रन्थकार का परिचय
5. मूलग्रन्थकार का व्यक्तित्व और कृतित्व
6. रचनाकाल
7. टीकाकार हरिभद्र का परिचय
8. टीकाकार हरिभद्र का साहित्यिक अवदान
9. हरिभद्र का ध्यान और योग सम्बन्धी ग्रन्थ
10. हरिभद्र के ध्यानशतक की टीका की विशेषताएँ

**द्वितीय अध्याय**

**66-97**

1. ध्यान की परिभाषा और स्वरूप
2. प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान की परिभाषा
3. प्रस्तुत ग्रन्थ की हरिभद्रीय टीका में ध्यान की परिभाषा
4. छद्मस्थ और जिनेश्वर के ध्यान
5. ध्यान के प्रकार
6. चार ध्यानों के शुभत्व और अशुभत्व का प्रश्न
7. आर्तध्यान और रौद्रध्यान बन्धन के हेतु
8. साधना की दृष्टि से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का स्थान और महत्त्व

1. आर्त्तध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
2. आर्त्तध्यान के चार भेद
3. रौद्रध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
4. रौद्रध्यान के चार भेद
5. धर्मध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
6. धर्मध्यान के चार भेद
7. धर्मध्यान के विभिन्न द्वार
  - (क) भावनाद्वार
  - (ख) देशद्वार
  - (ग) कालद्वार
  - (घ) आसनद्वार
  - (ङ.) आलंबनद्वार
  - (च) क्रमद्वार
  - (छ) ध्यातव्यद्वार (धातृद्वार)
  - (ज) अनुप्रेक्षाद्वार
8. शुक्लध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
9. शुक्लध्यान के स्तर एवं भेद
  - (क) ध्यातव्यद्वार
  - (ख) धातृद्वार
  - (ग) अनुप्रेक्षाद्वार
  - (घ) लेश्याद्वार
  - (ङ.) लिंगद्वार
  - (च) आलंबनद्वार
  - (छ) क्रमद्वार
10. आर्त्तध्यान के चिन्तन के विषय

11. रौद्रध्यान के चिन्तन के विषय
12. धर्मध्यान के आलंबन
13. शुक्लध्यान के आलंबन
14. क्या ध्यान के लिए आलंबन की आवश्यकता है ?
15. आलम्बन से निरालम्बन की ओर

## चतुर्थ अध्याय

254—309

1. ध्यान का स्वामी
2. ध्याता और ध्यातव्य में भेदाभेद का प्रश्न
3. ध्याता के आध्यात्मिक—विकास की विभिन्न भूमिकाएँ {चौदह गुणस्थान}
4. आर्त्तध्यान के स्वामी की विभिन्न भूमिकाएँ
5. रौद्रध्यान के स्वामी की विभिन्न भूमिकाएँ
6. धर्मध्यान के स्वामी की भूमिका के सम्बन्ध में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—परम्परा का मतभेद
7. धर्मध्यान में पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यानों का स्वरूप
8. पार्थिवादि चार प्रकार की धारणाओं का स्वरूप एवं जैन—परम्परा में विकास

## पंचम अध्याय

310—364

1. ध्यानशतक और स्थानांग, भगवती, औपपातिक, तत्त्वार्थ, मूलाचार, भगवती—आराधना, धवला, आदिपुराण का तुलनात्मक अध्ययन
2. ध्यान—साधना और लब्धि
3. साधक को लब्धियों की प्राप्ति से बचना चाहिए
4. जैन—परम्परा में लब्धियों की गौणता
5. ध्यान और कायोत्सर्ग
6. कायोत्सर्ग और समाधि

1. ध्यान का ऐतिहासिक—विकासक्रम
2. (क) आगम एवं आगमिक—व्याख्या—युग  
(ख) हरिभद्र—युग  
(ग) ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का युग  
(घ) तान्त्रिक—युग  
(ङ) यशोविजय—युग  
(च) आधुनिक—युग
3. जैन ध्यान—साधना और बौद्ध ध्यान—साधना : एक तुलनात्मक अध्ययन
4. पातंजल—ध्यान की योग—साधना तथा जैन ध्यान—साधना : एक तुलनात्मक अध्ययन
5. तान्त्रिक—साधना और जैन ध्यान—साधना

1. विश्व की प्रमुख समस्याएँ और तदजन्य तनाव
2. तनाव के कारण
3. तनाव—मुक्ति और ध्यान
4. व्यक्ति के आध्यात्मिक—विकास में ध्यान

सन्दर्भ ग्रंथ—सूची —

जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका :  
एक तुलनात्मक अध्ययन

**प्रथम अध्याय**

1. ग्रन्थ का नामकरण एवं परिचय
2. ग्रन्थ की भाषा
3. मूलग्रन्थ की विषय-वस्तु
4. मूलग्रन्थकार का परिचय
5. मूलग्रन्थकार का व्यक्तित्व और कृतित्व
6. रचनाकाल
7. टीकाकार हरिभद्र का परिचय
8. टीकाकार हरिभद्र का साहित्यिक अवदान
9. हरिभद्र का ध्यान और योग सम्बन्धी ग्रन्थ
10. हरिभद्र के ध्यानशतक की टीका की विशेषताएँ

## प्रथम अध्याय

### विषय—प्रवेश

**ग्रन्थ का नामकरण एवं परिचय** — आचार्य हरिभद्र (आठवीं शती) के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काल के जैनाचार्यों ने ध्यान के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में चिन्तन-मनन किया था, साथ-ही-साथ उस विषय पर उन्होंने स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे थे।

श्वेताम्बर-परम्परा में ध्यान से सम्बन्धित यदि कोई प्राचीनतम स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध है, तो वह जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित 'ज्ञाणज्झयण' है,<sup>1</sup> जिसका अपर नाम 'ध्यानशतक' भी है।

ध्यान-साधना से सम्बन्धित इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के नाम को लेकर प्राचीन काल से दो विचारधाराएँ रही हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने अपने आवश्यकसूत्र की टीका में इस ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए इसका नाम 'ध्यानशतक' निर्दिष्ट किया है<sup>2</sup>, जबकि मूल ग्रन्थकार जिनभद्रगणि ने इसे ध्यानाध्ययन (ज्ञाणज्झयण) कहा है। वैसे तो अपनी-अपनी अपेक्षा से इन दोनों नामों की सार्थकता प्रतीत होती है, फिर भी मूल ग्रन्थ के रचयिता जिनभद्रगणि ने मंगल स्वरूप प्रथम गाथा में जो संकल्प किया है, उसके अनुसार इसका नाम ध्यानाध्ययन मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। इसकी प्रथम मंगल गाथा में 'ज्ञाणज्झयणं पवक्खामि' कहकर ग्रन्थकर्त्ता ने इसका नाम ध्यानाध्ययन निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः, इसके पीछे उनका उद्देश्य यह रहा होगा कि उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य लिखते समय छः ही आवश्यकों पर भाष्य लिखने का निश्चय किया था।<sup>3</sup> सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग तथा प्रत्याख्यान- नन्दीसूत्र के अनुसार ये आवश्यकसूत्र के छः अध्ययन हैं, जिन्हें इस सूत्र में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भी उल्लेखित किया गया है।<sup>4</sup> उपर्युक्त छः आवश्यकों में पाँचवाँ आवश्यक-कायोत्सर्ग माना गया है, इसका अपर नाम ध्यान भी है।

वीरं सुक्कज्झाणगिदड्ढकम्मिंधणं पणमिरुणं।

जोईसरं सरणं ज्ञाणज्झयणं पवक्खामि।। - ध्यानशतक, गाथा- 01

<sup>1</sup> 'ध्यानशतकस्य च महार्थत्वाद्.....माह'। - आवश्यकनिर्युक्ति, भाग- 02

<sup>2</sup> विशेषावश्यकभाष्य - 01

<sup>3</sup> नन्दीसूत्र.

सिद्धान्ततः ध्यान कायोत्सर्ग का ही एक रूप है, इसलिए संभव है कि इस आवश्यक पर भाष्य लिखने के उद्देश्य से उन्होंने कुछ गाथाएँ ध्यान पर लिखी हों। चूंकि वे अपने जीवनकाल में छहों आवश्यकों पर पूरा भाष्य नहीं लिख पाए, अतः कालान्तर में इन गाथाओं ने ध्यानाध्ययन नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का ही रूप ले लिया हो। दूसरी दृष्टि से, उनका उद्देश्य यह भी रहा होगा कि पाठकों को ध्यान का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त कराने के लिए ध्यान के प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की जाए और इस हेतु उन्होंने इस स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की हो।

यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य की प्रतिज्ञानुसार षडावश्यक के प्रत्येक आवश्यक पर एक-एक अध्ययन लिखा जाना था, किन्तु वे मात्र सामायिक-अध्ययन तक ही सीमित रह गए, बचे हुए अध्ययनों पर लेखन-कार्य नहीं हो सका, अतः एक दृष्टिकोण से यह भी संभव हो सकता है कि आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रुचि ध्यान में रही हो, इसी कारण सामायिक-अध्ययन लिखने के पूर्व या पश्चात् उन्होंने ध्यानाध्ययन पर भाष्य-गाथाएँ लिखने का प्रयास किया हो और वे ही गाथाएँ भविष्य में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में 'ज्ञाणज्झयण' के नाम से प्रसिद्ध हो गई हों।

तदनुसार, रचयिता द्वारा दिया गया ध्यानाध्ययन नाम ही सार्थक प्रतीत होता है। हरिभद्रसूरि ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में ज्ञाणज्झयण को ही 'ध्यानशतक' नाम से उल्लेखित किया है, उसका मुख्य कारण प्रस्तुत ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या एक सौ पांच होना है, अतः जहाँ मूल ग्रन्थकार जिनभद्रगणि ने उसे 'ध्यानाध्ययन' नाम दिया हो, वहीं टीकाकार हरिभद्रसूरि ने उसे 'ध्यानशतक' नाम दिया हो। अपनी-अपनी जगह ये दोनों ही नाम उचित प्रतीत होते हैं। दूसरा यह कि हरिभद्रदीय-युग में ग्रन्थों के नामकरण की प्रवृत्ति ग्रन्थों के श्लोक अथवा गाथाओं की संख्या पर आधारित थी। स्वयं आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों के नाम उनकी श्लोक-संख्या के आधार पर दिए हैं, जैसे- अष्टक, षोडशक, विंशिका, द्वात्रिंशिका, पंचाशक आदि। इसी प्रकार, योग पर आधारित उनके मुख्य ग्रन्थ का नाम भी 'योगशतक' है। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम ध्यानशतक मूल कर्ता का न होकर ग्रन्थ के टीकाकार हरिभद्रसूरि द्वारा प्रदत्त है। मूल ग्रन्थकार ने तो इसका नाम ध्यानाध्ययन (ज्ञाणज्झयण) ही दिया था।

अतः दोनों नाम की भिन्नता के बावजूद भी ग्रन्थ की विषय-वस्तु में किसी भी प्रकार की कोई भिन्नता नजर नहीं आती है।

**ग्रन्थ की भाषा** —जहाँ तक 'ध्यानशतक' की भाषा का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में यह स्पष्ट है कि वह शौरसेनी या जैन-शौरसेनी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ में हमें किसी भी स्थान पर मध्यवर्ती 'त' का 'द' नहीं मिला है जो शौरसेनी का मुख्य लक्षण है। यहां यह ज्ञातव्य है कि इसकी जो गाथाएँ धवला-टीका में मिली हैं, उनमें मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' पाया जाता है।

अतः ग्रन्थ की भाषा को कहीं-न-कहीं अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री के रूप में ही देखना होगा।

यदि हम इन समग्र गाथाओं का विश्लेषण करें, तो हमें स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि उसकी भाषा विशुद्ध अर्द्धमागधी न होकर कहीं-न-कहीं महाराष्ट्री प्रभावित अर्द्धमागधी ही कही जा सकती है, क्योंकि मूलग्रन्थ में अनेक स्थानों पर मध्यवर्ती व्यंजनों यथा क, ग, च, ज, त, द आदि के लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है, जबकि मागधी तथा अर्द्धमागधी में यह लोप की प्रवृत्ति प्रायः अल्प ही पाई जाती है, जैसे— क्रियारूपों में इस ग्रन्थ में होइ, झाइ, रज्जइ, वट्हइ, उव्वेइ, पुव्वइ, समेइ आदि रूप ही मिलते हैं जो मुख्य रूप से महाराष्ट्री-प्राकृत के लक्षण माने जाते हैं, किन्तु ग्रन्थ की यह महाराष्ट्री-प्राकृत अर्द्धमागधी से प्रभावित है, क्योंकि कहीं-कहीं महाराष्ट्री क, ग आदि के लोप की प्रवृत्ति का अभाव भी इसमें मिलता है, जैसे— गाथा क्रमांक 64 में 'सजोगाजोगा' में 'ग' लोप नहीं है।<sup>5</sup> इसी तरह गाथा क्रमांक 65 'सुभावियचित्तो'<sup>6</sup> में जहां मध्यवर्ती 'त' का लोप होकर उसकी जगह 'य' श्रुति हुई है, वहीं 'भ' के स्थान पर 'ह' नहीं हुआ है। इसी प्रकार, इसमें जहां, तहां आदि ऐसे रूप भी देखने को मिलते हैं, जो अर्द्धमागधी के न होकर महाराष्ट्री-प्राकृत के ही लक्षण कहे जाते हैं, क्योंकि अर्द्धमागधी में इनके स्थान

<sup>5</sup> एएच्चिय पुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा।

दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो।। — ध्यानशतक, गाथा — 65

<sup>6</sup> झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइचिंतणापरमो।

होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्विं।। — ध्यानशतक, गाथा — 66



पर जदा, तदा जैसे रूप भी मिलते हैं। इसी प्रकार, इसमें अर्द्धमागधी या मागधी के दन्त्य (न) पर प्रायः 'ण' का ही प्रयोग अधिक हुआ है। यद्यपि अनेक स्थानों पर दन्त्य 'न' बना हुआ भी है, किन्तु 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग सम्पादन के समय किया गया है या मूलग्रन्थ में ही था, यह अब भी एक विचारणीय प्रश्न है।

इस ग्रन्थ की गाथा क्रमांक 89 में 'ततियं' रूप मिला है, जो स्पष्टतया महाराष्ट्री-प्राकृत का रूप नहीं हो सकता, क्योंकि महाराष्ट्री का होने पर तो 'तइयं' रूप होना चाहिए था<sup>7</sup>, इसलिए इसकी भाषा के सन्दर्भ में हम इतना ही कह सकते हैं कि मूलतः यह महाराष्ट्री-प्राकृत-प्रधान अर्द्धमागधी ही है, जो प्रायः श्वेताम्बर-आगमों की भाषा से समरूपता रखती है। इसकी भाषा-शैली को लेकर पण्डित दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की शैली एवं भाषा निर्युक्ति की शैली एवं भाषा से निकटता रखती है, किन्तु इस सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन का यह कहना है कि इसे निर्युक्तिकार की रचना मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथमतः, आवश्यकनिर्युक्ति की जो गाथाएँ हैं, उनसे ध्यानाध्ययन की एक भी गाथा नहीं मिलती है। यदि दलसुखभाई के अनुसार दोनों कृतियाँ एक ही लेखक की होतीं, तो कहीं-न-कहीं उनमें कुछ समानता तो अवश्य ही मिलती, अतः डॉ. सागरमल जैन के अनुसार, वस्तुतः यह ग्रन्थ निर्युक्ति के बाद का और जिनदासगणि महत्तर की चूर्णियों के पूर्व भाष्यकाल की रचना है, अतः इसके कर्ता विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही होने चाहिए।<sup>8</sup>

इसकी, अर्थात् ध्यानशतक की भाषा निर्युक्ति की भाषा की अपेक्षा भाष्य की भाषा के अधिक निकट है, क्योंकि भाष्यों की भाषा में निर्युक्तियों की अपेक्षा महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव अधिक देखा जाता है।

**ग्रन्थ की विषय-वस्तु** — ध्यान की प्ररूपणा में प्रवृत्त होकर ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ करते समय सबसे पहले, यह ग्रन्थ निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो— इस उद्देश्य से प्रथम श्लोक में मंगल कामना करते हुए भगवान् महावीर को नमस्कार कर द्वितीय श्लोक में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा

<sup>7</sup> सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए ।

धिरयाजियसेलेसं लेसाईयं परमसुक्कं ।।

— ध्यानशतक, गाथा — 89

<sup>8</sup> जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग - 7, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 43

है कि अध्यवसायों की स्थिरता या एकाग्रता को 'ध्यान' तथा मन की वृत्तियों की चंचलता को 'चित्त' कहते हैं। आगे, चित्त के प्रकारों को तीन भागों में विभाजित किया गया है—

1. भावना
2. अनुप्रेक्षा तथा
3. चिन्ता।<sup>9</sup>

सामान्यतया, इन तीनों अवस्थाओं में चित्त चंचल रहता है, किन्तु ध्यान में तो चित्त पूर्णतया एकाग्र रहता है। प्रस्तुत कृति के तृतीय एवं चतुर्थ श्लोक में छद्मस्थ तथा जिनेश्वरों के ध्यान-विशेष की चर्चा करते हुए कहा है<sup>10</sup> कि साधारण मानव के लिए ध्यान की एकाग्रता का अधिकतम काल मात्र एक अन्तमुहूर्त (48 मिनट के अन्दर) है, जबकि तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी जिन जब तेरहवें गुणस्थान में त्रिविध प्रवृत्तियों, अर्थात् योगों का निरोध करते हैं, तब शुक्लध्यान के तीसरे भेद में वर्तते हैं। चौदहवें गुणस्थान में चौथे शुक्लध्यान का भेद प्रारम्भ होता है। वह ध्यान-काल अतिसंक्षिप्त, अर्थात् पांच ह्रस्वाक्षरों या व्यंजनों के उच्चारण-काल के समान होता है।

जैन-आगमों में चार ध्यानों का वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उनका बहुत ही मार्मिक, सरल तथा सविस्तार सम्पूर्ण और सर्वांग उल्लेख किया गया है। सामान्य तौर पर ध्यान के चार प्रकार हैं—

1. आर्त्तध्यान
2. रौद्रध्यान
3. धर्मध्यान और
4. शुक्लध्यान।

ग्रन्थकार के अनुसार, प्रथम दो ध्यान भव-भ्रमण के तथा शेष दो ध्यान मुक्ति के कारण हैं। जैन-आगमों में आर्त्तध्यान को तिर्यचगति, रौद्रध्यान को नरकगति, धर्मध्यान को मनुष्यगति अथवा देवगति और शुक्लध्यान को पंचमगतिस्वरूप मुक्ति का कारण कहा गया है।<sup>11</sup> यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ की पंचम गाथा में भी प्रतिपादित है। आगे, आर्त्तध्यान के चार प्रकारों का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि अप्रिय (अनभीष्ट) का संयोग नहीं होना, अथवा भयंकर रोगादि की पीड़ा के वियोग की चिन्ता करना या प्रिय (अभीष्ट) के वियोग की चिन्ता करना तथा निदान करना, अर्थात् आगामी काल के लिए भोगों की प्राप्ति की इच्छा या अभ्यर्थना करना आर्त्तध्यान है। ग्रन्थकार ने इन चारों

<sup>9</sup> जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं ।

तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिन्ता ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 02

<sup>10</sup> अन्तोमुहुत्तमेतं ..... ज्ञाणसंताणो ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 3-4

<sup>11</sup> अट्टं रुद्धं धम्मं सुक्कं ज्ञाणाइ तत्थ अंताइ ।

निव्वाणसाहणाइ भव-कारणमह रुद्धाइ ॥ - ध्यानशतक, गाथा - 05

अमणुण्णाणं सदाइ ..... मण्णाणाणुगयमच्चयंतं ॥ - ध्यानशतक, गाथा - 6-9

प्रकार के अशुद्ध अध्यवसायों को ही आर्त्तध्यान कहा है।<sup>12</sup> समता-भाव की परिणति में रमण करने वाला श्रमण वस्तु के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन-मनन करता है, इसलिए रोगादि पीड़ा (शारीरिक-अस्वस्थता) होने पर, पूर्वसंचित कर्मों से उत्पन्न हुई जानकर, उसे समभाव से सहन करता है। ऐसे समय में रोगमुक्ति का निर्दोष उपाय स्वीकार करना, अर्थात् शल्यक्रिया से उसका निवारण करना आर्त्तध्यान न होकर धर्मध्यान ही होता है। ऐसे विवेकी श्रमण का आलम्बन-ग्रहण प्रशस्त होता है, उनकी मोक्षाभिलाषा निदान-रूप नहीं होती है, क्योंकि समभाव ही उनका स्वभाव बन गया है।<sup>13</sup> यह चर्चा गाथा क्रमांक दस से तेरह तक के मध्य की है। आर्त्तध्यानी कापोत, नील तथा कृष्ण-इन तीन निम्न कोटियों की लेश्याओं वाला होता है। आर्त्तध्यान करने वाले व्यक्ति के लक्षण आक्रन्दन, शोचन, परिवेदन तथा ताड़न आदि हैं, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ में है।

इसी क्रम में आगे, आर्त्तध्यान का अधिकारी (स्वामी) कौन है, अर्थात् किस-किस गुणस्थान के जीवों को आर्त्तध्यान होता है, इसका निर्देश भी किया गया है।<sup>14</sup> आगे, ग्रन्थकार का कथन है कि रौद्रध्यान आक्रोश या आवेशपूर्ण स्थिति वाला होता है। ग्रन्थकर्त्ता ने रौद्रध्यान को चार भागों में वर्गीकृत किया है, जो निम्न हैं—

1. हिंसानुबन्धी 2. मृषानुबन्धी 3. स्तेयानुबन्धी 4. संरक्षणानुबन्धी।

अतिशयक्रोध की अवस्था में निर्दयी बनकर एकेन्द्रियादि लाचार जीवों पर ताड़ना-तर्जना करने, अंग-भंग करने, छेदन-भेदन करने के साथ ही उनको प्राणविहीन करने आदि निम्न कोटि के कार्यों को करते हुए, या द्रव्यरूप से उन कार्यों को करते हुए या न करते हुए भी भावरूप से निरन्तर इन कार्यों का विचार या चिन्तन-मनन करना हिंसानुबन्धी नामक पहला रौद्रध्यान है। मायापूर्ण वचन, परनिन्दाजनक वचन, आलोचनात्मक वचन, असभ्य भाषा तथा प्राणी का घात करने वाले वचनों में प्रवृत्ति न करते हुए भी उनका निरन्तर चिन्तन-मनन मृषानुवादी नामक दूसरे प्रकार का रौद्रध्यान है। प्रतिपल-प्रतिक्षण दूसरों की वस्तुओं को चुराने के अशुभ अध्यवसायों का चिन्तन-मनन करते रहना स्तेयानुबन्धी नाम का तीसरा रौद्रध्यान है। लगातार तीव्र क्रोध

<sup>13</sup> एयं चउखिहं रागदोस .....तं संसार तरुबीयं ।। - ध्यानशतक, गाथा - 10-13

<sup>14</sup> कावोय-नील कालालेस्साओ.....जइजणेणं ।। - ध्यानशतक, गाथा - 14-18

व लोभ के अधीन होकर जीव विषय-वासना तथा भोगोपभोग के साधनों की उपलब्धि और उनके संरक्षण की चिन्ता में लगा रहता है तथा उनको नष्ट करने वाले निमित्तों, अथवा व्यक्तियों के प्रति जो आक्रोश का भाव है, वह चौथा संरक्षणानुबन्धी-रौद्रध्यान है। सारांश यह है कि उक्त चार प्रकार का रौद्रध्यान कृत, कारित एवं अनुमोदित- इन तीनों पर घटित होता है। ये चारों प्रकार के रौद्रध्यान नरकगति के हेतु हैं। ये अप्रशस्त-ध्यान मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशविरत श्रावकों में सम्भव हैं, अर्थात् रौद्रध्यान पहले से पांचवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

जिस प्रकार आर्त्तध्यानी को कर्मों के विपाकस्वरूप कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएं होती हैं, लेकिन वे इतनी प्रभावशाली नहीं होती हैं, जितनी ये तीनों लेश्याएं रौद्रध्यानी में प्रभावशील होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे आर्त्तध्यानी के लेश्या, लिङ्गों तथा लक्षणों का उल्लेख किया गया था, वैसा ही गाथा क्रमांक सोलह से सत्ताईस तक रौद्रध्यानी के लेश्या, लिङ्गों तथा लक्षणों का वर्णन किया गया है।<sup>15</sup>

आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान को ध्यान की श्रेणियों में गिनने के बावजूद भी ये अति तीव्र संक्लिष्टमान् होने के फलस्वरूप त्याज्य अथवा छोड़ने योग्य हैं।

इस ग्रन्थ में इन दो ध्यानों का विवेचन अति संक्षिप्त में, मात्र इक्कीस श्लोकों में ही पूर्ण हुआ है, जबकि धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का वर्णन लगभग सतहत्तर से अठहत्तर (77-78) तक की गाथाओं में किया गया है। धर्मध्यान को निरूपित करते हुए गाथा क्रमांक अठाईस एवं उनतीस में ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम यह बताया है कि शुभध्यान में तल्लीन अथवा एकाग्र बनने के लिए- 1. भावना, 2. देश, 3. काल, 4. आसन-विशेष, 5. आलंबन, 6. क्रम, 7. ध्यातव्य, 8. ध्याता, 9. अनुप्रेक्षा, 10. लेश्या, 11. लिङ्ग और 12. फलादि के स्वरूप को समझकर ही धर्मध्यान का चिन्तन-मनन करना चाहिए, अथवा उपर्युक्त तथ्यों को जानकर धर्मध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए। तदनुसार धर्मध्यान में रमण करते-करते शुक्लध्यान की ओर आगे बढ़ना चाहिए।<sup>16</sup>

यदि साधक भावना, देश आदि द्वारों का सम्यक्-प्रकारेण चिन्तन-मनन (विचार-विमर्श) करता है, तो वह शुभध्यान-विषयक पात्रता को प्राप्त कर लेता है।

<sup>15</sup> सत्त्वह-वेह-बन्धण .....रोदज्जाणोवगयचित्तो ।। - ध्यानशतक, गाथा - 19-27

<sup>16</sup> ज्ञाणस्स भावणाओ .....तओ सुक्कं ।। - ध्यानशतक, गाथा - 28-29.

आगे, गाथा क्रमांक तीस से चौतीस तक में कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान का आस्वादन, शंका—कांक्षादि दोषों से रहित सम्यग्दर्शन तथा सभस्त सावद्य पाप—प्रवृत्तियों से विरक्ति (निवृत्ति) रूप सम्यक्चारित्र से अन्तःकरण निर्मल और पवित्र बन जाता है, इसलिए वह साधक धर्मध्यान में पूर्णतया तल्लीन या स्थिर हो जाता है।<sup>17</sup>

आगे, गाथा क्रमांक पैंतीस से इकतालीस तक ध्यान के क्षेत्र और काल की चर्चा की गई है—

साधक के लिए ध्यान—साधना के क्षेत्र—विषयक एक बात स्पष्ट है कि जहां चित्त की वृत्तियां स्थिर रह सकें, वह स्थान ही साधक के लिए अनुकूल है। चित्तवृत्तियों की स्थिरता के लिए काल भी वही श्रेष्ठ है, जहां मन, वचन और काया की प्रवृत्तियां समभाव में स्थिर रह सकें। तात्पर्य यह है कि ध्यान हेतु दिन, रात, बेला आदि कोई निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार, आसनों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि पद्मासन, वज्रासन या कायोत्सर्ग—मुद्रा में ही ध्यान फलित होता है— ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है, अथवा देह की जिस अभ्यस्त अवस्था में बाधरहित ध्यान सम्भव हो, उसी अवस्था में ध्यानमग्न होना चाहिए। ध्यान के लिए तो एक ही नियम लागू होता है कि मन—वचन और काया के योगों की स्थिरता कैसे सम्भव हो ? योग की स्थिरता के लिए खड़े होकर, लेटकर, बैठकर अथवा सोकर भी ध्यान किया जा सकता है। इसमें ग्रन्थकार की दृष्टि से कोई आपत्तिजनक बात नहीं है।<sup>18</sup> इस प्रकार, ग्रन्थकार ध्यान के क्षेत्र, काल और आसन के सम्बन्ध में कोई आग्रह नहीं रखते हैं।

आगे, गाथा क्रमांक बयालीस से अड़सठ तक धर्मध्यान के क्षेत्र में स्वाध्याय आदि की आवश्यकता बताई गई है। आत्मा का अन्तर—दर्शन या अवलोकन करने से ध्यान के विकास—क्रम में प्रगति होती है, साथ ही चित्तवृत्तियों की चंचलता में स्थिरता की वृद्धि होती है। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षा— ये ध्यानांग न होकर स्वाध्याय के अंग हैं। स्वाध्याय का मतलब है— आत्मोन्मुख होना। आत्मोन्मुख प्रवृत्ति चित्तवृत्ति की

<sup>17</sup> पुक्काकयभासो भावणाहि .....साणंमि सुनिच्चलो होई ।।

— ध्यानशतक, गाथा — 30—34.

<sup>18</sup> निच्चं चिय जुवइ.....होइ तहा पयइयव्वं ।। — ध्यानशतक, गाथा — 35—41.

स्थिरता में सहायक है, इसलिए आभ्यन्तर-तपों में स्वाध्याय के बाद ध्यान को स्थान दिया गया है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य मजबूत रस्सी के सहारे दुर्गम स्थान पर पहुंच जाता है, उसी प्रकार साधक भी वाचना, पृच्छना आदि के आलम्बन से शुद्धध्यान में आरूढ़ हो जाता है, अथवा ध्यान का साधक सूत्रों का सहारा लेकर श्रेष्ठध्यान तक जा पहुंचता है।

ध्यान का मूल लक्ष्य तो मन, वचन और काया के योगों का निरोध है, जो क्रमानुगत होता है। ध्यातव्य-द्वार के अन्तर्गत ध्यातव्य के चार प्रकारों को परिभाषित किया गया है। धर्मध्यान के आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानविचय— इन चार अंगों के माध्यम से साधक शुभाशुभ कार्यों की परिणति का ज्ञाता बनकर, संसार के परपदार्थों के प्रति आसक्ति का त्याग कर आत्मा को अलौकिक धर्म में स्थिर कर देता है।

कषायरहित अथवा प्रमादरहित ध्याता अनित्यादि भावना का चिन्तन करता हुआ धर्मध्यान में रत रहता है। इस प्रकार, धर्मध्यानी तीन प्रशस्त लेश्याओं, अर्थात् पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्याओं से युक्त होता है। आगे, ग्रन्थकार धर्मध्यान के लिङ्ग, फलादि का उल्लेख तो शुक्लध्यान के अन्तर्गत करते हैं, किन्तु यहां धर्मध्यान के उपसंहार में धर्मध्यानी को दान, शील, तप, कीर्तन, विनय, श्रुत और संयम में रत रहने का मार्गदर्शन करते हुए ग्रन्थकार जिनभद्रगणि धर्मध्यान के प्रसंग को समाप्त करते हैं।<sup>19</sup> आगे गाथा क्रमांक उनहत्तर से ब्यासी (69-82) तक ग्रन्थकार ने शुक्लध्यान की भी चर्चा की है—

धर्मध्यान के बाद की अवस्था को शुक्लध्यान कहते हैं। शुक्लध्यान में एकाग्रतापूर्वक तीन साधक तीन भुवन के परपदार्थों को विषय बनाने वाले अपने मन को क्रमशः संकुचित करता हुआ सूक्ष्म में स्थिर रहता है और फिर शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरणों में मनविहीन होता हुआ 'अमन' बन जाता है। धर्मध्यान के समान शुक्लध्यान के भी बारह द्वार हैं। पूर्व में ग्रन्थकार ने धर्मध्यान में लिङ्ग, फल आदि का वर्णन नहीं किया है, क्योंकि शुक्लध्यान के अन्तर्गत ही धर्मध्यान के लिङ्ग, फलादि के सन्दर्भ में चर्चा की गई है। शुक्लध्यान के द्वारा प्रकम्पित मन निष्प्रकम्पित होने, संकल्प-विकल्प से ग्रस्त मन निर्विकल्प होने, अशान्त मन शान्त होने तथा मानसिक, वाचिक एवं कायिक-योगों की पूर्णतया निरोध की स्थिति प्राप्त होती है। यहां ग्रन्थकार ने शुक्लध्यान

<sup>19</sup> आलंबणाइवायण-पुच्छण .....सुल-सीलसंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो।।

के चार आलम्बनों का भी उल्लेख किया है— 1. क्षमा 2. मार्दव 3. आर्जव और 4. मुक्ति। इन आलम्बनों के माध्यम से ही साधक शुक्लध्यान की सीमा में प्रवेश पा सकता है।

वस्तुतः, ये शुक्लध्यान के आलम्बन चार कषायों के त्यागस्वरूप ही प्रकट होते हैं। क्रोध के त्यागस्वरूप क्षमा का, मान के त्यागस्वरूप मार्दव का, माया के त्यागस्वरूप आर्जव का और लोभ के त्यागस्वरूप मुक्ति का प्रकटीकरण होता है। शुक्लध्यान को भी चार भागों में विभाजित किया गया है—

1. पृथक्त्ववितर्क—सविचार
2. एकत्ववितर्क—अविचार,
3. सूक्ष्मक्रिया—निवृत्ति और
4. व्युच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाति।

**1. पृथक्त्ववितर्क—सविचार —** इस ध्यान में साधक कभी द्रव्य से मन को हटाकर पर्याय में, तो कभी पर्याय से मन को हटाकर द्रव्य में स्थिर करता है। इस प्रकार, अर्थान्तर, व्यंजनान्तर तथा योगान्तर के कारण यह ध्यान पृथक्त्ववितर्क—सविचार नामक शुक्लध्यान कहलाता है। ऐसी स्थिति में भी ध्येय पदार्थ एक ही होता है, फिर भी ध्यान का संक्रमण कभी द्रव्य पर, तो कभी पर्याय पर होता रहता है।

**2. एकत्ववितर्क—अविचार —** जब द्रव्य एवं पर्याय में से किसी एक पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है, अर्थात् अन्तःकरण वस्तु की तीन अवस्थाओं अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य में से किसी एक ही पर्याय में चित्त स्थिर हो जाता है, तब वह एकत्ववितर्क—अविचार नामक दूसरा शुक्लध्यान कहा जाता है।

**3. सूक्ष्मक्रिया—निवृत्ति —** इस शुक्लध्यान के अन्तर्गत साधक के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का क्रमशः निरोध हो जाता है, मात्र श्वासोश्वास की सूक्ष्म प्रवृत्ति शेष रहती है। यह सूक्ष्मक्रिया—निवृत्ति नामक तीसरा शुक्लध्यान है।

**4. व्युच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाति —** तेरहवें गुणस्थानवर्ती साधक अन्तिम समय में योगों का सम्पूर्णतः निरोध करता है। जो सूक्ष्म श्वासोश्वास चलता है, वह भी समाप्त हो जाता है, अर्थात् मन, वचन और काया— इन तीनों योगों की सर्वप्रवृत्तियों का निरोध होता है, साथ ही तेरहवां गुणस्थान भी पूरा हो जाता है और वह चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है, वहां शुक्लध्यान का चौथा भेद होता है।

चौदहवें गुणस्थान का काल मात्र पांच ह्रस्वाक्षर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण के समय जितना है। इस काल के अन्तर्गत उदय में प्राप्त हुई एवं सत्ता में स्थित सर्व कर्मप्रकृतियों का क्षय करके साधक कर्मरूपी बन्धन से तथा शरीररूपी बन्धन से

सदा—सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यहां साधकों की अनादिकाल से प्रवाहमान् संसार—अवस्था समाप्त हो जाती है। वे निरंजन, निराकारमय अपने स्वरूप के स्वामी बन जाते हैं, जो धर्मसाधना, ध्यान तथा योग—साधना का चरम लक्ष्य है।<sup>20</sup>

आगे, गाथा क्रमांक तिरासी से लेकर अठासी तक में अयोगी—अवस्था की विशेषताओं को बताया गया है। अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन के सन्दर्भ में बताया गया है कि शुक्लध्यानी शुक्लध्यान से सुवासित हो, ध्यान की क्रियाएं समाप्त करने के बाद कर्मागम के कारण होने वाले दुःख, संसार की अशुभरूपता, जन्म—मरणरूप भव—भ्रमण और चेतन—अचेतन वस्तुमात्र की नश्वरता (वस्तुविपरिणाम)— इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है।<sup>21</sup>

इसके पश्चात् गाथा क्रमांक उनब्बे से लेकर तिरानवे तक लेश्या, लिङ्ग, फलादि को परिभाषित किया गया है। प्रथम के दो शुक्लध्यान, शुक्ललेश्या, तीसरा परमशुक्ललेश्या में और अपनी अविचलता, अडिगता में पर्वत को भी जीत लेने वाला वह साधक चौथे शुक्लध्यान में लेश्याओं से परे होता है, क्योंकि इस शुक्लध्यान में मन 'अमन' बन जाता है, अर्थात् उसमें लेश्या होने का प्रश्न ही नहीं होता है।

लेश्या के विवेचन के पश्चात् ग्रन्थ में अवध, असम्मोह, विवेक तथा व्युत्सर्गरूप शुक्लध्यान के चार लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है।

यहां ग्रन्थकार जिनभद्रगणि शुक्लध्यान के परिणाम (फल) का वर्णन करते हुए बताते हैं कि शुभकार्यों का फल देवसुख है, जो शुभानुबन्धी धर्मध्यान का फल है। विशेष रूप से, जो शुभ कार्यों के कारण अनुत्तर—विमान के सुखों की प्राप्ति होती है, वे प्रथम के दो शुक्लध्यान के फल हैं। अन्त के दो शुक्लध्यानों का फल तो अव्याबाध सुख, अनन्तानन्त सुखानुभूति, अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति है।<sup>22</sup> इस प्रकार शुक्लध्यान के विवरण की चर्चा को समाप्त करते हुए ग्रन्थकार द्वारा आगे गाथा क्रमांक छियानवे से लेकर एक सौ दो तक में, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु क्यों हैं तथा किस कारण से यहां उनकी महत्ता का मूल्यांकन किया— इस सन्दर्भ में अलग—अलग प्रकार के उदाहरणों

<sup>20</sup> अह खंति—मद्व ..... ज्ञाणं परम सुक्कं ॥ — ध्यानशतक, गाथा 69—82.

<sup>21</sup> पढमं जोगे जोगेसु ..... वत्थुणं विपरिणामं च ॥ — ध्यानशतक, गाथा 83—88.

<sup>22</sup> सुक्काए लेसाए ..... सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ — ध्यानशतक, गाथा 89—93.



द्वारा इन्हें प्रस्तुत किया गया है।<sup>23</sup> अन्तिम गाथा क्रमांक एक सौ तीन से लेकर एक सौ पांच तक में कहा गया है कि ध्यान के माध्यम से मानसिक अर्थात् क्रोध, मान, माया, ईर्ष्या एवं शोकादिजन्य दुःखों का तथा शारीरिक—पीड़ा (अल्सर, रक्तचाप, हृदयाघात आदि) के दुःख का अभाव होता है।<sup>24</sup>

अन्त में, ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ के महत्त्व तथा ग्रन्थ—प्रमाण का निर्देश करते हुए कहते हैं कि ध्यान समस्त गुणों का आधार—स्तम्भ है, इहलौकिक और परलौकिक सुखों का भण्डार है, अत्यन्त विशुद्ध है और सदैव ही श्रद्धेय, ज्ञातव्य, धातव्य एवं प्राप्तव्य है।

इस प्रकार, ग्रन्थ के अन्तर्गत, ध्यान क्या है ? ध्यान का स्वरूप क्या है ? उसके मूल प्रकार कितने हैं ? उन प्रकारों के भेद, प्रभेद कितने हैं ? उनके लक्षण, आलम्बन एवं ध्येय क्या हैं ? इन सबकी चर्चा भी की गई है। तत्पश्चात्, ध्याता की मनोवृत्तियाँ, भिन्न—भिन्न ध्यानों के स्वामी का प्रसंग, ध्यान—योग्य स्थान, समय, आसन तथा मुद्रा आदि तथ्यों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त विवरण में ध्यान के भेद, प्रभेद, लक्षण और आलम्बन आदि की चर्चा तो स्थानांगसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र को माध्यम मानकर हुई है, किन्तु ध्यान के काल, आसन, मुद्रा आदि की चर्चा इसकी अपनी स्वतन्त्र देन है (अथवा चर्चा है), जिसका अनुकरण परवर्ती ग्रन्थों में किया गया है, जैसे— योगशास्त्र, ज्ञानार्णव, आदिपुराण आदि।

## मूल ग्रन्थकार का परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकार को लेकर वर्तमानकाल में भिन्न—भिन्न विद्वानों की भिन्न—भिन्न मान्यताएं हैं। भिन्न—भिन्न मान्यताएं तो विद्वानों की मति—भेद का ही फल है, लेकिन प्रमाणों के आधार पर देखा जाए, तो यह स्पष्ट है कि ध्यानाध्ययन अपरनाम ध्यानशतक ग्रन्थ के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही विख्यात हैं।

'बृहद् जैन—साहित्य का इतिहास', भाग— 4 (पृष्ठ संख्या 250) में यह निर्देश मिलता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में 106 गाथाएं हैं।<sup>25</sup> इसकी अन्तिम गाथा में यह स्पष्ट रूप

<sup>23</sup> संवर—विणिज्जराओ मोक्खस्स .....कम्मघणा विलिज्जति ॥ — ध्यानशतक, गाथा 96—102.

<sup>24</sup> नकसाय समुत्थेहि.....तेयं च निच्चंपि ॥ — ध्यानशतक, गाथा 103—105.

<sup>25</sup> जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग — 4, पृ. 250.

(क) डिस्क्रिप्टिव कंटेलाग ऑफ द गवर्नमेण्ट कलेक्शन ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स  
(वॉल्यूम ग्टप्पर भाग प्प, पृ. 415—416)

से उल्लेख मिलता है कि यह ग्रन्थ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित है। वह गाथा निम्नांकित है—

पंचुत्तरेण गाहासएण ज्ञाणस्स यं समक्खायं ।

जिणमद्वखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो ॥<sup>26</sup>

अर्थात्, एक सौ पांच गाथाओं में ध्यान का जो वर्णन किया गया है, वह जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा मुनि के कर्मों की विशुद्धि के लिए है। अभिधानराजेन्द्रकोश में इस गाथा को ग्रन्थ में समाहित मानकर कहा गया है कि 'ज्ञाणज्झयण' (ध्यानशतक) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित है।<sup>27</sup> दूसरे तरीके से इस गाथा का अन्वय इस प्रकार होगा—

'जिनमद्वखमासमणेहिं गाहा पंचुत्तरेण सएण जइणो ।

कम्मविसोही करणं ज्ञाणज्झयणं समक्खायं ॥<sup>28</sup>

इसी गाथा को प्रमाणित मानकर, 'विनयभक्तिसुन्दरचरण ग्रन्थमाला' द्वारा प्रकाशित संस्करण में भी 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' ही इसके रचयिता हैं— इस बात की पुष्टि की गई है। इसी के सन्दर्भ में यहां एक बात और स्पष्टतया दिखाई देती है कि अभिधानराजेन्द्रकोश में गाथा संख्या पैंतालीस के रूप में निम्नलिखित गाथा संकलित है—

'आणा विजए विवागे, संठाणओ अ नायव्वा ।

एए चत्तारि पया, ज्ञायव्वा धम्मज्ञाणस्स ॥<sup>29</sup>

<sup>26</sup> यह गाथा आवश्यकसूत्र (पूर्व भाग पृ. 582—612) के अन्तर्गत ध्यानशतक में तथा वि. भा. सु. च. ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित उसके स्वतन्त्र संस्करण में नहीं पाई जाती है। यदि यह गाथा मूल ग्रन्थकार द्वारा रची गई होती, तो टीकाकार हरिभद्रसूरि द्वारा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के नाम का संकेत अवश्यमेव किया जाता।

<sup>27</sup> अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग— 4, पृ. 1670

<sup>28</sup> यह कृति आवस्सयनिज्जुत्ति और हरिभद्रीय शिष्याहिता नाम की टीका के साथ आगमोदय समिति ने चार भागों में प्रकाशित की है। उसके पूर्वभाग (पत्र 582 अ—611 अ) में आवस्सय की इस निर्युक्ति की गाथा 1271 के पश्चात् ये 105 गाथाएं आती हैं। यह ज्ञाणज्झयण हरिभद्रीय टीका तथा मलधारी हेमचन्द्रसूरीकृत टिप्पणक के साथ 'विनय—भक्ति—सुन्दर—चरणग्रन्थमाला' के तृतीय पुष्परूप से विक्रम संवत् 1998 में प्रकाशित हुआ है और उसमें इसके कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहे गए हैं। इस कृति की स्वतन्त्र हस्तप्रति मिलती है।

<sup>29</sup> अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग— 4, पृ. 1666

<sup>30</sup> जैनयोग के सात ग्रन्थ, पृ.— 34

इस गाथा को मुनि दुलहराज ने भी अपने ग्रन्थ में सम्मिलित तो किया, परन्तु इसे अन्यकर्तृक बताकर गाथा की संख्या मुद्रित न करते हुए इस संदर्भ को वहीं समाप्त कर दिया।<sup>30</sup> अभिधानराजेन्द्रकोश में इन दोनों गाथाओं को संकलित करके 'ध्यानशतक' की एक सौ पांचवीं गाथा के बाद इन गाथाओं को पुष्पिका का नाम देकर उद्धृत किया गया है। उपसंहार की दृष्टि से यह परम्परा जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के अन्य ग्रन्थ विशेषावश्यक-भाष्य में भी मिलती है। साथ-ही-साथ, मलधारी हेमचन्द्राचार्य ने भी इसकी वृत्ति में चरम की दो गाथाओं के माध्यम से ही ग्रन्थ के उपसंहार का उल्लेख किया है—

‘अथप्रकृतोपसंहारार्थमात्मन औद्धत्यं परिहारार्थं च श्रीजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणपूज्या प्राहूः -

इयं परिसमापियं सामाइअ मत्थओ समासेण ।

वित्थरओ केवलिणो पुव्वविओ वा पहासंति ।।3602 ।।

सव्वाणुओगमूलं भासं समाइअस्स सोऊण ।

होइ परिकम्मिअमई जोग्गो सेसाणुओगस्स ।। 3603 ।।<sup>31</sup>

उपर्युक्त दो गाथाएं उपसंहाररूप मिलने से इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) के अन्तर्गत चरम द्वयगाथाओं को उपसंहार के रूप में माना जा सकता है, किन्तु हमारे समक्ष एक समस्या यह भी है कि प्रस्तुत कृति की हरिभद्र की आवश्यकवृत्ति में भी सिर्फ एक सौ पांच गाथाओं का ही उल्लेख मिलता है। उसमें एक सौ छठवीं गाथा का उल्लेख उपलब्ध नहीं है, जिसमें इसका कर्ता जिनभद्रगणि को बताया गया है। इसी को आधार मानकर पण्डित बालचन्द्रजी शास्त्री ने ध्यानशतक ग्रन्थ की अपनी प्रस्तावना में इस मान्यता में सन्देह व्यक्त किया है कि इस ग्रन्थ के ग्रन्थकर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण न होकर कोई और ही हैं। यदि पण्डितजी की इस बात को नजरअंदाज किए बिना यह मान्य कर लें

<sup>31</sup> विशेषावश्यकभाष्य ८ (मलधारी हेमचन्द्रकृत बृहद्वृत्ति, 3602-3603, पृ. 677

कि एक सौ छठवीं गाथा परवर्ती किसी आचार्य अथवा विद्वान् द्वारा समाहित की गई है, तो हम इस सत्यांश को स्वीकार ही नहीं कर सकेंगे कि प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता जिनभद्रगणि नहीं हैं, क्योंकि स्वयं पण्डित बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने अपनी ही प्रस्तावना में इस बात को भी निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य, जीतकल्पभाष्य आदि अपनी कृतियों में अपने नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया<sup>32</sup>, अतः चाहे एक सौ छठवीं गाथा प्रक्षिप्त हो, किन्तु इस आधार पर हम यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं कि ज्ञाणज्ज्ञयण अथवा ध्यानशतक में ग्रन्थकार के नाम की अनुपस्थिति से यह कृति किसी अन्य द्वारा रची गई हो। हम पण्डितजी की इस बात को तो मान्य करते हैं कि चरम गाथा किसी ओर द्वारा प्रक्षिप्त हो सकती है, लेकिन उनकी यह बात मान्य नहीं हो सकती है कि प्रस्तुत कृति जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित नहीं है। पण्डित बालचन्द्रजी का यह कथन भी सत्य है कि इस ग्रन्थ की अंतिम गाथा में, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है— यह उल्लेख नहीं है, लेकिन यदि रचयिता स्वयं यह गाथा जोड़ते, तो वे यह लिखते कि 'मुझ जिनभद्रगणि द्वारा यह लिखा गया है', किन्तु ऐसा उल्लेख न होकर मात्र ग्रन्थ के कर्ता जिनभद्रगणि बताए गए हैं, अतः इससे यह बात तो सिद्ध होती है कि इस गाथा का रचयिता कोई अन्य नहीं है। अब प्रश्न तो यह है कि यह गाथा इस ग्रन्थ में कब और किसके द्वारा जोड़ी गई है ? वास्तविकता यह भी हो सकती है कि यह चरम गाथा इस ग्रन्थ में हरिभद्रीय टीका के पश्चात् जोड़ी गई हो और इसी हेतु हरिभद्र ने इस गाथा पर टीका नहीं लिखी हो। दूसरे, यदि स्वयं हरिभद्र इस गाथा की रचना करते, तो वे मूल गाथाओं के बाद अवश्यमेव इस गाथा का उल्लेख करते, लेकिन ऐसा भी प्रतीत नहीं होता है। सत्यता तो यह है कि हरिभद्र (आठवीं शती) मलधारी हेमचन्द्र (बारहवीं शती) की टीका के बाद ही गाथा प्रक्षिप्त हुई हो, क्योंकि हरिभद्रीय टीका के बाद मलधारी हेमचन्द्र द्वारा इस पर जो टिप्पणी लिखी गई, उसमें भी इसके कर्ता के सन्दर्भ में किसी प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह गाथा प्रस्तुत ग्रन्थ में टीका तथा टिप्पण के पश्चात् ही प्रक्षिप्त हुई हो।

<sup>32</sup> जिनभद्रगणि द्वारा विरचित विशेषणवती, बृहत्क्षेत्रसमास और बृहत्संग्रहणी आदि कुछ अन्य कृतियां भी हैं, जिनमें नामोल्लेख का अभाव है।

पण्डित दलसुखभाई मालवणिया को भी यह सन्देह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के ग्रन्थकार जिनभद्रगणि नहीं हैं और उनका यह सन्देह हरिभद्रीय टीका तथा मलधारी हेमचन्द्र की टिप्पणी में ग्रन्थकार के नाम का उल्लेख न होने पर आधारित है।<sup>33</sup> विनयभक्तिसुन्दरचरण ग्रन्थमाला से मुद्रित संस्करण में एक सौ छठवीं गाथा में 'ध्यानशतक' के रचयिता के रूप में जिनभद्रगणि को स्वीकार किया गया है। यह बात ज्ञातव्य होने पर पण्डित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने अपनी सम्पादित पुस्तक में चरम गाथा को उद्धृत नहीं किया और एक सौ पांच गाथाओं का वर्णन करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया, क्योंकि उनका मन्तव्य तो यही है कि यह गाथा ग्रन्थकर्ता की है या परवर्ती किसी अन्य द्वारा रचित है— यही सन्देह का भी विषय है,<sup>34</sup> साथ ही, उनका यह भी मानना है कि इस ग्रन्थ में मंगलाचरण की पद्धति भी भिन्न है— यह भी सन्देह का एक कारण है।<sup>35</sup> जहां तक मंगलाचरण की भिन्नता का प्रश्न है, तो उसका सीधा निवारण यह है कि विभिन्न ग्रन्थों की रचना में विभिन्न रूपों से मंगलाचरण होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसमें कोई दोष या आपत्तिजनक बात नहीं है। दूसरा यह हो सकता है कि ध्यानशतक के रचनाकार जिनभद्रगणि ही हैं— इसको लेकर किसी प्रकार का भ्रम न हो, इसलिए परवर्तीकाल में किसी ने एक सौ छठवीं गाथा उसमें जोड़कर ग्रन्थकर्ता के नाम का उल्लेख किया हो।

इस सम्बन्ध में डॉ. सागरमल जैन पण्डित बालचन्द्रजी की शंका का निवारण करते हुए लिखते हैं कि दिगम्बर—परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार के रचयिता बड़केर आदि ने भी अपनी—अपनी रचनाओं में अपना नामोल्लेख नहीं किया, इसका मतलब यह तो नहीं है कि समयसार, प्रवचनसार, मूलाचार आदि ग्रन्थों के लेखकों के विषय में सन्देह किया जाए ?

सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विक्रम की आठवीं शताब्दी में सम्पूर्ण ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र के समक्ष उपलब्ध था। जिनभद्रगणि का काल लगभग छठवीं शताब्दी माना जा सकता है। हरिभद्र के पूर्व, अर्थात् इन दो शताब्दियों के मध्य श्वेताम्बर—परम्परा में तत्त्वार्थ के टीकाकार सिद्धसेनगणि और चूर्णिकार जिनदासगणि— ये

<sup>33</sup> गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 45.

<sup>34</sup> ध्यानशतक, प्रस्तावना, सम्पादक — बालचन्द्रजी शास्त्री,, पृ. 02.

<sup>35</sup> ध्यानशतक, प्रस्तावना, सम्पादक — बालचन्द्रजी शास्त्री,, पृ. 03.

दो ही महान् प्रज्ञावान् आचार्य हुए हैं, लेकिन यह तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता इन दोनों में से एक भी नहीं हैं, अतः यह भी मानना उचित ही है कि श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य जिनभद्रगणि ही ध्यानशतक अथवा ध्यानाध्ययन के कर्ता हैं। दूसरा यह कि यह कृति दिगम्बर एवं यापनीय-परम्परा की भी नहीं हो सकती है, क्योंकि यह कृति महाराष्ट्री प्रभावित अर्द्धमागधी की है और किसी भी दिगम्बर या यापनीय आचार्य ने अर्द्धमागधी भाषा में कोई भी रचना नहीं की है। उनकी सभी रचनाएं शौरसेनी या जैन-शौरसेनी प्राकृत में हैं। सभी सन्देहों के परिप्रेक्ष्य में डॉ. सागरमल जैन ने अपनी जैन-धर्म-दर्शन एवं संस्कृति (शोधलेखों का संकलन) नामक पुस्तक में यह स्पष्ट कर दिया है— 'मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ निर्युक्ति के बाद का और जिनदासगणि महत्तर की चूर्णियों के पूर्व भाष्यकाल की रचना है, अतः इसके कर्ता विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि ही होने चाहिए।'<sup>36</sup>

पण्डित दलसुखभाई ने इसे निर्युक्तिकार की रचना माना है, लेकिन डॉ. सागरमल जैन के अनुसार निर्युक्तिकार की रचना मानना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यह भाष्यकाल के दौरान रची गई कृति है, जो हरिभद्र के पूर्व की कृति है। चूंकि निर्युक्तियों, भाष्यों के बाद चूर्णियों का समय आता है और चूर्णियां प्राकृत ग्रन्थ में लिखी जाती हैं, इसलिए उनकी शैली और भाषा आदि की दृष्टि से देखा जाए, तो यह ग्रन्थ चूर्णियों से पूर्ववर्ती है, अतः इसे इसके भाष्यकार जिनभद्रगणि की कृति मान लेना ही उचित प्रतीत होता है।

**निष्कर्ष** — इस सम्पूर्ण चर्चा के आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि 'ध्यानशतक' नामक प्रस्तुत कृति का रचनाकाल आठवीं शताब्दी से पूर्व एवं छठवीं शताब्दी के पश्चात् ही होना चाहिए।

अन्य अपेक्षा से यह कृति निर्युक्ति के पश्चात् और चूर्णियों के पूर्व ही लिखी गई है, अतः इसे भाष्यकाल की रचना ही मानना होगा। भाष्यों का रचनाकाल विक्रम संवत् सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध और भाष्यकार के रूप में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम सुस्पष्ट है, अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञाणज्ज्ञयण' अपर 'ध्यानशतक' विक्रम की सातवीं शती में भाष्यकार जिनभद्रगणि द्वारा ही रचित है।

<sup>36</sup> जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग - 7, पृ. 43.

## मूल ग्रन्थकार का व्यक्तित्व और कृतित्व—

जैन-शासन में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आगम के विशिष्ट ज्ञानी थे। वे आगमों के प्रति अगाध श्रद्धावान् तथा निष्ठावान् के रूप में प्रख्यात थे। उनके आचार-विचार तथा चिन्तन के पक्ष स्वतन्त्र नहीं थे, अपितु आगम-तन्त्र से जुड़े हुए थे। आचार्य सिद्धसेन ने युक्ति का आलम्बन लेकर आगमों को जाना एवं समझा, लेकिन जिनभद्रगणि ने आगमों का आलम्बन लेकर युक्त और अयुक्त का चिन्तन-मनन किया।<sup>37</sup> उन्होंने यदि अन्य परम्परा या मतों का खण्डन भी किया है, तो आगम के एक-एक शब्द को आधार-रूप बनाकर किया है, ताकि आगमिक-परम्परा को व्यवस्थित तथा सुरक्षित रखा जा सके, इसलिए इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का नाम अगिम पंक्तियों में अंकित है।

**मूल ग्रन्थकार का व्यक्तित्व —** जैन-आगमों में भाष्यकारों के रूप में संघदासगणि तथा जिनभद्रगणि— इन दो आचार्यों का स्थान प्रमुख है। इनमें भी जिनभद्रगणि का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से भी यह ज्ञात होता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के जीवन-प्रसंगों से सम्बन्धित विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। न तो उनकी जन्मभूमि और न ही उनके पारिवारिक-विवरणों के विषय में कुछ सामग्री मिलती है, लेकिन 'विविध तीर्थकल्प' में जिनभद्रगणि से जुड़ा हुआ एक उल्लेख दृष्टिगोचर होता है, वह इस प्रकार है<sup>38</sup>—

**“इत्थ देवनिम्मिअथूमे पक्खक्खवमणेण देवयं आराहिता जिनभद्र—  
खमासमणेहिं उहेहि आभक्खियपुन्थमपत्तत्त वृहंभग्गं महानिसीहं संधिअं ।।”**

<sup>37</sup> मोक्षार्ण हेउवायं आगममेत्तावलंबिणो होउं।

सम्मुण चिंतणिज्ज किं जुत्तमजुत्तमेयंति ।। —विशेषणवती.

<sup>38</sup> विविध तीर्थकल्प, पृ. 19.

इस उल्लेखानुसार, एक पक्ष की लम्बी तपस्या के माध्यम से जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने मथुरा में स्थित देवनिर्मित स्तूप के अधिष्ठायिक देव को प्रसन्न कर उसकी सहायता से दीमक आदि कीड़ों द्वारा भक्षित 'महानिशीथ' नामक सूत्र का उद्धार किया था। यह घटना या प्रसंग इस बात को सूचित करता है कि मथुरा से जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का कोई सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। अभिलेखीय-साक्ष्यों से यह पता चलता है कि अड्कोटक (अकोट) गुजरात से प्राप्त दो धातु-प्रतिमाओं के अंकित लेख में निवृत्ति-कुल के वाचनाचार्य जिनभद्रगणि का उल्लेख मिलता है। डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने अड्कोटक (अकोट) गांव से प्राप्त हुई दो प्रतिमाओं के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ये प्रतिमाएं ईस्वी सन् 550 से लेकर 600 तक के काल की हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि इन प्रतिमाओं के लेखों में जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है, वे विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता क्षमाश्रमण आचार्य जिनभद्र ही हैं।

उनकी वाचना के अनुसार, एक मूर्ति के पद्मासन के पिछले भाग में 'ॐ देवाधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य'— ऐसा लिखा हुआ है और दूसरी मूर्ति के आभामण्डल में 'ॐ निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य' — ऐसा लेख है।<sup>39</sup> इन लेखों से तीन बातें फलित होती हैं—

1. आचार्य जिनभद्र ने इन प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया होगा।
2. उनके कुल का नाम निवृत्ति-कुल था और
3. उन्हें वाचनाचार्य कहा जाता था।

चूंकि ये मूर्तियां अड्कोटक (अकोट) में मिली हैं, अतः यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय भड़ौच के आसपास भी जैनों का प्रभाव रहा होगा और आचार्य जिनभद्र ने इस क्षेत्र में भी विचरण किया होगा। आचार्य जिनभद्रगणि निवृत्ति-कुल से रहे थे— इसका प्रमाण उन मूर्तियों में अंकन के अतिरिक्त दूसरी जगह कहीं भी नहीं मिलता है। निवृत्ति-कुल की प्रसिद्धि के पीछे निम्न कथन का आधार लिया जा सकता है—

'भगवान् महावीर की पाट-परम्परा में एक आचार्य वज्रसेन हुए थे। सम्भवतः, वह सत्रहवें पट्ट-परम्परा पर आसीन थे। उन्होंने सोपारक नगरवासी सेठ जिनदत्त और

<sup>39</sup> जैन सत्यप्रकाश, अंक 196.



उनकी धर्मपत्नी ईश्वरी को वैराग्यास्पद प्रवचनों से प्रतिबोधित करके उनकी चारों सन्तानों को दीक्षित किया। उनके नाम इस प्रकार हैं— नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर। आगामी काल में इन्हीं चारों के नाम से ही अलग-अलग प्रकार की चार परम्पराएं प्रचलित हुईं। इसी निवृत्ति-कुल में जिनभद्रगणि हुए होंगे।<sup>40</sup> इसके आधार पर विद्वानों की यह मान्यता है कि यह उल्लेख जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का ही होना चाहिए, क्योंकि उसके आगे वाचक विशेषण उनकी विद्वत्ता को सूचित करता है। इस सन्दर्भ में उनके जीवन से सम्बन्धित और कुछ तथ्य हमारे समक्ष नहीं हैं।

प्रथम तो यह कि अङ्कोट्टक (अकोट) से प्राप्त धातु-प्रतिमाएं मूलतः श्वेताम्बर-परम्पराओं से सम्बन्धित रही हैं और आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी श्वेताम्बर-परम्परा के ही आचार्य रहे हुए हैं। दूसरे, अङ्कोट्टक से प्राप्त इन धातु-प्रतिमाओं को विद्वानों ने विक्रम की छठवीं-सातवीं शताब्दी की माना है। लगभग यही काल जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का रहा है, क्योंकि उनके द्वारा निर्मित विशेषावश्यकभाष्य की एक ताड़पत्रीय प्रति पर शक संवत् 531 का उल्लेख है, अतः उनके काल और परम्परा की समानता के आधार पर यह माना जा सकता है कि इस ग्रन्थ, अर्थात् ज्ञानज्ज्ञयण (ध्यानशतक) का रचनाकाल भी विक्रम की छठवीं शती के अन्त या सातवीं शताब्दी के मध्य तक ही होना चाहिए। इसका एक प्रमाण यह भी है कि इस पर आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने संस्कृत-भाषा में टीका लिखी है, अतः यह ग्रन्थ इसके पूर्व रचित होना चाहिए। इस ग्रन्थ का रचनाकाल भी छठवीं या सातवीं शताब्दी का माना जा सकता है। दूसरे, विशेषावश्यकभाष्य की एक प्रति के अन्त में 'रज्जे णु पालणपुरे' होने से यह भी माना जा सकता है कि उस समय पालनपुर एक विस्तृत राज्य रहा होगा और गुजरात के अन्तर्गत होगा, अतः जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का सम्बन्ध गुजरात से स्पष्ट रूप से रहा होगा।

वल्लभी जैन-भण्डार में भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा लिखी गई एक प्रति प्राप्त हुई। इससे भी जिनभद्रगणि का वल्लभी से किसी प्रकार का सम्बन्ध अनुमानित होता है। सारांशतः, यहां यह कह सकते हैं कि चाहे अङ्कोट्टक हो या फिर पालनपुर, अथवा वल्लभी— तीनों ही स्थान गुजरात के अन्तर्गत ही हैं, इसलिए सम्भवतः

<sup>40</sup> जैन गुर्जर कविओ, भाग - 2, पृ. 669.

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का सम्बन्ध गुजरात से रहा होगा। ग्रन्थकार की गृहस्थ-पर्याय चौदह वर्ष, श्रमण-पर्याय तीस वर्ष और युगप्रधान-पर्याय साठ वर्ष की थी। ग्रन्थकार कुल एक सौ चार वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर देवलोक पधारे।<sup>41</sup> इनके नाम के पश्चात् क्षमाश्रमण विशेषण लगाया जाता है। क्षमाश्रमण, वाचनाचार्य, वाचक आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।<sup>42</sup>

शिष्यहिता नामक बृहद्वृत्ति के रचयिता आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने इन्हें 'क्षमाश्रमण' कहकर इनका गुणगान करते हुए कहा है कि ये आवश्यकभाष्यरूपी अमृत के सागर एवं गुणरत्नाकर थे,<sup>43</sup> साथ ही "जिनभद्र क्षमाश्रमण व्याख्यातारः" कहकर उनके प्रति विशेष आदर एवं सम्मान के भाव प्रदर्शित किए हैं एवं व्याख्याकार आचार्यों में उनको उत्कृष्ट बताया है।<sup>44</sup> आचार्य सिद्धसेनगणि ने जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनेकानेक वैदुष्यपूर्ण कार्यों का संकेत करते हुए उन्हें युगप्रधान, अनुयोगधर दर्शनज्ञानोपयोग के मार्गदर्शक, क्षमाश्रमणों में निधानभूत आदि विविध प्रकार के आदरसूचक विशेषणों के साथ श्रद्धाभाव प्रकट किया है।<sup>45</sup> जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ऐसे महान् व्यक्तित्व के धनी थे।

<sup>41</sup> ध्यानशतक (सं. - श्रीमद्विजयकीर्तिशशसूरि) के ग्रन्थकार के परिचय के सन्दर्भ से उद्धृत, पृ. 44.

<sup>42</sup> पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने इन शब्दों की मीमांसा इस प्रकार की है-

प्रारम्भ में 'वाचक' शब्द शास्त्रविशारद के लिए विशेष प्रचलित था, परन्तु जब वाचकों में क्षमाश्रमण की संख्या बढ़ती गई, तब 'क्षमाश्रमण' शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप में प्रसिद्ध हो गया, अथवा 'क्षमाश्रमण' शब्द आवश्यकसूत्र में सामान्य गुरु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, अतः सम्भव है कि शिष्य विद्यागुरु को क्षमाश्रमण के नाम से सम्बोधित करते रहें हों, इसलिए यह स्वाभाविक है कि 'क्षमाश्रमण' 'वाचक' का पर्याय बन जाए। जैन-समाज में जब वादियों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई, शास्त्र-वैशारद्य के कारण वाचकों का ही अधिकतर भाग 'वादी' नाम से विख्यात हुआ होगा, अतः कालांतर में 'वादी' का भी 'वाचक' ही पर्यायवाची बन जाना स्वाभाविक है। सिद्धसेन जैसे शास्त्रविशारद विद्वान् अपने को 'दिवाकर' कहलाते होंगे, अथवा उनके साथियों ने उन्हें 'दिवाकर' की पदवी दी होगी, इसलिए 'वाचक' के पर्याय में 'दिवाकर' को भी स्थान मिल गया। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग रहा होगा, अतः सम्भव है कि उनके बाद के लेखकों ने उनके लिए वाचनाचार्य के स्थान पर क्षमाश्रमण पद का उल्लेख किया हो। - गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ. 31.

<sup>43</sup> आवश्यक प्रतिनिबद्धगंभीरभाष्य, पीयूषजन्मजलधिर्गुणरत्नराशिः।

ख्यातः क्षमाश्रमणतागुणतः क्षितौ यः, सोऽयंगणिर्विजयते जिनभद्रनामा।। - शिष्यहिता, मंगलाचरण, पद्य 2.

<sup>44</sup> शब्दानुशासन, सूत्र 39.

<sup>45</sup> जीतकल्पचूर्णि, गाथा 510.

**मूल ग्रन्थकार का कृतित्व** — आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के जीवनवृत्त के सन्दर्भ में विस्तार से जानकारी न मिलने के बावजूद भी उनके कृतित्व एवं वैदुष्य का साक्षात्कार उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों से हो जाता है, अर्थात् उनकी वैदुष्यपूर्ण प्रतिभा उनकी कृतियों में सर्वत्र प्रतिबिम्बित हुई है।

जिनभद्रगणि आगमों के प्रति पूर्ण समर्पित थे। आगम-परम्परा दीर्घकालीन बनकर ज्ञान-पिपासुओं के हृदय में स्थित रहे, इसी लक्ष्य से उन्होंने भाष्य की रचना की। निर्युक्तियों के बाद भाष्यों की रचना हुई है। निर्युक्तियां संकेतात्मक भाषा में रची जाती हैं। इसका मुख्य उद्देश्य पारिभाषिक-शब्दों की व्याख्या करना होता है। निर्युक्तियों में अर्थ की स्पष्टता नहीं होती है, अतः आगम के गहन रहस्य को समझने के लिए अर्थ सहज, सुबोध तथा अधिक स्पष्ट हो— इस हेतु भाष्यों की रचना का क्रम बना है। निर्युक्तियों के समान ही भाष्य भी पद्यबद्ध प्राकृतभाषा में लिखे जाते हैं।

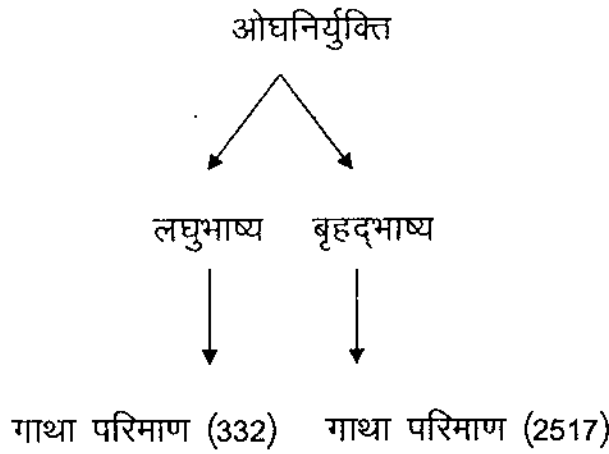
**भाष्य-ग्रन्थ** — आगम-साहित्य जैनधर्म की निधि है। मूल ग्रन्थ के रहस्य को उद्घाटित करना तो केवलीगम्य ही है, लेकिन यह भी सत्य है कि जब तक किसी ग्रन्थ की प्रामाणिक-व्याख्या का सूक्ष्म निरीक्षण नहीं किया जाता, तब तक उस ग्रन्थ में रही हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातों से हम अनभिज्ञ रह जाते हैं। तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए ग्रन्थ के गूढ रहस्य को सरलता से प्रतिपादित किया जा सके, इस हेतु क्रमशः निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं की रचना होती है। निर्युक्तियों के अर्थ सूक्ष्म तथा दुर्गम्य, अस्पष्ट होने से उसे सरल, सुगम एवं स्पष्ट बनाने हेतु इन्हीं निर्युक्तियों के आधार पर भाष्यों की रचना हुई, लेकिन कुछ भाष्यों की रचना मूलसूत्रों के आधार पर भी हुई थी। आगम-ग्रन्थों पर आधारित भाष्यों की सूची निम्नांकित है—

1. आवश्यक 2. दशवैकालिक 3. उत्तराध्ययन 4. बृहत्कल्प 5. पंचकल्प 6. व्यवहार 7. निशीथ 8. जीतकल्प 9. ओघनिर्युक्ति तथा 10. पिण्डनिर्युक्ति। आगम-साहित्य में मुख्य रूप से दो भाष्यकारों के नाम ही उपलब्ध हैं, वे हैं— 1. संघदासगणि और 2. जिनभद्रगणि, लेकिन स्वर्गस्थ मुनि पुण्यविजय ने संघदासगणि और जिनभद्रगणि के अलावा दो और भाष्यकारों के होने का अनुमान किया है। उनके मतानुसार, एक तो

व्यवहारभाष्य का और एक बृहत्कल्पभाष्य का प्रणेता होना चाहिए, किन्तु उनके नाम के सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं की गई है।<sup>46</sup>

उत्तराध्ययन, दशवैकालिकसूत्र, पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति पर जो भाष्य मिले, उनके कर्त्ता अज्ञात हैं।<sup>47</sup>

प्रथम तीन भाष्यों की गाथा-संख्या-प्रमाण बहुत ही अल्प है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिकसूत्र और पिण्डनिर्युक्तिभाष्य की गाथा क्रमशः पैंतालीस, तिरसठ, व छियांलीस हैं। ये लघुकायिक होने से इन्हें कंठस्थ किया जा सकता था। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य मिले हैं - 1. लघुभाष्य और 2. बृहद्भाष्य।



व्यवहारभाष्य दस उद्देशकों में विभाजित है। इस भाष्य के अन्तर्गत आलोचना, प्रायश्चित्त, गच्छ, पदवी और विहारादि के विषयों का उल्लेख है, साथ ही विभिन्न प्रकार से प्रायश्चित्त का विधान भी है। निशीथ-भाष्य में जैन-आचारसंहिता का एवं प्रायश्चित्त का सविस्तार वर्णन है। इन दोनों की विषयवस्तु अत्यन्त उपयोगी है। बृहत्कल्पभाष्य तथा पंचकल्पभाष्य के प्रणेता जिनभद्रदासगणि हैं। बृहत्कल्पभाष्य दो भागों में विभाजित है- लघुभाष्य एवं बृहद्भाष्य। बृहत्कल्पभाष्य अनुपलब्ध है तथा लघुभाष्य में जैन-श्रमणों की आचार-चर्या का वर्णन है। यह छः उद्देशकों में विभक्त है। इसकी गाथा-संख्या 6490 है। बृहत् सांस्कृतिक-सामग्री भी इसमें निहित है। पंचकल्पभाष्य में 2574 गाथाएं

<sup>46</sup> प्रस्तुत संदर्भ जैनधर्म के 'प्रभावक आचार्य' नामक किताब से लिया गया है, पृ. 419.

<sup>47</sup> प्रस्तुत संदर्भ जैनधर्म के 'प्रभावक आचार्य' नामक किताब से लिया गया है, पृ. 419.

हैं तथा आर्य-देशों और राजधानियों की सूचना इस भाष्य में मिलती है। विशेषावश्यकभाष्य तथा जीतकल्पभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रदासगणि हैं।

**भाष्यकार जिनभद्रगणि** — भाष्यकारों में जिनभद्रगणि का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। उत्तरवर्ती-काल के आचार्यों ने जिनभद्रगणि को भिन्न-भिन्न उपमाओं से अलंकृत किया था, जैसे— भाष्यसुधाम्मोधि, भाष्यपीयूषपायोधि, प्रशस्तभाष्यसस्यकाश्यपीकल्प, दलितकुवादिप्रवाद आदि।<sup>48</sup> ये भारतीय-न्याय तथा अन्य दर्शनों के अध्ययन में भी ख्याति प्राप्त विद्वान् रहे थे। भाष्यकार की आगम-परम्परा में विशेष रुचि दृष्टिगोचर होती है। इनकी कृतियां संस्कृत तथा प्राकृत-भाषा में प्राप्त होती हैं। इनका संस्कृत तथा प्राकृत-भाषा पर प्रभुत्व था, इसलिए प्रायः सभी कृतियों की आधार-भाषा संस्कृत तथा प्राकृत है।

आचार्य जिनभद्रगणि की स्वतन्त्र रूप में विरचित कृतियों की सूची इस प्रकार है—

1. विशेषावश्यकभाष्य (प्राकृत पद्य में)
2. विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति (अपूर्ण संस्कृत गद्य)
3. बृहत्संग्रहणी (प्राकृत पद्य में)
4. बृहत्क्षेत्रसमास (प्राकृत पद्य में)
5. विशेषणवती (प्राकृत पद्य में)
6. जीतकल्प (प्राकृत पद्य में)
7. जीतकल्पभाष्य (प्राकृत पद्य में)
8. अनुयोगद्वारचूर्णि (प्राकृत पद्य में)
9. ज्ञाणज्झयण (प्राकृत पद्य में)

प्रस्तुत कृतियों में ज्ञाणज्झयण (ध्यानशतक) कृतित्व के बारे में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु मेरा एवं मेरे निर्देशक डॉ. सागरमल जैन का यह दृढ़ मत है कि ज्ञाणज्झयण अपरनाम ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रदासगणि क्षमाश्रमण ही हैं।

<sup>48</sup> विशेषावश्यकभाष्य, अनुवाद, डॉ० दामोदर शास्त्री, भाग- 1, प्रस्तावना, पृ. 53.

(क) जैनधर्म के प्रभावक आचार्य से उद्धृत, पृ. 420.

(ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग- 3, प्रास्ताविक, पृ. 12.

साहित्य के क्षेत्र में जिनभद्रगणि का विशेष योगदान रहा है। उसमें भी 'भाष्य' तो उनका अनुपम अवदान है। आगमिक-व्याख्या-साहित्य में 'भाष्य' विषय को समझने में अत्यधिक उपयोगी है। जैसा कि पूर्व में ज्ञातव्य है कि भाष्य मूल आगमों एवं उनकी निर्युक्तियों- इन दोनों पर लिखे गए हैं। निर्युक्ति पर आधारित विशेषावश्यकभाष्य भाष्यों में प्रमुख है। भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृतियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार से है-

### 1. विशेषावश्यकभाष्य -

यह एक ऐसा सारगर्भित ग्रन्थ है, जिसमें समस्त जैन वाङ्मय में वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की सविस्तार चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन-ज्ञानवाद, प्रमाण-शास्त्र, आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्म-सिद्धान्त आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है।<sup>49</sup>

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जैन-दर्शन के सिद्धान्तों का निरूपण जैन-दर्शन तक ही सीमित न होकर तत्सम्बन्धी अन्य दर्शनों की अवधारणाओं, मान्यताओं तथा मतभेदों के उल्लेख के साथ हुआ है। आचार्य जिनभद्रगणि का भाषीय वैदुष्य इतना गहन, सजीव तथा सटीक था कि आगमों से सम्बन्धित सभी प्रकार की मान्यताओं का तार्किक-विवरण इस ग्रन्थ में जितने सहज रूप से किया गया है, वैसा अन्यत्र मिलना बहुत ही दुर्लभ है। दूसरे, निर्युक्ति पर आधारित यह 'विशेषावश्यकभाष्य' भाष्यग्रन्थों में प्रमुख माना जाता है। स्वयं भाष्यकार ने इस समग्र ग्रन्थ को अनुयोगों का मूलभूत आधार कहा है।<sup>50</sup> यह भाष्य आवश्यकनिर्युक्ति के अन्तर्गत 'सामायिक' नामक प्रथम अध्ययन पर प्राकृत-भाषा में पद्यबद्ध रूप में लिखा गया है। इसको

<sup>49</sup> (क) शिष्यहिताख्य बृहद्वृत्ति, मलधारी हेमचन्द्रटीका सहित, यशोविजयजी, जैन-ग्रन्थमाला, बनारस, वीर संवत् 2427-2441.

(ख) गुजराती अनुवाद, आगमोदय समिति, बम्बई, सन् 1924-1927.

(ग) विशेषावश्यक गाथा नामकारादि: क्रम: तथा विशेषावश्यकविषयाणामनुक्रम, आगमोदय समिति, बम्बई, सन् 1923.

(घ) स्वोपज्ञ वृत्तिसहित, प्रथम भाग, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद, सन् 1966.

(ये सभी प्रमाण जैनसाहित्य का बृहद इतिहास, भाग- 3 से उद्धृत है)

<sup>50</sup> विशेषावश्यकभाष्य, गाथा - 3603.

‘सामायिक-भाष्य’ के नाम से भी जाना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ आवश्यकसूत्र के सामायिक-अध्ययन की व्याख्या-रूप है।

प्रारम्भ में जिनवाणी के प्रति नतमस्तक होकर और गुरु-चरण को साक्षी मानकर तथा दृढप्रतिज्ञ बनकर आवश्यकानुयोग का फल, योग, मंगल, समुदायार्थ, द्वारोपन्यास, तदभेद, निरुक्त, क्रम-प्रयोजन आदि तथ्यों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। तत्पश्चात्, निक्षेप के भेद, अनुगम के प्रकार एवं नय के आधार पर व्याख्या करने के बाद अनुयोग-द्वारों का विवेचन हुआ है। फिर, क्रमशः पंचज्ञानवाद, गणधरवाद तथा निहनववाद की विवेचना हुई है। यहां एक बात यह समझने योग्य है कि प्रत्येक वस्तु की मर्यादा होती है। इस ग्रन्थ में 3606 गाथाएं हैं। यहां संक्षेप में इतना ही समझना है कि नय, निक्षेप, प्रमाण, स्याद्वाद आदि दर्शन-विषयक जैन-सिद्धान्तों की चर्चा के साथ-साथ पांच ज्ञानों के भेदों-प्रभेदों का विवेचन इस ग्रन्थ की मौलिक देन है। जैन-दर्शन के साथ अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों की समीक्षा इस कृति में गणधरवाद एवं निहनववाद के रूप में उपलब्ध है।<sup>51</sup> गणधरवाद के बाद आवश्यकनिर्युक्ति में सात निहनवों का ही परिचय है, लेकिन जिनभद्रगणि ने अपने इस विशिष्ट ग्रन्थ में इन सात निहनवों के साथ आठवें ‘बोटिक’ नामक निहनव का भी उल्लेख किया है, जिसकी मान्यता दिग्म्बर-परम्परा के अनुसार है। आचार्य सिद्धसेन ने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन को एकरूपता के रूप में स्वीकार किया था, लेकिन जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी कुशाग्र बुद्धि के सहारे आगमिक-तर्कों, परम्पराओं अथवा मान्यताओं के आलम्बनों द्वारा ज्ञान, दर्शन की एकरूपता के सिद्धान्त का खण्डन किया तथा आगमिक-क्रमवाद का समर्थन किया है। जिनभद्रगणि की तार्किक-विमर्श की पद्धति मौलिक थी। उनके प्रत्येक निर्णय में अनेकान्तवाद, स्याद्वाद तथा नय-निक्षेप की पद्धति का प्रयोग हुआ है। जैन-दर्शन के समग्र सिद्धान्तों को भाष्यकार ने भाष्य में समाहित करने का प्रयत्न किया है। इस भाष्य की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थ के अन्तिम चरण में भाष्यकार लिखते हैं कि इस सामायिक नामक भाष्य के पठन-पाठन, चिन्तन-मनन करने से प्रज्ञा विकसित होती है, साथ ही आगम में वर्णित विषय को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त होती है।

<sup>51</sup> पण्डित श्री दलसुख मालवणियाकृत ‘गणधरवाद’ में आचार्य जिनभद्रगणिकृत गणधरवाद की विस्तृत एवं तुलनात्मक प्रस्तावना आदि हैं। गुजरात विद्यासभाभद्र अहमदाबाद की ओर से सन् 1952 में इसका प्रकाशन हुआ।

**2. जीतकल्पभाष्य** — जीतकल्पसूत्र पर आधारित प्रस्तुत भाष्य के भाष्यकार भी जिनभद्रगणि ही हैं। इस भाष्य में जीत-व्यवहार के आधार पर दिए जाने वाले प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त विवरण है। मूलसूत्र में एक सौ तीन गाथाएं तथा भाष्य में दो हजार छः सौ छः गाथाएं हैं। प्रमादवश धर्मक्रियाओं में दोष लगने पर प्रायश्चित्त के द्वारा साधक अपने अन्तःकरण की शुद्धि करता है। मूलसूत्र में आचार्य ने प्रायश्चित्त के आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक आदि दस भेदों का वर्णन किया है।<sup>52</sup> इसके साथ ही, सभी प्रायश्चित्तों के अपराधस्थलों का निर्देश करते हुए यह बताया गया है कि किस अपराध के लिए कौन-सा प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसमें यह भी बताया गया है कि अन्त के दो प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य और पारांचिक-प्रायश्चित्त तो चौदह पूर्वधरों के समय में दिए जाते थे, अर्थात् अन्तिम दो प्रायश्चित्तों का प्रचलन चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहुस्वामी तक रहा, तत्पश्चात् वे लुप्त हो गए। जीतकल्पभाष्य<sup>53</sup> जीतकल्पसूत्र पर दो हजार छः सौ छः गाथाओं में लिखा गया स्वोपज्ञभाष्य है। इस भाष्य के अन्तर्गत जिन-जिन ग्रन्थों की गाथाओं को समाहित किया है, वे निम्नांकित हैं—

1. बृहत्कल्पभाष्य.
2. लघुकल्पभाष्य.
3. व्यवहारभाष्य.
4. पंचकल्पमहाभाष्य.
5. पिण्डनिर्युक्ति.

प्रस्तुत ग्रन्थों की अनेक गाथाएं अक्षरशः मिलती हैं। भाष्य की शुरुआत में आगम, सूत्र, आज्ञा, धारणा एवं जीव-व्यवहार— इन पांच व्यवहारों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। रचयिता के सन्दर्भ में संशय का निवारण करने के पश्चात् सूक्ष्मता से प्रायश्चित्त का अर्थ, आगमव्यवहार, प्रायश्चित्त-स्थान, प्रायश्चित्त-दाता, प्रायश्चित्त-दान की सापेक्षता, भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण व पादोपगमन-संथारे का स्वरूप, श्रुतादिव्यवहार, जीतव्यवहार, प्रायश्चित्त के भेदों की गणना तथा उनका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

<sup>52</sup> जीतकल्पभाष्य, गाथा— 706-730.

<sup>53</sup> जीतकल्पसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य सहित) प्रस्तावना, पृ. 4-5.



यद्यपि भाष्य में भाष्यकार का नामोल्लेख नहीं है, फिर भी 'हेट्टाऽवस्सए भणियं' चरणपद से 'आवश्यक' शब्द को सूचित किया गया है। इससे यह पता चलता है कि विशेषावश्यकभाष्य के भाष्यकार ही इस भाष्य के भी रचयिता हैं। प्रस्तुत भाष्य भी जिनभद्रगणि की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं।

**2. बृहत्संग्रहणी** — आगमों की सारभूत विषय—वस्तु का संक्षेप में ज्ञान करवाने वाली संग्रहणियां भी अति प्राचीन तथा आगमों के विषय को समझने में उपयोगी मानी जाती हैं।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित प्रस्तुत बृहत्संग्रहणीसूत्र में आगम के अनेक विषयों का संग्रह है, यथा—

इसमें जीवों की गति, स्थिति, औपपातिक—जन्म, नरकों के भवन, अवगाहना एवं मनुष्य तथा तिर्यचों के आयुष्य आदि का वर्णन है। सूत्रकार ने इस कृति का नाम संग्रहणी लिखा है।<sup>54</sup> यह ग्रन्थ पद्य—परिमाण की अपेक्षा से बड़ा होने के कारण इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि 'बृहत्संग्रहणी' नाम से हो गई।

इस ग्रन्थ पर आचार्य मलयगिरि ने टीका लिखी है और टीका के प्रारम्भ में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को नमन किया है।<sup>55</sup> मलयगिरि के विचारानुसार इस कृति की मूल गाथाएं तीन सौ तिरपन हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी इस ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। यह ग्रन्थ जैन—दर्शन की भूगोल—खगोल सम्बन्धी जानकारी के लिए एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उत्तरवर्ती कई जैन—आचार्यों ने तत्सदृश कुछ संग्रहणी ग्रन्थों की रचना की है।

**3. बृहत्क्षेत्रसमास** — प्रस्तुत ग्रन्थ के पांच प्रकरण तथा छः सौ छप्पन गाथाएं हैं। जैन—मान्यतानुसार जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि तथा पुष्करार्द्ध आदि द्वीपों एवं समुद्रों का वर्णन इन प्रकरणों में वर्णित है। इसमें गणितानुयोग की भी चर्चा उपलब्ध होती है। मलयगिरि आदि कुछ आचार्यों ने इस पर टीकाएं भी लिखी हैं। 'क्षेत्रसमास' के नाम से भी कई ग्रन्थ रचे गए हैं, लेकिन प्रस्तुत 'बृहत्क्षेत्रसमास' नामक

<sup>54</sup> ता संग्रहणी ति नामेणं, गाथा— 01.

<sup>55</sup> नमत जिनबुद्धितेजः प्रतिहतनिःशेषकुमघनतिमिरम्।

जिनवचनैकनिषण्णं जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणम्।। — बृहत्संग्रहणी.

कृति निर्विवाद रूप से जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रची गई है। कृतिकार ने अपनी इस कृति का नाम समय-क्षेत्र-समास अथवा क्षेत्र-समास-प्रकरण रखा है। इस विषय पर लिखी गई अन्य कृतियों की अपेक्षा प्रस्तुत कृति बृहत् अर्थात् बड़ी होने के कारण इस कृति की ख्याति बृहत्क्षेत्रसमास नाम से हुई।

**4. विशेषणवती** — आगमिक-मान्यताओं को विशिष्ट रूप से परिपुष्ट करने की दृष्टि से लिखी गई इस कृति का नाम विशेषणवती सार्थक ही है। इस ग्रन्थ में जैन-सिद्धान्तों के पोषण तथा उनके सम्बन्ध में उठाई गई विसंगतियों के निवारण का प्रयत्न हुआ है। जिनभद्रगणि का कहना है कि आगम और हेतु (तर्क) में भी आगम को मुख्य स्थान दिया गया है। आगम का स्थान सर्वश्रेष्ठ होना स्वाभाविक है, क्योंकि 'आगम' वीतराग की वाणी है। हेतु (तर्क) और युक्तियों के माध्यम से आगमवाणी का आस्वादन नहीं होता है। इस ग्रन्थ में बलपूर्वक उक्त कथन की पुष्टि की गई है।<sup>56</sup>

विशेषणवती नामक यह ग्रन्थ चार सौ पद्यों में निर्मित हुआ है। इसमें वनस्पति-जगत् एवं अवगाह (आकाश) आदि अनेक विषयों की विवेचना है। सुविख्यात प्राचीनतम ग्रन्थ 'वसुदेवहिण्डी' का निर्देश भी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलता है जो ऐतिहासिक कथानकों का राजा है। जर्मन विद्वानों ने गुणाढ्य की बृहत्कथा से इसकी तुलना की थी। विशेषणवती ग्रन्थ में वसुदेवहिण्डी का वर्णन होने के कारण इसकी प्राचीनता भी स्पष्ट रूप से झलकती है। केवलज्ञान और केवलदर्शन को एक मानने वाले सिद्धसेन दिवाकर का और मल्लवादी के भाष्य की मान्यताओं का विशेषणवती में पूर्ण रूप से खण्डन किया गया है।

**5. अनुयोगचूर्णि** — जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अनुयोगचूर्णि की रचना की थी। इस चूर्णि की रचना अनुयोगसूत्र के अंगुल पद के आधार पर की गई थी। वर्तमान में इस चूर्णि का समावेश जिनदास महत्तर की अनुयोगचूर्णि में है तथा यह आचार्य हरिभद्र की अनुयोगद्वार-टीका में भी उद्धृत है। वर्तमानकाल में प्रस्तुत ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से अप्राप्य है।

<sup>56</sup> विशेषणवती,, पद्य- 274.

**6. विशेषावश्यकभाष्य—स्वोपज्ञवृत्ति** — विशिष्ट ज्ञान के भण्डार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की यह विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञटीका अन्तिम कृति है। क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य की रचना प्राकृत-भाषा में की थी, अतः संस्कृत-भाषा के जानकार पाठकों के लिए इस प्राकृत ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ-संस्कृतटीका के लेखन का कार्य शुरु किया था तथा इस कृति के लेखनकार्य के मध्य जब षष्ठ गणधर मण्डित की शंकाओं का समाधान चल रहा था, उसी दौरान भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का देहावसान हो गया था, अतः कोट्याचार्य ने अवशिष्ट-टीका की रचना पूर्ण की। अवशिष्ट-टीका का परिमाण तेरह हजार सात सौ श्लोक-परिमाण है।

भाष्यकार की यह स्वोपज्ञटीका सरल, सुबोध, सुगम्य तथा विविध विषयों की जानकारी से परिपूर्ण थी। टीका का प्रारम्भिक रूप भाष्य की गाथाओं पर आधारित था। कहा जाता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की टीका के समान ही इस अपूर्ण टीका की पूर्तिरूप कोट्याचार्य ने भी जो टीका लिखी है, वह भी सरल एवं स्व-परकल्याण-गुणयुक्त है।<sup>57</sup>

**7. ज्ञाणज्झयण (ध्यानशतक)** — प्रस्तुत कृति का प्राकृत नाम ज्ञाणज्झयण (ध्यानशतक) है। हरिभद्रसूरि ने इसका निर्देश 'ध्यानशतक' के नाम से किया है। इसके कर्ता को लेकर कुछ विद्वान् सन्देह करते हैं, लेकिन कुछ प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत रचना जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की ही है।

प्रस्तुत कृति का विषय 'ध्यान' है। ध्यान का स्वरूप एवं उसके लक्षण आदि के साथ इसमें चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है—

1. आर्त्तध्यान 2. रौद्रध्यान 3. धर्मध्यान 4. शुक्लध्यान। इनमें से दो शुभ तथा दो अशुभ होते हैं। दो संसारवर्द्धक हैं, तो दो संसारमुक्ति के कारण हैं। इसमें चारों ध्यानों के स्वामी, लक्षण, स्वरूप, आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि विषयों पर चिन्तन किया गया है। इसी

<sup>57</sup> निर्माप्य षष्ठगणधरवक्तव्यं किल दिवंगताः पूज्याः ।  
अनुयोगमार्यं (र्गं) देशिकजिनभद्रगणि क्षमाश्रमणाः ॥  
तानेव प्रणिपत्यातः परमवि शिष्ट विवरणं क्रियते ।  
कोट्यार्यवादिगणिना मन्दधिया शक्तिमनपेक्ष्य ॥

ज्ञाणज्झयणं पर हरिभद्र ने संस्कृत-भाषा में विस्तार से टीका लिखी है जो हमारे शोध का विषय है।

**रचनाकाल** — प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकाल को लेकर कुछ विद्वानों की अपनी भिन्न-भिन्न विचारधाराएं हैं। यदि हम इस कृति के रचनाकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को मानते हैं, तो यह स्पष्ट है कि जिस काल में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण उपस्थित थे, वही काल इसका रचनाकाल होगा। जिनभद्रगणि के स्वर्गकाल के सन्दर्भ में भी कुछ ग्रन्थों के अलग-अलग विचार हमारे समक्ष हैं।

‘विचारश्रेणी-ग्रन्थ’ के आधार पर जिनभद्रगणि का स्वर्गवास वीर संवत् 1120 माना गया है। उसके अनुसार, उनका देहावसान विक्रम संवत् 650 या ईस्वी सन् 593 में हुआ होगा— ऐसा प्रतीत होता है।<sup>58</sup> ‘धर्मसागरीयपट्टावली’ के अन्तर्गत जिनभद्रगणि का स्वर्गवास विक्रम संवत् 705 के आसपास का माना गया है, तदनुसार वे ईस्वी सन् 649 में स्वर्ग सिधारे थे।<sup>59</sup> जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के ग्रन्थों में सिद्धसेनगणि आदि के सन्दर्भ तो मिलते हैं, लेकिन उनके ग्रन्थों में वीर निर्वाण संवत् 1120 तदनुसार विक्रम संवत् 650 के बाद हुए किसी भी आचार्य के मत का वर्णन अब तक तो दृष्टिगोचर नहीं हुआ है, अतः वे विक्रम की सातवीं शती में ही हुए हैं। जिनदास द्वारा विरचित नन्दीसूत्र की चूर्णि (वीर निर्वाण 1203, तदनुसार विक्रम संवत् 733 में रचित) में जिनभद्रगणिकृत विशेषावश्यकभाष्य का उल्लेख उपलब्ध है, अतः भाष्य विक्रम संवत् 733 के पूर्व लिखा गया है।

इन तथ्यों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनका स्वर्गवास अधिक-से-अधिक वीर निर्वाण 1120 तदनुसार के आसपास का रहा होगा।<sup>60</sup> यह सुस्पष्ट है कि विशेषावश्यकभाष्य तथा उसकी स्वोपज्ञटीका उनकी चरम कृति के रूप में प्रसिद्ध है, अतः हम कह सकते हैं कि ‘ज्ञाणज्झयण’ की रचना लगभग ईस्वी सन् सातवीं शताब्दी के मध्यकाल में ही हुई होगी। हमको यह बात भी मानना पड़ेगी कि जिनभद्र

<sup>58</sup> विचारश्रेणी ग्रन्थ, प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानशतक : एक परिचय से उद्धृत है।

<sup>59</sup> धर्मसागरीय पट्टावली,, प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानशतक : एक परिचय से उद्धृत है।

<sup>60</sup> जैन-धर्म के प्रभावक आचार्य, पृ 425.

शक संवत् 531, अर्थात् ईस्वी सन् 609 के पूर्व हुए हैं, क्योंकि शक संवत् 531 का आलेख विशेषावश्यकभाष्य की एक ताड़पत्रीय पर है। उसकी एक प्रतिलिपि आज भी जैसलमेर के ज्ञानभण्डार में उपलब्ध है। इसको प्रमाण मानते हुए हम यह कह सकते हैं कि विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल शक संवत् 531 के बाद का तो नहीं हो सकता, अतः जिनभद्रगणि का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी या उसका उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इसी के आधार पर यह भी प्रमाणित होता है कि ध्यानशतक की रचना विक्रम की सातवीं शताब्दी में कभी हुई होगी।

पण्डित दलसुखभाई की मान्यतानुसार ध्यानशतक का रचनाकाल विक्रम की दूसरी या तीसरी शती होना चाहिए, क्योंकि ध्यानशतक के रचयिता निर्युक्तिकार ही मानते हैं— इस मान्यता का खण्डन हम पहले कर चुके हैं, फिर भी यदि हम निर्युक्तियों की रचना का समय ईस्वी सन् दूसरी शती मानते हैं, तो इस ग्रन्थ के रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा की दूसरी शताब्दी और उत्तर सीमा ईस्वी सन् छठवीं शताब्दी या विक्रम की सातवीं शती के मध्य स्वीकार किया जा सकता है।

पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीजी स्थानांग आदि सभी अर्द्धमागधी आगमों को वल्लभी—वाचना (पांचवीं शताब्दी) की रचना मानते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है, क्योंकि वल्लभी—वाचना में अर्द्धमागधी आगमों की रचना नहीं हुई, अपितु इन आगमों का सम्पादन एवं लेखन—कार्य हुआ है। उनकी रचना तो उसके तीन सौ या चार सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी। 'ज्ञाणज्झयण' का आधारभूत ग्रन्थ स्थानांगसूत्र स्वीकार किया जा सकता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उसकी रचना 'ज्ञाणज्झयण' के पहले हो चुकी थी। विद्वानों ने, इसको ईसा की द्वितीय या तृतीय शताब्दी के पहले रचा है—यही माना है।

समवायांग और नन्दीसूत्र में उल्लेखित विषय—वस्तु से स्थानांग में वर्णित आयारदशा आदि ग्रन्थों के नाम और उनकी विषयवस्तु काफी प्राचीन दिखाई देती है। वे नागार्जुनीय (तीसरी शती) और देवर्द्धिगणि की वाचना के पूर्व के हैं और ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) में ध्यान से सम्बन्धित विषय—वस्तु का अनुकरण इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। यदि 'ज्ञाणज्झयण', अपर नाम ध्यानशतक का आधार स्थानांगसूत्र रहा हो, तो भी वह ईस्वी सन् की दूसरी शती से पूर्ववर्ती तथा छठवीं, सातवीं शती से परवर्ती नहीं है, क्योंकि विक्रम की आठवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुए हरिभद्र स्वयं ने

आवश्यकवृत्ति के अन्तर्गत उस पर सविस्तार टीका लिखी है। डॉ. सागरमल जैन भी इसका समर्थन करते हुए अपने ध्यानशतक की भूमिका में लिखते हैं—

ज्ञाणज्झयण अपरनाम ध्यानशतक का रचनाकाल ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और ईस्वी सन् के पूर्व हो सकता है। फिर भी, मेरी दृष्टि में इसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रचना होने के कारण ईस्वी सन् की सातवीं शती की रचना मानना अधिक उपयुक्त है।<sup>61</sup>

### टीकाकार हरिभद्र का परिचय —

‘बहुरत्ना वसुन्धरा’— प्रस्तुत उक्ति भारतवर्ष के लिए यथार्थ सिद्ध होती है। इस पवित्र—पावन भूमि पर ऐसे धीर, वीर और गम्भीर महापुरुषों की कमी न थी, न है और न ही रहेगी। ऐसे महान् पुरुष अपने पराक्रम, अपनी साधना तथा अपनी प्रज्ञा के माध्यम से स्वकल्याण में तो रत रहते ही हैं, साथ—ही—साथ सामान्यजन को भी लाभान्वित करते हैं। संसार के कल्याण के लिए, प्राणीमात्र की सेवा के लिए और उत्कृष्ट मानवता के निर्माण के लिए वे अपने जीवन का बलिदान देकर समग्र संसार में सदा—सदा के लिए सम्माननीय एवं आदरणीय बन जाते हैं। ऐसे महान् पुरुषों की पंक्ति में अग्रणी स्थान प्राप्त कर चुके हैं, असाधारण व्यक्तित्व के धनी— आचार्य हरिभद्रसूरि।

जैन—परम्परा में हरिभद्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं, लेकिन सबसे प्राचीन हरिभद्रसूरि ‘याकिनी महत्तरा सुनू’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे, इनको भवविरहसूरि के नाम से भी जाना जाता है। यह हरिभद्रसूरि ही प्रस्तुत कृति के टीकाकार हैं। आचार्य हरिभद्र के जीवन के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त कराने वाले ग्रन्थों में प्राचीनतम ग्रन्थ भद्रेश्वर की ‘कहावली’ है, जो अब तक अप्रकाशित है। ‘कहावली’ नामक यह ग्रन्थ प्राकृत—भाषा में लिखा गया था।<sup>62</sup> इसका रचनाकाल निश्चित नहीं है, फिर भी इतिहासज्ञों ने विचार—विमर्श के पश्चात् इसे विक्रम की बारहवीं शताब्दी के लगभग की रचना माना है। इसके अन्तर्गत आचार्य हरिभद्र के जन्मस्थान का नाम ‘पिवंगुई बंभपुणी’ लिखा गया था<sup>63</sup>, जबकि अन्य ग्रन्थों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि उनका जन्मस्थल ‘चित्तौड़—चित्रकूट’ रहा है।<sup>64</sup>

<sup>61</sup> जैन धर्म—दर्शन एवं संस्कृति, भाग 7, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 43.

<sup>62</sup> कहावली., कर्ता— भद्रेश्वरसूरि (अमुद्रित).

<sup>63</sup> पिवंगुईए बंभपुणीए, कहावली., खण्ड— 2, पत्र— 300.

ये दोनों जन्मस्थल भिन्न-भिन्न नाम वाले होने पर भी उनमें विशेष विरोध जैसी कोई बात नहीं लगती। 'पिवंगुई'— ऐसा मूल नाम सही है या विकृत रूप में प्राप्त हुआ, इस बात का निर्णय करना कठिन है, परन्तु उनके संलग्न जो 'बंभपुणी' लिखा गया है, वह तो ब्रह्मपुरी का ही विकृत रूप है। हो सकता है कि चित्तौड़ (चित्रकूट) के आसपास इस नाम का कोई देहात, कस्बा, अथवा चित्तौड़ नगर का ही एक भाग रहा होगा, जो चित्तौड़ की सीमा के अन्तर्गत आता हो। इस हेतु उत्तरवर्ती ग्रन्थों में अति विख्यात चित्तौड़ का उल्लेख तो रह गया, किन्तु 'ब्रह्मपुरी' नाम गौण बन गया हो। बाद में किसी विद्वान् का ध्यान उस ओर केन्द्रित नहीं हुआ।

चित्तौड़ के विकास के पूर्व उत्तर-दिशा में करीब पांच से छह मील दूर शिबि जनपद की राजधानी 'मध्यमिका' नगरी प्रसिद्ध थी, जो वर्तमान में सिर्फ 'नगरी' के नाम से जानी जाती है। यह नगरी प्राचीन है तथा सत्ता, ज्ञान और धर्मस्थान का मुख्य केन्द्र रही है<sup>65</sup>, इसलिए तो विरोधी पक्षों द्वारा यदा-कदा आक्रमित होती रही है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख महाभाष्यकार पतंजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) ने अपने भाष्य में किया।<sup>66</sup> मध्यमिका तीनों परम्पराओं (वैदिक, बौद्ध तथा जैन) का एक विशिष्ट क्षेत्र था।<sup>67</sup> निरन्तर आक्रमणों के कारण जब वह स्थान असुरक्षित हुआ, तब चित्रांगद नाम वाले एक मौर्य राजा<sup>68</sup> ने मध्यमिका को अपने राज्य की राजधानी बनाया। पहाड़ पर स्थित होने से

पाटन संघवी के पांडे के जैनभण्डार की विसं. 1497 में लिखित ताड़पत्रीय पोथी।

<sup>64</sup> अधोलिखित प्राचीन ग्रन्थों में जन्मस्थान के रूप में चित्तौड़ (चित्रकूट) का उल्लेख मिलता है।

क. हरिभद्रसूरिकृत 'उपदेशपद' की श्रीमुनिचन्द्रसूरिटीका, विसं. 1174.

ख. 'गणधरसार्धशतक' की सुमतिगणिकृत वृत्ति, विसं. 1295.

ग. प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित्र' नवम शृंग, विसं. 1334.

घ. राजशेखरसूरिकृत 'प्रबोधकोष' अपरनाम 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध', विसं. 1405.

<sup>65</sup> 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', वर्ष 62, अंक 2-3 में प्रकाशित डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख 'राजस्थान में भागवतधर्म का प्राचीन केन्द्र', पृ. 116-121.

<sup>66</sup> अरुणाद यवनो मध्यमिकाम्— 3/ 2/111.

<sup>67</sup> कल्पसूत्र-स्थविरावली,, उसमें मज्झिमिआ-शाखा का उल्लेख है। वह मध्यमिका-नगरी के आधार पर उस नाम से प्रसिद्ध हुई।

<sup>68</sup> चित्रकूट की स्थापना चित्रांगद ने की थी,— ऐसी कथा 'कुमारपालचरित्रसंग्रह' में पृष्ठ 5 और पृष्ठ 47-49 पर आती है। यह चित्रांगद मौर्यवंश का था, ऐसा नीचे के आधारों से निश्चित किया जा सकता है—

क. श्री हीरानंद शास्त्री — ३। हनपकम जव म्ममर्चीदजंश दृ जीपे वनसक ोवू जीज डमूत दक जीम नततवनदकपदह जतंबजे मूतम ीमसक इल डंतल कलदेजल कनतपदह जीम मपहीजी

बमदजनतल जिमत बितपेजए पृ. 07, 'ख्यातों' में भी चित्रांगद का मौर्य के रूप में निर्देश मिलता है।

<sup>69</sup> संकरो नाम भटो, तस्स गंगा नाम भट्टिणी। तीसे हरिभदो नाम पंडिओ पुत्तो।

वह स्थान आक्रमण के भय से रहित था। मध्यमिका का विकास चित्तौड़ में हो गया। चाहे जो भी हो, मूल बात तो यह है कि यदि ब्रह्मपुरी का संकेत यथार्थ है, तो वह चित्तौड़ अथवा ब्राह्मणों की प्रधानता वाली मध्यमिका कोई कस्बा, उपनगर, अथवा मोहल्ला रहा होगा। इस प्रकार, हरिभद्र के जन्मस्थान के सन्दर्भ में अधिक विवाद नहीं रह जाता है। हरिभद्र का जन्म गंगा (गंगण) की रत्नकुक्षी से हुआ। उनके पिता का नाम शंकर भट्ट था।<sup>69</sup> हरिभद्र का जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ— इस बात की प्रमाणिका उनके पिता के नाम के पश्चात् जुड़े शब्द 'भट्ट' से भी ज्ञात हो जाती है।<sup>70</sup> चित्तौड़ के अधिपति जितारि नरेश के राज्य में राजपुरोहित की पदवी से सुशोभित होने के कारण जनसमुदाय में उनकी अच्छी-खासी प्रतिष्ठा थी।<sup>71</sup> उन्होंने सभी चौदह विद्याओं को तो कंठस्थ किया ही, साथ ही अपनी विलक्षण प्रज्ञा द्वारा वेद और पुराणों को भी अपनी जिह्वा के अग्र भाग पर स्थिर किया। कितने भी कठिन शास्त्र-प्रवचन क्यों न हों, वे पल भर में उन्हें हल कर देते थे। उनको अपनी बुद्धि पर नाज तथा गर्व था, अभिमान था कि उनसे मुकाबला करने वाला योग्य पात्र इस संसार में दूसरा कोई नहीं है, इसलिए उन्हें 'बहुरत्ना वसुन्धरा' वाली उक्ति भी अवैज्ञानिक लगी। वे अपने-आप को विद्वत्-शिरोमणि मानते थे। पाण्डित्य के अतिशय अभिमान ने उन्हें गुमराह कर दिया था, इसलिए कहीं मेरा ज्ञान पेट फटकर बाहर न आ जाए— इस भ्रम से भ्रमित होकर वे पेट पर स्वर्णपट बांधते थे। वह जब भी घर से बाहर निकलते, अपने साथ चार वस्तुएं लेकर जाते थे। वे वस्तुएं निम्नांकित थीं—

1. कुदाल
2. जाल
3. सीढ़ी
4. जम्बू-वृक्ष की शाखा।

दर्पोन्नत मानस से प्रेरित होकर वे कुदाल इसलिए रखते थे, ताकि विवाद करने वाला प्रतिस्पर्द्धी कहीं भूमि की गहराई में छिप जाए, तो उसे बाहर निकालकर पराजित किया जा सके। जाल रखने का कारण यह था कि शास्त्रार्थ में पारंगत विद्वान् कहीं अतल जलराशि में डुबकी लगा रहा हो, तो उसे जाल में फंसाकर बाहर निकाला जा

— कहावली, पत्र— 300.

<sup>70</sup> एवं सो पंडितगव्यमुब्वहमाणो हरिभद्रो नाम माहणो । — धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 5अ.

<sup>71</sup> अतितरलमतिः पुरोहितोऽभुन्नृपविदितो हरिभद्रनामवित्तः ।।

— हरिभद्रसूरिचरित्र, शृङ्ग— 9, श्लोक 8.



सके। आकाश में विचरण करने वाले पण्डित को परास्त करने के उद्देश्य से वे हर समय अपने पास सीढ़ी रखते थे, ताकि सीढ़ी की सहायता से उस पण्डित को नीचे उतारकर शास्त्र-चर्चा के लिए ललकार सकें। जम्बू-वृक्ष की शाखा रखने की वजह यह थी कि वे ऐसा मानते थे कि समग्र जम्बूद्वीप में उन जैसा विद्वान् कोई नहीं है। इस प्रकार, हरिभद्र अपने-आपको 'सर्वज्ञ' समझते थे।<sup>72</sup> उन्होंने एक विचित्र संकल्प ले रखा था— 'यदि किसी व्यक्ति द्वारा उच्चारित श्लोक, अथवा कथन का अर्थ ठीक तरह से समझ न पाया, तो मैं तुरन्त उसके चरण-कमलों में शिष्यत्व के रूप में समर्पित हो जाऊंगा।'

उन दिनों यत्र-तत्र-सर्वत्र हरिभद्र के पाण्डित्य का बोलबाला था। चित्तौड़ ही नहीं, पूरे देश में उनके पाण्डित्य की धाक थी। बड़े-बड़े विद्वान् उनका नाम सुनते ही कांप जाते थे। उस समय उनके हृदय में जैनधर्म के प्रति भी द्वेषभाव था। तत्समय वे जब-जब भी जैन-मंदिरों के आसपास से गुजरते, तब-तब बार-बार एक ही बात दोहराते— 'हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेत् जैन मंदिरं।' निरंकुश हाथी के पावों तले कुचला जाना स्वीकार है, लेकिन किसी भी परिस्थिति में जैन-मंदिर में प्रवेश करना स्वीकार नहीं है।

एक दिन यह बात वास्तविकता में बदल गई। हरिभद्र अपनी पालकी में बैठकर टाट-बाट से जनसमुदाय के साथ कहीं जा रहे थे, तभी अचानक एक निरंकुश हाथी पागलों की भांति भागता हुआ पालकी की ओर बढ़ने लगा, जिसे देख जन-समुदाय में भगदड़ मच गई। प्राणों की रक्षा हेतु सभी इधर-उधर भागने लगे। हरिभद्र भी अपनी पालकी से कूदकर जैसे-तैसे जान बचाकर निकटवर्ती जैन-मंदिर में घुस गए। अपने प्राणों की रक्षा की बात मुख्य होने से वे अपने द्वारा बार-बार कही जाने वाली वही बात भूल गए कि 'हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेत् जैन मंदिरं।' हाथी के भय से घबरा कर वे मन्दिर में प्रविष्ट तो हुए, लेकिन वहां भी अपने सम्मुख मन्दिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा को देखकर उपहासपूर्वक यह कहने लगे— "तेरी स्थूलकाया से यह प्रतीत होता है कि तू

<sup>72</sup> परिभवनमतिर्महावलेपात् क्षितिसलिलाम्बखासिनां बुधानाम्।  
अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितयं जयाभिलाषी॥  
स्फुटति जठरमत्रशास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम्।  
मम सममतिरस्ति नैव जम्बूक्षितिवलये वहते लतां च जम्ब्वाः॥

— प्रभावक चरित्र, पृ. 62

मिष्ठान्नभोगी है।<sup>73</sup> इस प्रकार, कट्टर द्वेषपूर्ण दृष्टि से वे जैनधर्म के प्रति सर्वथा उपेक्षा-भाव ही रखते थे।

एक बार राजसभा का विसर्जन होने के बाद वे राजमार्ग से जा रहे थे। मार्ग में स्थित जैन-उपाश्रय में साध्वी-समुदाय की प्रमुख 'याकिनी महत्तरा' संग्रहणी-गाथा का उच्चस्वरपूर्वक पाठ कर रही थीं।

**चक्कि दुगं हरिपणगं पणगंचक्कीण केसवो चक्की।**

**केसव चक्की केसव दुचक्की केसव चक्कीया।<sup>74</sup>**

इस स्वरध्वनि ने जैसे ही हरिभद्र के कर्ण को स्पर्श किया, वैसे ही वे विचारमग्न हो गए। मन-ही-मन चिन्तन-मनन चल रहा था। लाख कोशिश के उपरान्त भी वे 'चक्कीदुगं' का अर्थ न समझ सके। हरिभद्र के अहं पर यह पहली करारी चोट थी। अर्थबोध की तीव्र उत्कण्ठा ने उन्हें विचलित कर दिया और उन्हें अपने उस संकल्प का स्मरण हो गया। संकल्प के अनुसार, उनके शिष्यत्व को स्वीकार करने की भावना को लेकर हरिभद्र उपाश्रय में उपस्थित हुए। पहली बार विनम्रतापूर्वक करबद्ध मुद्रा में उन्होंने याकिनी महत्तरा से प्रार्थना की- 'प्रसादं कृत्वा अस्य अर्थं कथयतु', अर्थात् कृपा करके मुझे इस श्लोक का अर्थ समझाइए। महत्तराजी ने मंद एवं मधुर स्वरों में कहा- "यह शास्त्रीय-पाठ है। इसे गुरु-निर्देश के बिना समझाया नहीं जा सकता।" साध्वी महत्तरा के मार्गदर्शन से, 'प्रभावकचरित्र -प्रबन्ध' के अनुसार, हरिभद्र पण्डित आचार्य जिनभद्रसूरि के चरणों में उपस्थित हुए।<sup>75</sup>

'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि हरिभद्र के गुरु जिनभद्र थे, लेकिन कथावली ग्रन्थानुसार हरिभद्रसूरि जिनदत्तसूरि के शिष्य थे।

<sup>73</sup> प्रभावकचरित्र, श्लोक 29.

<sup>74</sup> आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 429.

<sup>75</sup> (क) जिनभट्टमुनिराजराजकलशोभवो..... स्वकीयम् ॥ - प्रभावकचरित्र, पृ. 62.

(ख) ततो जिनभद्राचार्य दर्शनम् प्रतिपत्तिः चारित्रम्। - प्रबन्धकोश, पृ. 24, पंक्ति 14.

(ग) तत्र श्री बृहद्गच्छे श्री जिनभद्रसूरयः। - पुरातन प्रबन्धसंग्रह, पृ. 103.

आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर जिनदत्तसूरि का नाम निर्दिष्ट किया। आवश्यकवृत्ति में वे लिखते हैं—

“समाप्ता चयं शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका, कृति सिताम्बराचार्य  
जिनभट्टनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्ययस्य धमतो  
याकिनीमहत्तरा सूनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।”

प्रस्तुत टीका में आचार्य हरिभद्र ने गुरु जिनदत्त के नामोल्लेख के साथ श्वेताम्बर-परम्परा विद्याधरकुल का नाम निर्दिष्ट किया है तथा अपने को जिनदत्त का शिष्य माना है। शिष्य के द्वारा जो नाम अपने गुरु को ज्ञात करवाया जाता है, वह अधिक प्रामाणिक तथा यथार्थता के करीब होता है, अतः आचार्य हरिभद्र की रचनाओं में उपलब्ध नाम के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उनके दीक्षादाता विद्याधरकुल तिलकायमान् जिनदत्तसूरि थे। जिनभट्ट अथवा जिनभद्र उनके गच्छसंवाहक के रूप में सम्भव हो सकते हैं।

गुरुचरणों की सन्निधि में पहुंचते ही विद्वान् हरिभद्र को पहली बार एक अनूठी प्रसन्नता की अनुभूति हुई। गुरु-चरणों में नतमस्तक होकर उन्होंने अपने हृदय की तीव्र जिज्ञासा को शान्त करने का उपाय पूछा। गुरुदेव का कथन था कि ‘पूर्वोपर सन्दर्भ सहित सिद्धान्तों को समझने के लिए श्रमण-जीवन को स्वीकार करना अनिवार्य है। हृदय में पनप रही अर्थ-बोध प्राप्त करने की पीड़ा को शान्त करने हेतु हरिभद्र ने मुनिवेश धारण करने के लिए तुरन्त निर्णय ले लिया। वे गुरु के कर-कमलों से दीक्षित हुए और साथ ही याकिनी महत्तरा के उस श्लोक के अर्थ का ज्ञान भी प्राप्त किया। हरिभद्र मुनि ने याकिनी महत्तरा के प्रति अहोभाव अथवा कृतज्ञता-भाव प्रकट करते हुए कहा— “मैं शास्त्र-विशारद होकर भी मूर्ख था। सुकृत के संयोग से निजकुल-देवता के समान धर्ममाता याकिनी से बोध को प्राप्त हुआ हूँ।” इस प्रकार, स्वयं को याकिनी का धर्मपुत्र मानकर उन्होंने अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की। जैन-शासन के लिए महान् धुरंधर आचार्य ने उपकारी आर्या को विश्व के समक्ष चिरस्मरणीय बना दिया, यही उनके हृदय की महानता, विशालता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। हरिभद्र के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी अपनी-अपनी रचनाओं में हरिभद्र को ‘याकिनी महत्तरासुनू’ कहकर सम्बोधित किया है, जैसे—

‘याकिनी महत्तरा धर्मपुत्रत्वेन प्रख्यातः आचार्य जिनदत्त शिष्यो जिनभट्टाज्ञावर्ती च विरहाङ्कभूषितललित—विस्तरादिग्रन्थ सन्दर्भ प्रणेता सर्वेषु प्राचीनतमाः।’<sup>76</sup> कृतिः सिताम्बराचार्य हरिभद्रस्य, धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोः।<sup>77</sup>

उपदेश में भी कहा है—

जाइणिमयहरिआइ रइआ ए ए उ धम्मपुत्तेण ।

हरिभद्रायरिएणं भवविरह इच्छमाणेणं ।। — उपदेशपद<sup>78</sup>

इस प्रकार, याकिनी महत्तरा अजन्मदायिनी जननी बनी। यह सारा श्रेय सिद्धहस्त आचार्य हरिभद्र का था। हरिभद्र मुनि ने मुनिचर्या की नानाविध शिक्षाएं अपने गुरु की सान्निध्यता से संप्राप्त की और निर्दोष संयम—परिपालना में रत बन गए। आचार्य हरिभद्र गृहस्थावस्था में वैदिक—दर्शन के पारगामी विद्वान् तो थे ही, साथ ही संयम—ग्रहण करते ही जैनदर्शन के विशिष्ट विज्ञाता बने। अल्पावधि में अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के माध्यम से वे आचार्य—पद से अलंकृत हो गए। आचार्य बनते ही उन्होंने बड़ी कुशलता से जिन—शासन की बागडोर सम्भाल ली। एक दिन आचार्य हरिभद्र की संसारी—भगिनी के पुत्र हंस और परमहंस संसार से विरक्त होकर उनके (अपने मामा) के पास दीक्षित हुए। उन्होंने अपने इन दोनों प्रज्ञावंत एवं प्रिय शिष्यों को जैनागमों के साथ—साथ प्रमाणशास्त्र का विशेष ज्ञान प्रदान किया। हंस और परमहंस ने न्याय—दर्शन और वैदिक—दर्शन का अध्ययन भी किया। इसके परिणामस्वरूप, उन दोनों के मन में विचार आया कि बौद्धशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु किसी बौद्ध—आश्रम में जाकर बौद्धाचार्यों के पास अध्ययन किया जाए। उन्होंने अपने गुरु के समक्ष यह इच्छा प्रकट की। हरिभद्रसूरि ज्योतिषशास्त्र के ज्ञाता थे। उनको हंस और परमहंस के भविष्य की अनिष्ट घटना का संकेत मिल गया था। उन्होंने उन दोनों प्रिय शिष्यों को बौद्ध—विद्यापीठ जाने के लिए सहमति नहीं दी, किन्तु गुरु के आदेश का उल्लंघन कर, वेश परिवर्तित कर, वे बौद्धाश्रम में प्रविष्ट हो गए। सम्पूर्ण छात्रावास में ये दोनों महान् प्रतिभासम्पन्न छात्र थे। बौद्धाचार्य के सान्निध्य में वे दोनों बौद्ध—प्रमाणशास्त्र पढ़ते और अपने निवास पर आकर जैनदर्शन से बौद्धसूत्रों की तुलना करते तथा अपने तर्क—वितर्क पत्रों पर लिखते रहते।

<sup>76</sup> पं. कल्याणविजयजी लिखित धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना, पृ. 01.

<sup>77</sup> पंचसूत्रव्याख्या की प्रशस्ति में, पृ. 30.

<sup>78</sup> उपदेशपद की प्रशस्ति में.

एक बार बौद्धों की अधिष्ठात्री देवी तारा ने वायु-वेग द्वारा पत्र को उड़ाकर लेखशाला में गिरा दिया। उस पत्र के प्रारम्भ में 'नमो जिनाय' लिखा हुआ था। बौद्धाचार्य उस पत्र को देखकर यह समझ गए कि कोई जैन छद्म वेश में उनके पास अध्ययन कर रहा है। बौद्ध-उपाध्याय ने एक युक्ति सोची। परीक्षा के लिए भोजनगृह के द्वार पर एक जिन-प्रतिमा बनाकर उन्होंने सभी शिष्यों से कहा— "जिनप्रतिमा पर पैर रखकर आगे बढ़ो," क्योंकि बौद्ध-आचार्य यह बात अच्छी तरह से जानते थे कि कोई भी जैन जिनबिम्ब पर पैर नहीं रख सकता। सभी शिष्य चरण-निक्षेप कर चल दिए, लेकिन हंस और परमहंस के समक्ष धर्मसंकट आ गया। वे समझ गए कि यह सब हमारी परीक्षा के लिए किया जा रहा है। वे जिनप्रतिमा पर पैर रखकर नरक की भयंकर वेदना को भुगतना भी नहीं चाहते थे। कहा भी है—

"नरकफलभिदं न कुर्वहे श्री जिनपतिमूर्द्धनिपादयोर्निवेश।"<sup>79</sup>

गुरुदेव द्वारा बार-बार निषेध करने के बावजूद भी यह कार्य हमने किया, उसी का यह परिणाम है— इस बात का उनको सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो गया। उन्हें पश्चाताप हो रहा था कि उन्होंने अपने गुरुदेव की आज्ञा की अवहेलना की है। वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे कि जैनधर्म में आज्ञा को ही आगम कहा जाता है।<sup>80</sup> आज्ञा के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए स्वयं हरिभद्रसूरि ने पंचसूत्र की टीका में कहा है—

आज्ञा आगम उच्यते। आज्ञा हि मोहविषपरममन्त्र, जलं द्वेषादिज्वलनस्य कर्मव्याधि चिकित्साशास्त्रं। कल्पपादपः शिवफलस्य, तदवन्ध्यसाद्यकत्वेन।<sup>81</sup>

आज्ञा आगम है। आज्ञा मोहविष-विनाशक परम मन्त्र है, द्वेषादि अग्नि को शान्त करने में जल है, कर्मरोग की चिकित्सा है, मोक्षफल देने में कल्पवृक्ष है। इसी आज्ञा की विराधना से आत्मा में दोषों की वृद्धि होती है, गुण दूर रहते हैं और भवान्तर में दुर्गति होती है।

<sup>79</sup> प्रभावकचरित्र, श्लोक 76.

<sup>80</sup> आपा हि मोहविसपरमतो जलं रोसाइजलणस्स कम्मवाहित्तिगिच्छासत्थं कप्पपायवो सिवफलस्स ।। — राजराजेन्द्र स्वाध्याय, पंचसूत्र— 2, पृ. 134.

<sup>81</sup> श्रीमद्हरिभद्रसूरि रचितव्यासमलंकृतं चिरन्तनाचार्य । — पञ्चसूत्रम्, पृ. 9.  
— प्रस्तुत प्रमाण आचार्य हरिभद्रसूरि के दार्शनिक चिंतन का वैशिष्ट्य नामक पुस्तक के प्रथम अध्याय से लिया गया है। पृ. 77.

अन्तरस्थ सजग बना और दोनों ने संकल्प किया कि सर्वप्रथम वहां जाते ही गुरुदेवश्री के चरणों में झुककर अपनी भूल का प्रायश्चित्त करेंगे, लेकिन उस समय जो दुविधा उनके सम्मुख थी, उसके निवारण हेतु उन्होंने विचार किया। उन्होंने ब्रह्मसूत्र की रेखा खींचकर जिनप्रतिमा के आकार को विकृत रूप दिया और बड़ी कुशलता से उस पर पांव रखकर निकल गए। फिर, दोनों पठन-पाठन की सामग्री लेकर वहां से भाग निकले। संयोगवश, हंस की मार्ग में ही मृत्यु हो गई और परमहंस हरिभद्रसूरि के चरणों में आकर गिर गया तथा अपनी पुस्तक-पत्रादि गुरुदेव को सौंपकर वह भी सदा के लिए चिरनिद्राधीन हो गया। हंस की मृत्यु मार्ग में स्वतः ही हुई, अथवा किसी के द्वारा करवाई गई— इस सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में मतैक्य नहीं है। परमहंस के वहां पहुंचने के सन्दर्भ में भी मतभेद हैं।

प्रबन्ध-संग्रह के अनुसार, परमहंस हरिभद्रसूरि से मिलकर निद्राधीन हो गया। इस बीच किसी ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। प्रातः हरिभद्र ने यह देखा और क्रोधित हो गए।<sup>82</sup> अपने दोनों प्रिय शिष्यों की अकाल मृत्यु से वे अत्यन्त दुःखी और उद्विग्न हो गए और बौद्धों के प्रति उनके मन में प्रचण्ड क्रोध पैदा हो गया। बदला लेने की अदम्य इच्छा ने उन्हें अप्रत्याशित निर्णय पर पहुंचा दिया। महाराजा सुरपाल की अध्यक्षता में बौद्धों के साथ वाद-विवाद की स्पर्धा शुरु हुई। इस गोष्ठी की भावी परिणति अत्यन्त खतरनाक तथा हिंसात्मक थी। गोष्ठी में परास्त होने वाले दल को उबलते हुए तेल के कुण्ड में कूदने की प्रतिज्ञा के साथ ही स्पर्धा प्रारम्भ हुई।<sup>83</sup>

हरिभद्र ने स्याद्वाद के अभेद्य कवच का आश्रय लेकर बौद्ध-सिद्धांतों को धराशायी कर दिया। अब परास्त हुए पांच सौ बौद्धों को खौलते हुए तेल के कुण्ड में डाले जाने की बारी आई।<sup>84</sup> तत्पश्चात् क्या स्थिति बनी, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। इस सन्दर्भ में अलग-अलग मान्यताएं प्राचीन ग्रन्थों में मिलती हैं।

<sup>82</sup> प्रातः श्रीहरिभद्रसूरिभिः शिष्य-कबन्धो दुष्टकोपः — प्रबन्धकोश, पृ. 25.

<sup>83</sup> लिखितं वच इदं पणे जितो यः स विशतु तप्तवरिष्टतैलकुण्डे। — प्रभावकचरित्र, श्लोक— 150.

<sup>84</sup> समगतं च तथैव पञ्चषास्ते निघनमवापुरनेन निर्जिताश्च। — प्रभावकचरित्र, श्लोक— 168

1. प्रभावकचारित्रानुसार — अपने प्रिय शिष्यों की मृत्यु से क्रोधित होकर हरिभद्रसूरि ने महामन्त्र के प्रभाव से भिक्षुओं को आकर्षित कर आकाश-मार्ग से ला-लाकर गर्म तेल के कुण्ड में डाल दिया।<sup>85</sup>

2. पुरातन प्रबन्धसंग्रह के अनुसार — बौद्ध-भिक्षुओं के प्रति भयानक क्रोध पैदा होने पर हरिभद्रसूरि ने उपाश्रय के पीछे गर्म तेल से भरा एक बहुत बड़ा पात्र तैयार करवाया और मन्त्र से आकृष्ट अनेक बौद्ध भिक्षु गगन-मार्ग से आकर उस तेल के पात्र में गिरकर और जलकर भस्म हो गए।<sup>86</sup>

प्रस्तुत हिंसा की सूचना उनके गुरु आचार्य जिनदत्तसूरि को मिली। उन्होंने कोपातुर हरिभद्र को उपदेश देने हेतु दो श्रमणों द्वारा कुछ गाथाएं भिजवाईं। वे गाथाएं इस प्रकार हैं—

गुणसेन—अग्गिसम्मा सीहानंदा य तह पिआपुत्ता ।

सिहि—जालिणी माइ, सुआ धण धणसिरिमोय पइमज्जा ॥

जय—विजया य सहोअर धरणोलच्छी अ तह पईमज्जा ।

सेण—विसेणा पित्तिर्य उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥

गुणचन्द—वाणमन्तर समराइच्च गिरिसेण पाणो अ ।

एगस्स तओ मोक्खोऽणन्तो अन्नस्स संसार ॥<sup>87</sup>

समरादित्य के नवभवों का मात्र नाम-निर्देश इन तीन गाथाओं में किया गया है और अन्त में कहा गया है कि एक का मोक्ष हुआ तथा दूसरे का हिंसक-वृत्ति के कारण अनन्त भवभ्रमण बढ़ गया। गुरुदेव द्वारा प्रेषित इन गाथाओं से हरिभद्र गहन चिन्तन में डूब गए। जिस प्रकार मूसलाधार बरसात के आने पर दावानल शान्त हो जाता है, वैसे ही इन गाथाओं के प्रभाव से आचार्य का तप्त हृदय शान्त हुआ। उन्होंने हिंसात्मक क्रियाएं समाप्त कर दीं। हिंसाजनक पापवृत्ति के प्रायश्चित्तस्वरूप उन्होंने यह भीष्म प्रतिज्ञा की— मैं एक हजार चार सौ चवालीस ग्रन्थों की रचना करके आत्मशुद्धि करूंगा। उन ग्रन्थों में सर्वप्रथम रचना 'समराइच्च' को कहा है, जो प्राकृत भाषा में रचित है।

<sup>85</sup> इह किल कथयन्ति केचिदित्थं गुरुतरमन्त्र जाप प्रभावतोऽत्र ।

सुगतमत बुधान् विकृष्य तप्ते ननु हरिभद्रविभुर्जुहावतैले ॥ — प्रभावकचरित्र, श्लोक— 180

<sup>86</sup> पुरातन प्रबन्ध-संग्रह से उद्धृत, श्लोक— 230, पृ. 105.

<sup>87</sup> प्रभावकचरित्र, श्लोक— 185 से 187.

कहा जाता है कि शिष्यों की विरह-वेदना कम न होने के कारण उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में 'विरह' शब्द को जोड़ा है।<sup>88</sup>

इसका दूसरा कारण यह भी माना जाता है कि हरिभद्र का एक नाम 'भवविरहसूरि' था, अर्थात् जो भव-विरह का इच्छुक हो।<sup>89</sup> उनके द्वारा प्रस्तुत 'भवविरह' शब्द के पीछे निम्न तीन प्रसंग माने जाते हैं—

1. धर्म-स्वीकार का प्रसंग।<sup>90</sup>
2. शिष्यों के वियोग का प्रसंग।<sup>91</sup>
3. याचकों को दिए जाने वाले आशीर्वादरूप।<sup>92</sup>

आपने एक निर्धन कार्पासिक व्यापारी को 'धूर्त्ताख्यान' श्रवण करवाकर जैन-धर्मावलम्बी बनाया। व्यापार-वृद्धि बढ़ती गई और उस व्यापारी ने उसी धन से आचार्यश्री के ग्रन्थ की प्रतिलिपियां बनवाकर साधु-समुदाय को भेंट की। आपश्री ही की प्रेरणा से एक ही स्थान पर चौरासी बड़े जिन-मन्दिरों का निर्माण किया गया। अस्त-व्यस्त हो चुके 'महानिशीथसूत्र' को आपके द्वारा व्यवस्थित किया जाकर पुस्तकारूढ़ करवाया गया।<sup>93</sup> हरिभद्र ने मेवाड़ में पोरवाल वंश की स्थापना करके उन्हें जैन-परम्परा में सम्मिलित किया— ऐसी अनुश्रुति ज्ञातियों का इतिहास लिखने वालों से मिली।<sup>94</sup> प्रशंसा की प्रियता से सदा विरक्त बने आचार्य हरिभद्रसूरि का जीवन विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में विश्व में विश्रुत है। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी कृतियों में

<sup>88</sup> (क) अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेहः।

निजकृतिमिहं संव्यधात् समस्तां विरहपदेन युतां सतां स मुख्यः ॥ 206 ॥

— प्रभावकचरित्र, पृ. 74.

(ख) पं कल्याणविजयजी ने 'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना (पृ. 19 से लेकर 21 तक) में जिन-ग्रन्थों की प्रशस्तियों में 'विरह' शब्द आता है, वे सब कृतियां उद्धृत हैं। उन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं— अष्टक, धर्मबिंदु, ललितविस्तरा, पंचवस्तुटीका, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, पंचाशक योगदृष्टिसमुच्चय, षोडशक, अनेकांतजयपताका, योगबिंदु, संसारदावानलस्तुति, धर्मसंग्रहणी, उपदेशपद और सम्बोधप्रकरण।

<sup>89</sup> इसके अतिरिक्त 'कहावली' के कर्त्ता भद्रेश्वर ने तो उनके 'भवविरहसूरि' नाम का निर्देश प्रबन्ध में अनेक बार किया है।

<sup>90</sup> "हरिभद्रो भण्ड भयवं पिउ मे भवविरहो।" — कहावली, पत्र 300.

<sup>91</sup> प्रभावकचरित्र, श्रृंग- 9, श्लोक 206.

<sup>92</sup> 'चिरं जीवउं भवविरहसूरिति' — कहावली, पत्र 301.

<sup>93</sup> चिरलिखितविशीर्णवर्णभग्नप्रदिवरपत्रसमूहपुस्तकस्थम्।

कुशलमतिरिहोद्धार जैनोपनिषदिक स महानिशीथशास्त्रम् ॥

— प्रभावकचरित्र, श्लोक 185 से 187, पृ. 75.

<sup>94</sup> पण्डित श्रीकल्याणविजयजी 'धर्मसंग्रहणी' प्रस्तावना, पृ. 07.



प्रकाशित है और उसी के आधार पर उनकी परोपकार-परायणता, नम्रता, निरभिमानीता, दार्शनिकता, समन्वयवादिता, उदारता और भवविरहता आदि गुणों को जाना जा सकता है।

साहित्य-रचना में विशेष रुचि होने से उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। साहित्य-रचना के लिए उन्हें लल्लिग नाम के श्रावक ने सहयोग दिया था। वह रात्रि के समय हरिभद्र के उपाश्रय में मणि रख दिया करता था, उस मणि की रोशनी में हरिभद्रसूरि अपना लेखन-कार्य करते थे।<sup>95</sup>

इस प्रकार, जिनशासन की प्रभावना करते-करते अध्यात्म-साधना में तल्लीन बनकर हरिभद्रसूरि ने अनशन-व्रत ग्रहण किया और उच्च भावों के साथ त्रयोदशी के दिन स्वर्ग सिधार गए।<sup>96</sup> हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में जिनभद्रगणि के ग्रन्थगत अवतरणों का उपयोग किया, अतः यह उनके उत्तरवर्ती हैं। हरिभद्र के समय का प्रश्न विवादास्पद है, परन्तु जिनविजय ने अपने तद्विषयक निबन्ध में उनका जीवनकाल प्रायः विक्रम-संवत् 757 से 827 तक माना है।<sup>97</sup> आधुनिक विद्वानों ने भी इसी समय को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है<sup>98</sup>, जबकि प्राचीन परम्परा के अनुसार उनका समय विक्रम की छठवीं शताब्दी माना गया है।<sup>99</sup>

**टीकाकार हरिभद्र का साहित्यिक-अवदान** — विद्वानों के अनुसार, ईसा की आठवीं शती में बहुआयामी प्रतिभा के धनी और अनेक ग्रन्थों के रचयिता आचार्य हरिभद्रसूरि हुए। आचार्य हरिभद्र ने स्वयं तो आध्यात्मिक-ज्ञानगंगा में डुबकी लगाई ही, साथ-ही-साथ समग्र जन-समुदाय में भी, शास्त्रीय-ज्ञान के आलोक से विवेक जाग्रत हो- ऐसा प्रयत्न भी किया। इस हेतु उन्होंने अध्यात्म-प्रधान अनेक ग्रन्थों की रचना भी की।

<sup>95</sup> समप्पियं च सूरिणो लल्लिगेण पुब्बागयरयणाणं मज्झाओ जच्चरयणं।

तदुज्जोएण य रयणीए वि दप्पेइ सूरिमिवि पड्डयाइ सुगंथे।। — कहावली

<sup>96</sup> अनशनमनघं विधाय निर्यामकवरविस्मृतहार्दभूरिबाधः।

त्रिदशवन इव स्थितः समाधौ त्रिदिवमसौ समवापदायुरन्ते।। — प्रभावकचरित्र, पृ. 75

<sup>97</sup> जैन साहित्य संशोधक — वर्ष 1, अंक 1, यह निबन्ध सन् 1919 में अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् में आचार्य श्री जिनविजय ने पढ़ा था।

<sup>98</sup> जयसुन्दरविजय लिखित शास्त्रवार्तासमुच्चय की प्रस्तावना में, पृ. 9.

<sup>99</sup> (क) जैनधर्म के प्रभावक आचार्य किताब से उद्धृत, पृ. 478.

(ख) जैनजगत् के ज्योतिर्धर आचार्य किताब से उद्धृत, पृ. 123.

आपकी कृतियां जिनशासन का अनुपम वैभव हैं। आपकी लेखनी विविध विषयों पर चली। आगमिक-क्षेत्र में आप सर्वप्रथम टीकाकार थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। परम्परा के अनुसार आपने एक हजार चार सौ चवालीस ग्रन्थों की रचना की थी, लेकिन इस विषय में मतभेद हैं।

कुछ लोग एक हजार चार सौ ग्रन्थों की रचना करना स्वीकार करते हैं, तो कुछ लोग उन्हें एक हजार चार सौ चालीस ग्रन्थों का रचनाकार मानते हैं, जबकि परम्परा उन्हें एक हजार चार सौ चवालीस ग्रन्थों का रचनाकार मानती है। श्रीमद् अभयदेवसूरि पञ्चाशक की टीका में उनके एक हजार चार सौ प्रकरण बताए गए हैं।<sup>100</sup>

श्रीमद् मुनिचन्द्रसूरि ने भी उपदेशपद की टीका में एक हजार चार सौ ग्रन्थों की रचना का उल्लेख किया है। इसी प्रकार, वादिदेवसूरि ने 'स्याद्वाद रत्नाकर' में, मुनिरत्नसूरि ने 'अममस्वामि-चरित्र' में एवं प्रद्युम्नसूरि ने 'समरादित्य संक्षेप' में भी एक हजार चार सौ प्रकरणों की रचना का उल्लेख किया है।<sup>101</sup>

इसी क्रम से, मुनिदेवसूरि ने 'शान्तिनाथचरित्र' महाकाव्य में<sup>102</sup> और गुणरत्नसूरि ने 'तर्करहस्यदीपिका' नामक षड्दर्शन-समुच्चय की बृहत् टीका में और इसी कड़ी में, कुलमण्डनसूरि ने विचारामृतसंग्रह में भी एक हजार चार सौ चवालीस ग्रन्थों की रचना का ही उल्लेख किया है, जबकि राजशेखरसूरि ने प्रबन्धकोश में एक हजार चार सौ चालीस प्रकरण बताकर द्वितीय मत का समर्थन किया है,<sup>103</sup> किन्तु रत्नशेखरसूरि ने 'श्राद्धप्रतिक्रमणार्थदीपिकारव्य' नामक टीका में इनके द्वारा एक हजार चार सौ चवालीस ग्रन्थों की रचना का उल्लेख किया है। इसी क्रम में, 'अचलगच्छीय पट्टावली' में तथा विजयलक्ष्मीकृत 'सूरिरूपदेशप्रसाद' के तृतीय स्तम्भ में भी संख्या एक हजार चार सौ चवालीस ही बताई है।<sup>104</sup> फिर भी, ये मतभेद बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। वर्तमान में आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

1. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति
2. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञटीकासहित)

<sup>100</sup> पञ्चाशकटीका, पृ. 486.

<sup>101</sup> पण्डित कल्याणविजयजी लिखित 'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना में, पृ. 07.

<sup>102</sup> षड्दर्शनीयसमुच्चय तर्क रहस्य बृहदटीका, पृ. 01.

<sup>103</sup> प्रबन्धकोश, पृ. 25.

<sup>104</sup> पण्डित कल्याणविजयजी लिखित 'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना में, पृ. 07.

3. अनेकान्तप्रघट्ट
4. अनेकान्तवादप्रवेश
5. अष्टक
6. आवश्यकनिर्युक्ति लघुटीका
7. आवश्यकनिर्युक्ति बृहद्टीका
8. उपदेशपद
9. कथाकोश
10. कर्मस्तववृत्ति
11. कुलक
12. क्षेत्रसमासवृत्ति
13. चतुर्विंशतिस्तुति सटीक
14. चैत्यवन्दनभाष्य
15. चैत्यवन्दनवृत्ति ललित विस्तार
16. जीवाभिगम लघुवृत्ति
17. ज्ञानपंचकविवरण
18. ज्ञानादित्यप्रकरण
19. दशवैकालिक अवचूरि
20. दशवैकालिक बृहद्टीका
21. देवेन्द्रनरकेन्द्रप्रकरण
22. द्विजवदन चपेटा (वेदांकुश)
23. धर्मबिन्दु
24. धर्मलाभसिद्धि
25. धर्मसंग्रहणी
26. धर्मसारमूल टीका
27. धूर्ताख्यान
28. नन्दीवृत्ति
29. न्यायप्रवेशसूत्रवृत्ति
30. न्यायविनिश्चय

31. न्यायामृततरंगिणी
32. न्यायावतारवृत्ति
33. पंचनिर्ग्रन्थी
34. पंचलिङ्गी
35. पंचवस्तु सटीका
36. पंचसंग्रह
37. पंचसूत्रवृत्ति
38. पंचस्थानक
39. पंचाशक
40. परलोकसिद्धि
41. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति (अपूर्ण)
42. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या
43. प्रतिष्ठाकल्प
44. बृहन्मिथ्यात्वमथन
45. मुनिपतिचरित्र
46. यतिदिनकृत्य
47. यशोधरचरित्र
48. योगदृष्टिसमुच्चय
49. योगबिन्दु
50. योगशतक
51. लग्नशुद्धि (लग्नकुण्डली)
52. लोकतत्त्वनिर्णय
53. लोकबिन्दु
54. विंशति (विंशतिविंशिका)
55. वीरस्तव
56. वीरांगदकथा
57. वेदबाह्यतानिराकरण
58. व्यवहारकल्प

59. शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीका
60. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति
61. श्रावकधर्मतन्त्र
62. षड्दर्शनसमुच्चय
63. षोडशक
64. संकित पचासी
65. संग्रहणीवृत्ति
66. संपंचासित्तरी
67. संबोधसित्तरी
68. संबोधप्रकरण
69. संसारदावास्तुति
70. आत्मानुशासन
71. समराइच्चकहा
72. सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण सटीका
73. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार।<sup>105</sup>

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची के अन्तर्गत कुछ ग्रन्थों में अनेक ग्रन्थ भी समाहित माने जा सकते हैं, जैसे— 'पंचाशक' में पंचाशक नाम से उन्नीस ग्रन्थ समाविष्ट हैं। ऐसे ही, सोलह—सोलह श्लोकों के षोडशक सोलह, बीस श्लोकों की विंशिकाओं में बीस ग्रन्थ समाहित हैं। इस प्रकार, आचार्य हरिभद्रसूरि की ग्रन्थ—संख्या में और भी वृद्धि हो जाती है।

हरिभद्रसूरि द्वारा प्रणीत अनेक प्रमुख ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

**टीका—ग्रन्थ** — आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी और अनुयोगद्वार आदि आगमों पर टीका का लेखन—कार्य हुआ। उनकी एक अपूर्ण रचना पिण्डनिर्युक्ति की टीका को वीराचार्य ने पूर्ण किया। अनेकानेक विषयों को प्रतिपादित करती हुई प्रस्तुत टीकाएं विशेष रूप से शास्त्रीय—ज्ञान की वृद्धि में

<sup>105</sup> जैनदर्शन, अनुवादक— पण्डित बेचरदास, प्रस्तावना, पृ. 45—51.

सहायक बनती हैं। आगमों के भावी टीकाकारों के लिए हरिभद्र की ये टीकाएं आधारस्तम्भ तथा मार्गदर्शक रही हैं।

**1. आवश्यक-टीका** — प्रस्तुत टीका की रचना आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं को आधार बनाकर की गई है। निर्युक्ति-गाथाओं का विस्तार अवश्य है, किन्तु आवश्यकचूर्ण का अनुसरण नहीं है। इस टीका के अन्तर्गत सामायिकादि पदों का सविस्तार विवेचन है और इसलिए विस्तार से समझने वाले जिज्ञासुओं के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार ने टीका की पूर्णाहुति के प्रसंग में जिनभट्ट, जिनदत्त, याकिनी-महत्तरा आदि का वर्णन करते हुए अपने-आप को मंदबुद्धिवाला कहकर परिचय दिया है। यह टीका बाईस हजार श्लोक-परिमाण वाली है।<sup>106</sup>

**2. दशवैकालिक-टीका** — प्रस्तुत टीका भी दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथाओं के आधार पर रची गई है। इसका नाम 'शिष्यबोधिनीवृत्ति' है।<sup>107</sup> इसे बृहद्वृत्ति के नाम से भी जाना जाता है। दशवैकालिकसूत्र के अध्ययन में स्वाध्यायकाल की बाध्यता नहीं है, अतः वह वैकालिक है। चूंकि इस सूत्र में दस अध्याय हैं, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक है। इस वृत्ति की रचना का लक्ष्य परिभाषित करने के बाद हरिभद्र ने दशवैकालिक के कर्ता शय्यभव आचार्य के सम्पूर्ण जीवन-प्रसंग का वर्णन किया, तत्पश्चात् इसके अन्तर्गत निर्जरा के बारह भेदों का सांगोपांग विवेचन है, साथ ही ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार की बहुत ही सूक्ष्म व्याख्या की गई है। इसमें अठारह सहस्र शीलांगों का वर्णन, श्रमणधर्म की दुर्लभता, भाषा-विवेक, व्रतषट्क, कायषट्क आदि अठारह पापस्थानों, प्रणिधि-समाधि के चारों प्रकार और भिक्षु के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार, दस अध्ययनों की विषय-वस्तु को सुस्पष्ट करने के बाद चूलिकाओं का आख्यान करते हुए टीकाकार ने यह उल्लेख किया है कि धर्म के रति-अरतिजनक कारण विविधचर्या आदि विषय का स्पष्टीकरण

<sup>106</sup> द्वाविंशति सहस्राणि, प्रत्येकाक्षरगणनया (संख्या)। अनुष्टुप्छन्दसा मानमस्या उद्देशतः कृतम् ॥

— उत्तरभाग (उत्तरार्द्ध), जैन-पुस्तक प्रचारक संस्था, सूर्यपुर, पृ. 865.

<sup>107</sup> (क) देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् 1918.

(ख) समयसुन्दरकृत टीकासहित भीमसी माणेक, बम्बई, सन् 1900.

जिस प्रकार सूत्रकार तथा निर्युक्तिकार ने किया, उसी प्रकार मैं भी इन विषयों का मात्र साधारण रूप से स्पष्टीकरण करता हूँ। वृत्ति के अन्त में निम्न श्लोक वर्णित है<sup>108</sup>—

महत्तराया याकिन्या धर्मपुत्रेणचिन्तिता ।

आचार्यहरिभद्रेण टीकेयं शिष्यबोधिनी ॥१॥

दशवैकालिके टीका विधाय यत्पुण्यमर्जितं तेन ।

मात्सर्यदुःखविरहाद्गुणानुरागी भवतु लोकः ॥ २ ॥ — प्रशस्तिश्लोक

3. जीवाभिगम — जीवाभिगम—टीका मूल जीवाभिगमसूत्र के आधार पर निर्मित है। इसमें जीवादि तत्त्वों का विवेचन है। तत्त्वज्ञान अभिलाषियों के लिए यह टीका विशेष उपयोगी है। यह जीवाभिगमसूत्र पर लघुवृत्ति है।

4. प्रज्ञापनाप्रदेश—व्याख्या — प्रज्ञापनासूत्र के पदों पर आधारित प्रस्तुत प्रज्ञापना—टीका संक्षिप्त और सरल है।<sup>109</sup> इस टीका के प्रारम्भ में प्रवचन की महिमा बताते हुए कहा गया है—

रागादिवध्यपटहः सुरलोक सेतुरानन्ददुदुभिरसत्कृतिवचितानाम् ।

संसारचारकपलायनफालघंटा जैनवचनस्तदिह को न भजेत विद्वान् ॥

मंगल के विशेष विवेचन के लिए आवश्यकटीका का नामोल्लेख किया गया है।<sup>110</sup> इसी सन्दर्भ में भव्य तथा अभव्य का वर्णन करते हुए आचार्य ने वादिमुख्यकृत अभव्यस्वभावसूचक श्लोक भी उद्धृत किए हैं।<sup>111</sup> इसमें प्रज्ञापनासूत्र की विविध विषयवस्तु पर भरपूर प्रकाश डाला गया है। यह टीका सरल—सटीक है और इसमें विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। साधारण बुद्धिवाले जनसमुदाय को जीव—अजीव से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्तों का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाए, इसलिए यह टीका लिखी

<sup>108</sup> (क) ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् 1928, पृ. 286.

(ख) दशवैकालिक हरिभद्रवृत्ति — प्रशस्तिश्लोक.

<sup>109</sup> (क) पूर्वभाग — ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् 1947.

(ख) उत्तरभाग — जैन—पुस्तक प्रचारक संस्था, सूर्यपुर, सन् 1949.

<sup>110</sup> (क) पूर्वभाग — ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, सन् 1947.

(ख) उत्तरभाग — जैन—पुस्तक प्रचारक संस्था, सूर्यपुर, सन् 1949.

<sup>111</sup> सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य यल्लोकबान्धव तवापिरिवलान्यभूवन् ।

तन्नादभुतं खगकुलोष्विह तामसेषु सूर्याशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥ — वही., पृ. 04.

गई है। अष्टम पद में संज्ञाओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जो मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्यारहवें पद के आधार पर इसमें स्त्री, पुरुष, नंपुसक के स्वभावगत लक्षणों को बताया गया है।

**5. नन्दीवृत्ति** — नन्दीटीका की रचना नन्दीचूर्णि के आधार पर हुई है।<sup>112</sup> इसमें प्रायः उन्हीं विषयों का वर्णन किया गया है जो नन्दीचूर्णि के अन्तर्गत आते हैं।

नन्दीटीका की श्लोक संख्या दो हजार तीन सौ छत्तीस है। मंगलाचरण के पश्चात् तीर्थकरावलिका, गणधरावलिका और स्थविरावलिका का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ज्ञान के अध्ययन की योग्यता-अयोग्यता का और फल-प्रक्रिया का विचार करते हुए वृत्तिकार ने केवलज्ञान, केवलदर्शन की परिचर्चा करते हुए ज्ञान के सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है।

**6. अनुयोगद्वारवृत्ति** — यह अनुयोगवृत्ति अनुयोगचूर्णि की शैली पर लिखी गई है। इस अनुयोगवृत्ति को 'शिष्यहिता' के नाम से जाना जाता है। इसकी रचना के पहले नन्दीवृत्ति का वर्णन हुआ। मंगल आदि विषयों का प्रतिपादन नन्दीवृत्ति में हो जाने के कारण इसमें इसका वर्णन नहीं किया गया— ऐसा टीकाकार का उल्लेख है। प्रमाण आदि को समझने की दृष्टि से अंगुलों का स्वरूप, प्रत्यक्ष-अनुमान, आगम की व्याख्या, ज्ञाननय और क्रियानय आदि का वर्णन इस अनुयोगवृत्ति के महत्त्वपूर्ण विषय हैं।

इन आगमिक-टीकाओं के अतिरिक्त हरिभद्र ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की है। उनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

**शास्त्रवार्ता-समुच्चय** — आचार्य हरिभद्र ने अनेक दार्शनिक-ग्रन्थों की भी रचना की है, जिसमें 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' उनकी एक अनूठी दार्शनिक कृति है।

<sup>112</sup> चूर्णि और वृत्ति के मूल सूत्रपाठ में कहीं-कहीं थोड़ा-सा अन्तर है। पढमेत्थ इंदभूती, बीए पुण होति अग्गिभूत्ति (चूर्णि) पढमेत्थ इंदभूई बीओ पुण होइ अग्गिभूइत्ति (वृत्ति) — क्रमशः, पृ. 6 और 13.



इस ग्रन्थ में आस्तिक एवं नास्तिक—दोनों ही दर्शनों की मान्यताओं का निरूपण विस्तार से किया गया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत न केवल जैन-दर्शनों के विषयों पर ही प्रकाश डाला गया है, अपितु जैनेतर सम्प्रदायों और दर्शनों के वर्णित विषयों का संकलन भी किया गया है, साथ ही यथासम्भव तार्किक-आधार पर उनके सभी पक्षों का विस्तार से प्रस्तुतिकरण करके अत्यन्त निष्पक्ष भाव से उनकी समीक्षा भी की गई है। इसके आठ प्रकरण हैं और यह सात सौ श्लोक-परिमाण वाला है। यह संस्कृत-भाषा में लिखा गया है। इसमें सभी दर्शनों का विवेचन करके ज्ञानयोग का स्वरूप बताया गया है, साथ ही ज्ञानयोग का फल बताकर ध्यानात्मक-तप को ही परमयोग कहा गया है। आचार्यश्री ने इस छोटे-से ग्रन्थ की कारिकाओं में इतनी विस्तृत ज्ञानराशि संचित करके गागर में सागर भरने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दर्शनों का अध्ययन करने वालों के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

**धर्म-संग्रहणी** — इस ग्रन्थ में पांच प्रकार के ज्ञानों का विवेचन है तथा चार्वाक-दर्शन का युक्ति पुरस्सर निरसन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम धर्म शब्द की व्युत्पत्ति बताकर आत्मा के प्रशस्त लक्ष्य की चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि जो दुर्गति में जाने से रोके तथा मोक्षमार्ग में आगे बढ़ाए, वही धर्म है।

धारेइ दुग्गीए पडंतमप्पाणगं जतो तेणं ।

धम्मोत्ति सिवगइतीइ व सततं धारणासमक्खाओ ॥<sup>113</sup>

इस ग्रन्थ की मूल गाथाएं एक हजार तीन सौ छियानवे और टीकाग्रन्थ दस हजार श्लोक-परिमाण हैं। इसके दो भाग हैं। इसमें प्रथम भाग में पांच सौ पैंतालीस गाथाएं और द्वितीय भाग में आठ सौ इक्यावन गाथाएं हैं।

**षड्दर्शन-समुच्चय** — प्रस्तुत कृति आचार्य हरिभद्रसूरि की एक अलौकिक कृति है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत भारत के छः प्रमुख दर्शनों का वर्णन है, साथ ही उनके द्वारा

<sup>113</sup> धर्मसंग्रहणी — प्रथम भाग, गाथा— 20.

सम्मत सिद्धान्तों को भी प्रामाणिक रूप से विवेचित किया गया है। नास्तिक-पक्ष को भी आस्तिक-पक्ष में परिवर्तित कर उन्होंने हृदय की विशालता और तटस्थता का परिचय दिया है।

**अनेकान्त-जयपताका एवं अनेकान्त-प्रवेश** — भगवान् महावीर की अनेकान्त-दृष्टि को स्पष्ट करने वाले ग्रन्थों में अनेकान्त-जयपताका और अनेकान्त-प्रवेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर कृतियां हैं।

हरिभद्र के उत्तरवर्ती सभी विद्वानों ने अपनी-अपनी रचनाओं में अनेकान्त-जयपताका का उल्लेख करके आचार्य हरिभद्र की कृति को चिरस्मरणीय बना दिया। इनमें यह बताया गया है कि अनेकान्तवाद जैनदर्शन का मौलिक सिद्धान्त है और इसमें सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है।<sup>114</sup>

**न्यायप्रवेश-वृत्ति** — सभी भारतीय-दर्शनों में श्रुतज्ञान का महत्त्व है, क्योंकि ज्ञानचक्षु से ही व्यक्ति हित-अहित, सन्मार्ग-उन्मार्ग, उत्थान-पतन, अनुगामी-पुरोगामी तथा हेय-ज्ञेय का ज्ञान कर सकता है। इस वृत्ति के माध्यम से आचार्य हरिभद्र ने स्व-परकल्याण हेतु कुछ मार्गदर्शक सूत्र प्रस्तुत किए हैं, जिसके कारण वे जनमानस के हृदय में अंकित हो गए। यह वृत्ति बौद्धग्रन्थ 'न्यायप्रवेशसूत्रम्' पर आधारित है, जिसके मूल प्रणेता आचार्य दिङ्नाग हैं। इसमें न्याय के पदार्थों का विवेचन है। इस ग्रन्थ पर अन्य जैनाचार्यों की वृत्तियों के नाम इस प्रकार हैं—

1. धनेश्वरसूरि के विद्वान् शिष्य पण्डित पार्श्वदेवगणि ने इस पर 'न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका' लिखी है।
2. भुवनभानुसूरिजी लिखित 'न्यायभूमिका' भी न्याय में प्रवेश करने हेतु सरल भाषा में सुबोधकारी है।

**ललित-विस्तरा** — प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित है। यह एक विशिष्ट एवं उच्च कोटि का भक्तिमय दार्शनिक-ग्रन्थ है। इसमें चैत्यवन्दनरूप

<sup>114</sup> अनेकान्तजयपताका, पृ. 06.

भक्तिमय अनुष्ठान के प्रणिपातसूत्र, दण्डकसूत्र, नामस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव इत्यादि मूल पाठों की टीका है। यह एक हजार पांच सौ पैंतालीस श्लोक-परिमाण है।

इसके अतिरिक्त, आचार्य हरिभद्र ने चरितकाव्य भी लिखे हैं, इनमें 'मुनिपतिचरित्र' तथा 'यशोधराचरित्र' प्रसिद्ध हैं। इनमें हरिभद्र ने लोकमंगल के स्वरूप को प्रकाशित किया है। एक कथाकार के रूप में कथा-ग्रन्थों के प्रणेता बनकर हरिभद्र कथाओं के संग्रहकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। उन्होंने 'वीरङ्गदकथा' और 'समराइच्चकहा' जैसे कथा-ग्रन्थों की रचना भी की है। इनके अतिरिक्त, विधि-विधान के क्षेत्र में 'प्रतिष्ठाकल्प' का रचनाकार भी हरिभद्र को ही माना जाता है। इसी प्रकार, खगोल-भूगोल के क्षेत्र में आपने 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिटीका' लिखी है। इसी क्रम से आचार्य हरिभद्रसूरि ने ओघनिर्युक्तिवृत्ति तथा पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति लिखकर जैन-आचार को स्पष्ट किया है।

'धर्मलाभसिद्धि' ग्रन्थ में श्रमणों एवं मुनियों द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद का स्वरूप समझाया गया है। परलोक-सम्बन्धी भ्रान्तियों से भ्रमित लोगों को भ्रम-रहित बनाने में प्रस्तुत ग्रन्थ 'परलोकसिद्धि' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसी क्रम में श्रावकधर्म का बोध देने हेतु आपने श्रावकप्रज्ञप्ति, श्रावकधर्मतन्त्र जैसे ग्रन्थों की रचना कर श्रावकधर्म की मर्यादा को स्पष्ट किया है। रत्नत्रय के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने हेतु आपने 'संबोध-प्रकरण', 'सम्यक्त्व-सप्ततिका', 'धूर्ताख्यान' आदि ग्रन्थों का सृजन किया।

इस प्रकार, आचार्य हरिभद्रसूरि ने अगाध ज्ञान-राशि को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। उनके ग्रन्थों में कोई भी विषय अछूता नहीं रहा।

निष्कर्षतः, इतना ही कहना उचित होगा कि आचार्य हरिभद्रसूरि एक समन्वय दृष्टि के पुरोधा थे। जैन-दर्शन एवं अन्य दर्शनों के क्षेत्र में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। निम्नांकित पंक्तियां उनकी उदार दृष्टि को उजागर करती हैं—

न मे पक्षपातो वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद् वचनं यस्स, तस्य कार्य परिग्रहः।।<sup>115</sup>

प्रस्तुत पंक्तियां उनकी समन्वयशीलता एवं समरसता को प्रकट करती हैं।

<sup>115</sup> लोकतत्त्व निर्णय, श्लोक 1/38.

**हरिभद्र के ध्यान और योग—सम्बन्धी ग्रन्थ —** महापुरुषों के जीवन में कुछ ऐसी विशेषताएं होती हैं, जो जन—मानस को अभिनव प्रेरणा और आलोक प्रदान करती हैं। उनका जीवन जन—जन के लिए एक आदर्शरूप होता है।

महामनीषी, ज्ञान, ध्यान और योग की ज्योति को सर्वत्र फैलाने वाले आचार्य हरिभद्र भी इसी कोटि के महापुरुष थे। अनेक साधकों ने योग की साधना को विश्व के समक्ष प्रकाशित किया है, लेकिन आचार्य हरिभद्रसूरि की योग—साधना की कृतियां अपने—आप में विश्व को अनूठी देन हैं। जिस तरह से हरिभद्र ने टीका—साहित्य को निर्मित कर अपनी निर्मल, पवित्र मेधा का परिचय दिया है, उसी तरह योग पर भी व्यापक दृष्टि से चिन्तन—मनन किया है।

आचार्य हरिभद्र ने योग—साहित्य और योग—परम्परा में कौन—कौनसी विशेषताएं प्रदान की हैं, उनका यथार्थ स्वरूप उनके योग—विषयक ग्रन्थों में देखने को मिलता है। उन्होंने सम्पूर्ण योगसाधना की पद्धति को स्वयं की मति—कल्पना के आधार पर प्रतिपादित नहीं किया, अपितु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विरचित ग्रन्थों के आधार पर ही प्रतिपादित किया है, लेकिन उनकी इतनी विशेषता तो है कि उन्होंने अपने योग—विषयक ग्रन्थों की रचना, वे बालजीवों के हितकारी बनें— इस बात को ध्यान में रखते हुए की थी। योगदृष्टिसमुच्चय में निम्न श्लोक के माध्यम से इस बात की पुष्टि होती है—

**अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः।**

**दृष्टिभेदेन योगोऽयं मात्मानुस्मृतये परः॥<sup>116</sup>**

महर्षि पतञ्जलि आदि अनेक योगवेत्ताओं की दृष्टि के भेदों—प्रभेदों से युक्त यह योगमार्ग संक्षेप रूप में मैंने अपनी आत्मा की स्मृति के लिए उद्धृत किया है, अर्थात् जिस प्रकार दही के मंथन से मक्खन निकलकर अलग हो जाता है, या सारभूत तत्त्व का प्रकटीकरण होता है, उसी प्रकार योगशास्त्रों के मंथन द्वारा मेरा यह पुरुषार्थ नवनीत के समान है, जो आत्म—कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करके अपने लक्ष्य तक पहुंचाने में सफलता प्राप्त करवाता है। आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित ग्रन्थों में ध्यान तथा योग—विषयक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

### 1. धर्मबिन्दु

<sup>116</sup> योगदृष्टिसमुच्चय, श्लोक 207.

2. शास्त्रवार्त्तासमुच्चय
3. ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय
4. योगबिन्दु
5. योगशतक
6. योगदृष्टिसमुच्चय और स्वोपज्ञवृत्ति
7. योगविंशिका
8. जोगविहाणवीसिया,
9. षोडशक-प्रकरण
10. पंचसूत्र की वृत्ति।<sup>117</sup>

उपर्युक्त ग्रन्थों में योग-सम्बन्धी अपूर्व सामग्री प्रस्तुत है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

**1. धर्मबिन्दु —** प्रस्तुत ग्रन्थ में गृहस्थ-धर्म का विस्तृत वर्णन है। इसके आठ प्रकरण हैं। सातवें अध्याय में धर्मफल के अन्तर्गत ध्यान का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

**2. शास्त्रवार्त्तासमुच्चय —** इस ग्रन्थ के भी आठ प्रकरण हैं। उनकी श्लोक-संख्या क्रमशः 112 + 81 + 44 + 137 + 39 + 63 + 66 + 159 = 701 है। इस ग्रन्थ में सभी दर्शनों के सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् ज्ञानयोग के स्वरूप, उसके फल आदि पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही उन्होंने ध्यान को ही परमयोग अर्थात् मोक्ष का मार्ग बताया है। विक्रम संवत् की सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में इस ग्रन्थ को आधार रखकर उपाध्याय यशोविजयजी ने टीका लिखी थी।

**3. ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय —** प्रस्तुत कृति हरिभद्र की है, ऐसा मुनिश्री पुण्यविजयजी का मन्तव्य है।<sup>118</sup> उनके मत से इसकी एक खण्डित ताड़पत्रीय प्रति, जो उन्हें मिली थी, वह

<sup>117</sup> इनके जीवन एवं रचनाओं के बारे में अनेकान्त-जयपताका के खण्ड पहला (पृ. 17 से 29) और खण्ड दूसरा (पृ. 10 से 106) के अपने अंग्रेजी उपोद्घात में तथा श्री हरिभद्रसूरि षोडशक की प्रस्तावना समराइच्चकहाचरिय के गुजराती अनुवाद विषयक अपने दृष्टिपात आदि में कतिपय बातों का निर्देश किया है। उपदेशमाला और ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय भी उनकी कृतियां हैं। इनमें भी उपदेशमाला तो आज तक अनुपलब्ध ही है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में लिखी गई थी।<sup>119</sup> यह कृति संस्कृत-भाषा में रची हुई है। मुश्किल से इसके चार सौ तेईस पद्य मिले, वे भी अपूर्ण हैं।

आद्य-पद्य में आत्मतत्त्व का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ की मौलिक विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ के अन्तर्गत सर्व-दर्शनों का समन्वय देखा जा सकता है।

श्लोक क्रमांक 392 से 394 में मृत्यु-सूचक चिह्नों का वर्णन है। प्रस्तुत कृति में हरिभद्रीय अन्य कृतियों के कतिपय पद्य प्राप्त होते हैं, जिनका निर्देश मुनिश्री पुण्यविजयजी ने किया है, जैसा कि बांसठवे श्लोक ललित-विस्तार में आता है। षोडशक-प्रकरण में अद्वेषादि आठ अंगों का जैसा उल्लेख है, वैसा ही इसके श्लोक क्रमांक पैंतीस में भी है। इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग का जो निरूपण ब्रह्मसिद्धि-समुच्चय के श्लोक क्रमांक 188 से 191 में है, वह ललित-विस्तार और योगदृष्टि-समुच्चय में भी है। इसमें श्लोक क्रमांक चौपन में भी अपुनर्बन्धक का उल्लेख है, वह इन दोनों में भी है। इच्छा, शास्त्र और सामर्थ्य-योग के वर्णन के पश्चात् उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी का वर्णन है। इन श्रेणियों पर ध्यान करने वाला साधक ही चढ़ सकता है। इस प्रकार, इसमें ध्यान का संक्षेप में कथन करके हरिभद्रसूरि ने यह भी कहा कि ब्रह्मादि की प्राप्ति भी योग के द्वारा सम्भव है।

**4. योगविन्दु** — योगमार्ग समर्थक आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित यह कृति अध्यात्म-मार्ग पर प्रकाश डालती है।<sup>120</sup> मूल ग्रन्थ संस्कृत-भाषा के अनुष्टुप छन्द के पांच सौ सत्ताईस पद्यों (श्लोकों) से युक्त है। इसमें विविध विषयों के वर्णन के साथ ही योग का महत्त्व, योग की पूर्व-पीठिका के रूप में 'पूर्वसेवा' शब्द द्वारा पांच अनुष्ठानों का वर्णन है। विषानुष्ठान, गरलानुष्ठान, अननुष्ठान, तदहेतु-अनुष्ठान और अमृतानुष्ठान<sup>121</sup> —

<sup>118</sup> यह नाम मुनिश्री पुण्यविजयजी ने दिया है। यह कृति प्रकाशित है, यह बात जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास द्वारा उद्धृत, भाग- 4, पृ. 237.

<sup>119</sup> वही, भाग, 04, पृ. 237.

<sup>120</sup> यह कृति अज्ञातकर्तृकवृत्ति के साथ 'जैनधर्म प्रसारक-सभा' ने सन् 1911 में प्रकाशित की है। इसका सम्पादन डॉ० एल० सुआली ने किया है। इसके पश्चात् यही कृति 'जैनग्रन्थ प्रसारक-सभा' ने सन् 1940 में प्रकाशित की है।

<sup>121</sup> वैयाकरण विनयविजयगणि ने 'श्रीपाल राजानोरास' शुरू किया था, परन्तु विक्रम संवत् 1738 में उनका अवसान होने पर अपूर्ण रहा था। न्यायाचार्य श्री यशोविजय ने तृतीय खण्ड की पांचवी ढाल, अथवा उसके अमुक अंश से आगे का भाग पूर्ण किया है। उन्होंने चतुर्थ खण्ड की सातवीं ढाल के 29वें पद्य में इन विषादि पांच अनुष्ठानों का उल्लेख करके पद्य 30 से

इन पांच अनुष्ठानों के विवेचन के साथ ही इसमें सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधनाभूत यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का विवेचन भी बहुत ही स्पष्ट रूप से किया गया है। इसमें विरति, मोक्ष, आत्मा की परिभाषा, कार्य की सिद्धि में काल, स्वभाव आदि पंचकारण—समवाय की भूमिका का वर्णन, महेश्वरादि एवं पुरुषाद्वैतवादी के मतों का निरसन, अध्यात्म—भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षेप आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

पतंजलि की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात—समाधि के सम्बन्ध में गोपेन्द्र<sup>122</sup> और कालातीत<sup>123</sup> की मान्यता का निर्देश तथा सर्वदेव नमस्कार की उदारवृत्ति के सन्दर्भ में चारिसंजीवनी—न्याय का दृष्टान्त दिया गया है। इसमें कालातीत की अनुपलब्ध कृति में से सात अवतरण भी दिए गए हैं। इसमें यह बताया गया है कि योग के अधिकारी कौन हैं और कौन नहीं ? भवाभिनन्दी—जीव ध्यान के अधिकारी नहीं हैं। इसमें चरमावर्त में स्थित शुक्लपाक्षिक, भिन्नग्रन्थि और चारित्री जीवों को ही ध्यान का अधिकारी कहा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर आधारित 'सद्योगचिन्तामणि' नामक स्वोपज्ञवृत्ति भी है, जिसका श्लोक—परिमाण तीन हजार छः सौ बीस है।<sup>124</sup>

33 में उनका विवेचन किया है। इसके अलावा 26वें पद्य में भी अनुष्ठान से सम्बद्ध प्रीति, भक्ति—वचन और असंग का उन्होंने निर्देश किया है।

<sup>122</sup> श्री हरिभद्रसूरि ने अन्य सम्प्रदायों के जिन विद्वानों का मानपूर्वक निर्देश किया है, उनमें से एक यह गोपेन्द्र भी है। इन सांख्ययोगाचार्य के मत के साथ उनका अपना मत मिलता है—ऐसा उन्होंने कहा है। हरिभद्रसूरि ने ललितविस्तरा (पृ. 45 आ.) में 'भगवद्गोपेन्द्र' — ऐसे सम्मानसूचक नाम के साथ उनका उल्लेख किया है। गोपेन्द्र, अथवा उनकी किसी कृति के बारे में किसी अज्ञेय विद्वान् ने निर्देश किया हो, तो ज्ञात नहीं, केवल मूलकृति गुजराती अर्थ (अनुवाद) और विवेचन के साथ 'बुद्धिसागर जैन ज्ञानमन्दिर' ने 'सुखसागरजी ग्रन्थमाला' के तृतीय प्रकाशन के रूप में सन् 1950 में प्रकाशित की है। आजकल यह मूल कृति अंग्रेजी अनुवाद आदि के साथ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर अहमदाबाद की ओर से छपी है।

<sup>123</sup> ये परस्पर विरोधी बातों का समन्वय करते हैं। इस दृष्टि से इस क्षेत्र में ये हरिभद्रसूरि के पुरोगामी कहे जा सकते हैं। 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' (पृ. 80) में ये शैव, पाशुपत या अवधूत—परम्परा के होंगे— ऐसी कल्पना की गई है।

<sup>124</sup> प्रो. मणिलाल एन. द्विवेदी ने योगबिन्दु का गुजराती अनुवाद किया था और वह वडोदरा से सन् 1899 में प्रकाशित किया था। योगबिन्दु एवं उसकी अज्ञातकर्तृकवृत्ति आदि के बारे में विशेष जानकारी के लिए लेखक के 'श्री हरिभद्रसूरि' तथा 'जैन संस्कृत—साहित्य नो इतिहास' ग्रन्थ देखिए।

### 5. योगशतक (जोगसयग) -

आचार्य हरिभद्रसूरि संस्कृत-भाषा के महान् सिद्धहस्त लेखक तो थे ही, साथ ही प्राकृत-भाषा के सम्बन्ध में भी उनका पाण्डित्य प्रखर था, मानो दोनों भाषा (संस्कृत और प्राकृत) पर उनका प्रभुत्व एक तराजू के दोनों पलड़ों के समान था। प्राकृत-भाषा में रचित योगविषयक ग्रन्थों में योगशतक नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। यह एक सौ एक प्राकृत गाथाओं की रचना है। इसमें विविध विषयों का वर्णन है। इसके प्रारम्भ में योग को दो भागों में विभाजित किया गया है—

1. निश्चय—योग।

2. व्यवहार—योग।

फिर, इन दोनों योगों का स्वरूप बताया गया है। तदनन्तर, निश्चय—योग से फल, सिद्धि, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध, योग के अधिकारी के रूप में अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि और सम्यक्चारित्र— इन तीनों का स्वरूप, मैत्री आदि चार भावनाओं का वर्णन किया गया है। फिर, सर्वसम्पत्कारी भिक्षा, योगजनित लब्धियों और उनके फल की चर्चा है। इसमें कायिक—प्रवृत्ति की तुलना में मानसिक—भावना को श्रेष्ठ बताया गया है, साथ ही इस श्रेष्ठता को मण्डूक—चूर्ण और उसकी भस्म तथा मिट्टी का घड़ा और सुवर्ण—कलश के उदाहरण से समझाया गया है। इसमें काल—ज्ञान का उपाय भी वर्णित है। उपर्युक्त सभी विषय ध्यान से सम्बन्धित हैं। जिस तरह दूध से शकर को अलग नहीं कर सकते, उसी तरह इन विषयों से ध्यान को भी अलग नहीं किया जा सकता।

इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ध्यान शब्द के स्थान पर योग शब्द का प्रयोग भी किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ पर हरिभद्र की स्वोपज्ञ—व्याख्या है, जिसका परिमाण सात सौ पचास श्लोक है।

**6. योगदृष्टिसमुच्चय** — प्रस्तुत ग्रन्थ दो सौ छब्बीस पद्यों में लिखा गया है। इसमें योग को अलग—अलग दृष्टियों से समझाया गया है।<sup>125</sup> प्रथम तो ओघदृष्टि तथा

<sup>125</sup> (क) उपर्युक्त आठ दृष्टियों के विषय का आलेखन न्यायाचार्य श्री यशोविजयगणि ने द्वात्रिंशद्—द्वात्रिंशिका की 21—24 में तथा 'आठ योगनी सज्झाय' में किया है।

(ख) स्व. मोतीचन्द गि. कपाड़िया की इस विषय को लेकर गुजराती में 'जैन दृष्टिए योग' नामक किताब की दूसरी आवृत्ति श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, विक्रम संवत् 2010 में प्रकाशित हुई।

(ग) न्यायविशारद्, न्यायतीर्थ मुनिश्री न्यायविजयजी ने इस विषय का निरूपण— 'अध्यात्म—तत्त्वालोक' में किया।



योगदृष्टि का निरूपण है, तत्पश्चात् इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग के भेदों का वर्णन किया गया है। सामर्थ्ययोग को भी दो भागों में बांटा गया है—

1. धर्मसंन्यास और
2. योगसंन्यास।

इसके अनन्तर 1. मित्रा 2. तारा 3. बला 4. दीप्रा 5. स्थिरा 6. कान्ता 7. प्रभा और 8. परा— इन आठ दृष्टियों का विषय विशद रूप से निरूपित है, साथ ही पातंजलि के अष्टांगयोग से इन आठ योगदृष्टियों की तुलना भी की गई है।

इन आठ दृष्टियों को समझाने के लिए तृणादि की अग्नि के उदाहरण प्रस्तुत किए गए। इसमें चौदह गुणस्थानों का वर्णन भी किया गया है, साथ ही गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तयोगी तथा निष्पन्नयोगी के स्वरूप के बारे में भी समझाया गया है। कर्मयुक्त (संसारी) जीव की अचरमावर्तकालीन—अवस्था को 'ओघदृष्टि' और चरमावर्तकालीन—अवस्था को योगदृष्टि कहा है। आठ दृष्टियों में से प्रथम की चार दृष्टियां आंशिक मिथ्यात्व से युक्त होने के कारण उन्हें अवेद्यसंवेद्य पद वाली तथा अस्थिर एवं सदोष कहा है, शेष चार दृष्टियां वेद्यसंवेद्य पद वाली एवं निर्दोष हैं। प्रथम चार दृष्टियों में मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। पांचवीं—छठवीं दृष्टि में पांचवे से सातवे गुणस्थान होते हैं। सातवीं दृष्टि में आठवां और नौवां गुणस्थान होता है। अन्तिम दृष्टि में शेष सभी गुणस्थानों का, अर्थात् दसवें से लेकर चौदहवें गुणस्थानों तक का समावेश है।

इस ग्रन्थ पर अनेक मुनि—भगवंतों ने टीका भी लिखी है तथा इसका गुजराती भाषान्तर भी किया है, जो इस प्रकार है—

1. श्री देवविजयजी गणिवर (केशरसूरिश्वरजी मसा.)
2. पू. आ. भुवनभानुसूरिश्वरजी मसा. व्याख्यानात्मक—शैली में भाषान्तर।
3. पू. युगभूषणविजयजी मसा.।
4. पू. गणिवर्य मुक्तिदर्शनविजयजी द्वारा लिखित 'आठ दृष्टिना अजवाला'।
5. श्री राजशेखरविजय मसा. द्वारा भावानुवाद वाला विवेचन।
6. पण्डितजी श्री डॉ. भगवानदास मनसुखजी का किया हुआ विवेचन।
7. पण्डितजी धीरजलाल डाह्यालाल कृत गुजराती भाषान्तर।

**7. योगशतक की स्वोपज्ञवृत्ति** — मूल ग्रन्थकार हरिभद्रसूरि ने स्वयं इस पर स्वोपज्ञवृत्ति लिखकर मूल विषय का विस्तृत विवेचन किया है। मूल ग्रन्थ में मित्रादि आठ दृष्टियों की तुलना पातंजल योगदर्शन (2-29) में आए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि— आठ योगांगों के साथ की गई है, उसी प्रकार श्लोक क्रमांक सोलह की वृत्ति में खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्रोग और आसंग की चर्चा है।<sup>126</sup>

इसी श्लोक की वृत्ति के अन्तर्गत अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध—मीमांसा, शुद्ध प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति<sup>127</sup> का वर्णन तुलना सहित किया गया है। इस तुलना में क्रमशः पतंजलि, भास्कर बन्धु और दत्त के मन्तव्य भी दृष्टिगोचर होते हैं।<sup>128</sup>

**8. योगविंशिका** — एक हजार चार सौ चवालीस ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित विंशति—विंशिका—प्रकरण, जिसमें विविध विषयों पर बीस—बीस श्लोकों द्वारा अद्भुत निरूपण किया गया है, उस ग्रन्थ का ही योग—विषयक एक प्रकरण 'गागर में सागर' की उक्ति को सार्थक करता है। इस ग्रन्थ को जोग—विहाणवीसिया के नाम से भी जाना जाता है।

**9. जोगविहाणवीसिया (योगविधानविंशिका)** — आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित 'वीसवीसिया' बीस विभागों में विभाजित है। उन विभागों के सत्रहवें विभाग का नाम 'जोगविहाणवीसिया' है। इसमें योग—विषयक बीस गाथाएं हैं। पहली गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि जो प्रवृत्ति मुक्ति की ओर ले जाए, वह योग है।

दूसरी गाथा में योग के पांच प्रकार बताए गए हैं— 1. स्थान 2. ऊर्ण 3. अर्थ 4. आलम्बन और 5 अनालम्बन।<sup>129</sup> इसमें प्रथम दो 'कर्मयोग' हैं और बाकी तीन 'ज्ञानयोग' हैं। प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि— इस प्रकार चार—चार भेद हैं। इसमें योग के अस्सी भेदों के विवेचन के साथ ही अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम का वर्णन है। तीर्थ—रक्षा हेतु शुद्धिकरण और शुद्ध आचरण के चार प्रकारों का उल्लेख किया गया

<sup>126</sup> इन खेद आदि के स्पष्टीकरण के लिए षोडशक, षो. 14, श्लोक 2 — 11.

<sup>127</sup> षोडशक, षो. 16, श्लोक 14.

<sup>128</sup> समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. 86.

<sup>129</sup> इन पांचों का षोडशक, षो. 13, 4 में निर्देश है.

है। यह कृति आध्यात्मिक-विकास के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्राथमिक स्तर का विवेचन न करके आगे के स्तरों का भी निर्देश करती है।

**9. षोडशक-प्रकरण** — यथा नाम तथा गुण की कहावत इस ग्रन्थ के नाम पर भी लागू होती है। इसमें सोलह-सोलह पद्यों के सोलह प्रकरण हैं। प्रस्तुत कृति में बाल, मध्यम-बुद्धि एवं बुध आदि के वर्गीकरण के माध्यम से अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। योग-साधना में बाधक खेद, उद्वेगादि आठ चित्त-दोषों का इसके चौदहवें प्रकरण में वर्णन मिलता है, वैसे ही सोलहवें प्रकरण के अन्तर्गत इन दोषों के विरोधी पक्ष अद्वेषादि का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें प्रकरण में ध्यान का सुस्पष्ट वर्णन तथा ध्यान के दो प्रकारों - 1. सालम्बन-ध्यान और 2. निरालम्बन-ध्यान का उल्लेख है। इन दोनों ध्यानों की प्राप्ति अवश्यमेव होती है। इस प्रकार, इसमें ध्यान (योग) का विस्तार से विवेचन है।

**10. पंचसूत्र की वृत्ति** — प्रस्तुत ग्रन्थ पर हरिभद्र की वृत्ति है। इसे पापप्रतिघात एवं गुणबीजाधान, साधुधर्म की परिभावना, प्रव्रज्याग्रहणविधि, प्रव्रज्यापरिपालन तथा प्रव्रज्याफल— इन पांच विषयों में विभाजित किया गया है। इनमें योग-विषयक कुछ उल्लेख मिलते हैं।

इसमें सुकृत का सेवन, दुष्कृत का परित्याग, मंगलरूप चार शरण, श्रावक एवं श्रमण की चरणसत्तरी-करणसत्तरी का वर्णन, सम्यग्दर्शनादि की आराधना के माध्यम से ध्यान तथा योग का कुछ विवरण उपलब्ध है।

इस प्रकार, हरिभद्रसूरि का ध्यान तथा योगविषयक साहित्य गहन, किन्तु सरल है। यह व्यक्ति की साधना में सहायक है। वैसे भी कहा गया है— "संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए जीव के दुःखों का सर्वथा नाश करके, शाश्वत आनन्द की दशा प्राप्त कराने वाला, अर्थात् परमात्मा बनाने वाला साधन 'योग' या 'ध्यान' ही है।"<sup>130</sup>

**हरिभद्र के ध्यानशतक-टीका की विशेषताएं** — यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'ज्ञानज्झयण' (ध्यानशतक) पर संस्कृत-भाषा में एक टीका लिखी है, जो वर्तमान में भी उपलब्ध है। यह टीका ध्यानशतक की सबसे प्रथम टीका है, जो

<sup>130</sup> प्रस्तुत वाक्य 'जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास', भाग- 4 से उद्धृत है, पृ. 227.

ज्ञाणज्ज्ञयण की रचना के लगभग एक सौ, अथवा एक सौ पच्चीस वर्ष के पश्चात् लिखी जा चुकी थी।

प्रस्तुत ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) अर्द्धमागधी—आगम पर आधारित है और आगम पर आधारित होने के कारण इसमें उन सभी विषयों का समावेश हुआ है, जो ठाणांग आदि आगम—ग्रन्थों में वर्णित हैं। इसके साथ—साथ, इसमें निर्युक्ति की शैली और उनकी ध्यान—सम्बन्धी अवधारणाओं का भी समावेश हुआ है। हरिभद्र ने अपनी टीका में भी उन आगमिक—आधारों को तो स्पष्ट किया है, लेकिन इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी टीका में निर्युक्ति आदि के भावों को भी ग्रहण किया है।

हरिभद्र की विशेषता यह है कि उन्होंने अपने को न केवल मूल आगमों तक सीमित रखा, अपितु उनकी निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि को भी आधार बनाकर यह टीका लिखी है। जहां मूल ग्रन्थ में मात्र मूल आगमों और उनकी निर्युक्ति को आधार बनाया गया है, वहीं टीका में निर्युक्ति के साथ—साथ भाष्य और चूर्णि को भी आधार बनाया है और इस प्रकार मूल ग्रन्थ की अपेक्षा टीका में शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण विस्तार से और सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को आसानी से समझ में आ जाए, इतनी सरलता से हुआ है। इस प्रकार, इसमें जनसाधारण का ध्यान रखा गया है। मात्र यही नहीं, इसमें शब्द के सामान्य अर्थ के साथ—साथ उसके तात्पर्य को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। टीका में अनेक स्थलों पर 'इति गम्यते, इति शेषः प्रकरणाद् इति गम्यते' आदि शब्दों का प्रयोग करके ग्रन्थ के वर्णित विषय के मूल हार्द को प्रमाण—सहित अधिक स्पष्टता से समझाने का प्रयत्न किया है।

इस टीका की एक अन्य विशेषता इसका मध्यम आकार का होना है। यह न तो अति संक्षिप्त है और न ही अति विस्तृत। यह मध्यम आकार की टीका है, इसी कारण से इसे जन—साधारण को भी समझने में अति कठिनाई नहीं होती है। यद्यपि टीका की भाषा संस्कृत है, फिर भी इसमें प्रयुक्त संस्कृत इतनी सरल और सहज है कि सामान्य रूप से संस्कृत का सामान्य ज्ञाता भी उसे सरलता से समझ सकता है। टीकाकार ने अपने कथ्य को प्रमाण—पुरस्सर सिद्ध करने हेतु अनेक स्थलों पर अपने से प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थ के सन्दर्भ भी दिए हैं। इसी प्रकार, यदि इसकी किसी गाथा—विशेष के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकार के सामने विद्वानों में जो भी मतभेद थे, टीका में टीकाकार ने उनका भी स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। टीकाकार ने, उनके समक्ष मूल

ग्रन्थ के पाठों को लेकर जो भी मतभेद रहे थे, उनका भी टीका में निर्देश कर दिया गया है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि यह टीका मूल ग्रन्थ के विषय को समझने की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इसीलिए ही इसे हमने अपने शोध का विषय बनाया है। टीका की विशेषताओं के सन्दर्भ में हमने उपर्युक्त सामान्य निर्देश दिए हैं। इन्हीं तथ्यों की पुष्टि आचार्य विजयकीर्तियशसूरिजी ने 'ध्यानशतक' भाग- 1 के सम्पादकीय में भी की है। उनका कथन गुजराती भाषा में होने से हमने उसका रूपान्तरण हिन्दी में करके लिखा है—

'ध्यानशतकस्य च महार्थत्वात्' पद से शुरू होकर 'नास्ति काचिदसौ क्रिया आगमानुसारेण क्रियमाणा यया साधूनां ध्यानं न भवति'— इस वाक्य से पूर्ण होता है। इसमें न अति संक्षिप्त और न ही अति विस्तृत वर्णन किया है। ऐसे समर्थ शास्त्रकार शिरोमणि श्री हरिभद्रसूरि की प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका को देखकर टीका-शैली की विशेषता का वर्णन इस प्रकार है—

1. शब्दों के अर्थ को समझने के लिए 'इति' शब्द का उपयोग किया गया है।
2. इत्यर्थः इति यावत्, वगैरह शब्दों के माध्यम से शब्दों के तात्पर्य तक ले गए हैं।
3. इतिगम्यते, इति शेषः प्रकरणाद् इति गम्यते, आदि शब्दों के प्रयोग से गाथाओं में जिनका वर्णन नहीं किया गया, ऐसी बातों का समन्वय भी किया गया है।
4. इतियोगः, इति सम्बन्धः, आदि शब्दों के माध्यम से, गाथाओं का अन्वय कैसे करना, उनको कैसे जोड़ना तथा कैसे अलग-अलग करना इत्यादि बातों का ज्ञान हमें गाथाओं की टीका के अन्तर्गत प्राप्त हो जाता है।
5. टीका में प्राग्निरूपित शब्दार्थः, प्राग्निरूपितस्वरूपः आदि वचनों का प्रयोग किया, लेकिन इस बात पर उनका विशेष ध्यान था कि पूर्व में निरूपित किए गए शब्दों के अर्थ की पुनरुक्ति न हो जाए।
6. गाथा की अवतरणिका में इदानीम्, साम्प्रतम्, अथ आदि शब्दों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है।
7. टीका के विषय को पुष्ट करने के लिए अनेक स्थानों पर प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरण देकर इसको और भी सुन्दर बनाया गया है।

8. कहीं-कहीं गाथा की व्याख्या के सम्बन्ध में जो मतभेद वर्णित हैं, उनकी जानकारी भी टीका में दी गई है।
- ध्यानशतक की मूल गाथाओं में कोई पाठ-भेद है, तो उसका उल्लेख भी टीका के अन्तर्गत है।

-----00000-----

# जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका : एक तुलनात्मक अध्ययन

## द्वितीय अध्याय

1. ध्यान की परिभाषा और स्वरूप
2. प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान की परिभाषा
3. प्रस्तुत ग्रन्थ की हरिभद्रीय टीका में ध्यान की परिभाषा
4. छद्मस्थ और जिनेश्वर के ध्यान
5. ध्यान के प्रकार
6. चार ध्यानों के शुभत्व और अशुभत्व का प्रश्न
7. आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान बन्धन के हेतु
8. साधना की दृष्टि से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का स्थान और महत्व

## द्वितीय अध्याय

### ध्यान की परिभाषा और स्वरूप

आध्यात्मिक—साधना के विकास में ध्यान का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है। यहां तक कि अतिप्राचीन नगर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से खुदाई में जो सीलें आदि उपलब्ध हुई हैं, उनमें भी ध्यानमुद्रा में योगियों के अंकन पाए जाते हैं।<sup>1</sup> वैज्ञानिकों का यह मन्तव्य है कि इस सभ्यता का जीवनकाल ईस्वी पूर्व छः हजार से लेकर के दो हजार पांच सौ ईस्वी पूर्व वर्ष तक रहा प्रतीत होता है।<sup>2</sup>

मोहनजोदड़ो का काल प्राग्वैदिककाल कहलाता है।<sup>3</sup>

इस सन्दर्भ में रामप्रसाद चांदा का कथन है— 'सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में न केवल बैठी हुई देवमूर्तियां योग—मुद्रा में है और उस सुंदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योगमार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं, बल्कि खड्गासन देवमूर्तियां भी योग—कायोत्सर्ग—मुद्रा में हैं और वह कायोत्सर्ग—ध्यानमुद्रा विशिष्टतया जैन है।'<sup>4</sup>

इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत देश में ध्यान की परम्परा प्राचीन है और साधना के क्षेत्र में सदा उसे सम्माननीय स्थान मिला है। 'ध्यान' वीतरागदशा को प्रकट कराने वाली साधना का अभिन्न अंग भी है। सम्पूर्ण जैन—वाङ्मय का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उसमें भी ध्यान की प्रचुर सामग्री है।<sup>5</sup> 'आचारांग—सूत्र' के नवम अध्याय में वर्णित महावीर की साधना से यह प्रमाणित होता है

<sup>1</sup> (क) डर्वीदरवकंतव दक प्दकने ब्यअपसप्रंजपवदए श्रवीद डंतोंसए अवसनउम 1ए चंहम 52<sup>प</sup>

(ख) जैनधर्म और तान्त्रिक—साधना, डॉ सागरमल जैन, अध्याय, 8, पृ. 256.

<sup>2</sup> भारतीय इतिहास : एक दृष्टि.

<sup>3</sup> भोजवतल वऱिदबपंदज प्दकपंए च्हम. 25<sup>प</sup>

<sup>4</sup> भारतीय इतिहास : एक दृष्टि.

<sup>5</sup> (क) स्थानांग — 10/133.

(ख) इसिभासियाई (ऋषिभाषित), अध्याय 23.

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र — 11/14—27, उत्तराध्ययन — 11/14 की वृहद्वृत्ति.

(घ) ध्यानस्तव, श्लोक 8 से 23 तक.

(ङ) समवायांग, समवाय 5.

(च) प्रश्न—व्याकरण, संवरद्वार 5.

(छ) भगवतीशतक — 25, उद्देशक 7.

(ज) आवश्यकनिर्युक्ति — 1458.

(झ) औपपातिकसूत्र 30, पृ. 49—50.

(ञ) पगामसिज्जाय, आवश्यक श्रमणसूत्र.



कि उनके लिए ध्यान—साधना ही अति महत्त्वपूर्ण थी। वे कठिनतम ध्यान—साधना करते थे। भगवान् महावीर अपनी कठिनतम ध्यान—साधना से विचलित नहीं हुए थे। निम्न उद्धरण महावीर की ध्यानसाधना को पूर्णतः प्रकट करता है—

**अवि ज्ञाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए ज्ञाणं ।**

**उद्ध अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिपडिण्णे ॥<sup>6</sup>**

वे महावीर उत्कृष्ट आसनों में स्थित होकर निरन्तर अविचलित दशा से ध्यान करते थे। उर्ध्व, अधो और तिर्यक् देखते हुए समाधि में मग्न और अनाकांक्ष रहते थे।

'आचारांग—सूत्र' की शीलाकाचार्य टीका में आचारांगचूर्णि एवं आवश्यकचूर्णि के अन्तर्गत भगवान् महावीर की ध्यान—साधना के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वे प्रमुख रूप से उर्ध्वलोक तथा मध्यलोक में स्थित जीवाजीवादि तत्त्वों का आलम्बन लेकर ध्यान में मग्न हो जाते थे।<sup>7</sup>

**"सुण्णागारा वणस्संतो णिवाय सरणप्पदीपज्झाणमिवणिप्प कंपे ॥"**

इसका अर्थ है कि जिस प्रकार सुनसान आगार में निर्वात (वायुरहित) स्थल में जिस तरह दीपक प्रज्वलित रहता है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ ध्यानावस्था में निष्प्रकम्प रहते हैं। आगमोत्तर—काल में अनेक जैन—आचार्यों, विद्वानों द्वारा ध्यान—सम्बन्धी विषय पर प्रकाश डाला गया, यथा— पूर्वधर महर्षि उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थसूत्र' और उनके द्वारा रचित उसके 'स्वोपज्ञभाष्य' में ध्यान का वर्णन किया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य के सामायिक—अध्ययन के बाद ध्यान—विषयक 'ज्ञाणज्झयण' नामक ग्रन्थ लिखा है। सुरिपुन्दर हरिभद्र ने तो 'आवश्यकनिर्युक्ति' पर सुविस्तृत टीका की रचना के अन्तर्गत सम्पूर्ण 'ध्यानशतक' को ही उद्धृत किया है, साथ ही 'संबोधप्रकरण' में भी स्वतन्त्र विभाग के रूप में सम्पूर्ण ध्यानशतक को समाहित किया है। आचार्य सिद्धसेनसूरि ने तत्त्वार्थसूत्र के 'स्वोपज्ञभाष्य' की टीका में तत्त्वार्थ के ध्यान—सम्बन्धी सूत्रों एवं उनके भाष्य की विशद विवेचना की है। संवेगरंगशाला ग्रन्थ के आचार्य

<sup>6</sup> (क) आचारांगसूत्र, अध्याय 9, उद्देशक.4, गाथा 67.  
(ख) आचारांगवृत्तिपत्र 312.

<sup>7</sup> (क) आचारांगशीलाटीका, पत्रांक 315.  
(ख) आचारांगचूर्णि, मूलपाठ टिप्पण, सूत्र 320.  
(ग) आवश्यकचूर्णि, पृ. 324.

श्रीजिनचन्द्र सूरीश्वर ने तो 'ध्यानांग' पर सुन्दर प्रकाश डाला है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि ने भी 'योगशास्त्र' आदि ग्रन्थों में ध्यान-विषयक सुविस्तृत विवेचन किया है। न्यायाचार्य यशोविजयजी ने 'अध्यात्मसार' में ध्यानशतक का ध्यानाधिकार के रूप में समवतार किया है, साथ ही उन्होंने अध्यात्मोपनिषद् में योगवासिष्ठ और तैत्तरीय-उपनिषद् के महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर उनकी जैन-दर्शन के ध्यान के साथ तुलना की है। अध्यात्मयोगी आनंदधनकृत 'चौबीसी' व उनके स्फुट पदों में ध्यान की चर्चा की गई है। योगीराज 'श्रीमद्राजचन्द्र' के साहित्य में भी ध्यान-विषयक चर्चा है। आचार्य रत्नशेखरसूरि ने 'गुणस्थानक क्रमारोह' में ध्यान को बहुत सुन्दर रूप में वर्णित किया है।

इस प्रकार, अनेक विद्वानों ने अपनी लेखनी ध्यान-विषयक विवेचना हेतु चलाई।<sup>8</sup>

**ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ** — 'ध्यै चिन्तायाम्'<sup>2</sup> — इस सूत्र के अनुसार मन के किसी विषय में लीन होने की दशा ध्यान है। ध्यान आना, अर्थात् अनुभूत तथ्यों की स्मृति होना— यह ध्यान शब्द का सामान्य अर्थ है।<sup>10</sup> व्युत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान शब्द का अर्थ है — जिसके द्वारा किसी के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, वह ध्यान है।<sup>11</sup>

**ध्यान शब्द का विशेष अर्थ** — अन्तर्मुहूर्त्तकाल पर्यन्त किसी विषय पर चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसी को ध्यान कहा जाता है।<sup>12</sup> निर्विषय मन ही ध्यान है।<sup>13</sup>

<sup>8</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ 'ज्ञानं; ध्यानं स्वरूप अने साधना' भाग— 1 पुस्तक की भूमिका से उद्धृत.

<sup>9</sup> (क) आवश्यकचूर्णि, अध्याय 4 (ख) सिद्ध हेमचन्द्रतत्त्वानुशासनं धातु नं. (ग) ध्यायते चिन्त्यते वस्त्वनेन, ध्यर्तिवा ध्यानम्। — प्रवचनसारोद्धार, द्वार 6.

<sup>10</sup> नालन्दा विशाल शब्दसागर, सं. — श्रीनवलजी, पृ. 655.

<sup>11</sup> (क) (ध्यै + ल्युट्) "ज्ञानात् ध्यान विशिष्यते।" संस्कृत शब्दार्थ, कौस्तुभ, पृ. 575.

(ख) "ध्यै — ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानम्, एकाग्रचित्त निरोधः इत्यर्थः। ध्यै चिन्तायाम्।  
— अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 4, पृ. 1662.

(ग) "ध्यायते वस्तुअनेनेति ध्यानम्।" — ध्यान योगरूप और दर्शन, सं.

— डॉ नरेंद्र भानावत, पृ. 30.

<sup>12</sup> (क) प्रवचनसारोद्धार, द्वार 6.

(ख) अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग 4, पृ. 1661.

<sup>13</sup> ध्यानं निर्विषयं ममः। — जैनभारती से उद्धृत, वर्ष 58, अंक 2, पृ. 47.

अन्तःकरण की तल्लीनतापूर्वक किसी क्रिया, अथवा भाव का होना भी ध्यान है। ध्यान—साधना का पहला सोपान है— एकाग्रता<sup>14</sup>, ध्यान में तल्लीनता, अर्थात् चेतना की वृत्ति का स्थिरीकरण, अथवा विचारों की एकाग्रता परम आवश्यक है। शब्दों में मन की एकाग्रता की क्रिया ध्यान है।<sup>15</sup> 'योगसार—प्राभृत' की प्रस्तावना में ध्यान को तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अन्तःसंलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, योगांग आदि के रूपों में भी परिभाषित किया गया है।<sup>16</sup>

**ध्यान की परिभाषा (जैन—परम्परानुसार) —** तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ध्यान को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि चेतना का किसी एक पदार्थ पर केन्द्रित होना ध्यान है।<sup>17</sup>

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित 'ध्यानशतक' के आधार पर, चित्त को एक वस्तु या विषय में स्थिर करना ध्यान है।<sup>18</sup>

आगमसार के अनुसार, किसी एक विषय पर केन्द्रित शुभाशुभ विचार को ध्यान कहते हैं।<sup>19</sup>

संयोगवश या बिना संयोग के ही विचार उत्पन्न हो सकते हैं, मन किसी—न—किसी विषय में अवश्य विचरण करता है। उसके विचरण में स्थिरता को ध्यान कहते हैं। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति भी इस ध्यान के बिना सम्भव नहीं है। परिस्पन्दन से रहित एकाग्र चिन्तन का निरोध ध्यान है।<sup>20</sup>

<sup>14</sup> 'हेमनवरसो' पुस्तक से (जयाचार्य द्वारा लिखित) जैनभारती के सन्दर्भ से, अंक - 8, वर्ष 2008, पृ. 40.

<sup>15</sup> (क) संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सम्पादक - स्व. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, पृ. 575.

(ख) नालंदा विशाल शब्दसागर, पृ. 655.

<sup>16</sup> योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्त निग्रहः।

अन्तः संलीनता चेति तत्पयार्था स्मृता बुधैः ॥

— आर्ष 2/12 उद्धृत - योगसारप्राभृत, प्रस्तावना, पृ. 17.

<sup>17</sup> (क) तत्त्वार्थसूत्र - 9/27.

(ख) नवपदार्थ, पृ. 668.

<sup>18</sup> ध्यानशतक, गाथा 3.

<sup>19</sup> आगमसार, पृ. 167-168.

<sup>20</sup> एकाग्रचिन्तानिरोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः, तद्ध्यानम्। - तत्त्वानुशासन 56.

'आदिपुराण' में, चित्त को एकाग्र रूप से निरोध करना ध्यान की परिभाषा है।<sup>21</sup>

तत्त्वानुशासन में, एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान कहा है, साथ ही ध्यान को संवर और निर्जरा का कारण माना गया है।<sup>22</sup>

ध्यान की इन सब परिभाषाओं से बिल्कुल भिन्न परिभाषा तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में बताई गई है कि वचन, काय और चित्त का निरोध ही ध्यान है।<sup>23</sup>

इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन-परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं माना गया है, बल्कि वह मन, वाणी और शरीर— तीनों से सम्बन्धित है। इसी आधार पर, ध्यान की सम्पूर्ण परिभाषा देते हुए 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा गया है— शारीरिक—वाचिक—मानसिक की एकलयता, एकाग्रप्रवृत्ति तथा उसकी निरंजन—दशा, निष्प्रकम्प—दशा ध्यान है।<sup>24</sup>

योगसारप्राभृत में रत्नत्रयमयध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त को स्थिर करने वाले साधु को होता है जो उसके कर्मक्षपण का कारण है।

इन सब परिभाषाओं से हटकर युवाचार्य महाप्रज्ञजी ने ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'ध्यान चेतना की वह अवस्था है, जो अपने आलम्बन के प्रति एकाग्र होती है।'<sup>25</sup>

उन्होंने आगे लिखा है— 'चिन्तन—शून्यता ध्यान नहीं और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं, जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ही ध्यान है। भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में चित्त विलीन हो जाता है, वह ध्यान है।'<sup>26</sup>

तत्त्वार्थ श्रुतसागरीयवृत्ति<sup>27</sup>, सर्वार्थसिद्धि<sup>28</sup> तथा लोकप्रकाश<sup>29</sup> आदि ग्रन्थों में मन—वचन और काया की स्थिरता को ध्यान कहा गया है।

<sup>21</sup> एकाग्रयेण निरोधो यश्चित्तयस्कैत्र वस्तुनि। — आदिपुराण — 21/8.

<sup>22</sup> तद्ध्यान निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम्। — तत्त्वानुशासन 56.

<sup>23</sup> तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, सिद्धसेनगणि, 9/20.

<sup>24</sup> आवश्यकनिर्युक्ति — 1467—1468.

<sup>25</sup> संस्कृति के दो प्रवाह, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 222.

<sup>26</sup> संस्कृति के दो प्रवाह, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 222.

<sup>27</sup> अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। — तत्त्वार्थश्रुतसागरीयवृत्ति — 9/27.

<sup>28</sup> चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्। — सर्वार्थसिद्धि — 9/20/439.

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में संवर के विवेचन के अन्तर्गत ध्यान का वर्णन करते हुए लिखा है कि जो साधक सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर अपनी आत्मा का आत्मा से ध्यान करता है, वह कर्म तथा नोकर्म का चिन्तन नहीं करता। ऐसा चिन्तन करने वाला आत्मा के एकत्व का चिन्तन करता है। इस प्रकार, आत्मा का ध्यान करता हुआ दर्शन और ज्ञानमयी होकर, किसी से न जुड़ता हुआ, वह स्वल्पकाल में ही कर्मों से विमुक्त हो जाता है और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है।<sup>30</sup>

'मोक्षपाहुड' में लिखा है कि आत्मा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से युक्त है— गुरु के अनुग्रह से यह जानकर साधक को नित्य आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए।<sup>31</sup>

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार, निर्विकल्प—अवस्था, अर्थात् निज स्वरूप में मन को एकलयता, एकाग्रता, अथवा स्थिरता में स्थित करना ही उत्तमध्यान या शुभध्यान कहलाता है।<sup>32</sup>

ध्यान विचार—सविचार (अनुवादक— नैनमल सुराणा) में कहा गया है— 'तत्र ध्यानं चिन्ता—भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः', अर्थात् चिन्ता (चिन्तन) एवं भावना से उत्पन्न स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान है।<sup>33</sup> आत्मा के जो 'स्थिर' अध्यवसाय अर्थात् अवस्थित अध्यवसाय होते हैं, वे ही 'ध्यान' कहलाते हैं और जो अध्यवसाय चल अर्थात् अनवस्थित होते हैं, वे चिन्ता अथवा चिन्तन कहलाते हैं। जब चिन्तन को अन्य विषयों से

<sup>29</sup> लोकप्रकाश - 30/421-422.

<sup>30</sup> जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।

ण वि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ।।

अप्पाणं ज्ञायंतो दंसणणाणमओ अणणमओ ।

लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ।। - समयसार, गाथा 188-189, पृ 310.

<sup>31</sup> अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा 63-64, पृ 312.

<sup>32</sup> सुविसुद्ध—राय—दोसो बाहिर—संकल्प—वज्जिओ धीरो ।

एयग्ग—मणो संतो जं चिंतइ तं पि सुइ—ज्ञाणं ।।

स—सव्व—समुब्भासो णट्ट—ममत्तो जिदिदिओ ।

अप्पाणं चिंतंतो सुइ—ज्ञाण—रओ हवे सांहु ।।

वज्जिअ—सयल—वियप्पो अप्प—सरुवे मणं णिरुद्धंतो ।

जं चिंतदि साणंदं तं धम्मं उत्तम ज्ञाणं ।। - स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 480-482.

<sup>33</sup> तुलना करें— एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् ! एकस्मिमालम्ब ने चिन्तानिरोधः चलं चित्रमेव चिन्ता, तन्निरोधस्तरस्यैकमावस्थापनमित्यर्थः । - तत्त्वार्थसूत्र की टीका, श्री सिद्धसेनगणि, सूत्र 9-27.

<sup>34</sup> भगवती—आराधना, विजयोदयाटीका, ध्यानशतक, प्रस्तावना, पृ 26.

<sup>35</sup> यशस्तिलकचम्पू आश्वास, श्लोक— 8/155-158.

<sup>36</sup> पंचास्तिकाय - 152.

हटाकर किसी भी एक वस्तु अथवा विषय में एकाग्र किया जाता है, तो वह ध्यान बन जाता है। **भगवती-आराधना** में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है— 'चिन्ता-निरोध' से उत्पन्न एकाग्रता या एकलयता ही ध्यान है।<sup>34</sup>

आचार्य सोमदेव ने अपनी कृति '**यशस्तिलकचम्पू**' में ध्यान के प्रसंग में ध्यान के स्वरूप को बताते हुए कहा है— "अपनी पांचों इन्द्रियों को आत्मोन्मुख बना ले, बाह्य-विषयों से दूर कर ले, तब ही साधक ध्यान में स्थिर होगा।"<sup>35</sup>

आचार्य कुन्दकुन्द **पंचास्तिकाय** के अन्तर्गत ध्यान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दर्शन तथा ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य सभी के पदार्थ के संग से रहित शुद्ध चैतन्यावस्था ही ध्यान है।<sup>36</sup>

पण्डित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री प्रस्तुत गाथा में '**दंसण्णाणसमग्गं**' को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण क्रिया ही ध्यान है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक '**जैनसाधना-पद्धति में ध्यान**' में कहा है— "मेरी दृष्टि में यह अर्थ उचित नहीं है। दर्शन और ज्ञान की समग्रता (समग्गं) का अर्थ ज्ञान का भी दर्शन के समान निर्विकल्प हो जाना है। सामान्यतया, ज्ञान विकल्पात्मक होता है और दर्शन निर्विकल्प, किन्तु जब ज्ञान चित्त की विकल्पता से रहित होकर दर्शन से अभिन्न हो जाता है, तो वही ध्यान हो जाता है।"<sup>37</sup>

अन्यत्र कहा गया है कि ज्ञान से ही ध्यान की सिद्धि होती है।<sup>38</sup>

महापुरुषों का किसी बोध में निमग्न हो जाना ही ध्यान है, क्योंकि वह नियत या अविचलित रहता है। दूसरे शब्दों में, चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है।<sup>39</sup>

<sup>37</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यान पुस्तक से उद्धृत, पृ 18.

<sup>38</sup> णाणेण-ज्ञाणसिद्धि, वही, पृ 18.

<sup>39</sup> (क) ध्यानं च विमले बोधे सदैव हि महात्मनाम्।

स्वा प्रसूमरोऽनभ्रे प्रकाशो गगने विधोः ॥ - द्वात्रिंशिका चौबीसवीं का पहला.

(ख) अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग- 4, पृ 1663.

<sup>40</sup> कायादि तिहिकिककं चित्तं तिव्व मउयं च मज्झं च।

जह सीहस्स गतीओ मंदा य पुता दुया चेव ॥ - बृहदकल्पसूत्र, गाथा- 1452.

<sup>41</sup> गीता- 6/34.

स्वरूप का बोध ध्यान के आलम्बन से ही हो सकता है, क्योंकि मन विविध पदार्थों में परिभ्रमण करता रहता है और उसका जो बोध चैतन्य (आत्मा) को होता है, उस बोध को ही 'ज्ञान' कहते हैं, परन्तु जब वह ज्ञान निर्धात दीपक की लौ के समान स्थिर या एक ही विषय पर स्थिर हो जाता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार, दृढ़ अध्यवसायस्वरूप चित्त को ध्यान कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—मानसिक, वाचिक और कायिक। इन तीन प्रकार के चित्त का ध्यान भी तीन प्रकार का है— 1. तीव्र 2. मन्द एवं 3. मध्य।

जैसे सिंह की गति मन्द (विलम्बित), प्लुत (न अतिमन्द और न अतिप्लुत) और द्रुत (अतिशीघ्र वेगवाली)— इस प्रकार तीन भेदों वाली होती है, वैसे ही दृढ़ अध्यवसाय का स्वरूप ध्यान भी मृदु, मध्य और तीव्र— इन तीन स्वरूपों वाला होता है।<sup>40</sup>

**ध्यान की परिभाषा (अन्य परम्पराओं में) —** गीता के अन्तर्गत मन की चंचलता के निरोध को वायु के निरोध के समान अति कठिन माना गया है। उसमें उसके निरोध के दो उपाय बताए गए हैं— 1. अभ्यास और 2. वैराग्य।<sup>41</sup> पातंजलयोगदर्शन में, चित्त का अनवरत एवं अबाधित रूप से ध्येय वस्तु पर एकाग्र हो जाना ही ध्यान है।<sup>42</sup>

वैराग्य—दशा में कभी—कभी मन बहिर्मुखी हो सकता है, किन्तु निरन्तर अभ्यास से वह अन्तर्मुखता की ओर मुड़ जाता है। मन की स्थिति को बार—बार केन्द्रित करना

<sup>42</sup> तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। — योगदर्शन— 3/2.

<sup>43</sup> (क) पातंजल योगसूत्र— 1.13.

(ख) योगवासिष्ठ— 6.2/67/43.

<sup>44</sup> वही — 1.15.

प्रयास या अभ्यास कहलाता है<sup>43</sup> तथा लौकिक—अलौकिक विषयों के प्रति ममत्व का अभाव वैराग्य कहलाता है।<sup>44</sup>

सांख्य—दर्शन में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि विषयी मन को निर्विषयी बनाना ध्यान की उच्चतम अवस्था है।<sup>45</sup>

विष्णुपुराण में अन्य विषयों की ओर निःस्पृह होकर परमात्मतत्त्व को केन्द्रित करने वाले ज्ञान की एकाग्रता—विषयक परम्परा को ध्यान कहा गया है।

बौद्ध—परम्परानुसार, ध्यान का अर्थ किसी विषय पर चिन्तन करना है,<sup>46</sup> किन्तु बाह्य—विषयों की आसक्ति से मुक्त होने को ही वस्तुतः ध्यान कहा जाता है।<sup>47</sup>

ध्यान शब्द की इन विभिन्न परिभाषाओं से यह सुस्पष्ट होता है कि शब्दों के द्वारा अलग—अलग व्याख्या—शैली में ध्यान की अलग—अलग परिभाषाएं होने के बावजूद भी मूल सिद्धांततः ये परिभाषाएं एक—दूसरे की विरोधी नहीं हैं। चित्त का संकल्प—विकल्प रूप परिणति से परे होकर निर्विकल्प और निराकार हो जाना ही ध्यान का श्रेष्ठतम स्वरूप है, क्योंकि ध्यान की चरम अवस्था में समस्त संकल्प—विकल्प समाप्त हो जाते हैं। अब, आगे हम ध्यान के स्वरूप की चर्चा करेंगे।

**ध्यान का स्वरूप —** आध्यात्मिक—क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए ध्यान एक सशक्त माध्यम है, क्योंकि ध्यान से ही आत्मा की शुद्धि, कषाय की मंदता, ध्येय वस्तु पर एकाग्रता, तनाव से मुक्ति तथा आत्मदर्शन और समाधि संभव हैं।

किसी जिज्ञासु ने पूछा कि आखिर ध्यान क्या है ? ध्यान के सामान्य स्वरूप को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि चित्त की वर्तमान पर्याय के प्रति अनासक्त भावपूर्वक जो सुखद अनुभूति होती है, उसी का नाम ध्यान है। कहा गया है—

मा चिद्बुद्धि मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होई थिरो ।

अप्पा अप्पमि रओ इणमेव परं हवेज्जाणं ।।<sup>48</sup>

<sup>45</sup> सांख्यदर्शन— 6/25, महर्षि कपिल.

<sup>46</sup> समन्तपासादिका, पृ 145—146.

<sup>47</sup> दि सूत्र ऑव वेलेग, पृ 47.

<sup>48</sup> (क) बृहत्द्रव्यसंग्रह, गाथा 56.



हे भव्यों ! कुछ भी चेष्टा मत करो, कुछ भी मत बोलो, कुछ भी चिन्तन मत करो, जिससे आत्मा निज स्वरूप में स्थिर हो जाए ; यह आत्मा में लीनता ही परम ध्यान है। चेतना में उपयोग की धारा स्थिर, प्रदीप की लौ के समान एक ही विषय पर स्थित रहे और विषयान्तर को प्राप्त न हो— ऐसी अवस्था को ध्यान कहते हैं।<sup>49</sup>

योगबिन्दु ग्रन्थ और षोडशकवृत्ति में ध्यान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि एक पदार्थ के आलम्बन में रहने वाले चित्त का, अथवा समान पदार्थ में रहे हुए चित्त का अन्य पदार्थ के विषय से रहित जो प्रवाह है, वह ध्यान है।<sup>50</sup>

**प्रस्तुत ग्रन्थ में ध्यान की परिभाषा —** ज्ञाणज्झयण, अर्थात् ध्यानशतक में सामान्यतया चित्तवृत्ति के स्थिर होने को ही ध्यान कहा गया है। दूसरे शब्दों में, मन की परिणति जब एकाग्र बन जाती है, अथवा वह निर्विकल्पदशा में गमन करने लगती है, तो वही ध्यान बन जाती है। अन्य शब्दों में, अध्यवसायों (मनोभावों) की स्थिरता को ध्यान कहा गया है। इसके विपरीत, जब मन अस्थिरता एवं चंचलता से युक्त होता है, तब चेतना की इस चंचल-वृत्ति को भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्तन कहा जाता है।<sup>51</sup>

(ख) समणसूत्र— 18.

<sup>49</sup> उपयोगे विजातीय-प्रत्ययाऽव्यवधानभाक् ।

शुभैकप्रत्ययो ध्यानं सूक्ष्माऽऽभोग समन्वितम् ॥ — द्वात्रिंशिका, दसवीं का पहला.

<sup>50</sup> (क) शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।

स्थिर प्रदीप सदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥ — योगबिन्दु, श्लोक— 362.

(ख) एकालम्बनं चित्तं ..... ॥ — षोडशकवृत्ति— 12/14.

<sup>51</sup> (क) जं थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं ।

तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिन्ता ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 2.

(ख) बृहदकल्पसूत्र, गाथा— 1541/1452.

(ग) एकचिन्तानिरोधो, यस्तदध्यानं भावनाः पराः ।

अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा ध्यानसन्तानमुच्यते ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक 66, पृ 4.

(घ) चिन्ता—भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः । — ध्यानविचार, पृ 7.

(ङ) ध्यानस्तव, श्लोक 6.

(च) स्थिरमध्यवसानं ..... चिन्ता वा तत्रिधामतम् ॥ — अध्यात्मसार — 16/1.

(छ) एकचिन्तानुरोधो ..... तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥ — ज्ञानार्णव— 23/14, पृ 413.

<sup>52</sup> सद्धर्मध्यानसंधानहेतवः श्रीजिनेश्वरैः ।

मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्त्रौ भावनाः पराः ॥ — शान्तसुधारस, प्रकरण 13, श्लोक 1.

इस प्रकार, ध्यानशतक में चित्त की चंचलता के तीन प्रकार माने गए हैं—

1. भावना 2. अनुप्रेक्षा और 3. चिन्ता। इन तीनों का परिचय निम्न है—

**1. भावना —** जिस वस्तु का निरंतर चिन्तन करने से आत्मा उससे भावित होती है, उसे भावना कहते हैं। विद्वानों का कथन है कि अनित्यत्व, मैत्री आदि भावनाएं चित्त को ध्यान में स्थिर करने के लिए कारणभूत बनती हैं।<sup>52</sup>

**2. अनुप्रेक्षा —** किसी अनुभूति के बाद उस पर विचार करना, अथवा किए हुए अनुभव का पुनः स्मरण करके उसके अनुरूप चिन्तन-मनन करना, उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं।<sup>53</sup>

**3. चिन्ता —** चिन्ता, अर्थात् भावना और अनुप्रेक्षा रहित मन की अवस्था। ध्यान से पूर्व विचलित चित्त से होने वाला जीवादि तत्त्वों का चिंतन चिन्ता है।<sup>54</sup>

चिन्ता, भावना और अनुप्रेक्षा— ये तीनों चित्त की संचरणशील अवस्था में होती हैं, जबकि ध्यान चित्त की स्थिर अवस्था में होता है।

बृहदकल्पसूत्र में चित्त की तीन अवस्थाओं का वर्णन है— 1. ध्यानावस्था 2. ध्यान्तरिका और 3. तद्विपरीत।<sup>55</sup>

तत्त्वानुशासन के अन्तर्गत कहा गया है कि स्वसंवीति से रहित एक चिन्तात्मक अथवा चिन्ता से युक्त जो चित्त की वृत्ति है, उसका अभाव हो जाना ही चित्तवृत्ति-निरोध है। यह निरोध ही ध्यान है तथा उसका अभाव या स्वसंवीति का अभाव ही चिन्ता है।<sup>56</sup>

<sup>53</sup> (क) भावना चाप्यनुप्रेक्षा चिन्ता वा तत् त्रिधामतम् ॥ — अध्यात्मसार, अध्याय— 16.

(ख) ध्यानदीपिका, श्लोक 66.

<sup>54</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ 'ध्यानविचार' पुस्तक से उद्धृत, अनु.— नैनमल सुराणा, पृ. 9.

<sup>55</sup> ज्ञाणं नियमा चिन्ता, चिन्ता भइया उ तीसु ठाणेसु।

ज्ञाणे तदंतरमि उ, तद्विवरीया व जा काई ॥ — बृहदकल्पसूत्र, गाथा 1641.

<sup>56</sup> अभावो वा निरोधः स्यात् स च चिन्तातरव्ययः।

ये तीनों ध्यान की प्राथमिक अवस्था के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये भीतर की अशुभ परिणति को रोकने में समर्थ हैं तथा ध्यान के अभ्यास में सहायकभूत हैं। यथार्थ रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रेक्षा (श्वासप्रेक्षा आदि) को ही ध्यान मान लेना तो हमारी भूल है। ध्यान के विकास-क्रम में अनुप्रेक्षा और भावना (यदि शुभ अध्यवसाय में स्थिर स्वरूप हो, तो) सहायकभूत भले ही हो सकती हैं, पर चित्त की चंचलवृत्ति रूप होने से उन्हें ध्यान नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार शरीर की स्वरथता, मन की स्वरथता को लक्ष्य में रखकर जो योगासन, प्राणायाम किए जाते हैं, वे योग-साधना नहीं हैं, उसी प्रकार, ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में चिन्तन या मनन को ध्यान नहीं माना है।

महर्षि पतंजलि में चित्त की एकाग्रता या चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा गया है, अर्थात् मन को स्थिर बना देना ही ध्यान है।<sup>57</sup> इसे ज्ञाता-द्रष्टाभाव की स्वरूप स्थिति भी माना गया है।<sup>58</sup> यह योग चित्त की शुद्ध वृत्तियों के स्वरूप का प्रकटीकरण कराने वाला होने से श्रेष्ठ योग है।

ध्यानशतक के अन्तर्गत स्थिर अध्यवसायों को ध्यान कहा गया है, चाहे वे शुभ हों अथवा अशुभ, इसीलिए तो जैनों ने आर्त्त और रौद्र-ध्यान को भी ध्यान कहा है। यद्यपि संसार-परिभ्रमण का कारण होने से उन्हें अशुभ ध्यान की श्रेणी में रखा गया है। जैन सिद्धान्तानुसार चित्त की आत्मा के शुद्ध स्वरूप में एकलयता अथवा एकाग्रता ही मोक्षमार्ग में सहायक है और परपदार्थों में एकाग्रता अशुभ प्रवृत्तिरूप है। वे अशुभ अध्यवसाय आर्त्त और रौद्र-ध्यानरूप तो हैं, किन्तु वे हेय या त्याज्य हैं।<sup>59</sup>

भीतर की शुभ या शुद्ध परिणति में चित्त की स्थिरता शुभध्यान है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान क्रमशः शुद्धध्यान हैं, अतः वे स्वीकार करने योग्य उपादेय हैं।

एकचिन्तात्मको यद्वा, स्वसंविच्चिन्तयोञ्जितः ॥

तत्रात्मन्यसहाये य-च्चिन्तायाः स्यान्निरोधनम् ।

तद् ध्यानम् तदभाषो वा स्वसंवितिमयश्च संः ॥ - तत्त्वानुशासनम् - 64-65.

<sup>57</sup> योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । - योगसूत्र- 1/2.

<sup>58</sup> तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् । - योगसूत्र - 1/3.

<sup>59</sup> ध्यानशतक, सं. - कन्हैयालाल लोढ़ा एवं डॉ. सुषमा सिंघवी, पृ. 59.

## प्रस्तुत ग्रन्थ की हरिभद्रीय-टीका में ध्यान की परिभाषा –

आचार्य हरिभद्र ने ध्यानाध्ययन की दूसरी गाथा की टीका में मूल ग्रन्थ की गाथा का समर्थन करते हुए कहा है कि अध्यवसायों की स्थिरता ध्यान है।<sup>60</sup>

उपाध्याय यशोविजयजी ने भी अध्यात्मसार (16/1) में ध्यान की इसी परिभाषा को स्वीकार किया है। जहां मूल ग्रन्थ की दूसरी गाथा की टीका में आचार्य हरिभद्र ने अध्यवसायों की अस्थिरता को चित्त-संज्ञा दी है, वहीं उपाध्याय यशोविजयजी ने भी अस्थिर अध्यवसायों को चित्त-संज्ञा देते हुए कहा है कि यह चित्त की अस्थिरता भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता-रूप होती है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में और उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्मसार में मूल ग्रन्थ की दूसरी गाथा के अर्थ को ही स्पष्ट किया है, लेकिन इस सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में कुछ विशेष चर्चा की है। वे लिखते हैं कि 'जो होती है' या 'अनुभूत होती है', उसे भावना कहा जाता है,<sup>61</sup> अथवा जो भाव किया जाता है, उसे ही भावना कहते हैं। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि में ध्यान के अभ्यास हेतु चित्त की सक्रियता ही भावना है।<sup>62</sup> दूसरे शब्दों में, भावना चित्त की ध्यानाभिमुख अवस्था है।

आचार्य हरिभद्र ने अनुप्रेक्षा को ध्यान से भिन्न इसलिए माना है कि अनुप्रेक्षा ध्यान के पश्चात्, अर्थात् उसके विचलन के बाद होने वाली स्मृति है, इसलिए जहां भावना ध्यानाभिमुख है, वहां अनुप्रेक्षा ध्यान के विचलन या समाप्ति के पश्चात् उत्पन्न स्मृति है,<sup>63</sup> साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि चित्त की जो विभिन्न चेष्टाएं हैं, वह अनुप्रेक्षा नहीं है, अपितु उसके चित्त में जो अनित्यादि भावनाएं रहती हैं, वह अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार, यहां चित्त की चंचलता को अनुप्रेक्षा से जोड़ा गया है। भावना और अनुप्रेक्षा से अलग करते हुए आचार्य हरिभद्र ने चिन्ता को चिन्तन से जोड़ा है। इस प्रकार, चिन्ता, अनुप्रेक्षा और भावना— दोनों से भिन्न मानी गई है। वे अपनी टीका में लिखते हैं कि मन की जो

<sup>60</sup> यत् स्थिरमध्यवसानं तद् ध्यानमभिधीयते। — ध्यानतशक, हरिभद्रीयटीका।

<sup>61</sup> भवतीति तत्भवेत् भावना। — ध्यानतशक, हरिभद्रीयटीका— 2.

<sup>62</sup> भाव्यत इति भावना ध्यानाभ्यासक्रियेत्यर्थः। — ध्यानतशक, हरिभद्रीयटीका— 2.

<sup>63</sup> स्मृतिर्ध्यानाद् भ्रष्टस्य चित्तचेष्टेत्यर्थः।<sup>3</sup> — ध्यानतशक, हरिभद्रीयटीका— 2.

<sup>64</sup> चित्रा मनचेष्टा सा चिन्तेति। — हरिभद्रीयवृत्ति, ध्यानशतक, सं. — विजयकीर्तियशसूरि, गाथा— 2, पृ. 11.

विभिन्न चेष्टाएँ हैं, वही चिन्ता है।<sup>64</sup> इस प्रकार उन्होंने मूल गाथा में वर्णित भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता— तीनों को अलग-अलग करके समझाया है।

संक्षिप्त में कहा जाए, तो जहाँ भावना ध्यान के अभ्यास की स्थिति है, वहीं अनुप्रेक्षा ध्यान की निवृत्ति के पश्चात् होने वाली उसकी स्मृति है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में, भावना और अनुप्रेक्षा— दोनों किसी दृष्टि से ध्यान के साथ जुड़ी हुई हैं, किन्तु चित्त की विभिन्न चेष्टाओं को चिन्ता कहकर आचार्य हरिभद्र ने उसे ध्यान के विपरीत स्थिति माना है और यह कहा है कि चिन्ता पूर्वोक्त दोनों प्रकारों से भिन्न है, वह वस्तुतः चित्त की सक्रियता या चंचलता है।

**छद्मस्थ और जिनेश्वर के ध्यान का वर्णन** — छद्मस्थ अथवा सांसारिक-प्राणियों का एक विषय पर मन ज्यादा-से-ज्यादा अन्तर्मुहूर्त्तकाल (दो घड़ी के अंदर) तक स्थिर हो सकता है। उनमें योग, अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को पूर्णतः रोकने की शक्ति नहीं होती है, जबकि केवलज्ञानियों (अयोगी-अवस्था) में मानसिक, वाचिक और कायिक-योगों की प्रवृत्ति का निरोध करने की पूर्ण क्षमता होती है, अतः वे योगनिरोधरूप ध्यान करते हैं। सामान्य व्यक्ति की चित्तवृत्ति का बहुत से ध्येयों या विषयों में बार-बार संक्रमित होने से उनके ध्यान का क्रम टूटता रहता है। उनके लिए 48 मिनट (47 मिनट से अधिक) चित्तवृत्ति की स्थिरता सम्भव नहीं होती है, अतः वह सीमित काल का ध्यान छद्मस्थों का ध्यान कहलाता है। जिनेश्वरों का ध्यान (सयोगी गुणस्थान वाले) तो सम्पूर्ण, अर्थात् सूक्ष्मयोग निरोधरूप होता है,<sup>65</sup> अतः यावत् जीवन होता है। अयोगी केवली शैलेशीकरण की अवस्था को प्राप्त होते हैं।

अध्यात्मसार के सोलहवें 'ध्यानाधिकार' के अन्तर्गत उपाध्याय यशोविजयजी ने भी यही कहा है कि छद्मस्थ व्यक्ति अधिक-से-अधिक किसी एक पदार्थ पर अपने ध्यान को अन्तर्मुहूर्त्तकाल (48 मिनट के अन्दर की अवधि) तक ही स्थिर कर सकता

<sup>65</sup> (क) अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावस्थाणमेगवत्थुमि ।

छउमत्थाणं ज्ञाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ।।

अन्तोमुहुत्तपरओ चिंताज्ञाणंतरं व होज्जाहि ।

सुचिरपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे ज्ञाणसंताणो ।। - ध्यानशतक, गाथा- 3/4.

(ख) भगवतीसूत्र- 25/6, गाथा 770.

(ग) योगशास्त्र- 4/155.

है, तत्पश्चात् उसका चित्त चलायमान हो जाता है, किसी दूसरे पदार्थ, अथवा विषय में चला जाता है।<sup>66</sup>

आचार्य हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि अपनी-अपनी टीकाओं में इसी अभिप्राय का समर्थन करते हुए कहते हैं कि किसी एक वस्तु या विषय का आश्रय लेने वाली जो स्थिर चित्तवृत्ति है, उसका नाम ध्यान है, जो सिर्फ छद्मस्थों में होती है, केवलियों में नहीं, क्योंकि केवलियों (अयोगी) का ध्यान तो चित्त का अभाव, अर्थात् मन, वचन और काया के योगों के पूर्ण निरोधस्वरूप है।<sup>67</sup>

ध्यानविचार में भी इसी मान्यता को स्वीकार किया गया है। ध्यानदीपिका नामक ग्रन्थ में भी जिनेश्वर भगवन्तों ने एक वस्तु या विषय के प्रति चित्त को केन्द्रित करने को ध्यान कहा है। दृढ़ संहनन वाले श्रमण का भी ध्यान अन्तर्मुहूर्त (48 मिनट के अंदर, अर्थात् दो से लेकर 48 मिनट में एक समय कम तक का काल अन्तर्मुहूर्त

<sup>66</sup> (क) मुहूर्ताऽन्तर्भवेद् ध्यान-मेकार्थे मनसः स्थितिः ।

बह्यर्थसङ्क्रमे दीर्घा-ऽप्यच्छिन्ना ध्यानसन्ततिः ॥ - अध्यात्मसार, अध्याय 16, श्लोक- 2.

(ख) योगप्रदीप- 138. (ग) आमुहूर्तात्, तत्त्वार्थसूत्र- 9/28.

(घ) सुगमं चैतन्नवरं- ध्यातयो ध्यानानि अन्तर्मुहूर्तमात्रं कालं चित्तस्थिरतालक्षणानि ।

- स्थानांगसूत्रवृत्तौ.

(ङ) योगशास्त्र- 11/11.

<sup>67</sup> (क) तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यानुसारिणी । - हरिभद्र व सिद्धसेनवृत्ति 9-27.

(ख) ध्यानविचार.

<sup>68</sup> दृढ़संहननस्थापि मुनेरान्तर्मुहूर्तिकम् ।

ध्यानमाहुस्थैकाग्र चिन्तारोधो जिनोत्तमाः ॥

छद्मस्थानां तु यद्ध्यानं भवेदान्तर्मुहूर्तिकम् ।

योगरोधो जिनेन्द्राणां ध्यान कर्मोघघातकम् ॥ - ध्यानदीपिका, श्लोक- 64-65.

<sup>69</sup> मुहूर्तान्तर्मनः स्थैर्यं, ध्यान छद्मस्थयोगिनाम् ।

धर्म्यशुक्लं च तद् द्वेषा, योगरोधस्त्वयोगिनाम् ॥ - योगशास्त्र, प्रकाश- 4, श्लोक- 115.

कहलाता है) तक ही स्थिर रहता है। छद्मस्थों का ध्यान अन्तर्मुहूर्त और जिनेश्वरों का ध्यान सम्पूर्ण कर्मसमूह के नाशरूप त्रिविध योगों के निरोधरूप होता है।<sup>68</sup>

आचार्य हेमचंद्र द्वारा विरचित योगशास्त्र में भी इसी बात की पुष्टि की गई है। एक आलम्बन में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त मन की स्थिरता— यह छद्मस्थ योगियों का ध्यान है।

वह ध्यान धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान, अर्थात् दोनों प्रकार का हो सकता है। अयोगी (चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों) का ध्यान तो योग का निरोधरूप ही होता है।<sup>69</sup>

योगशास्त्र की स्वोपज्ञ व्याख्या एवं उसके हिन्दी अनुवाद में उसके अनुवादकर्ता मुनिश्री पद्मविजयजी ने कहा है— “वह धर्मध्यान दस प्रकार के धर्मों से युक्त, अथवा दशविध धर्मों से प्राप्त करने योग्य है और शुक्लध्यान समस्त कर्ममल को क्षय करने वाला होने से शुक्ल, उज्ज्वल, पवित्र और निर्मल है।

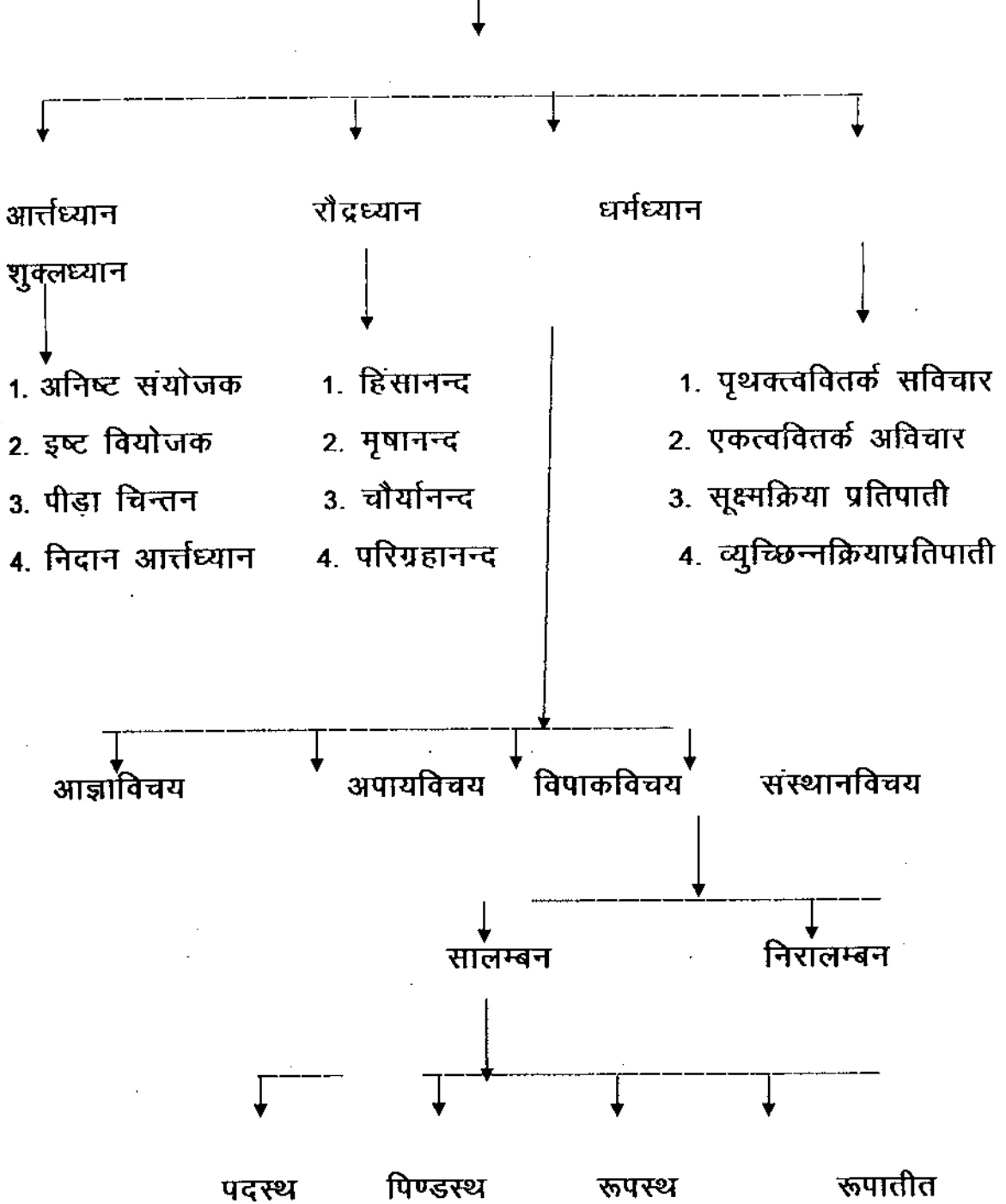
कहा गया है — शुचं दुःखं क्लमयति — नश्यतीति शुक्लम्, अर्थात् शुच यानी दुःख के कारणभूत आठ प्रकार के कर्मों का जो नाश करता है, वह शुक्लध्यान है। सयोगीकेवली को तो मन, वचन और काया के योग का निरोध करना या निग्रह करना होता है। सयोगीकेवली को योग के निरोध के समय ही ध्यान होता है, इसके अतिरिक्त ध्यान नहीं होता। सयोगीकेवली कुछ कम पूर्वकोटि तक मन, वचन और काया के योग (व्यापार) युक्त ही विचरण करते हैं, उस समय उन्हें ध्यान की आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्योंकि वे निर्विकल्प-दशा में ही रहते हैं। वे केवल निर्वाण के समय में योग का निरोध करते हैं।<sup>70</sup>

ध्यानशतक के ‘जोग निरोहो जिणाणं तु’ नामक पद का स्पष्टीकरण विशेषावश्यकभाष्य में बहुत ही सुन्दर रूप से किया गया है, यथा— शरीर के संयोग से

<sup>68</sup> इह द्वये ध्यातारः सयोगा अयोगिनश्च । सयोगा अपि द्विविधाः—छद्मस्थाः केवलिनश्च । तत्र छद्मस्थयोगिनाम् ध्यानस्य लक्षणमेतद् यदुतान्तर्मुहूर्त कालमेकस्मिन्नालम्बने चेतसः स्थितिः तच्च छद्मस्थयोगिनाम् ध्यानम् द्वेषा-धर्म्यं शुक्लं च । तत्र धर्माद् दशविधानपेतम् धर्मेण प्राप्यं वा धर्म्यम् । शुक्लं शुचि निर्मलं सकलकर्ममलक्षयहेतुत्वात् । यद्वा शुग् दुःखं तत्कारणम् वाऽष्टविधं कर्म, शुचं क्लमयतीति शुक्लम् । अयोगिनां तु अयोगि केवलिनं ध्यान योगनिरोधः योगानां मनोवाक्कायानां निरोधो निग्रहः । सयोगिकेवलिनं तु योगनिरोधकाल एवं ध्यानसम्भव इति पृथग् नोक्तम्, ते हि देशोनपूर्वकोटीं यावन्मनोवाक्कायव्यापारयुक्ता एव विहरन्ति । अपवर्गकाले तु योगनिरोधं कुर्वन्तीति ॥ 115 ॥ — योगशास्त्रे— 4/115.

होने वाला जीव का व्यवहार योग कहा जाता है, वाचादि भी उसके ही आश्रित होता है तथा शरीर, वाचा और मन-द्रव्य से युक्त जीव का जो व्यापार है, वह मनोयोग है। यह मनोयोग केवली-छद्मस्थ को ही होता है।<sup>71</sup> केवली तो योग निरोध रूप ही ध्यान करते हैं, क्योंकि वे निर्विकल्प होते हैं।

### ध्यान के प्रकार



<sup>71</sup> अहवा तणुजोगाहि.....नेयं जओ तेणं।। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 364-65.



**ध्यानशतक में ध्यान के चार प्रकार —** जैनागमों को तीर्थकर-प्रणीत माना जाता है।<sup>72</sup> ये आगम ही शास्त्र तथा सूत्र इत्यादि के नामों से जाने जाते हैं। तीर्थकरों द्वारा भाषित यह ज्ञान अर्थरूप अर्थात् विचाररूप होता है। वे मात्र उपदेश देते थे। प्रज्ञावान् गणधर भगवन्तों द्वारा इसको सुव्यवस्थित कर ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध किया जाता था। ये ग्रन्थ ही आज आगम के नाम से प्रचलित हैं।

जिन ग्रन्थों को आज हम आगम के नाम से जानते हैं, वे ही प्राचीनकाल में 'गणिपिटक' के नाम से भी जाने जाते थे। गणिपिटक में समस्त द्वादशांगी समाहित हो जाती है। इस द्वादशांगी के कर्ता गणधर माने जाते हैं।<sup>73</sup> वे तीर्थकरों के वचनों के आधार पर ही ग्रन्थों की रचना करते हैं। इन्हीं अंग-आगमों के आधार पर ही परवर्ती आचार्यों ने उपांग, मूल, छेद इत्यादि अनेक प्रकार के ग्रन्थों की रचना की है।

**ध्यानशतक** के लेखक भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक के अन्तर्गत चार ध्यानों का बहुत ही मार्मिक, सरल तथा सविस्तार वर्णन किया है<sup>74</sup>, किन्तु उसका आधार आगम और विशेष रूप से स्थानांगसूत्र है। जैसा पूर्व में कहा जा चुका है कि अध्यवसायों की स्थिरता या मन के द्वारा किसी एक विषय का आलम्बन लेकर उस पर चित्तवृत्ति को केंद्रित करने को ध्यान कहते हैं। दूसरे शब्दों में, मन, वचन और काया की चंचलता की समाप्ति ही ध्यान है।

सामान्य तौर पर ध्यान के चार प्रकार हैं<sup>75</sup>— 1. आर्त्तध्यान 2. रौद्रध्यान 3. धर्मध्यान तथा 4. शुक्लध्यान।

प्रथम तथा द्वितीय— ये दो ध्यान अप्रशस्त तथा शेष दो ध्यान प्रशस्त माने गए हैं।

<sup>72</sup> नंदीसूत्र, गाथा 40.

<sup>73</sup> प्रमाणनयतत्त्वालोक— 4/1.

<sup>74</sup> अहं रुद्धं धम्मं सुक्कं ज्ञाणाइ तत्थ अंताइ।

निव्वाणसाहणाइ भवकारणमह—रुद्धाइ।। — ध्यानशतक, गाथा 5.

<sup>75</sup> (क) चत्तारिज्ञाणा पण्णत्ता, तं जहा—अट्टेज्ञाणे, रोदेज्ञाणे, धम्मेज्ञाणे, सुक्केज्ञाणे — स्थानांग, स्थान चतुर्थ, उद्देशक 1, सूत्र— 60, पृ 222.

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1495.

(ग) भगवतीसूत्र, शतक— 25, उद्देशक 7, 509—513.

(घ) समवायांगसूत्र, समवाय 32, पृ. 93.

(ङ) आवश्यकचूर्णि, प्रतिक्रमणाध्याय, जिनदासगणि महत्तर, पृ. 50.

(च) औपपातिकसूत्र— 30, पृ. 49—50.

(छ) सूत्रकृतांगसूत्र— 1/8/26.

अप्रशस्त ध्यान साधना के लिए अनुपयोगी तथा व्यवधानात्मक हैं, क्योंकि वे संसारवृद्धि का कारण हैं, जबकि प्रशस्त ध्यान मुक्ति के हेतु हैं।<sup>76</sup> यहां उनका जं. उल्लेख हुआ है, वह इस बात को लक्ष्य में रखकर हुआ है कि आर्त्त और रौद्र-ध्यान अशुभ हैं, रागद्वेषजनित हैं तथा बन्धन के हेतु हैं, अतः उनका परित्याग करके साधक को धर्मध्यान और शुक्लध्यान की साधना करना चाहिए, क्योंकि शुभ के माध्यम से शुद्ध दशा को प्राप्त कर साधक अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।<sup>77</sup> यहां दो प्रशस्त ध्यानों के साथ-साथ दो अप्रशस्त ध्यानों को समझना भी जरूरी है।

**ध्यानदीपिका** में कहा गया है— राग-द्वेष छोड़कर समतावान् मुनि जिस वस्तु का चिन्तन करे, अर्थात् ध्यान करे, वह ध्यान अच्छा (शुभ) माना जाता है, किन्तु आर्त्त और रौद्र-ध्यान दुःखयुक्त हैं, जन्म-मरण का कारण हैं, इसलिए अशुभ माने जाते हैं।<sup>78</sup>

यहां एक बात और समझ सकते हैं कि विश्व में तीन प्रकार के पदार्थ होते हैं—  
हेय 2. ज्ञेय और 3. उपादेय।

जगत् के समग्र जानने योग्य पदार्थ ज्ञेय हैं। जो पदार्थ आत्मा को विकारग्रस्त करें, अर्थात् कषायवृद्धि का कारण बनें, वे छोड़ने योग्य पदार्थ हेय हैं, जबकि आत्मकल्याण या आत्मोत्कर्ष में सहयोगी पदार्थ उपादेय या ग्रहण करने योग्य माने जाते हैं।

साधक ज्ञेय को जानकर, उपादेय को ग्रहण कर हेय का परित्याग करे।

**स्थानांगसूत्र** की टीका में इन चारों ध्यानों की परिभाषा इस प्रकार है—

आर्त्तध्यान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि आर्त्तध्यान दुःखपूर्वक है, अथवा दुःख के निमित्त से होता है, क्योंकि भय से पीड़ित व्यक्ति आर्त्तध्यान करता है, जबकि रौद्रध्यान दुष्ट अध्यवसाय है। जिस वृत्ति में हिंसा और अत्यधिक क्रोध होता है, वह

<sup>76</sup> (क) आर्त्त रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।

तत् स्याद् भेदाविह द्वौ द्वौ कारण भवमोक्षयोः ॥ — ध्यानाधिकार, अध्यात्मसार, श्लोक— 3.

(ख) प्रशस्तमप्रशस्तं च ध्यान संस्मर्यते द्विधा।

शुभाशुभाभिसंधानात् प्रत्येक तदद्वय द्विधा ॥ — आदिपुराण, पर्व— 21, श्लोक 27.

(ग) आर्त्तरौद्रपरित्यागाद्, धर्मशुक्लसमाश्रयात्।

जीवः प्राप्नोति निर्वाण-मनन्तसुखमच्युतम् ॥

<sup>77</sup> अदृढ रुद्धाणि वज्जिता, झाएज्जा सुसमाहिए।

धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहावए ॥ — उत्तराध्ययनसूत्र— 30/35.

रागद्वेषौ शमी मुक्त्वा यदयद्वस्तु विचिंतयेत्।

तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं रौद्राध्यं चाप्रशस्तकम् ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकरण 4, श्लोक 67.

रौद्रध्यान की वृत्ति कही जाती है। शास्त्रों के अनुसार आदेशों का परिपालन करना धर्मध्यान है और जिसके निमित्त से अष्ट प्रकार के कर्ममलों की विशुद्धि होती है, वह ही शुक्लध्यान कहलाता है।<sup>79</sup>

स्थानांगसूत्र की टीका तथा समवायांगसूत्र के अनुसार, अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक चित्त की एकाग्रता अथवा योगनिरोध को ध्यान कहते हैं। यह एकाग्रता जब इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग आदि के होने पर उससे छुटकारा पाने के अर्थ में होती है, तब उसे आर्त्तध्यान कहते हैं और जब यही एकाग्रता हिंसादि पाप-प्रवृत्तियों में स्थित हो जाती है, तब वह रौद्रध्यानरूप बन जाती है।

जब वह एकाग्रता दान, दया, परोपकार, जिनाज्ञा के पालन में प्रवृत्त हो जाती है, तब वह धर्मध्यान कहलाती है और जब वही एकाग्रता सर्व शुभ-अशुभ भावों से निवृत्त होकर एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप अथवा निर्विकल्प स्थिति में स्थित हो जाती है, तब उसे शुक्लध्यान कहते हैं।<sup>80</sup>

आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने आवश्यकचूर्णि के प्रतिक्रमणाध्ययन के अन्तर्गत मात्र एक ही गाथा में आर्त्त आदि चारों ही ध्यानों के स्वरूप का बहुत ही सारगर्भित वर्णन किया है। गाथा की यह विशेषता है कि वह गाथा संस्कृत और प्राकृत-भाषा में सम्मिश्रित है और बहुत ही सुन्दर है—

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अहं कामाणुरंजितं ।

धम्माणुरंजितं धम्मं, शुक्लं ज्ञाणं निरंजणं ॥

<sup>79</sup> स्थानांगटीका, अध्याय 4, प्रथम उद्देशक की टीका, प्रस्तुत संदर्भ अभिधान राजेन्द्रकोश, भाग 4, पृ. 1661.

<sup>80</sup> अन्तर्मुहूर्त्तं यावच्चित्तस्यैकाग्रता योगनिरोधश्च ध्यानम् ।  
तत्रार्त्तं मनोज्ञामनोज्ञेषु वस्तुषु वियोगसंयोगादिनिबन्धनचित्तविकलवलक्षणम्,  
रौद्रं हिंसानृतचौर्यधनसंरक्षणाभिसन्धानलक्षणम्,  
धर्म्यमाज्ञादिपदार्थस्वरूपपर्यालोचनैकाग्रता,  
शुक्लं पूर्वगतश्रुतालम्बनेन मनसोऽत्यन्तस्थिरता योगनिरोधश्चेति ॥ 4 ॥ — समवायांग  
— प्रस्तुत गद्य सन्मार्ग प्रकाशन 'ध्यानशतक' पुस्तक से उद्धृत, पृ. 17.

हिंसा से अनुरजित (रंगा हुआ) ध्यान रौद्रध्यान और कामनाओं से अनुरजित ध्यान आर्तध्यान कहलाता है। धर्म से अनुरजित ध्यान धर्मध्यान है और शुक्लध्यान पूर्ण निरंजनस्वरूप होता है।<sup>81</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति<sup>82</sup> में ध्यान के सामान्य लक्षणों की चर्चा करने के पश्चात् ध्यान के जिन चार प्रकारों का वर्णन है, वे इस प्रकार हैं—

1. आर्तध्यान 2. रौद्रध्यान 3. धर्मध्यान और 4. शुक्लध्यान।

संक्षेप में, ध्यान के चारों प्रकारों को अलग-अलग रूप में इस प्रकार से परिभाषित किया गया है—

1. आर्तध्यान — दुःख को प्रकट करने वाला एवं दुःख की परम्परा को चलाने वाला जो ध्यान है, वह आर्तध्यान है।

अनिष्ट विषयों की प्राप्ति दुःखरूप है। आंख, नाक, कान वगैरह की वेदना दुःखरूप है। इष्ट-विषयों का वियोग भी दुःखरूप है तथा मन की अशुभ अवस्था से निदान होता है, अतः निदान भी दुःखरूप है।

2. रौद्रध्यान — दूसरों को रुलाना रौद्रध्यान है। दूसरे शब्दों में, जो दुःख का हेतु है, उस हेतु से जो की जाने वाली प्रक्रिया है, वह रौद्रध्यान है, जैसे— प्राणी को प्राण का वियोग करना और बन्धन में रखना, उस परिणति वाली आत्मा रौद्रध्यानी कहलाती है।

3. धर्मध्यान — क्षमा वगैरह जो दस प्रकार के यतिधर्म हैं, उन यतिधर्मों से युक्त जो ध्यान है, वह धर्मध्यान है।

4. शुक्लध्यान — शुचि यानी निर्मल। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से यह ध्यान निर्मल कहलाता है। शुच, यानी दुःख या अष्ट प्रकार के कर्मों को दूर करने वाला ध्यान शुक्लध्यान है।

प्रवचन-सारोद्धार की वृत्ति<sup>83</sup> में भी ध्यान के चार प्रकारों का वर्णन है। दुःख-विषयक चित्तधारा आर्तध्यान है। यह आर्तध्यान चार भेदों वाला है।

<sup>81</sup> आवश्यकचूर्णि, जिनदासगणि महत्तर, प्रस्तुत संदर्भ ध्यानशतक (सन्मार्ग प्रकाशन) से उद्धृत, पृ. 17.

<sup>82</sup> आर्त-रौद्र-धर्म-शुक्लानि — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ, गाथा 29.

<sup>83</sup> पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्जाओ।

ज्ञाणं उस्सग्गोऽवि च अभिंतरओ तवो होइ।। — प्रवचनसारोद्धार, गाथा 271. और

1. अनिष्ट शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शादि पर—पदार्थों के वियोग की चिन्ता, अथवा भावीकाल में इनका संयोग न होने की चिन्ता— यह अनिष्ट संयोग नामक प्रथम भेद वाला आर्त्तध्यान है।
2. शूल, सिरदर्द आदि वेदना के वियोग की चिन्ता, अथवा भावीकाल में वेदना प्राप्त न हो— ऐसी चिन्ता 'वेदना' नामक द्वितीय भेद वाला आर्त्तध्यान है।
3. इष्ट शब्दादि विषयों की तथा साता—वेदनीय का वियोग न हो और उसका संयोग बना रहे— ऐसी चिन्ता 'इष्टसंयोग' नामक तृतीय भेद वाला आर्त्तध्यान है।
4. देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सुखों की अभिलाषा— यह 'निदान' नामक चतुर्थ भेद वाला आर्त्तध्यान है।

दूसरों को जो रूलाना है— वह रौद्रध्यान है। यानी, प्राणियों की हिंसा आदि परिणामों से परिणत आत्मा रौद्री कहलाती है, ऐसी आत्मा की क्रिया, अथवा व्यापार— वह रौद्रध्यान है। इस प्रकार ध्यान के भी चार भेद हैं—

1. प्राणियों का वध करना, छेदन—भेदन करना, जकड़कर बांधना, जलाना, अंग—अंकन इत्यादि चित्त का प्रणिधान— वह रौद्रध्यान का पहला भेद है।
2. चुगली करना, असभ्य वचन बोलना, चोरी वगैरह का आरोप लगाना, जिन वचनों से प्राण का घात होता है— ऐसे वचन बोलना, इत्यादि चित्त का प्रणिधान— वह रौद्रध्यान का दूसरा भेद है।
3. अत्यन्त क्रोध तथा लोभ से युक्त होकर प्राणियों का नाश करने में तत्पर, परलोक के दुःखों से निरपेक्ष, परद्रव्य—हरण के चित्त का प्रणिधान— वह रौद्रध्यान का तीसरा भेद है।
4. शंका—आशंका से युक्त (धन—हरण विषयक चिन्ता) परम्परा से नुकसान करने में तत्पर, ऐसा शब्दादि विषयों का साधनभूत (पैसे वगैरह) धन का संरक्षण करने में चित्त का प्रणिधान— वह रौद्रध्यान का चौथा भेद है।

क्षमादि दस यतिधर्मों से युक्त जो ध्यान है, वह धर्मध्यान है। प्रस्तुत ध्यान के चार भेद हैं—

1. सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का चिन्तन।
2. राग, द्वेष, कषाय और इन्द्रियों के पराधीन आत्माओं के दुःखों की विचारणा।

## चार ध्यानां के शुभत्व और अशुभत्व का प्रश्न —

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है कि ध्यानशतक के अन्तर्गत चारों ध्यानों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ माने गए हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान शुभ माने गए हैं,<sup>88</sup> क्योंकि आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसार-परिभ्रमण एवं कर्मबन्ध के हेतु हैं और कर्मबन्ध का कारण राग-द्वेष से युक्त प्रवृत्ति है।<sup>89</sup> ये कर्मबन्ध के हेतु हैं, इसकी विशेष चर्चा हम आगे करेंगे।

सामान्यतया, जैनदर्शन में जो बन्धन के हेतु हैं, उन्हें अशुभ ही माना जाता है, अतः आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान को अशुभ मानने में कोई समस्या नहीं है, किन्तु धर्मध्यान और शुक्लध्यान में शुक्लध्यान तो निश्चय ही निर्जरा का हेतु है और इस प्रकार कर्मबन्ध और संसार-परिभ्रमण का कारण नहीं है, किन्तु धर्मध्यान में शुभकर्मों का बन्ध तो माना गया है और शुभकर्मों का बन्ध होने से वह संसार-परिभ्रमण का कारण भी बनता है। इस दृष्टि से यदि देखें, तो धर्मध्यान भी अशुभ माना जा सकता है, क्योंकि वह कर्मबन्ध एवं संसार-परिभ्रमण का हेतु भी होता है। फिर भी, हमें यह ध्यान में रखना होगा कि धर्मध्यान पुण्यबन्ध का ही हेतु है।

जैन-कर्मसिद्धान्त में कर्मों की दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां मानी गई हैं—

1. पुण्य-प्रकृति और 2. पाप-प्रकृति। इन्हें पुण्यबन्ध और पापबन्ध भी कह सकते हैं<sup>90</sup>, किन्तु यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि पाप-प्रवृत्तियां घाती-कर्मों को ही होती हैं, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान बन्ध के हेतु होने के साथ-साथ वे पाप-प्रकृतियों का ही बन्ध करते हैं, इसलिए इन दोनों ध्यानों को अशुभ ही माना गया है। धर्मध्यान में कर्मों का

<sup>88</sup> (क) अहं रुदं धम्मं सुक्कं, ज्ञाणाइ तत्थ अंताइ ।

निव्वाणसाहणाइ, भवकारणमट्ट-रूदाइ ।। - ध्यानशतक, गाथा 5.

(ख) प्रशस्तमप्रशस्तं च ध्यानसंस्मर्यते द्विधा ।

शुभाशुभाभिसंधानात् प्रत्येक तदद्वय द्विधा ।। - आदिपुराण, पर्व 21, श्लोक 27.

(ग) द्वौ द्वौ कारण भवमोक्षयोः । - अध्यात्मसार, अध्याय 16, श्लोक 3.

(घ) रागद्वेषौ शमी मुक्त्वा यदयद्ववस्तु विचिंतयेत् ।

तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं रौद्राध्यं चाप्रशस्तकम् ।। - ध्यानदीपिका, प्रकरण 4, श्लोक 61.

(ङ) ध्यान-विचार.

(च) ध्यानशतक : एक परिचय: जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग 7, डॉ सागरमल जैन, पृ. 45.

<sup>89</sup> कर्मसिद्धान्त पुस्तक से उद्धृत, पृ. 7.

<sup>90</sup> योगसार, बन्धाधिकार, गाथा 2.

बन्ध तो सम्भव है, तीर्थकर-नामकर्म जैसी पुण्य-प्रकृति का बन्ध भी धर्मध्यान से ही होता है, किन्तु तीर्थकर-नामकर्मरूपी पुण्य-प्रकृति अशुभ तो नहीं मानी जा सकती है।<sup>91</sup>

नामकर्म में तीर्थकर नामकर्म का विशिष्ट स्थान है, अतः उसके बन्ध के भी विशिष्ट कारण हैं। उनका वर्णन ज्ञाताधर्म में किया गया है।<sup>92</sup> धर्मध्यान चाहे पुण्य-प्रकृति का बन्ध करता हो, किन्तु वह शुभ का ही बन्ध करता है। दूसरे, ये पुण्य-प्रकृतियां भी आंशिक रूप से संवर और निर्जरा का भी हेतु होती हैं और इस दृष्टि से ये जीव के संसार-परिभ्रमण को कम भी करती हैं। यहां हमें एक बात और ध्यान में रखना चाहिए कि पाप-प्रकृति का क्षय करना होता है, जबकि पुण्य-प्रकृति स्वतः ही क्षय हो जाती है, इसलिए वे दीर्घ संसार-परिभ्रमण का कारण तो कभी नहीं हो सकतीं, अतः धर्मध्यान के शुभत्व में कोई बाधा नहीं आती है।

शुक्लध्यान मूलतः तो शुद्ध आत्मस्वरूप का ध्यान है। वह न तो कर्मबन्ध का हेतु बनता है और न ही संसार-परिभ्रमण का कारण होता है। वैसे तो शुक्लध्यान शुद्धध्यान है, किन्तु सामान्य अपेक्षा से संसार-परिभ्रमण का अन्त करने वाला तथा मोक्ष का हेतु होने के कारण उसे शुभ कहा गया है, फिर भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मुक्ति तो केवल शुक्लध्यान से ही सम्भव है, वह नितान्त शुभ या शुद्ध है। धर्मध्यान शुक्लध्यान में साधन बनता है, इसलिए वह शुभ कहा जाता है। धर्मध्यान की स्थिति में जहां एक ओर पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है, वहीं दूसरी ओर वह संवर और निर्जरा का

<sup>91</sup> (क) सद्देद्यशुभायुर्नामिगोत्राणि पुण्यं । - तत्त्वार्थसूत्र- 8/25.

(ख) अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सीसु ।

वच्छलया य तेसिं अभिक्खाणाणोवओगेय ॥ 1 ॥

दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं ।

रवण लव तवच्चियाए वेयावच्चे समाहीय ॥ 2 ॥

अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे प्रभावणया ।

एएहिं कारणेहिं तित्थयरेतं लहइ जीवो ॥ 3 ॥

- ज्ञाताधर्मसूत्र, अध्याय 8, सूत्र 64.

(ग) अंगं न गुरु न लहुअं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।

तित्थेण तिहुअणस्सवि पुज्जो से उदओकेवलिणो ॥

- प्रथम कर्मग्रन्थ, गाथा 47.

(घ) वन्न चउक्क गुरु लहु परधा उस्सास आयवुज्जोअं ।

सुभखगइ निमिणतसदस सुस्सरतिरिआउ तित्थयरं ॥ - नवतत्त्वप्रकरण, गाथा 16.

<sup>92</sup> परे मोक्ष हेतू । - तत्त्वार्थसूत्र- 9/3.

हेतु भी होता है, जबकि शुक्लध्यान तो एकान्तरूप से संवर और निर्जरा का हेतु होने से मोक्ष का चरम साधक माना गया है, अतः उसे शुद्धध्यान भी कहा गया है।

इस प्रकार, संक्षेप में कहें, तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान वस्तुतः अशुभ-ध्यान हैं, धर्मध्यान पुण्यबन्ध की अपेक्षा से निश्चय के अनुसार चाहे अशुभ कहा जाए, किन्तु वह भी मोक्ष का हेतु होने से और शुक्लध्यान की पूर्ववर्ती अवस्था होने से शुभ ही है। शुक्लध्यान का शुभत्व केवल कर्मों की निर्जरा और मोक्ष का हेतु होने से व्यवहार-नय से ही माना गया है। मूलतः तो वह शुद्धध्यान है। उसमें संवर और निर्जरा ही घटित होते हैं, कर्मबन्ध नहीं हैं।

### आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान बन्धन के हेतु

जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया कि चारों ध्यानों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसार-परिभ्रमण या बन्धन के हेतु हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मुक्ति के हेतु हैं। यद्यपि धर्मध्यान में बन्धन की सम्भावना है, किन्तु वह शुभकर्मों का ही बन्ध करता है, इसलिए अन्ततः निर्जरा में सहायक होकर मुक्ति का कारण बन जाता है, अतः संसार के परिभ्रमण के कारण तो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान ही हैं।

यह परिभ्रमण कर्मबन्ध के बिना नहीं हो सकता, इसलिए यह सुस्पष्ट है कि आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान— ये कर्मबन्ध के हेतु हैं। ये कर्मबन्ध के हेतु क्यों हैं ? इसे समझने के लिए हमें यह जान लेना होगा कि आर्त्तध्यान मुख्यतः राग एवं अंशतः द्वेष के कारण ही होता है, जबकि रौद्रध्यान मुख्यतः द्वेष के कारण ही होता है। राग-द्वेष से कषाय उत्पन्न होती है, उनमें लोभ और मान रागरूप हैं और क्रोध और माया द्वेषरूप हैं।<sup>93</sup>

कषायपाहुड में इन चारों ही कषायों को द्वेषरूप कहा गया है, क्योंकि ये संसार-परिभ्रमण का कारण हैं।<sup>94</sup>

<sup>93</sup> ठाणं, स्थान— 2, सूत्र 3637, पृ. 42.

<sup>94</sup> कषायचूर्णि, अध्याय 1, गाथा 21, सूत्र 19.

<sup>95</sup> दशवैकालिक— 8/40.



दशवैकालिकसूत्र<sup>95</sup> में कहा गया है— "अनिग्रहित क्रोध और मान तथा वृद्धिगत माया और लोभ— ये चारों कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष का सिंचन करती हैं, दुःख का कारण हैं, अतः समाधि का साधक उन्हें त्याग दे।"

उत्तराध्ययन<sup>96</sup> में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राग और द्वेष— ये कर्म के बीज हैं।

स्थानांगसूत्र में कहा है कि राग और द्वेष की उत्पत्ति आसक्ति के द्वारा होती है।<sup>97</sup>

जैसे जैन-दर्शन में राग, द्वेष और मोह बन्धन के मूलभूत कारण माने गए हैं, वैसे ही बौद्ध-परम्परा में लोभ (राग), द्वेष और मोह को बन्धन का कारण माना गया है।<sup>98</sup> दूसरे शब्दों में, ये बन्धन के हेतु हैं। अन्य दृष्टि से विचार करें, तो तत्त्वार्थसूत्र में बन्धन के पांच हेतु माने गए हैं<sup>99</sup>— 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. प्रमाद 4. कषाय और 5. योग।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रमाद को कषाय में समाहित करते हुए बन्धन के चार कारण माने हैं<sup>100</sup>— 1. मिथ्यात्व 2. अविरति 3. कषाय और 4. योग।

उपर्युक्त पांच कारणों में वस्तुतः मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद— ये कषायजन्य हैं, क्योंकि कषाय की सत्ता के बिना ये नहीं होते हैं, अतः वस्तुतः बन्धन के दो ही कारण हैं— 1. कषाय और 2. योग।

शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को, योग और क्रोधादि मानसिक-आवेग को कषाय कहा गया है।

योग चाहे आश्रव का हेतु हों, किन्तु वे कषाय के बिना स्थिति का बन्ध करने में समर्थ नहीं होते हैं, अतः मूलतः बन्धन का हेतु कषाय ही है। जहां कषाय है, वहां कर्मबन्ध है और जहां कर्मबन्ध है, वहां संसार-परिभ्रमण है। जहां संसार-परिभ्रमण है,

<sup>95</sup> (क) उत्तराध्ययनसूत्र— 33/7.

(ख) प्रशमरति, गाथा 31.

<sup>97</sup> दुविहा मुच्छा पन्नता ..... । — ठाणं, स्थान— 2, सूत्र 432.

<sup>98</sup> अंगुत्तरनिकाय— 3/33, पृ. 37.

<sup>99</sup> (क) तत्त्वार्थसूत्र— 8/1. (ख) इसिभासिय— 9/5. (ग) समवायांग— 4/5.

<sup>100</sup> समयसार 171.

वहां दुःख है।<sup>101</sup> जैनागमों में राग-द्वेष के जन्य क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि मलीन मनोवृत्तियों को कषाय की संज्ञा दी गई है।<sup>102</sup>

कषाय शब्द का अर्थ कसना या लिप्त करना है। जो आत्मशक्तियों को कृश करती है, या आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, उसे कषाय कहते हैं।<sup>103</sup> मुख्य रूप से कषाय शब्द का उपयोग क्रोधादि की वृत्ति के लिए ही हुआ है।<sup>104</sup>

प्राचीनतम आगम आचारांगसूत्र के अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों अर्थों में कषाय शब्द का प्रयोग है। सूत्रकृतांग में एक स्थान पर कटुवचन के लिए भी कषाय शब्द का प्रयोग है।<sup>105</sup>

आचारांगसूत्र की वृत्ति में शीलाकाचार्य ने कषाय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की है— कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् वृद्धि या लाभ। जिससे संसार की वृद्धि होती है, वह कषाय है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का यह मन्तव्य है<sup>106</sup>— दुःखों की मूल जड़ कषाय है। जिससे दुःखों की प्राप्ति होती है, वह कषाय है। राजवार्त्तिककार ने कहा है— 'जो आत्मा का हनन करे, जो आत्मा को पतन की ओर, कुमार्ग तथा कुगति में ले जाए, वह कषाय है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह सुस्पष्ट है कि मूलतः कषाय ही बन्धन का मुख्य हेतु है।

जैनागमों में बन्धन की चार स्थितियां बताई गई हैं— 1. प्रदेश-बन्धन 2. प्रकृति-बन्धन 3. स्थिति-बन्धन 4. अनुभाग-बन्धन।<sup>107</sup>

इन चारों में भी स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध (बन्धन की तीव्रता) — ये दोनों कषाय की उपस्थिति में ही होते हैं, क्योंकि आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान— दोनों में कषाय या राग-द्वेष की सत्ता रही हुई है।

सामान्य तौर से कषाय के अनेक रूप हो सकते हैं, किन्तु मोटे तौर पर उसके दो रूप हैं— राग और द्वेष। राग-द्वेषजनित शारीरिक एवं मानसिक-प्रवृत्तियां ही कर्मबन्ध

<sup>101</sup> जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग- 1, डॉ सागरमल जैन, पृ. 294.

<sup>102</sup> समवाओ, समवाय 4, सूत्र- 1.

<sup>103</sup> ण तित्ते, ण कडूए, ण कसाए। — आयारो, अध्ययन 5, उद्देशक 6, सूत्र 130.

<sup>104</sup> कसाए पयगुए किच्चा .....। — आयारो, अध्ययन 8, उद्देशक 6, सूत्र 105.

<sup>105</sup> अप्पेगे पलियंतेसि .....बाला कसायवयणेहिं। — सूत्रकृतांग, अध्ययन 3, उद्देशक 1, गाथा- 15.

<sup>106</sup> कम्मं कस भवो वा कसमाओ सिं जओ कसाया ता.....। — विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 2978.

<sup>107</sup> प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः। — तत्त्वार्थसूत्र- 8/4.

का कारण है।<sup>108</sup> राग—द्वेषजन्य होने से आर्त्त एवं रौद्र— इन दोनों ध्यानों को बन्धन का हेतु माना गया है और इसलिए शास्त्रकारों ने इन्हें संसार—परिभ्रमण का हेतु बताया है।

वस्तुतः, चार ध्यानों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान कषायजन्य हैं, इसलिए वे बन्धन के हेतु हैं।

## साधना की दृष्टि से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का स्थान और महत्त्व

साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक विकास—यात्रा में ध्यान एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। ढाई अक्षर का यह शब्द साधनात्मक—जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों का प्रतिनिधित्व करता है और साधक का साध्य से तादात्म्य करा देता है।

मनुष्य—जीवन का चरम ध्येय अपने आध्यात्मिक—विकास के द्वारा आत्म—विशुद्धि करके अपने निज शुद्ध स्वरूप में रमण करना है।<sup>109</sup> दूसरे शब्दों में कहें, तो मोक्ष अथवा निर्वाण तृष्णारूपी अग्नि को शांत कर स्वरूप में अवस्थिति है।

इस स्वात्मानुभूति के लिए अध्यात्म—मार्ग या अध्यात्म—विद्या का अनुसरण अपेक्षित है।<sup>110</sup> योग या ध्यान के विषय में जैन, बौद्ध और वैदिक—महर्षियों का मानना यही है कि निर्वाण या मोक्ष का अन्तिम साधन ध्यान अथवा समाधि है।

मोक्ष का अन्तिम साधन योग—निरोध (ध्यान) है। यह बात न केवल जैनदर्शन की है, अपितु समस्त भारतीय—दर्शन समवेत रूप से इसका समर्थन करते हैं, क्योंकि पतञ्जलि भी कहते हैं— 'योगश्चित्तवृत्ति—निरोधः', अर्थात् योगसाधन चित्तवृत्तियों का निरोध है।<sup>111</sup> जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है कि चार ध्यानों में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ हैं, क्योंकि वे कर्मबन्ध के हेतु माने गए हैं।<sup>112</sup>

<sup>108</sup> जैन—साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग— 4, पृ. 13.

<sup>109</sup> जैनागमों में अष्टांगयोग, उपोद्घात, पृ. 01.

<sup>110</sup> अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। — भगवद्गीता— 10/32.

<sup>111</sup> (क) योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।

योगः समाधि धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयं गृहः ॥ — योगबिन्दु, श्लोक 37.

(ख) योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः।

(ग) दीर्घनिकाय— 1/2, पृ. 28—29.

<sup>112</sup> (क) भवकारणमद्—रूढ़ाई। — ध्यानशतक, गाथा 5.

(ख) पंचवस्तु, गाथा 28.

कर्मबन्धन के कारण संसार का परिभ्रमण होता है और जैन-दर्शन के अनुसार, सांसारिक-परिभ्रमण से मुक्ति कषाय-मुक्ति से ही सम्भव है, क्योंकि कषाय बीज है-कर्म का और कर्म हेतु है-संसार-भ्रमण का।<sup>113</sup>

उत्तराध्ययनसूत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कषाय एक अग्नि है और उस कषायाग्नि से दहकती आत्मा अशांत होती है।<sup>114</sup> भवभ्रमणा का निवारण ही मानव-जीवन का लक्ष्य माना गया है।

इस आधार पर यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि साधना की दृष्टि से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का कोई महत्त्व एवं स्थान नहीं है। जैन-आचार्यों ने साधना की दृष्टि से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान- इन दोनों को ही महत्त्व दिया, क्योंकि ये कर्म-निर्जरा के हेतु बन सकते हैं। हम पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं कि धर्मध्यान शुक्लध्यान की ओर प्रगति करने के लिए साधनरूप है।

जिस प्रकार दूध को गर्म करना है, तो सर्वप्रथम दूध जिस भाजन में है, उसे भी गरम करना होता है, परन्तु लक्ष्य तो दूध गरम करने का होता है। भाजन का गर्म करना साधनरूप है, उसी प्रकार धर्मध्यान भी शुक्लध्यान की ओर अग्रसर होने का मात्र एक साधन है। दूसरे शब्दों में, धर्मध्यान साधन है और शुक्लध्यान साध्य है, क्योंकि वीतरागता या मोक्ष की उपलब्धि शुक्लध्यान से ही सम्भव है। उसका सम्बन्ध मात्र स्वरूपानुभूति से है। इसमें आत्मा सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा में स्थित होती है<sup>115</sup>, फिर भी शुक्लध्यान की अवस्था को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम हमें धर्मध्यान को स्थान एवं महत्त्व देना होगा, क्योंकि अशुभ को दूर करने के लिए शुभ का आलम्बन आवश्यक है।

सम्मतिप्रकरण में धर्मध्यान के दो प्रकारों का वर्णन है। वे दोनों प्रकार निम्नांकित हैं- 1. बाह्य-धर्मध्यान और 2. आध्यात्मिक-धर्मध्यान।<sup>116</sup>

<sup>113</sup> (क) आर्त्त रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्।

तत् स्याद् भेदाविह द्वौ द्वौ कारणं भवमोक्षयोः।। - अध्यात्मसार, अध्याय 16, श्लोक 3.

(ख) तत्राद्यं संसृतेर्हेतुर्द्वयं मोक्षस्य तत्परम्। - ध्यानस्तव, श्लोक- 8.

(ग) कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव। - ध्यानदर्पण, पृ. 46.

<sup>114</sup> उत्तराध्ययन- 23/53.

<sup>115</sup> जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति, भाग- 7, पृ. 37.

<sup>116</sup> सम्मतिप्रकरण, काण्ड 3, गाथा 53.

सूत्रार्थ का पर्यालोचन करना, दृढता से व्रत पालना, शीलगुणानुराग, काया तथा वचन-व्यापार का शास्त्रानुकूल प्रवर्तन करना आदि- वह ब्राह्म-धर्मध्यान कहलाता है तथा स्वसंवेदन करना या अन्तर्दर्शन करना और कषायों को क्षीण करना- इसे आध्यात्मिक-धर्मध्यान कहा गया है।

यहां एक बात ध्यान रखने योग्य है कि धर्मध्यान शुभ का ध्यान है, अतः वह साधनरूप है, किन्तु साध्य की सिद्धि साधन के बिना असम्भव है, अतः साधनरूप धर्मध्यान भी आवश्यक है। धर्मध्यान में विकल्प रहते हैं, किन्तु वे विकल्प शुभ होते हैं। अशुभ के निरसन हेतु शुभ का सहारा लेना जरूरी है, क्योंकि बुरे विचारों को हटाने के लिए अच्छे विचारों को स्थान तो देना ही होगा। इसी अर्थ में साधना के क्षेत्र में धर्मध्यान का स्थान एवं महत्त्व है।

धर्मध्यान अशुभ का निवारण कर शुभ की ओर ले जाता है और फिर इससे साधक शुद्ध की ओर प्रयाण कर सकता है। साधना की दृष्टि से साधन को ग्रहण करना होता है, किन्तु साधन साध्य नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति को नदी पार करना है, तो नौका का सहारा लेना पड़ता है, लेकिन अन्त में तो उस नौका को भी छोड़ना पड़ता है, वैसे ही साधना के क्षेत्र में धर्मध्यान नौका के समान है। वह ग्राह्य तो है, लेकिन शुक्लध्यान में प्रवेश करने के लिए उसे, अर्थात् विकल्पात्मक शुभभावों को छोड़ना भी होता है, क्योंकि साधन का अतिक्रमण किए बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती है। दूसरे शब्दों में, विकल्प का त्याग किए बिना निर्विकल्पता सम्भव नहीं है। शुक्लध्यान साध्य है, क्योंकि वह निर्विकल्प है।

जैन-दर्शन में शुक्लध्यान के चार चरण माने गए हैं।<sup>117</sup> उनमें प्रथम दो चरणों में विकल्प रहते हैं और अन्तिम दो चरणों में विकल्प समाप्त हो जाते हैं। शुक्लध्यान की प्रथम दो अवस्थाएं वस्तुतः धर्मध्यान से शुक्लध्यान की ओर जाने के लिए सेतु का काम करती हैं।

जिस प्रकार सेतु दोनों किनारों से जुड़ा रहता है, उसी प्रकार शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण धर्मध्यान से जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो वे धर्मध्यान से

<sup>117</sup> (क) सुक्के ज्ञाणे चउव्विहे चउप्पडोआरे पण्णते तं जहा-पुहुतवितक्के सवियारी।

एगत्तवितक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अणियट्ठी, समुच्छिण्णकिरिए अपडिवाती।।

— स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र 69, पृ. 225.

(ख) पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवृत्तीनि। — तत्त्वार्थसूत्र- 9/41.

निर्विकल्प शुक्लध्यान की ओर जाने के लिए सेतु या मार्ग का काम करते हैं। शुक्लध्यान तो आत्मा की निर्विकल्प विशुद्ध अवस्था है।<sup>118</sup> वह आत्म-रमण की स्थिति है, विकल्पों से मुक्ति है।

शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरण आत्म-रमण की स्थिति हैं और इसीलिए वे मुक्ति का चरम उपाय माने गए हैं। शुक्लध्यान के बिना कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता है। शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरण साधना की वह चरम अवस्था है, जो हमें सीधे मुक्ति से जुड़ाती है। वह चित्त की ऐसी विशुद्ध स्थिति है, जिसमें 'पर' के सभी विकल्प समाप्त हो जाते हैं।

दूसरे शब्दों में कहें, तो शुक्लध्यान निर्विकल्प की स्थिति है और इसीलिए वह मोक्ष का सीधा कारण है। इस प्रकार, तप, त्याग, संयम-साधना अर्थात् निवृत्तिमार्ग को जैन-परम्परा में धर्मध्यान कहा गया है<sup>119</sup> और शुक्लध्यान आत्म-विशुद्धि की अवस्था है, अतः इन दोनों का स्थान एवं महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। धर्मध्यान शुभ है और शुक्लध्यान शुद्ध है। शुभ से शुद्ध की ओर प्रयाण करना— यही साधना है, इसलिए हम कह सकते हैं कि साधना की दृष्टि से धर्मध्यान और शुक्लध्यान— दोनों का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

धर्मध्यान मार्ग है, तो शुक्लध्यान गन्तव्य है। जिस प्रकार मार्ग के बिना गन्तव्य तक पहुंचना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार धर्मध्यान के बिना शुक्लध्यान असम्भव है।

धर्मध्यान अशुभ से निवृत्ति कराता है और शुक्लध्यान शुद्ध की प्राप्ति कराता है। अशुभ की निवृत्ति के बिना शुद्ध की प्राप्ति सम्भव नहीं है, अतः साधना के क्षेत्र में व्यक्ति धर्मध्यान के माध्यम से शुक्लध्यान, अर्थात् आत्मा की शुद्ध अवस्था या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

इसी दृष्टि से, जैनसाधना-पद्धति में धर्मध्यान और शुक्लध्यान— इन दोनों का स्थान और महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। आगे हम चारों ध्यानों के स्वरूप एवं लक्षणों पर विचार करेंगे।

-----000-----

<sup>118</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यान, डॉ सागरमल जैन, पृ. 30.

<sup>119</sup> धम्मो मंगलमुक्किद्धं अहिंसा संजमोतवो। - दशवैकालिक, अध्ययन- 1, गाथा 1.

# जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभदीय टीका : एक तुलनात्मक अध्ययन

## तृतीय अध्याय

1. आर्त्तध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
2. आर्त्तध्यान के चार भेद
3. रौद्रध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
4. रौद्रध्यान के चार भेद
5. धर्मध्यान का स्वरूप एवं लक्षण
6. धर्मध्यान के चार भेद
7. धर्मध्यान के विभिन्न द्वार
  - (क) भावनाद्वार
  - (ख) देशद्वार
  - (ग) कालद्वार
  - (घ) आसनद्वार
  - (ङ.) आलंबनद्वार
  - (च) क्रमद्वार
  - (छ) ध्यातव्यद्वार (धातृद्वार)
  - (ज) अनुप्रेक्षाद्वार
8. शुक्लध्यान का स्वरूप एवं लक्षण

## जिनमद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका : एक तुलनात्मक अध्ययन

9. शुक्लध्यान के स्तर एवं भेद

(क) ध्यातव्यद्वार

(ख) धातृद्वार

(ग) अनुप्रेक्षाद्वार

(घ) लेख्याद्वार

(ङ.) लिंगद्वार

(च) आलंबनद्वार

(छ) क्रमद्वार

10. आर्त्तध्यान के चिन्तन के विषय

11. रौद्रध्यान के चिन्तन के विषय

12. धर्मध्यान के आलंबन

13. शुक्लध्यान के आलंबन

14. क्या ध्यान के लिए आलंबन की आवश्यकता है ?

15. आलम्बन से निरालम्बन की ओर



## तृतीय अध्याय

### आर्त्तध्यान का स्वरूप एवं लक्षण

**आर्त्तध्यान का स्वरूप —** शुभध्यान के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के पूर्व अशुभ-ध्यान के स्वरूप को समझना बहुत ही जरूरी है। इसके पीछे मुख्य प्रयोजन यह है कि अशुभ-ध्यान तथा उनके हेतुओं के निवारण के बिना तो शुभध्यान का प्रारम्भ होना भी शक्य नहीं है।

जिस प्रकार वस्त्र की मलिनता को दूर किए बिना उस पर नया रंग अच्छी तरह नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार मन की अथवा अध्यवसायों की मलिनता (अशुद्धि) को दूर किए बिना उस पर शुभध्यान का रंग चढ़ाना सम्भव नहीं है।<sup>1</sup>

सर्वप्रथम हमें आर्त्तध्यान के स्वरूप को समझना है। जब जीव आधि, व्याधि अथवा उपाधिस्वरूप किसी दुःखद स्थिति का अनुभव करता है, तब उसे 'मेरी पीड़ा शीघ्रातिशीघ्र दूर हो, मुझे सुख की प्राप्ति हो'— ऐसी जो विचारधारा प्रादुर्भाव होती है अथवा अन्तःकरण के द्वारा जो दुष्प्रणिधान किया जाता है, उसे आर्त्तध्यान कहते हैं।

इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति तथा दुःख-मुक्ति की चिन्ता आर्त्तध्यान है।<sup>2</sup> ज्ञानार्णव में चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा है।<sup>3</sup>

'ऋते भवम् आर्त्तम्' — इसके अनुसार ऋत अर्थात् दुःख। वैसे ऋत सत्यता है, किन्तु दुःख की सत्यता को समझना भी ऋत है, अतः वियोग के दुःख के कारण ही आर्त्तध्यान होता है।<sup>4</sup> दूसरे शब्दों में, पीड़ा या यातनाजन्य ध्यान आर्त्तध्यान है।

<sup>1</sup> ध्यानविचार सविवेचन— आचार्य कलापूर्णसूरि पुस्तक से उद्धृत, पृ. 12—13.

<sup>2</sup> (क) आवश्यकचूर्णि, गाथा— 2.

(ख) अमणुण्णाणं ..... दोसमइलस्स ।। — ध्यानशतक, गाथा— 6.

<sup>3</sup> ऋते भवमथार्त्तं स्यादसदध्यान शरीरिणाम्।

दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात् ।। — ज्ञानार्णव— 23/21.

<sup>4</sup> (क) ऋतं—दुःखम्, उक्तं हि — "ऋतशब्दोदुःखपर्यायवाच्याश्रीयते", ऋते भवमार्त्तम्।

— उत्तराध्ययन, पाइअ टीकायाम्, अध्याय 30.

(ख) ऋतं दुःखं तस्य निमित्तं तत्र वा भवम्।

ऋते वा पीडिते प्राणिनि भवमार्त्तम् ।। — पाक्षिकसूत्रवृत्तौ.

(ग) आर्त्तरौद्रं च अत्र ऋतदुःखम्, तत्र भवमार्त्तम्, यदिवा अर्त्तिः, पीडा याचनं च तत्र भवमार्त्तम् ।। — योगशास्त्र, प्र. 3, गाथा 73.

(घ) आर्त्तं रौदमपध्यानम् पापकर्मोपदेशिता ।

**स्थानांगसूत्र** में आर्त्तध्यान की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि मानसिक दुःख को उत्पन्न करने वाला ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। दूसरे शब्दों में चिन्तायुक्त मन की एकाग्रता आर्त्तध्यान है। दुःख के निमित्त से उत्पन्न क्लिष्ट अध्यवसाय या रागद्वेष से युक्त संक्लेश वाले मनोभाव और उन भावों से उत्पन्न ध्यान आर्त्तध्यान है। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है— जैसे ही मैले से युक्त कपड़े पर नजर पड़ती है, तो मन में यह चिन्ता उत्पन्न होती है कि किस तरह मैल दूर हो ? मैल पर द्वेष सहित संक्लेशयुक्त अध्यवसाय आर्त्तध्यान को जन्म देता है, दूसरी ओर, यदि कपड़ा साफ—सुथरा अथवा चमकदार है, तो मन में यह विकल्प होता है कि किसी तरह इसकी सफेदी या चमक कायम रहे, यह खराब न हो। सफेदी पर राग के संक्लेशयुक्त अध्यवसाय भी आर्त्तध्यान हैं। दूसरे शब्दों में, मैल के प्रति द्वेषजन्य चिन्ता और सफेदी के प्रति रागजन्य चिन्ता— दोनों ही आर्त्तध्यान हैं।

**दशवैकालिक हारिभद्रीयवृत्ति** के अन्तर्गत आर्त्तध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है— राज्य, उपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्रीसंघ, माला, मणिरत्न और आभूषण (पर पदार्थों वगैरह) में मोह के उदय से जो तीव्र अभिलाषा प्रकट होती है, उसे धीर—गम्भीर महापुरुष आर्त्तध्यान कहते हैं।<sup>5</sup>

**संवेगरंगशाला** नामक ग्रन्थ में आर्त्तध्यान को दुःख का महाभण्डार एवं विषयों के प्रति अनुराग वाला कहा गया है।<sup>6</sup>

**ध्यानदीपिका** के रचयिता उपाध्याय सकलचन्द्रजी ने लिखा है कि रागद्वेष की परिणति के द्वारा जिस जीव को दुःख उत्पन्न होता है, ये दुःख उत्पन्न करने वाले विचार ही आर्त्तध्यान हैं।<sup>7</sup>

श्रावकाचार (अमितगति) में आर्त्तध्यान का विवेचन इस प्रकार है— प्रिय का संयोग, अप्रिय का वियोग, शारीरिक—वेदना और लक्ष्मी की चिन्तास्वरूप जो ध्यान होता है, वह

<sup>5</sup> राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु, स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु।

इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहाद्, ध्यानं तदार्त्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ 1 ॥ — दशवैकालिक, हारिभद्रीयवृत्तौ, अ. 1.

<sup>6</sup> संवेगरंगशाला ग्रन्थ से उद्धृत, सं. मुनिराजश्री जयानंदविजय, पृ. 399.

<sup>7</sup> ध्यानदीपिका, प्रकरण 5, श्लोक 69 का भावार्थ, पृ. 85.

आर्त्तध्यान है। उसी ग्रन्थ में आर्त्तध्यान के भेदों पर प्रकाश डालते हुए उसे तिर्यच-गति का कारण बताया है।<sup>8</sup>

आचार्य कुन्दकुन्द आर्त्त और रौद्रध्यान के परित्याग का उपदेश देते हुए तथा साधकों को सजग करते हुए कहते हैं— जो साधक आत्मा आर्त्त और रौद्रध्यान का वर्जन अथवा अशुभ अध्यवसायों का त्याग करता है, उसमें सामायिक-रूप या समतारूपी आत्मभाव स्थिर हो जाते हैं— ऐसा केवलीप्रभु के शासन में माना गया है।<sup>9</sup>

आचार्य महाप्रज्ञ ने भी आर्त्तध्यान की परिभाषा की पुष्टि अपनी पुस्तक 'संस्कृति के दो प्रवाह' में की है।<sup>10</sup>

**आर्त्तध्यान के लक्षण** — जब किसी व्यक्ति में निम्नांकित लक्षण दिखाई दें, तब यह समझ लेना चाहिए कि वह व्यक्ति आर्त्तध्यान की स्थिति में है। आर्त्तध्यान में होने वाली क्रियाएं, यथा— क्रन्दन, रुदन आदि। ये सभी क्रियाएं कर्मबन्ध का कारण हैं।

'स्थानांगसूत्र' के अनुसार, आर्त्तध्यान के लक्षण इस प्रकार हैं<sup>11</sup>—

1. **क्रन्दनता** — ऊंची-ऊंची आवाज करके रुदन करना। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब किसी प्रियतम का वियोग होता है।
2. **शोचनता** — दीनता का प्रदर्शन करते हुए शोक करना।
3. **तेपनता** — दीनता के समय नेत्रों से अश्रु बहाना।
4. **परिदेवनता** — करुणाजनक शब्दों में विलाप करना।

ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आर्त्तध्यानी के लक्षण बताते हुए कहते हैं— जिसका आर्त्तध्यान अत्यन्त तीव्र बन जाता है, उस मनुष्य द्वारा अनायास ही कुछ चेष्टाएं हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, जब व्यक्ति के जीवन में इष्ट वस्तुओं का वियोग,

<sup>8</sup> प्रिययोगा-ऽप्रियायोग-पीडा-लक्ष्मीविचिन्तनम्।

आर्त्तं चतुर्विधं ज्ञेयं तिर्यग्गतिनिबन्धनम्॥ - अमितगति श्रावकचारे, परि. 15.

<sup>9</sup> नियमसार, गाथा 129, पृ. 260.

<sup>10</sup> संस्कृति के दो प्रवाह, पृ. 222.

<sup>11</sup> (क) अट्टस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता, तं जहा-कंदणता, सोयणता, तिप्पणता, पडिदेवणतां।

- स्थानांगसूत्र, चतु. स्था. उद्देश्यक 1, सूत्र 62, पृ. 222.

(ख) औपपातिकसूत्र - 20.

(ग) भगवतीसूत्र - 803.

अनिष्ट वस्तुओं का संयोग, शारीरिक-वेदना आदि की स्थिति प्राप्त होती है, तब वह स्वतः ही कुछ कुचेष्टाओं का शिकार हो जाता है।

ध्यानशतक ग्रन्थ में आर्त्तध्यान के तेरह लक्षणों की चर्चा है।<sup>12</sup> वे तेरह लक्षण इस प्रकार हैं—

1. आक्रन्दन — जोर-जोर से रोना।
2. शोचन — दैन्यभाव का प्रदर्शन करते हुए शोक करना अथवा अश्रु से परिपूर्ण नयनों से अपने दुःख को प्रकट करना।
3. परिदेवन — यत्र-तत्र सर्वत्र बार-बार विलष्ट अथवा दुःखकारक शब्दों का उच्चारण करना।
4. ताडन — स्वयं को पीटना, छाती कूटना, सिर फोड़ना, केश खींचना इत्यादि लक्षण इष्ट वियोगादि में घटित होते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य निम्न लक्षण भी हैं—

1. निन्दा — स्वयं के द्वारा किए हुए कर्म-व्यापार, शिल्पकलादि के निष्फल सत्कार्यों की निन्दा करना।
2. प्रशंसा — दूसरे की सम्पत्ति की उपलब्धि पर आश्चर्य प्रकट करना।
3. प्रार्थना — सम्पत्ति की प्राप्ति की आकांक्षा अथवा अभिलाषा करना।
4. रंजना — प्राप्त हुई सम्पत्ति में आसक्त बने रहना।
5. प्रयत्न — अधिक सम्पत्ति पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना।
6. आसक्ति — शब्दादि विषयों में मूर्च्छित होना।
7. पराङ्मुखता — क्षमादि दस प्रकार के यतिधर्म के पालन से विमुख होना।
8. प्रमादभाव — प्रमाद में प्रवृत्त रहना अथवा विकथादि में मग्न रहना।

<sup>12</sup> तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं ।

इद्दाऽणिद्धविओगाऽविओग-वियणा निमित्ताइ ।।

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ ।

पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ।।

सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्महो पमायपरो ।

जिणमयमणवेक्खंतो वड्डइ अट्टमि ज्ञाणमि ।। — ध्यानशतक, गाथा 15-17.

9. जिनाज्ञा—भंग — तीर्थंकर निर्दिष्ट जो आगमरूप प्रवचन है, उससे विशुद्ध आचरण का पालन न करना, जिनाज्ञा का भंग करना।

उपर्युक्त लक्षणों से युक्त आर्त्तध्यानी सामान्यतया हर बात में शंका करता है। आर्त्तध्यानी शोक, भय, प्रमाद, असावधानी, क्लेश, चिन्ता, भ्रम, भ्रान्ति, विषय—सेवन की उत्कण्ठा, हर्ष विषाद करना, अंग में जड़ता—शिथिलता, चित्त में खेद, वस्तु में आसक्ति आदि से युक्त रहता है। यह आर्त्तध्यान अनादिकाल से सांसारिक—जीवात्माओं में उत्पन्न होता रहता है। यह प्रारंभ में तो अच्छा लगता है, परन्तु इसके परिणाम दुःखदायी होते हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी कृत अध्यात्मसार के अन्तर्गत भी इसी प्रकार के चिहनों का वर्णन है। क्रन्दन, रुदन, शोचन, ताड़न, स्वयं के निष्फल कार्य की निन्दा, सम्पत्ति की प्राप्ति हेतु प्रार्थना, प्राप्त हुई सम्पत्ति पर आसक्ति—प्रमत्तता, इन्द्रियों के विषयों की लोलुपता, धर्म से विमुखता, जिनवचन की उपेक्षा आदि लक्षण आर्त्तध्यान में पाए जाते हैं।<sup>13</sup>

आवश्यकचूर्णि में आर्त्तध्यान के निम्न लक्षण बताए गए हैं—

कंदणता, सोयणता, तिप्पणता तथा इन्द्रिय, गारव, संज्ञा अतिरति, भय और शोकादि।<sup>14</sup> ध्यानदीपिका<sup>15</sup> नामक ग्रन्थ में आर्त्तध्यानी के चिहनों (लक्षण) का परिचय दिया गया है। श्लोक—संख्या अस्सी के अन्तर्गत कहा है कि आर्त्तध्यानी दो प्रकार के लक्षणों से युक्त होते हैं— 1. आन्तरिक—लक्षण 2. बाह्य—लक्षण।

<sup>13</sup> क्रन्दनं रुदनं प्रोच्यैः, शोचनं परिदेवनम्।  
ताडनं लुञ्चनं चेति लिङ्गान्यस्य विदुर्बुधाः ॥ 7 ॥  
मोघं निन्दं निजं कृत्यं प्रशंसं परसम्पदः।  
विस्मितः प्रार्थयन्नेताः प्रसक्तश्चैतदर्जने ॥ 8 ॥  
प्रमत्तश्चेन्द्रयार्थेषु गृह्यो धर्मपराङ्मुखः।  
जिनोक्तमपुरस्कृत्व—न्नार्त्तध्याने प्रवर्तते ॥ 9 ॥ — अध्यात्मसार, अधिकार 16.

<sup>14</sup> अट्टस्स लक्खणाणि—कंदणता, सोयणता, तिप्पणता, परिदेवणता .....  
इंदियगारवसंण्णा उस्सेय रती भयं च सोगं च। ऐ तु समाहारा भवन्ति अट्टस्स ज्ञाणस्स। —  
आवश्यकचूर्णि.

<sup>15</sup> शोकाक्रंदौ मूर्च्छा मस्तकहृदयादिताडनं चिन्ता।  
आर्त्तगतस्य नरस्य हि लिंगान्येतानि बाह्यानि ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक 80.

1. **आन्तरिक-लक्षण** — आर्त्तध्यानी जीवों के आन्तरिक-लक्षण में तो उनकी विचारधारा के आधार पर वे दूसरे लोगों अथवा अपने मन की कल्पनाओं द्वारा स्वयं ही निर्णय कर सकते हैं। इन आन्तरिक-लक्षणों का दूसरा व्यक्ति तो मात्र अनुभव कर सकता है।

2. **बाह्य-लक्षण** — आर्त्तध्यानी जीवों का बोलना, चलना, रहना, ताडना-तर्जना, आक्रन्दन, रुदन, सिर फोड़ना, छाती पीटना आदि लक्षणों को देखकर दूसरे मनुष्य यह समझ सकते हैं कि अमुक जीव अभी आर्त्तध्यान की स्थिति में है। यह आर्त्तध्यानी का बाह्य-लक्षण है।

आदिपुराण में भी आर्त्तध्यानी के इन्हीं लक्षणों का समर्थन करते हुए कहा गया है कि परिग्रह में अत्यन्त आसक्त होना, कुशीलरूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका चलाना, अत्यन्त लोभ करना, भय और उद्वेग करना और अतिशय शोक करना— ये आर्त्तध्यान के चिह्न हैं।<sup>16</sup>

अध्यात्ममतपरीक्षायाम् ग्रन्थ में आर्त्तध्यान से सम्बन्धित एक बहुत ही मार्मिक बात बताई गई है— ममत्व का जो परिणाम है, वह ही मूर्च्छा है और यह ममत्व के परिणामरूप मूर्च्छा अज्ञान लक्षण वाली नहीं है, दूसरे शब्दों में, वह ज्ञानलक्षण वाली है। उसका नाश भी (ममत्व-परिणाम) ज्ञान से ही होता है। इष्ट के अवियोग का विचार और अप्राप्त इष्टवस्तु की आकांक्षा या अभिलाषा ज्ञानस्वरूपा है।<sup>17</sup>

इसका नाश अनित्यता के चिन्तन से होता है और वस्तु की अनित्यता या संयोगों की अनित्यता का ज्ञान उस मूर्च्छा या आसक्ति को तोड़ देता है। दोनों ज्ञान हैं, किन्तु पहला मिथ्याज्ञान और दूसरा सम्यग्ज्ञान है।<sup>18</sup>

<sup>16</sup> 1 2 3 4 5 रु  
मूर्च्छा-कौशील्य-कैनाश्य-कौसीद्या-न्यतिगृध्नुता।

6

भयोद्वेगानुशोकाश्च, लिङ्गान्यार्त्त स्मृतानि वै ॥ — आदिपुराण, पर्व 21, गाथा— 40.

रु 1 परिग्रहः। 2 कुशीलत्व। 3. लुब्धत्व अथवा कृतघ्नत्व। 4. आलस्य। 5. अत्यभिलाषिता

6. इष्टवियोगेषु विक्लवभाव एवोद्वेगः। चित्तचलन।

<sup>17</sup> ममत्वपरिणामलक्षणा मूर्च्छा, ममत्वपरिणामश्च नाज्ञानलक्षणः तस्य ज्ञानादेव नाशात्, किन्तु प्राप्तेष्टवस्त्ववियोगाध्यवसानाऽप्राप्ततदभिलाषलक्षणार्त्तध्यानस्वरूपः ॥ — अध्यात्ममतपरीक्षायाम्, गाथा— 6.

<sup>18</sup> शोकशंकाभयभ्रान्ति ..... इत्यार्त्तध्यानलक्षणम् ॥ — ध्यानसार, श्लोक— 71-72, पृ. 22.

इस प्रकार, आर्त्तध्यानी के लक्षणों का वर्णन समाप्त होता है। अब आर्त्तध्यान के चार प्रकारों का वर्णन इस प्रकार से है।

### आर्त्तध्यान के चार प्रकार

जैसा कि पूर्व में यह कहा जा चुका है कि भारत देश में ध्यान की परम्परा प्राचीन है और साधना के क्षेत्र में सदा उसे सम्मानपूर्ण स्थान मिला है, क्योंकि ध्यान वीतरागदशा को प्रकट कराने वाली साधना का अभिन्न अंग भी है। जैन आगम— शास्त्रों में आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के वर्णन की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है।<sup>19</sup>

प्रायः सांसारिक—जीव यही चाहते हैं कि हमें जीवन में कभी दुःख न मिले, किन्तु संसारी—जीव कर्माधीन होता है। भविष्य से सभी अनभिज्ञ होते हैं। जब व्यक्ति को इष्ट वस्तु का वियोग होता है, तब वह आकुल—व्याकुल हो जाता है। उसका ध्यान बार—बार उसी में एकाग्र रहता है। यहां एकाग्रता तो है, किन्तु इसके परिणाम दूषित हैं, अतः ऐसा ध्यान (एकाग्रता) साधक के लिए अश्रेयस्कर एवं अहितकारी है।

हमारे शोधग्रन्थ ध्यानशतक में भी चारों ध्यानों का वर्णन बहुत ही सूक्ष्मता से वर्णित है। उन चारों ध्यानों में प्रथम ध्यान आर्त्तध्यान है। यहां हम सर्वप्रथम चार भेदों की चर्चा करेंगे, जो इस प्रकार हैं—

1. अनिष्ट—संयोग आर्त्तध्यान।
2. आतुर चिन्ता (वेदना) आर्त्तध्यान।

<sup>19</sup> (क) स्थानांगसूत्र— 10.  
 (ख) समवायांग, समवाय 5.  
 (ग) भगवतीशतक— 25, उद्देशक 7.  
 (घ) प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार— 5.  
 (ङ) औपपातिकसूत्र— 30, पृ. 49—50.  
 (च) उत्तराध्ययनसूत्र— 11/14—27, उत्तराध्ययन— 11/14 कि बृहद्वृत्ति.  
 (छ) इसिभासियाई (ऋषिभाषित) अध्याय 23.  
 (ज) आवश्यकनिर्युक्ति, 1458.  
 (झ) आराधकपताका, 803—835.  
 (ञ) भगवतीआराधना, गाथा 753.  
 (ट) पगामसिद्धाय, आवश्यकश्रमणसूत्र.  
 (ठ) ध्यानशतक, गाथा 6—85.  
 (ड) ध्यानस्तव, श्लोक 8—23.  
 (ढ) ध्यानसार, श्लोक— 31.

3. इष्ट-वियोग आर्त्तध्यान।

4. निदान-चिन्तन आर्त्तध्यान।

ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रथम अनिष्ट-संयोग आर्त्तध्यान का निरूपण करते हुए लिखते हैं-

1. **अनिष्ट-संयोग आर्त्तध्यान** - द्वेषयुक्त अध्यवसायों से मलिनता को प्राप्त हुए जीव के मन के प्रतिकूल शब्दादिरूप पांचों इन्द्रियों के विषय और उनकी मूलभूत वस्तुओं के विषय में जो उनके वियोग की अत्यधिक चिन्ता तथा आगामी काल में पुनः उनका संयोग न हो, इसके अनुस्मरण से उत्पन्न अनिष्ट-संयोग के वियोग की चिन्तारूप प्रथम आर्त्तध्यान माना गया है तथा सुने हुए, देखे हुए, स्मरण में आए हुए और समीपता को प्राप्त अनिष्ट पदार्थों के निमित्त से जो मन में संक्लेश-भाव होता है, वह प्रथम आर्त्तध्यान है।<sup>20</sup>

द्वादशांगी का तीसरा अंग **स्थानांगसूत्र** के चतुर्थ स्थान के अन्तर्गत प्रथम उद्देश्य में चारों ध्यानों की सुन्दर विवेचना की गई है। सूत्रगत प्रत्येक ध्यान के प्रकारों और उपप्रकारों का वर्णन किया गया है, उसमें आर्त्तध्यान के उपप्रकारों का वर्णन भी मिलता है। आर्त्तध्यान के प्रथम उपप्रकार को **अमोनज्ञ** के नाम से सूचित किया है। अनभीष्ट वस्तु का संयोग होने पर उसको दूर करने का बार-बार चिन्तन करना **अमनोज्ञ-आर्त्तध्यान** है।<sup>21</sup>

<sup>20</sup> अमणुण्णाणं सद्वाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स।

धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च।। - ध्यानशतक, गाथा- 6.

<sup>21</sup> अद्दुझाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा - " अमणुण्ण-संपओग-संपउत्ते, तस्स विष्ण-ओगसत्ति-समण्णगते यावि भवति।" - स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र 61, पृ. 222.



तत्त्वार्थसूत्र प्रणेता आचार्य उमास्वाति ने आर्त्तध्यान के चार भेदों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनिष्ट अर्थ, चेतन और अचेतन— दोनों प्रकारों का होता है। कुरुप, दुर्गन्धयुक्त शरीर वाली स्त्री आदि तथा भय उत्पन्न करने वाले सर्पादि अमनोज्ञ—चेतन पदार्थ हैं, जबकि शस्त्र, विष, कण्टकादि अमनोज्ञ—अचेतन पदार्थ हैं।<sup>22</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में सिद्धसेन ने भी यही कहा है कि अमनोज्ञ (अनिष्ट) शब्दादि विषयों का इन्द्रियों के साथ ग्राह्य—ग्राहक लक्षण सम्बन्ध होने पर उनके वियोग की चिन्ता— वह अमनोज्ञविषयक प्रथम आर्त्तध्यान है। प्रणिधानस्वरूप स्मृति की जो धारा है, वह समन्वहार कहलाती है, जैसे— मैं इस अमनोज्ञ विषयों के संयोग से शीघ्र मुक्त बनूँ।<sup>23</sup>

ज्ञानार्णव के रचयिता आचार्य शुभचन्द्र ने अनिष्ट के संयोग से होने वाले प्रथम आर्त्तध्यान का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि अपने कुटुम्बजनों, धन—सम्पत्ति और शरीर को नष्ट करने वाले अग्नि, सर्पादि तथा स्थलचर, जलचर, खेचर आदि प्राणियों अथवा पदार्थों के सम्बन्ध से जो यहां संक्लेश और चिन्ता होती है, वह ही आर्त्तध्यान का प्रथम प्रकार है।<sup>24</sup>

<sup>22</sup> आर्त्तमनोज्ञास्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः । — तत्त्वार्थसूत्र— 9/30.

<sup>23</sup> अमनोज्ञ अनिष्टाः शब्दादयः तेषा सम्बन्धे इन्द्रियेण—सह सम्पर्के सति चतुर्णां शब्द—स्पर्श—रस—गन्धानामेकस्य च योग्यदेशावस्थितस्य द्रव्यादेस्तेन विषयिणा ग्राह्यग्राहकलक्षणे सम्प्रयोगे सति तद्विप्रयोगेयेति । तदित्यमनोज्ञ विषयाभिसम्बन्धः । तेषाम् मनोज्ञानां शब्दादिनां विप्रयोगोऽपगमस्तदर्थं विप्रयोगायानिष्टशब्दादिविषयपरिहाराय यः स्मृतिसमन्वाहारस्तदार्तम् । स्मृतिसमन्वाहारोः अमनोज्ञविषयविप्रयोगोपाये व्यवस्थापनं मनसो निश्चलमार्त्तध्यानं केनोपायेन वियोगः स्यादित्येकतानमनोनिवेशनमार्त्तध्यानमित्यर्थः । — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ.

<sup>24</sup> ज्वलनवनविषास्त्रण्यालशार्दूलदैत्यैः, स्थलजल बिल सत्त्वैर्दुर्जुनाशाति भूपैः । जनधनशरीर ध्वंसिमिस्वैर निष्टै भवति, यदिह योगादाद्यमार्तं तदेतत् । तथा चरस्थिरैर्भावैरनेकैः समुपस्थितैः । अनिष्टु यन्मनः क्लिष्टं स्यादार्तं तत्प्रकीर्तितम् श्रुतैर्दष्टैः स्मृतैज्ञातैः प्रत्यासत्तिं च संश्रितैः । योऽनिष्टार्थैर्मनः क्लेशः पूर्वमार्तंदिष्यते । — ज्ञानार्णव, प्रकरण— 23, श्लोक— 23-25.

**ध्यानदीपिका** ग्रन्थ में भी आर्त्तध्यान के प्रथम भेद की चर्चा करते हुए कहा गया है— शरीर को घात करने वाले विष, अग्नि, वन, सांप, सिंह, शस्त्र और शत्रु के समान दुष्टभाव रखने वाले जीवों द्वारा जो दुःख की अनुभूति होती है, अथवा अनिष्ट पदार्थों के संयोग द्वारा देखने से या स्मरण करने से मन में जो क्लेश पैदा होता है, वह अनिष्ट—संयोग नामक पहला आर्त्तध्यान है।<sup>25</sup>

**अध्यात्मसार**<sup>26</sup> के प्रणेता यशोविजयजी ने भी आर्त्तध्यान के पहले भेद का अर्थ इसी रूप में माना है। वे लिखते हैं कि मन चाहे शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गंध आदि विषय अथवा प्रियजन का कभी वियोग न हो, सदा पूर्णिमा रहे, कभी अमावस्या नहीं हो, इसी तरह सुख के दिनों का वियोग न हो, निरन्तर व्यक्ति इस चिन्ता में डूबा रहता है।

**आदिपुराण** में भी यही सुस्पष्ट लिखा गया है कि किसी प्रियजन अथवा प्रियवस्तु के वियोग होने पर पुनः संयोग—प्राप्ति के लिए पुनः—पुनः चिन्तन—मनन ही आर्त्तध्यान का पहला भेद है।<sup>27</sup>

**ध्यानस्तव** में भी इसी बात का समर्थन है।<sup>28</sup>

**ध्यानविचार—सविवेचन** में आर्त्तध्यान के प्रथम भेद पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि मनुष्य प्रतिपल—प्रतिक्षण यह सोचता रहता है कि अन्य मनुष्यों का कुछ भी हो, परन्तु मेरा दुःख नष्ट हो, मुझे सुख प्राप्त हो।<sup>29</sup>

**ध्यानसार** में आर्त्तध्यान के प्रथम भेद का वर्णन लगभग दस श्लोकों (श्लोक क्रमांक बत्तीस से इक्तालीस) में किया गया है। इन श्लोकों में आर्त्तध्यान के प्रथम भेद का उपदेशात्मक रूप में बहुत ही मार्मिक वर्णन किया गया है।<sup>30</sup>

<sup>25</sup> विषदहनवनभुजंगमहरिशस्त्रारातिमुख्यदुर्जीवैः ।

स्वजनतनुघातकृदभिः सह योगनार्त्तमाद्यं च ॥

श्रुतैर्दृष्टैः स्मृतैर्ज्ञातैः प्रत्यासत्तिसमागतैः ।

अनिष्टाथैर्मनः क्लेशे पूर्वमार्त्तं भवेत्तदा ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकरण— 5, श्लोक— 71—72.

<sup>26</sup> इष्टानां प्रणिधानं ..... ॥ — अध्यात्मसार, अध्याय— 16, श्लोक— 5 का प्रथम चरण.

<sup>27</sup> विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानु तर्षणम् । — आदिपुराण, पर्व 21, श्लोक— 32 का पहला चरण.

<sup>28</sup> ध्यानस्तव, गाथा— 1.

<sup>29</sup> (क) ध्यानविचार में ध्यान के 24 भेदों में से प्रथम भेद ध्यान, उसके स्वरूप तथा उपभेदों की चर्चा के सन्दर्भ से 'द्वयश्चार्त्त—रौद्रे' पुस्तक ध्यानविचार—सविवेचन से उद्धृत, पृ. 12—13.

(ख) अमनोज्ञमप्रियं विषकण्टकशत्रुशस्त्रादि ।

तद्वाधाकारणात्वाद् अमनोज्ञम् इत्युच्यते ॥ — सर्वार्थसिद्धि, 9/30/10.

<sup>30</sup> ध्यानसार, श्लोक— 32—41, पृ. 9—12.

संक्षेप में, इतना ही समझना है कि कोई भी चेतन प्राणी अथवा जड़पदार्थ, जो अनुकूल लगते हैं, उनके प्रति राग और वे सभी प्राणी या पदार्थ जो अनुकूल न लगे, उनके प्रति द्वेष या अरुचि होना पहले प्रकार का आर्त्तध्यान है।

दूसरे शब्दों में, 'विषीदन्ति एतेषु सक्ताः प्राणिनः इति विषयाः' – इस उक्ति के आधार पर जिनके जैसे अनुभव से प्राणी दुःखी होता है, उन्हें आर्त्तध्यान-विषय कहा जाता है, जैसे— कर्णकटु शब्द सुनने पर, आंख को नापसंद रूप देखने पर, नाक को प्रतिकूल गंध सूंघने पर, जिह्वा को बेस्वाद वस्तुएं खाने पर और त्वचा को अप्रिय स्पर्श होने पर अर्थात् प्रतिकूल लगने वाला शब्द, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का संयोग मिलने पर द्वेषयुक्त अध्यवसायों के द्वारा उसे दूर करने का चिन्तन-मनन करना तथा भावीकाल में पुनः कभी भी उन अप्रिय वस्तुओं का संयोग न होना— ऐसा अध्यवसाय अनिष्टसंयोग आर्त्तध्यान है।<sup>31</sup>

2. आतुर-चिन्ता (वेदना) आर्त्तध्यान – ध्यानशतक के प्रणेता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आर्त्तध्यान के दूसरे प्रकार 'आतुर-चिन्ता-आर्त्तध्यान' का निरूपण करते हुए कहते हैं कि आतुर अर्थात् शूल, मस्तकादि के रोगों की वेदना उत्पन्न होने पर उनके निवारण हेतु, प्रतिपल, प्रतिक्षण आकुल-व्याकुल होना, उनके वियोग का चिन्तन सतत चलते रहना तथा भविष्य में उनकी पुनः प्राप्ति न हो— इस चिन्तन में लीन रहना, यह दूसरे प्रकार का आर्त्तध्यान है।<sup>32</sup>

स्थानांगसूत्र में लिखा है कि घातक रोगग्रसित होने पर इसके पलायन के लिए बार-बार चिन्तन करना आतंक-आर्त्तध्यान है।<sup>33</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि शारीरिक या मानसिक-पीड़ा होने पर उसके निवारण की व्याकुलतापूर्वक चिन्ता करना, अथवा प्रतिकूल वेदना को दूर हटाने के लिए चिन्ता करना रोगचिन्ता-आर्त्तध्यान है।<sup>34</sup>

<sup>31</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानशतक— सं.— बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री पुस्तक से उद्धृत, पृ. 5.

<sup>32</sup> तह सूल—सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं।

तद संपओगचिंता तम्पडियाराउलमणस्स।। — ध्यानशतक, गाथा— 7.

<sup>33</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 61, पृ. 222.

<sup>34</sup> वेदनायाश्च— तत्त्वार्थसूत्र— 9/32.

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में भी यही कहा है कि वेदना दो प्रकार की होती है— 1. सुखकारिणी और 2. दुःखकारिणी। इसमें अमनोज्ञ (दुःखकारिणी) वेदना का संयोग होते ही पीत, श्लेष्म, सन्निपात इत्यादि निमित्तों से शूलशिरवेदना, कम्पन-ज्वर, अश्रुपात, दांतों का कम्पन आदि दुःखकारिणी वेदना के वियोग की निरन्तर चिन्ता आतुर-चिन्ता (वेदना) नामक दूसरा आर्त्तध्यान है।<sup>35</sup>

ज्ञानार्णव के अन्तर्गत आर्त्तध्यान के द्वितीय भेद का वर्णन करते हुए लिखा है कि काश, श्वास, भगन्दर, पेट का यकृत, कोढ़, अतिसार, ज्वर आदि तथा पित्त, कफ और वायु के प्रकोप से उत्पन्न होकर शरीर को नष्ट करने वाले रोगों से प्रतिसमय व्याकुलता होती है, उसे विद्वानों ने रोगार्त्तध्यान कहा है।<sup>36</sup>

ध्यानदीपिका में भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है कि किञ्चित् मात्र रोगों का समागम स्वप्न में न हो— इस प्रकार मनुष्यों को जो चिन्ता होती है, वह रोगार्त्त-आर्त्तध्यान है।<sup>37</sup>

आदिपुराण में कहा है कि वेदना उत्पन्न होने पर जो ध्यान होता है, वह ध्यान वेदनोपगमोद्भव नामक दूसरे प्रकार का आर्त्तध्यान है।<sup>38</sup>

शारीरिक या मानसिक-पीड़ा, जिससे व्यक्ति सदा भयभीत रहता है, ऐसा भयजन्य दुःख वास्तविक दुःख से भी अधिक भयंकर होता है। मानव-जीवन अनेक दुःखों से ग्रस्त तथा त्रस्त है। उन दुःखों से मन को जोड़ लेना, उनसे द्वेष रखना, उनको दूर करने की सतत चिन्ता करना— यही दूसरे प्रकार का आर्त्तध्यान है।<sup>39</sup>

ध्यानस्तव में भी कहा है कि पीड़ा के विनाश के लिए जीव को जो निरन्तर स्मरण या चिन्तन होता है, वह आर्त्तध्यान का दूसरा प्रकार है।<sup>40</sup>

<sup>35</sup> सुखा दुःखा चोभयी वेदना । तत्रामनोज्ञायाः सम्प्रयोगे वेदनायाः प्रकुपितपवनपित्तश्लेष्मसन्निपात-निमित्तरूपजातायाः शूलशिरःकम्पज्वराक्षिश्रवणदशनादिकायास्तद्विप्रयोगायस्मृतिसमन्वाहारो-ध्यानमार्त्तमेष द्वितीयो विकल्पः । — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ।

<sup>36</sup> कासश्वासभगन्दरोदरजराकुष्ठातिसारज्वरैः, पित्तश्लेष्मरुत्प्रकोपजनितै रोगैः शरीरान्तकैः । स्यात्सत्त्वप्रबलैःप्रतिक्षणभवैर्यद् व्याकुलत्वनृणाम्, तद्रोगार्त्तमनिन्दितैःप्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम् ॥32 ॥ स्वल्पानामपि रोगाणां माभूत्स्वप्नेऽपिसम्भवः । ममेति या नृणां चिन्ता, स्यादार्त्तं तत्तृतीयकम् ॥33 ॥

— ज्ञानार्णव, सर्ग- 25.

<sup>37</sup> अल्पानामपि रोगाणां, मा भूत्स्वप्नेऽपि सङ्गमः ।

ममेति या नृणां चिन्ता, स्यादार्त्तं तत्तृतीयकम् ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकरण- 5, श्लोक 76.

<sup>38</sup> आदिपुराण, पर्व- 21/35.

<sup>39</sup> चिन्तनं वेदनायाश्च व्याकुलत्वमुपेयुषु । — अध्यात्मसार- 16/4.

<sup>40</sup> पुंसः पीडाविनाशाय स्यादार्त्तं सनिदानकम् ॥ — ध्यानस्तव, श्लोक- 10.

ध्यानसार में श्लोक क्रमांक बयालीस से पचास तक आर्त्तध्यान के दूसरे प्रकार का वर्णन मिलता है।<sup>41</sup>

3. इष्टवियोग आर्त्तध्यान — ध्यानशतक के अन्तर्गत आर्त्तध्यान के चार प्रमुख प्रकार माने जाते हैं। उनके निरूपणार्थ ग्रन्थकार तृतीय इष्टवियोग आर्त्तध्यान का निरूपण करते हैं—

व्यक्ति को इष्ट विषय के मिलने पर या अनुकूल अनुभव होने पर उन प्राप्य विषयभोगों का विरह न हो— ऐसी रागयुक्त परिणति तथा इनके संयोग की स्थिरता हेतु जो सतत अभिलाषा रहती है, वह तीसरा इष्टसंयोग—आर्त्तध्यान है।<sup>42</sup>

स्थानांगसूत्र<sup>43</sup>, तत्त्वार्थसूत्र<sup>44</sup> और तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति<sup>45</sup> में इस ध्यान का विवेचन है। स्थानांगसूत्र में स्पष्टरूप से लिखा है कि इष्ट वस्तु का वियोग न हो, बल्कि पुनः—पुनः संयोग हो, ऐसा बार—बार चिन्तन करना मनोज्ञ—आर्त्तध्यान है।

तत्त्वार्थसूत्र में भी यही लिखा है कि किसी प्रियवस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए पुनः सतत चिन्ता करना तीसरे प्रकार का आर्त्तध्यान है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में आर्त्तध्यान के तीसरे प्रकार की व्याख्या करते हुए लिखा है कि मनोज्ञ पदार्थ का वियोग होने पर उन पदार्थों के पुनः संयोगरूप मानसिक—व्यापार, जैसे— मुझे इन मनोज्ञ पदार्थों का संयोग कैसे हो — ऐसा आसक्त मन का प्रणिधान इष्टवियोग—आर्त्तध्यान है।

<sup>41</sup> शत्रुदुर्जनचोराग्नि..... सर्वमिष्टं हि जायते ॥ — ध्यानसार, श्लोक— 42—50, पृ. 12—15.

<sup>42</sup> इद्धानं विसयाईण वेयणाए य रागरस्तस्स ।

अवियोगऽऽञ्जवयाणं तह संजोगाभिलांसो य ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 8.

<sup>43</sup> मणुण्ण संपओगं—संपउत्ते, तस्स विप्पओगं—सति—समण्णागते यावि भवति । — स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 61, पृ. 222.

<sup>44</sup> विपरीतं मनोज्ञानां — तत्त्वार्थसूत्र— 9/33.

<sup>45</sup> मनोज्ञा अभिरुचिता इष्टां प्रीतिहेतवस्तेषां विपरीतं संयोजनं कार्यम् । मनोज्ञानामित्यादि । मनोज्ञानाम विषयाणां वेदनायाश्च मनोज्ञाया । विपरीतप्रधानार्थाभिसम्बन्धो विपरीतशब्देन क्रियत इत्याह—विप्रयोगे तत्सम्प्रयोगायेत्यादि । तत्सम्प्रयोगार्थस्तत्सम्प्रयोगाय सम्प्रयोगप्रयोजनः स्मृतेः समन्वाहारः । कथं नु नाम भूयोऽपि तैः सह मनोज्ञविषयैःसम्प्रयोगः स्यान्ममेति एवं प्रणिधत्ते दृढं मनस्तदप्यार्त्तमिति ।।33।। — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ.

ज्ञानार्णव के अन्तर्गत कहा गया है कि मनोहर वस्तुओं का विनाश होने पर उनके पुनः संयोग की इच्छा से जो प्राणी संक्लेश-भाव को प्राप्त होता है, वही आर्त्तध्यान का तीसरा प्रकार है।<sup>46</sup>

आदिपुराण में कहा है कि किसी इष्टवस्तु के वियोग होने पर उसके संयोग के लिए निरन्तर चिन्तन करना तीसरे प्रकार का आर्त्तध्यान है।<sup>47</sup>

अध्यात्मसार में भी यही लिखा है कि सुख के तीव्रराग के कारण मनुष्य को इस प्रकार का, अथवा इष्ट के संयोग होने की या उनका वियोग न हो— ऐसी चिन्ता बनी रहती है,<sup>48</sup> यह स्थिति भौतिक-पदार्थों के इच्छुक जीवों की होती है। वे अपने इष्टसुख की मृग-मरीचिका के पीछे निरन्तर दौड़ते रहते हैं और एक क्षण के लिए भी उस कल्पित सुख के भार को उतारकर निर्विकल्प स्थितिरूप विश्रान्ति के सुख का उपभोग नहीं करते हैं और अन्त में इष्टवस्तु की प्राप्ति के लिए आर्त्तध्यान करते-करते मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।<sup>49</sup>

ध्यानस्तव में भी आर्त्तध्यान के तीसरे प्रकार का वर्णन उपर्युक्त व्याख्या के समान है।<sup>50</sup>

ध्यानसार में श्लोक क्रमांक इक्यावन से उनसाठ तक आर्त्तध्यान के तीसरे प्रकार का वर्णन किया गया है।<sup>51</sup>

**4. निदान-चिन्तन-आर्त्तध्यान** — जिनभद्रगणि ने ध्यानशतक में आर्त्तध्यान के चौथे निदान-चिन्तन का वर्णन करते हुए लिखा है कि अनागत भोगों की आकांक्षा का नाम निदान है। देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के मुख तथा ऋषि की प्रार्थना या याचना करना निदान है। इसका चिन्तन करना अधम है और यह अत्यन्त अज्ञान से उत्पन्न होता है।<sup>52</sup>

<sup>46</sup> मनोज्ञवस्तु विध्वंसे, पुनस्तत्संङ्गमार्थिभिः । — ज्ञानार्णव, श्लोक— 1210.

<sup>47</sup> आदिपुराण, पर्व-21/35.

<sup>48</sup> इष्टानां प्रणिधानं च संप्रयोगावियोगयोः । — अध्यात्मसार— 36/5.

<sup>49</sup> राज्योपभोग शयनासन वाहनेषु, स्त्रीगंध माल्य वररत्न विभूषणेषु ।

अत्याभिलाष मतिमात्र मुपैति मोहाद्, यानं तदारत्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ — सागर धर्माऽमृत.

— प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानकल्पतरु ग्रन्थ से उद्धृत है. पृ. 12.

<sup>50</sup> ध्यानस्तव, श्लोक— 9.

<sup>51</sup> वातपित्तकफोद्रेकादरस ..... दुःखं करिष्यति ॥ — ध्यानसार, श्लोक— 51-59, पृ. 15-16.

<sup>52</sup> देविद-चक्कवट्टित्तिणाइगुण-रिद्धिपत्थणामईयं ।

स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि कामभोगों का संयोग होने पर उनका संयोग बना रहे— ऐ.ग. बार-बार चिन्तन करना प्रीतिकारक नामक तीसरा आर्त्तध्यान है।<sup>53</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है— भोगों की लालसा की उत्कण्ठा के कारण अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के तीव्र संकल्प को निदान नामक चौथा आर्त्तध्यान कहा गया है।<sup>54</sup> निदान शब्द 'नि' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु<sup>55</sup> का ल्युट् का रूप है। निदान— परिणामी चित्तवृत्तियों द्वारा एकान्तिक, आत्यान्तिक, पीडारहित आत्मिक—सुख का नाश होता है।

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में आचार्य सिद्धसेनगणि ने कहा है कि दीर्घकाल की उग्र तपस्या के द्वारा अथवा कर्मक्षय में समर्थ ऐसे तप के द्वारा देवों एवं मनुष्य के विनश्वर सुख, ऐश्वर्य, सौभाग्य आदि की प्राप्ति के लिए किया हुआ प्रणिधान या चिन्तन निदान कहलाता है।<sup>56</sup>

ज्ञानार्णव<sup>57</sup> में लिखा है कि धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि द्वारा भोगने योग्य भोग, त्रैलोक्यविजयी सौन्दर्य, साम्राज्यरूपी लक्ष्मी, शत्रु—समूह से रहित निष्कण्टक राज्य, देवांगनाओं के नृत्य की लीला को जीतने वाली युवा स्त्रियां तथा अन्य भी सुख—सामग्री मुझे किस प्रकार से प्राप्त होगी ? मैं इनको किसी भी प्रकार से प्राप्त करूं ? इत्यादि रूप मनुष्य की चिन्ता को श्रेष्ठ गणधरों ने भोगार्त्त—ध्यान कहा है। वह जन्म—जन्मान्तर में संसार—परिभ्रमण का कारण है। पवित्र संयम एवं तप आदि अनुष्ठानों के समूह से जो जिनेन्द्र अथवा देवों के पद की अभिलाषा की जाती है, या विविध प्रकार के विचारों के

अहमं नियानचिंतणमण्णाणुगयमच्चंतं ।। — ध्यानशतक, गाथा— 9.

<sup>53</sup> (क) परिजुसितकामभोगसंपओग संपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति ।।

— स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 61, पृ. 222.

(ख) भगवतीसूत्र— 803.

(ग) औपपातिकसूत्र— 20.

<sup>54</sup> निदानं च । — तत्त्वार्थसूत्र— 9/34.

<sup>55</sup> धातु नम्बर— 1070.

<sup>56</sup> कामोपहतचित्तानां इत्यादि । इच्छाविशेषः शब्दाद्युपयोगविषयः । अथवा मदनः कामश्चिरमुग्रतपो— निष्ठाय कर्मक्षपणक्षमदीर्घदर्शितया खल्वस्य विनश्वरस्यावितृप्तिकारिणः सुरमनुजसुखैश्वर्यसौभाग्यादैः कृते तत्रैव कृतदृढप्रणिधाना बह्यविनश्वरं सततं तृप्ति—कारणमुक्तिसुखमनुपममवमन्य, प्रवर्तमानाः, कामोपहतचेतसः पुनर्भवविषयगृह्णा.....निदानमार्त्तध्यानं भवतीति । — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ.

<sup>57</sup> भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनीरूपसाम्राज्यलक्ष्मी, राज्यं क्षीणारिचक्रं विजितसुखधूलास्यलीला— युवत्यः । अन्यच्चानन्दभूतं कथमिह भवतीत्यादि चिंतासुभाजाम् यत्तद्भोगार्त्तमुक्तपरमगुणधरैर्जन्म— सन्तानमूलं ।। पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामरणाम्, यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुज— च्छेदमत्यन्तकोपात् पूजा—सत्कार—लाभप्रभृतिकमथवा याचतेयद्विकल्पैः, स्यादात्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधाम ।। इष्टभोगादि सिद्धयर्थं, रिपुघातार्थमेव वा । यन्निदानं मनुष्याणां, स्यादात्तं तत्तुरीयकम् ।।

— ज्ञानार्णवे— 25/34, 35, 36.

द्वारा जो सत्कार और लाभ की प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है, वह निदानजन्य-आर्त्तध्यान है, जो यहां प्राणियों के दुःखरूप दावानल का उत्कृष्ट स्थान है। संक्षेप में कहें, तो यही है कि इष्टभोगों और निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति के लिए मनुष्यों की अभिलाषा होती है— वह चौथा निदानजन्य-आर्त्तध्यान है।

ध्यानदीपिका<sup>58</sup> में लिखा है कि इस लोक में राज्य की प्राप्ति स्वर्ग में इन्द्रपद की प्राप्ति इत्यादि मुझे कब मिलेंगे ? इस प्रकार के विचार वाला भोगार्त्त नामक चौथा आर्त्तध्यान कहा जाता है।

आदिपुराण<sup>59</sup>, ध्यानस्तव<sup>60</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>61</sup>, ध्यानविचार-सविवेचन<sup>62</sup>, अध्यात्मसार<sup>63</sup>, भगवती-आराधना<sup>64</sup>, ध्यानसार<sup>65</sup> इत्यादि ग्रन्थों में इष्टफल को पाने का संकल्प करना। मनुष्यों द्वारा की धर्माराधना (तप, त्याग, संयम, सेवा) के फलस्वरूप मुझे अमुक व्यक्ति का संयोग हो, या अमुक वस्तु की प्राप्ति हो आदि अभिलाषा करना निदान-चिन्तन है। यह एक प्रकार का अशुभ-ध्यान है, जो अज्ञान या मोक्ष के कारण होता है और निश्चित रूप से आत्मा का अधःपतन करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा आवश्यकचूर्णि<sup>66</sup>, सम्मतिवृत्ति<sup>67</sup>, हितोपदेशवृत्ति<sup>68</sup>, प्रशमरतिवृत्ति<sup>69</sup>, अमितगतिश्रावकाचार<sup>70</sup>,

<sup>58</sup> राज्यं सुरेन्द्रता भोगाः, खगेन्द्रत्वं जयश्रियः।

कदा मेऽमी भविष्यन्ति, भोगार्त्तं चेति सङ्गतम्॥ - ध्यानदीपिका- 5/77-78.

<sup>59</sup> निदानं भोगकाङ्क्षोत्थं संक्लिष्टस्यान्यभोगतः।

स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनार्त्तस्य तत्क्षये॥ - आदिपुराण, पर्व- 21, श्लोक- 33.

<sup>60</sup> पुंस पीडा विनाशाय स्यादार्त्तं सनिदानमकम्।

गृहस्थस्य निदानेन विना साधेस्त्रयं क्वचित्॥ - ध्यानस्तव, श्लोक- 10.

<sup>61</sup> ध्यानकल्पतरु, पत्रसंख्या 1-4, पृ. 11-17.

<sup>62</sup> ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 14.

<sup>63</sup> अध्यात्मसार- 16/4-5.

<sup>64</sup> आराधनाविजयोदया टीका, गाथा- 1697.

<sup>65</sup> ध्यानसार, श्लोक- 60-70, पृ. 18-21.

<sup>66</sup> अमण्णुण्णसंपयोगे.....अट्टं ज्ञाणं ज्ञायति परितप्पंते सिदंते य॥ - आवश्यकचूर्णि, श्लोक- 1-4.

<sup>67</sup> अमनोज्ञसंप्रयोगानुत्पत्त्यध्यवज्ञानम्.....इति संकल्पप्रबन्ध॥63॥ - सम्मतिवृत्तौ, का.- 3.

<sup>68</sup> परिचत्तअट्टरूढे मणंमि समभावभाविए सम्मं।

वरधम्मसुक्कझाणाण संकमो रूकमो होइ मणगुत्ती॥ - हितोपदेशवृत्तौ- 484.



अध्यात्ममतपरीक्षावृत्ति<sup>71</sup> इत्यादि ग्रन्थों में भी आर्त्तध्यान के चारों प्रकारों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

ध्यानशतक में आर्त्तध्यान को संसार का कारण बताते हुए कहा गया है कि राग-द्वेष और मोह- ये संसारवर्द्धन के मुख्य कारण हैं। ये तीनों आर्त्तध्यान में विद्यमान हैं, अतः आर्त्तध्यान संसाररूपी वृक्ष का बीज है।<sup>72</sup>

इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं, आकांक्षाओं, अपेक्षाओं तथा अभिलाषाओं की उत्पत्ति या पूर्ति से होने वाला सुख, सुख नहीं, मात्र सुखाभास है। ऐसे पौद्गलिक-सुखों अर्थात् भौतिक सुख-सामग्री को पाने के लिए चिन्तन करना, आतुर होना- यही आर्त्तध्यान का चौथा प्रकार है। इस प्रकार, केवल अपने ही सुख-दुःख की हर पल, हर क्षण चिन्ता करते रहना अथवा विषय-सुखों के प्रति प्रगाढ़ राग एवं दुःखों के प्रति तीव्र द्वेष करना आर्त्तध्यान है। संक्षेप में, इतना ही समझना है कि जिसमें आत्मरति में हानि और पौद्गलिक-आसक्ति में वृद्धि हो- ऐसे कारणों एवं तज्जनित कार्यों में उत्कण्ठा सहित डूबा रहना आर्त्तध्यान है।

<sup>69</sup> आर्त्त चतुर्धा । अमनोज्ञविषयसंप्रयोगे सति ..... भवमार्त्तमिति । - प्रशमरतिवृत्तौ- 20.

<sup>70</sup> प्रिययोगा-ऽप्रिययोगा ..... बन्धनम् ।।11।। - अमितगति श्रावकाचारे, परि.- 15.

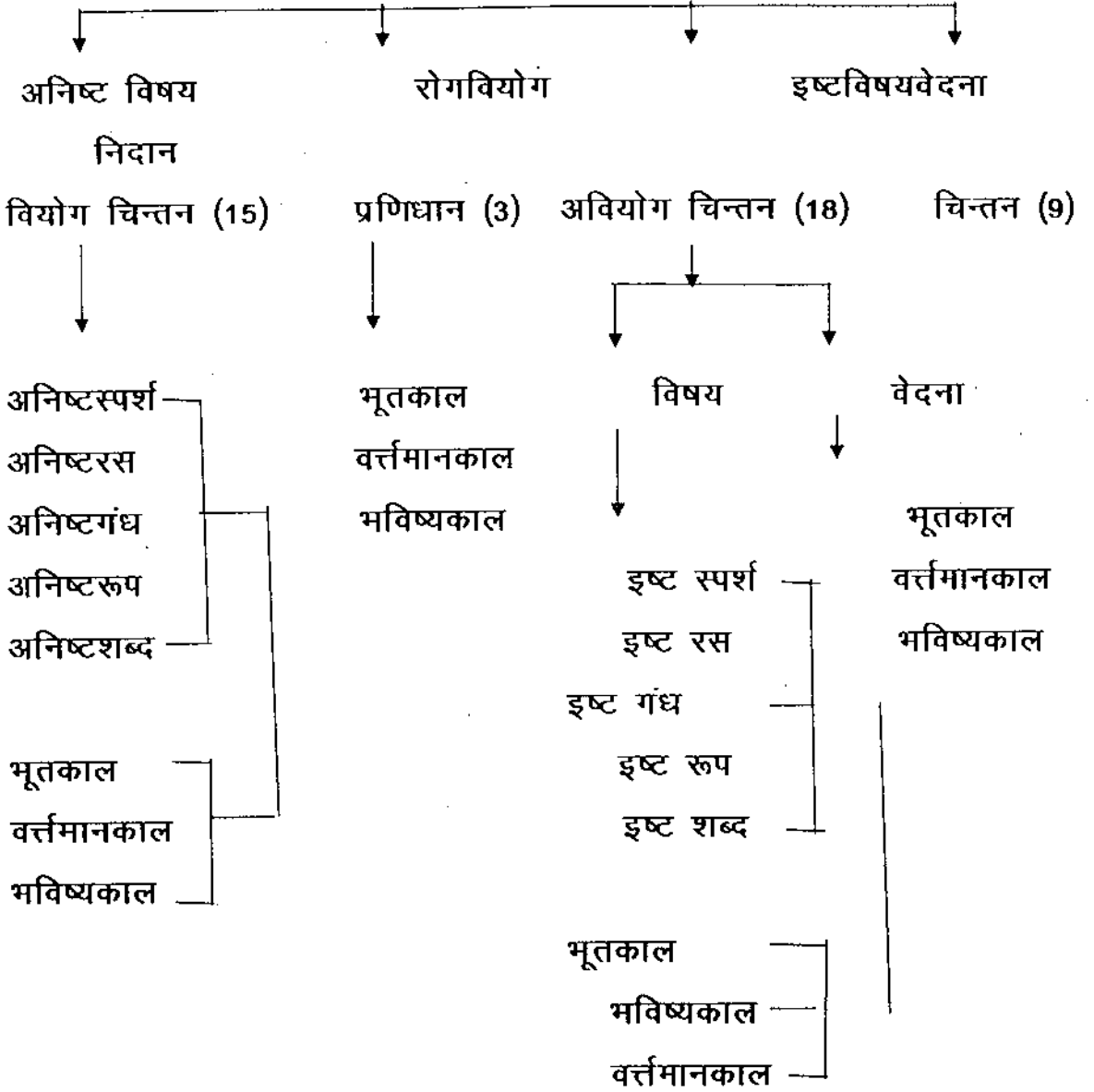
<sup>71</sup> अध्यात्ममत परीक्षावृत्तौ, 85.

<sup>72</sup> रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया ।

अट्टमि य ते तिण्णि वि तो तं संसारतरुबीयं ।। - ध्यानशतक, गाथा- 13.

आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका की टीका पर आधारित आर्त्तध्यान के भेद  
(ध्यानशतक, गाथा- 16)

आर्त्तध्यान के 45 भेद



प्रस्तुत चार्ट ध्यानशतक, सं.- श्रीमद्विजयकीर्त्तियशसूरि, सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद पुस्तक को आधार मानकर लिया गया है।

## रौद्रध्यान का स्वरूप और लक्षण

### रौद्रध्यान का स्वरूप —

रौद्रध्यान भी अप्रशस्त—ध्यान के अन्तर्गत ही आता है, जिसमें कुटिल भावों का चिन्तन किया जाता है।

सामान्यतः, रौद्र का अर्थ होता है— क्रोध, बर्बर, भयानक आदि। दूसरों को रुलाने या कष्ट देने की जो वृत्ति है, वह रौद्रध्यान है। दूसरे शब्दों में, प्राणियों की हिंसा आदि परिणामों से परिणत आत्मा रौद्र कहलाती है। ऐसी आत्मा की चैतसिक—क्रिया अथवा व्यापार को रौद्रध्यान कहते हैं।<sup>73</sup> संक्षेप में, हिंसादि क्रूर प्रवृत्तियों में निरन्तर मानसिक—परिणति—रूप एकाग्रता रौद्रध्यान है।

कहा भी गया है— 'प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः तत्र भवं रौद्रम्', अर्थात् क्रूर, कठोर एवं हिंसक व्यक्ति को रुद्र कहा जाता है और उस प्राणी, अर्थात् जिसके द्वारा वह कार्य किया जाता है, उसके भाव को रौद्र कहते हैं।<sup>74</sup>

इसी आधार पर महापुराण में कहा गया है कि जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है, वह रुद्र एवं क्रूर कहलाता है और उस पुरुष के द्वारा जो ध्यान किया जाता है, वह रौद्रध्यान कहलाता है।<sup>75</sup>

आरम्भ—समारम्भ की प्रवृत्ति में लगे रहना, दूसरों को दुःख देने का विचार करना, उन्हें पीड़ित करने में आनन्द मानना आदि सभी कार्यों में चित्त की एकाग्रता रौद्रध्यानरूप ही है।<sup>76</sup>

रौद्रध्यान में हिंसा करने का प्रगाढ़ अध्यवसाय होने से इस ध्यान को उबलते हुए सीसे के (रस) संश्लेषण से उपमित किया गया है।<sup>77</sup>

<sup>73</sup> (क) रोदयत्यपरानिति रुद्रो दुःखस्य हेतुः तेन कृतं तत्कर्म वा रौद्रं, प्राणिवधबन्धपरिणत आत्मैव रुद्र इत्यर्थः।। — तत्त्वार्थसूत्रटीका— 9-29.

(ख) रोदयत्यपरानिति रुद्रः—प्राणिवधादिपरिणत—आत्मैव तस्येदं कर्म रौद्रम्।  
— प्रवचनसारोद्धारवृत्ति— 1.

<sup>74</sup> रुद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम्।  
रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते।। — ज्ञानार्णव— 24/2.

<sup>75</sup> (क) प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः।  
पुसांस्तत्र भवरौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।। — महापुराण— 21/42.

(ख) मूलाचार— 396.

(ग) भगवती—आराधना — 1703, 1528.

<sup>76</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 62, पृ. 222.

<sup>77</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 14.

आगमसार में लिखा है कि दूसरों के प्रति भयंकर क्रूरतम परिणामों का चिन्तन करना, अर्थात् हिंसा आदि करने के बाद आनन्द मानना रौद्रध्यान कहलाता है।<sup>78</sup> क्रोधादि तीव्र कषाय ही रौद्रध्यान का मुख्य कारण है, अर्थात् रागद्वेष (क्रोध) और अज्ञान की अतितीव्रता होना अथवा तीव्रकोटि के रागद्वेष। जिस प्रकार राग<sup>79</sup> अशुभ-शुभ मुख्यतः दो प्रकार का होता है, उसी प्रकार द्वेष भी आठ प्रकार का होता है।<sup>80</sup>

नयदृष्टि की अपेक्षा से रागद्वेष के अन्तर्गत क्रोधादि कषायों का समावेश हो जाता है, जैसे— 'नैगम एवं संग्रह नय' में क्रोध, मान, द्वेषरूप तथा माया-लोभ रागरूप हैं।<sup>81</sup>

'व्यवहारनय' की अपेक्षा से विशेषावश्यकभाष्य<sup>82</sup> एवं कषायपाहुड<sup>83</sup> में क्रोध, मान और माया को द्वेषरूप तथा मात्र लोभ को ही रागद्वेष माना गया है।

'ऋजुसूत्रनय' की अपेक्षा से विशेषावश्यकभाष्य<sup>84</sup> में मान्यता यह है कि क्रोध द्वेषरूप है, जबकि मान, माया, लोभ, प्रसंग के अनुरूप कभी रागरूप, तो कभी द्वेषरूप में परिणत होते हैं, क्योंकि प्रस्तुत नय वर्तमानग्राही है।

'शब्दनय' की दृष्टि से विशेषावश्यकभाष्य<sup>85</sup> में लिखा है कि शब्दादि तीन नयों की अपेक्षा से मान, माया और लोभ को सम्मिलित किया है। जब ये स्व-उपकार से जुड़े होते हैं, तब रागरूप, किन्तु जब ये परघाती के रूप में परिणत होते हैं, तब ये द्वेषरूप बन जाते हैं।

'ध्यानशतक' में रौद्रध्यान के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहा गया है कि स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या, हिंसा, शत्रुता, लोभ इत्यादि के हेतुओं से व्यक्ति के चित्त में अहितकर, अयोग्य एवं क्रूरतम विचारों, अध्यवसायों का प्रादुर्भाव होना ही रौद्रध्यान है।

इस ध्यान को करने वाला ध्यानी हिंसा, झूठ, चोरी, धनरक्षा में लीन, छेदन-भेदन आदि प्रवृत्तियों में राग रखता है। चुगली करना, अनिष्टसूचक वचन बोलना, रुखा

<sup>78</sup> आगमसार, पृ. 169.

<sup>79</sup> प्रवचनसार, गाथा— 66-69.

<sup>80</sup> ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेषः परिवादमत्सरासूयाः।

वैरप्रचण्डनाद्या नैके द्वेषस्य पर्यायाः।। - प्रशमरति-प्रकरण, श्लोक— 19.

<sup>81</sup> विशेषावश्यकभाष्य, गाथा— 2969.

<sup>82</sup> वही, गाथा— 2970.

<sup>83</sup> कषायचूर्णि, अध्ययन 1, गाथा— 21, सूत्र— 89.

<sup>84</sup> विशेषावश्यकभाष्य, गाथा— 2971-2974.

<sup>85</sup> वही, गाथा— 2975-2977.

बोलना, असत्य बोलना, जीवघात का आदेश आदि चिन्तन रौद्रध्यान के अन्तर्गत ही आते हैं।

**रौद्रध्यान के लक्षण (दोष) —** जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विरचित ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) में आर्त्तध्यान के वर्णन के पश्चात् रौद्रध्यान के स्वरूप, दोष, लक्षण, पहचान आदि का निवारण करते हुए कहा गया है कि रौद्रध्यानी जीव सतत हिंसादि पापों में प्रवर्तमान रहता है, अतः उसके निम्नांकित चार दोष देखे जा सकते हैं<sup>86</sup>—

1. उत्सन्नदोष
2. बहुलदोष
3. नानाविधदोष
4. आमरणदोष

**1. उत्सन्न-दोष —** जो किसी भी एक में अत्यन्त आसक्ति से प्रवृत्त होकर अथवा कामभोग, विषय-वासना, कामना, राग-द्वेष आदि दोषों में डूबा रहता है और अन्य को प्रसन्न देखकर जिसे स्वयं को प्रसन्नता नहीं होती है, जो दूसरों को सुखी देखकर ईर्ष्या करता है, अथवा जिसे अन्य के आनन्द में आनन्दित होना पसन्द नहीं है, वह रौद्रध्यानी है। हिंसादि चार प्रकारों में से किसी एक में रचा-पचा रहना ही रौद्रध्यान का दोष है। दूसरे शब्दों में, रौद्रध्यान के हिंसादि चार प्रकारों में से किसी एक में बहुलतया प्रवृत्त होना ही उत्सन्न-दोष है।

**2. बहुल-दोष —** जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों की बहुलता रहती है, वह बहुल-दोष है। दूसरे शब्दों में, रौद्रध्यान के सभी प्रकारों में प्रवृत्त होना ही बहुल-दोष है।

**3. नानाविध-दोष —** रौद्रध्यान में रत जीव हिंसा, झूठ आदि अनेक क्रूर एवं दुष्ट अध्यवसायों तथा प्रवृत्तियों को सुखप्राप्ति का मार्ग मानता है। वह भयंकर अज्ञानी होता है, अतः वह नानाविध दोषों से युक्त होता है, या फिर इसे इस प्रकार भी समझ सकते

<sup>86</sup> लिंगाई तस्स उस्सण्ण-बहुल-नाणाविहाऽऽमरणदोसा ।

तेसिं धिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तरस्स ।। - ध्यानशतक, गाथा- 26.

हैं कि इस दोष वाला रौद्रध्यानी चमड़ी उधेड़ने, आंखें निकालने आदि हिंसात्मक-कार्यों में बार-बार प्रवृत्त होता है।

**4. आमरण-दोष** – रौद्रध्यान से युक्त जीव की हिंसा, झूठ आदि पापों के सेवन में चित्त की प्रवृत्ति लगी रहती है, अतः वह इन्हें आजीवन कायम रखना चाहता है- यह आमरण-दोष है। दूसरे शब्दों में, जिसमें मरणान्त तक हिंसादि करने का अनुताप नहीं होता है, वह रौद्रध्यानी आमरण-दोष से युक्त होता है।

स्थानांगसूत्र<sup>87</sup>, भगवतीसूत्र<sup>88</sup> तथा औपपातिकसूत्र<sup>89</sup> के अन्तर्गत भी उपर्युक्त चारों दोषों का वर्णन है। इन ग्रन्थों के अनुसार-

1. हिंसादि किसी एक पाप में सतत प्रवृत्ति करना उत्सन्न-दोष है।
2. हिंसादि सभी पापों में सदैव संलग्न रहना बहुल-दोष है।
3. मिथ्यादृष्टिकोण के कारण हिंसादि अधार्मिक-कार्यों को धर्म मानना ही अज्ञान-दोष है।
4. मरणकाल तक भी हिंसादि करने का अनुताप न होना आमरणांत-दोष है।

ऐसा व्यक्ति कठोरता, निष्ठुरता, क्रूरतापूर्ण आचरण करता है। हिंसा की प्रवृत्ति ऐसी भयानक होती है कि जिसे करते समय व्यक्ति के भीतर अत्यन्त क्रूरतम भाव उत्पन्न होते हैं। करुणा, कोमलता, दया के भावों का सर्वथा अभाव हो जाता है। जो व्यक्ति निरंतर ऐसी हिंसक-प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है, उस व्यक्ति को अतिरौद्र स्वभाव वाला व्यक्ति कहा जाता है।

अध्यात्मसार में कहा है कि हिंसादि की प्रवृत्ति में उत्सन्नदोष, बहुलदोष, आमरणदोष, पाप करके हर्ष से अहंकार करना, निर्दयता, पश्चातापरहितता, दूसरों के दुःख में प्रसन्नता- ये रौद्रध्यान के लिंग हैं। धीर व्यक्ति को इनका त्याग करना चाहिए।<sup>90</sup>

<sup>87</sup> रूद्रस्सनं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता, तं जहा-ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अण्णणदोसे, आमरणंतदोसो। - स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र- 64, पृ. 223.

<sup>88</sup> भगवतीसूत्र- 803.

<sup>89</sup> औपपातिकसूत्र- 20.

<sup>90</sup> उत्सन्नबहुदोषत्वं, नानारणदोषता। हिंसादिषु प्रवृत्तिश्च, कृत्वाघं स्मयमानता।।  
निर्दयत्वाऽननुशयो, बहुमानः परापदि। लिङ्गान्यत्रेत्यदो धीरे-स्त्याज्यं नरकदुःखदम्।।  
- अध्यात्मसार- 16/15-16.

<sup>91</sup> हिंसोपकरणादानं, क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम्। निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि, रौद्रे बाह्यानि देहिनः।।

**ज्ञानार्णव** में भी रौद्रध्यानी के लक्षण की चर्चा है— “हिंसा के उपकरणभूत विष—शस्त्रादिक ग्रहण करना, दुष्टजीवों के विषय में उपकार का भाव रखना तथा निर्दयतापूर्ण व्यवहार, दुष्टता, दण्ड की कठोरता, धूर्तता, कठोरता और स्वभाव में निर्दयता, अग्नि के रंग के समान लाल नेत्र, भृकुटियों की कुटिलता, शरीर की भयानक आकृति, कांपना और पसीना आना इत्यादि रौद्रध्यान के समय प्राणियों के आभ्यन्तर तथा बाह्य—चिह्न होते हैं।”<sup>91</sup>

**ध्यानसार** में भी ज्ञानार्णव के समान ही रौद्रध्यान के अन्तरंग तथा बाह्य—लक्षणों का वर्णन किया गया है।<sup>92</sup>

**ध्यानदीपिका** में रौद्रध्यान के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है कि क्रूरता, हृदय की कठोरता, ठगपना, असह्य दण्ड देना, निर्दयता इत्यादि रौद्रध्यानी की पहचान आचार्यों ने बताई है।<sup>93</sup>

**ध्यानशतक**<sup>94</sup> की गाथा क्रमांक सत्ताईस के अनुसार— ‘रौद्रध्यानी परपीड़ा में प्रसन्न होता है, दूसरों के दुःख का अभिनन्दन करता है, दूसरों को विपत्ति में देख अति प्रफुल्लित होता है। वह निरपेक्ष होता है, दूसरों को विनाश व दुःख से बचाने का प्रयत्न नहीं करता है, निर्दयी होता है, असंवेदनशील होता है और अनुतापरहित होता है। वह हिंसादि पाप करके हर्षित होता है।’

**आदिपुराण**<sup>95</sup>, **ध्यानकल्पतरु**<sup>96</sup>, **ध्यानविचार—सविवेचन**<sup>97</sup>, आदि ग्रन्थों में रौद्रध्यानी के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिसका चित्त रौद्रध्यान में

क्रूरता दण्डपारुष्यं, वंचकत्वं कठोरता। निस्त्रिंशत्त्वं च लिङ्गानि, रौद्रस्योक्तानिसूरिभिः॥  
विस्फुलिङ्गनिभे नेत्रे, भ्रूवका भीषणाकृतिः। कम्पः स्वेदादिलिङ्गानि, रौद्रे बाह्यानि देहिनाम्॥

— ज्ञानार्णव— 26/13— 35—36.

<sup>92</sup> क्रूरत्वं वंचकत्वं च ..... बाह्यं रौद्रस्य लक्षणं॥ — ध्यानसार, श्लोक— 110—111, पृ. 33.

<sup>93</sup> क्रूरता चित्तकाठिन्यं, वंचकत्वं कुदण्डता।

निस्तृशत्त्वं च लिङ्गानि, रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः॥ — ध्यानदीपिकायाम्, श्लोक— 95.

<sup>94</sup> परवसणं अभिनन्दइ निरविक्षो निद्रओ निरणुतावो।

हरिसिज्जइ कयपावो रोदज्जाणोवगयचित्तो॥ — ध्यानशतक, गाथा— 27.

<sup>95</sup> बाह्यं तु लिङ्गमस्याहुर्भूभङ्गां मुखविक्रियाम्।

प्रस्वेदमङ्गकं पंच नेत्रयोश्चातिताम्रताम्॥ — आदिपुराण, पर्व— 21, श्लोक— 53.

<sup>96</sup> ध्यानकल्पतरु, द्वि. शा., पत्र— 1—4, पृ. 46—52.

<sup>97</sup> ध्यानविचारं—सविवेचन, पृ. 16.

व्याप्त रहता है, वह दूसरों को दुःखी देखकर खुश होता है, दुःखी प्राणी के प्रति उसके हृदय में अनुकम्पा, दया या सहानुभूति प्रकट नहीं होती है। अनुचित काम करने के बाद उसे पश्चाताप भी नहीं होता, अपितु पापाचरण करके वह हर्षित, पुलकित, प्रमुदित होता है— ऐसा व्यक्ति रौद्रध्यान वाला कहा गया है।

### रौद्रध्यान के चार भेद

ध्यानशतक ग्रन्थ के ग्रन्थकार ने रौद्रध्यान के लक्षणों द्वारा उसे परिभाषित करते हुए कहा है कि सामान्यतया क्रूरतापूर्ण विचार व कार्य अथवा तीनों योगों (मन, वचन, काया) से हिंसादि के प्रति रागात्मक—अध्यवसाय रौद्रध्यान है। जो भौतिक सुख—सुविधाओं में आसक्त बनकर, कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य का भान भुलाकर तथा क्रूर आशय वाला बनकर स्व एवं पर के प्रति अहितकारी कार्य करता है, वह रौद्रध्यानी है। यह रौद्रध्यान हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी— ऐसा चार प्रकार का होता है।<sup>98</sup>

**1. हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान —** ग्रन्थकार सर्वप्रथम हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान का निरूपण करते हुए कहते हैं कि निर्दयी अन्तःकरण वाला व्यक्ति जब प्राणियों के वध, बन्धन, दहन, अंकन और मारने आदि का प्रणिधान (दृढ अध्यवसाय) करता है, अर्थात् उपर्युक्त कार्यों को अभी तक किया नहीं, फिर भी उन कार्यों को करने की जो दृढ विचारधारा होती है, वह हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्रध्यान है। इसका विपाक निम्नकोटि का अथवा अधम होता है, उसके फलस्वरूप नरकादि अधमगति मिलती है।<sup>99</sup> इसके लक्षण इस प्रकार हैं—

- वध — चाबुक आदि से प्रताड़ित करना।
- वेधन — कील आदि के माध्यम से नासिका आदि को वेधना।
- बन्धन — रस्सी आदि से बांधकर रखना।
- दहन — अग्नि आदि से जलाना।

<sup>98</sup> ध्यानशतक, गाथा— 19-22.

<sup>99</sup> सत्त्वह .....बिवागं ।। — ध्यानशतक, गाथा— 19.



**अंकन** — गरमागरम लोहे की शलाका आदि से शरीर पर चिह्न अंकित करना।  
**मारण** — पीटना तथा प्राणविहीन करना।

इन कार्यों में अनुराग रखना, अथवा इन कार्यों के करते समय हृदय में करुणा, दया आदि उत्पन्न न होना— यह सब हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान है।

**स्थानांगसूत्र**<sup>100</sup> की दृष्टि से हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान वह है, जो निरन्तर हिंसक प्रवृत्तियों में तन्मयता रखता है।

**ज्ञानार्णव** में रौद्रध्यान के प्रथम भेद पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है कि जो जीव निरन्तर क्रूर स्वभाव से संयुक्त, स्वभावतः क्रोध—कषाय से संतप्त, पापबुद्धि, दुराचारी, हिंसा में कुशलता का अनुभव करने वाला, पाप के उपदेश में अतिशय प्रवीण, प्रतिघात में तीव्र अनुराग के भाव रखने वाला हो— ऐसे व्यक्ति को आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव के योगप्रदीपाधिकार में रौद्रध्यानी कहा है। यह रौद्रध्यान का हिंसानन्द नामक प्रथम भेद है।<sup>101</sup>

**आदिपुराण**<sup>102</sup> में कहा गया है कि मारने और बांधने आदि की इच्छा करना, अंग—भंग करना, संताप देना, कठोर दण्ड देना आदि को विद्वान् लोग हिंसानन्द नाम का रौद्रध्यान कहते हैं। हिंसक पुरुष तीव्रकषाय द्वारा दूसरों एवं स्वयं— दोनों का अहित कर बैठता है। स्वयंभूरमण समुद्र में रहा हुआ तन्दुल मत्स्य मात्र भावों द्वारा ही हिंसा करता है। पूर्वकाल में अरविन्द नामक विद्याधर केवल रुधिर में स्नान करने रूप रौद्रध्यान से ही नरक गया था।

**अध्यात्मसार**<sup>103</sup> में उपाध्याय यशोविजयजी ने रौद्रध्यान के भेदों का विवेचन करते हुए कहा है कि हिंसानुबन्धी जीव हिंसा का अनुबन्ध करने वाला होता है, अर्थात् हिंसा के विचार द्वारा भारी कर्मबन्ध करता है। जैसे मैं सभी को गोली से उड़ा दूंगा, या

<sup>100</sup> (क) रोहे ज्ञाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—हिंसाणुबन्धि .....

— स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 63, पृ. 223.

(ख) समवायांगसूत्र, समवाय— 4.

<sup>101</sup> ज्ञानार्णव, सर्ग— 26, श्लोक— 6-14.

<sup>102</sup> वधबन्धाभिसन्धान .....विवेश सः॥ — आदिपुराण, पर्व— 21/45-48.

<sup>103</sup> निर्दयं वधबन्धादि—चिन्तन निबिडक्रुधा। — अध्यात्मसार— 16/11.

सभी को मार दूंगा। अत्यन्त क्रोधित होकर निर्दयतापूर्वक वध, बन्धन का चिन्तन भी हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान है।

**ध्यानदीपिका** के रचयिता उपाध्याय सकलचन्द्रजी ने रौद्रध्यान के प्रथम भेद का उल्लेख करते हुए कहा है कि स्वयं जीवों के समुदाय को पीड़ा देना, कदर्थना करना, क्रोधाग्नि से प्रदीप्त रहना, निरन्तर निर्दयी भावों वाला बने रहना, पापबुद्धि से युक्त, गोत्रदेवी तथा ब्राह्मणादि की पूजा हेतु बकरी वगैरह जीवों का घात करना, जलचर, स्थलचर, खेचर इत्यादि जीवों का गला और नेत्रादि का नाश करना हिंसानुबन्धी नामक प्रथम रौद्रध्यान है।<sup>104</sup>

तत्त्वार्थसूत्र<sup>105</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>106</sup>, ध्यानविचार<sup>107</sup>, आगमसार<sup>108</sup>, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>109</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>110</sup> और ध्यानसार<sup>111</sup> में लिखा है कि हिंसा करना, जीवों का संहार करना, किसी का बुरा चिन्तन करना, छेदन, भेदन, ताड़न, बन्धन, प्रहार, दमन आदि प्रवृत्ति करना, अनाथ, असहाय, निर्बल, पराधीन, निराधार और असमर्थ जीवों को स्वार्थ से अथवा बिना स्वार्थ, के दुःख देना, उन्हें दुःखी देख हर्ष मनाना— यह सब हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान है।

**2. मृषानुबन्धी—रौद्रध्यान** — ध्यानशतक में मृषानुबन्धी—रौद्रध्यान का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि मायावी, दूसरों को ठगने में निपुण अथवा प्रवर्तमान, अपने पापों को छिपाने में तत्पर जीव के पिशनु, अर्थात् अनिष्ट वचन, अथवा असभ्य, असत्य और अभाष्य वचन तथा प्राणघात करने वाले वचनों में रत न होने पर भी उनके प्रति दृढ़ प्रणिधान होना रौद्रध्यान का मृषानुबन्धी नामक द्वितीय प्रकार है।<sup>112</sup>

मृषानुबन्धी—रौद्रध्यानी ऐसा विचार करता है— 'मैं अपनी वाकपटुता के द्वारा जनसमुदाय को आकर्षित कर उनके पास से रूपवती कन्या, हीरा, पन्ना, रत्न, धन,

<sup>104</sup> पीड़िते च तथा ध्वस्ते .....भवेत्। — ध्यानदीपिका, श्लोक— 83—86.

<sup>105</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 9/36.

<sup>106</sup> ध्यानकल्पतरु, द्वितीय शाखा, प्रथम पत्र, पृ. 26— 32.

<sup>107</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 15.

<sup>108</sup> आगमसार, पृ. 169.

<sup>109</sup> स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामीकुमार), गाथा— 475.

<sup>110</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह— 11/42.

<sup>111</sup> ध्यानसार, श्लोक— 75—83, पृ. 23—25.

<sup>112</sup> पिशुणा .....पच्छन्नपावस्स ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 20.

धान्य, मकान, दुकान आदि प्राप्त कर लूंगा और मैं आजीवन सुख भोगूंगा— ऐसे अनेक प्रकार के असत्य मनोभावों का होना ही मृषानुबन्धी—रौद्रध्यान है।<sup>113</sup>

ज्ञानार्णव<sup>114</sup> में लिखा है— मैं अपने असत्य—भाषण की चतुराई के प्रभाव द्वारा लोगों से धनधान्य, हाथी—घोड़ा, नगर, सुवर्ण की खानों, सुन्दर कन्याओं आदि को ग्रहण करूंगा, इस प्रकार अपनी वाक्पटुता के द्वारा जनसाधारण को ठगते हुए उन्हें समीचीन मार्ग से स्पष्ट करके कुमार्ग में प्रवर्तमान करने और दूसरे लोग मेरी चतुराई से अकरणीय कार्यों में प्रयत्नशील होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है— ऐसे विचार करने को भी प्राचीन ऋषियों ने मृषानन्दस्वरूप—रौद्रध्यान कहा है।

आदिपुराण<sup>115</sup> में भी इसी बात का समर्थन किया गया है कि झूठ बोलकर असत्य—वचनों द्वारा लोगों को धोखा देने का चिन्तन करना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है।

अध्यात्मसार<sup>116</sup> में लिखा है कि मृषा अर्थात् असत्य। असत्य के अनेक प्रकार हैं, जैसे— दुष्टवचन बोलने का मन में विचार उत्पन्न होना, चुगली करने का विचार करना, किसी की गुप्त बात अथवा मर्म प्रकट करने का विचार करना, अपमानजनक शब्द बोलने का भाव होना, गाली, ठगाई, झूठा आरोप लगाने में सफाई से पेश आना आदि के द्वारा मन में मात्र कल्पनाओं के द्वारा रौद्रध्यान करना भयंकर कर्मबन्ध का कारण है तथा माया या कपट के कारण ऐसा मृषानुबन्धी—रौद्रध्यान जीव को दुर्गति में ले जाता है।

स्थानांगसूत्र<sup>117</sup> के अनुसार, हिंसानुबन्धी—रौद्रध्यान वह है, जिससे असत्य—भाषण सम्बन्धी चित्तवृत्तियों की एकाग्रता होती है।

ध्यानदीपिका<sup>118</sup> में रौद्रध्यान के द्वितीय भेद का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है— असत्य—कल्पना के द्वारा अन्य को ठगना, शस्त्र बनवाना, किसी को हिंसा के

<sup>113</sup> ध्यानशतक किताब से उद्धृत, सं. — कन्हैयालाल, डॉ सुषमा, पृ. 20.

<sup>114</sup> असत्यकल्पनाजाल .....मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः॥  
— ज्ञानार्णव, सर्ग— 26, श्लोक— 16—23.

<sup>115</sup> मृषानन्दो मृषावादैरतिसन्धानचिन्तनम्।

वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्रमिष्यते॥ — आदिपुराण, पर्व— 21, श्लोक— 50.

<sup>116</sup> पिशुनाऽसभ्यमिथ्यावाक् प्रणिधानं च मायया। — अध्यात्मसार— 16/11.

<sup>117</sup> रोद्रे ज्ञाणे चउच्चिहे पण्णत्ते, तं जहा—हिंसाणुबन्धि, मोसाणुबन्धि .....॥

— स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 63, पृ. 223.

<sup>118</sup> विधाय वच्चकं शास्त्रं मार्गमुद्दिश्य हिंसकम्।

मार्ग पर गतिशील करना, लोगों को कष्ट में डालकर वाञ्छित सुख भोगना, असत् कल्पनाओं द्वारा मन को मलिन करने की चेष्टाएं निश्चयरूप से मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है।

तत्त्वार्थसूत्र<sup>119</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>120</sup>, ध्यानविचार<sup>121</sup>, आगमसार<sup>122</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>123</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>124</sup> और ध्यानसार<sup>125</sup> आदि ग्रन्थों में लिखा है कि असत्य किस प्रकार बोला जाए, किस प्रकार असत्य बोलकर दूसरों को धोखा दिया जाए, ठगाई की जाए, सम्पत्ति का हरण किया जाए इत्यादि अथवा संकल्पपूर्वक छल-कपट करके दूसरों को सन्तप्त करने के लिए एकाग्रतापूर्ण असत्य का चिन्तन करना मृषानन्द नामक दूसरे प्रकार का रौद्रध्यान है। दूसरे अर्थ में, परवंचना में प्रयत्नशील या प्रच्छन्न पाप-प्रवृत्ति से युक्त जीव के पिशुन, असभ्य, असद्भूत तथा प्राणी के घात करने वाले वचनों में उद्यमशील न होने पर भी जो उनके प्रति दृढ़ चिन्तन होता है, वह भी मृषानुबन्धी-रौद्रध्यान है।

**3. स्तेयानुबन्धी-रौद्रध्यान - ध्यानशतक** में स्तेयानुबन्धी-रौद्रध्यान को परिभाषित करते हुए जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ में आकुल-व्याकुल होकर दूसरे प्राणियों का हनन करने और दूसरों के पदार्थों का हरण करने का चिन्तन करना तथा पारलौकिक-अपायों अर्थात् नरक में जाने का डर या भय न रहना, वह रौद्रध्यान का स्तेयानुबन्धी नामक तृतीय प्रकार है।<sup>126</sup> मोल में, तौल में, माप में, छाप में दूसरों को ठगने या लूटने का विचार करना, ग्राहकों को विश्वास में लेने के लिए गाय की, बच्चे की, भगवान् की कसम खा जाना, अपेक्षित लाभ होने पर प्रसन्न

प्रपात्य व्यसने लोकं, भोक्ष्येऽहं वाञ्छितं सुखम् ॥

असत्य कल्पना कोटी-कश्मलीकृतमानसः ।

चेष्टते यज्जनस्तद्धि-मृषानन्द हि रौद्रकम् ॥ - ध्यानदीपिका, प्रकाश- 6, श्लोक- 87-88.

<sup>119</sup> तत्त्वार्थसूत्र- 9/36.

<sup>120</sup> ध्यानकल्पतरु, द्वितीय शाखा, द्वितीय पत्र, पृ. 33-37.

<sup>121</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 15.

<sup>122</sup> आगमसार, पृ. 169.

<sup>123</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 475.

<sup>124</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह- 11/43.

<sup>125</sup> ध्यानसार, श्लोक- 84-90.

<sup>126</sup> तह तिब्बकोह-लोहाउलस्स भूओवधायणमणज्जं ।

परदब्बहरणचित्तं परलोयावायनिरविक्खं ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 21.

होना, अपनी धूर्तता को बुद्धिमानी समझकर हर्षित होना— ये सभी चौर्यानुबन्धी—रौद्रध्यान हैं। चोर चोरी करके वस्तु लाया हो, उसे सस्ते भाव से लेकर आनन्दित होना, चोर को सहायता देना, उससे चोरी करवाना इत्यादि धनहरण के सब कार्य अदत्तादानानुबन्धी या स्तेयानुबन्धी—रौद्रध्यान है।<sup>127</sup>

ज्ञानार्णव में लिखा है कि जो चोरी—विषयक उपदेश देता है, चोरी के कार्य में चतुरता दिखाता है, अर्थात् जिसमें चोरी के विषय में अत्यधिक रुचि होती है, उसे चौर्यानन्द—रौद्रध्यान माना जाता है।<sup>128</sup>

आदिपुराण में कहा गया है कि दूसरों के द्रव्य के हरण करने अर्थात् चोरी करने में अपना चित्त लगाना, उसी का चिन्तन करना स्तेयानन्द नाम का तीसरा रौद्रध्यान है।<sup>129</sup>

अध्यात्मसार में उपाध्याय यशोविजयजी ने रौद्रध्यान के भेदों का वर्णन करते हुए कहा है कि अतितीव्र क्रोध से व्याकुल व्यक्ति को चोरी करने की बुद्धि होती है। चोरी करने का प्रयोजन द्रव्य—लोलुपता का सूचक है और वही स्तेयानन्द नामक रौद्रध्यान है।<sup>130</sup>

ध्यानदीपिका<sup>131</sup> में बताया गया है कि चोरी करने के लिए जीवों का घात आदि की चिन्ता द्वारा मन में विकोभ रहना, चोरी के लिए जीवों का विनाश करके आनन्दित होना, जानवरों, धन—धान्य और उत्तम स्त्रियों से भरपूर सामग्री को प्राप्त कर खुशी से झूम उठना— ऐसे अध्यवसाय चौर्यानन्द—रौद्रध्यान के प्रतीक हैं।

<sup>127</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानशतक से उद्धृत, अनु.— कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 74.

<sup>128</sup> चौर्योपदेशबाहुल्यं .....प्रणीतम् ॥ — ज्ञानार्णव, सर्ग— 21, श्लोक— 24—28.

<sup>129</sup> स्तेयानन्दः परद्रव्यहरणे स्मृतियोजनं ।

भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृतिरर्थार्जनादिषु ॥ — आदिपुराण, पर्व— 21, श्लोक— 57.

<sup>130</sup> चौर्यधी निरपेक्षस्य तीव्रक्रोधाकुलस्य च । — अध्यात्मसार— 16/12.

<sup>131</sup> चौर्यार्थं जीवघातादि चिन्तार्त्तं यस्य मानसम् ।

कृत्वा तच्चिन्तितार्थं यत्, हृष्टस्तच्चौर्यमुदितम् ॥

द्विपदचतुष्पदसारं, धनधान्यवराङ्गनासमाकीर्णम् ।

वस्तु परकीयमपि, मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात् ॥

चौर्यं बहुप्रकारं, ग्रामाध्वदेशघातकरणेच्छा ।

सततमिति चौर्यरौद्रं, भक्त्यवश्यंश्वप्नगमनम् ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकाश— 6, श्लोक— 89— 91.

तत्त्वार्थसूत्र<sup>132</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>133</sup>, ध्यानविचार<sup>134</sup>, आगमसार<sup>135</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>136</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>137</sup>, श्रावकाचारसंग्रह<sup>138</sup> तथा ध्यानसार<sup>139</sup> इत्यादि ग्रन्थों में भी रौद्रध्यान के तीसरे प्रकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चोरी के कार्यों में तत्परता होना, दूसरों की चौर्यकला या कौशलता की प्रशंसा करना, चतुष्पद जीवों को अपने सामर्थ्यबल से वश में करके भोगना, परद्रव्यहरण का सतत चिन्तन करना—कराना और उसका अनुमोदन करना, उसमें हर्षित या आनन्दित होना ही स्तेयानुबन्धी, चौर्यानन्द अथवा तरकरानुबन्धी—रौद्रध्यान है।

स्थानांगसूत्र<sup>140</sup> की दृष्टि में स्तेयानुबन्धी—रौद्रध्यान वह है, जिसमें निरन्तर चोरी करने—कराने की प्रवृत्ति—सम्बन्धी चित्तवृत्ति की एकाग्रता होती है।

4. विषयसंरक्षणानुबन्धी—रौद्रध्यान — ध्यानशतक के रचनाकार विषय संरक्षणानुबन्धी—रौद्रध्यान के चतुर्थ स्वरूप का निर्देश इस प्रकार करते हैं—

शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श— इन इन्द्रिय—विषयों के भोग का आधार धन है। इसी कारण से विषयासक्त जीव की चिन्तनधारा उस धन के संरक्षण में केन्द्रित रहती है। हर पल उसके मन में एक शंका बनी रहती है कि न जाने कौन किस समय क्या अनर्थ करेगा, अतः उसके लिए तो सबका घात कर डालना ही हितकर है— इस प्रकार के जो उसके कलुषित विचार होते हैं, वही विषयसंरक्षणानुबन्धी—रौद्रध्यान है।<sup>141</sup>

दूसरे शब्दों में कहें, तो अतितीव्र क्रोध और लोभ से आकुल—व्याकुल<sup>142</sup> जीव का विषयों की प्राप्ति और धन की सुरक्षा में लगे रहना, अनभीष्ट चिन्तन में डूबे रहना, सतत

<sup>132</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 9136.

<sup>133</sup> ध्यानकल्पतरु, द्वितीय शाखा, तृतीय पत्र, पृ. 38—42.

<sup>134</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 15

<sup>135</sup> आगमसार, पृ. 169.

<sup>136</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, स्वामी कुमार, गाथा— 475—476.

<sup>137</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह— 11/44.

<sup>138</sup> श्रावकाचारसंग्रह— 41.5, पृ. 351.

<sup>139</sup> ध्यानसार, श्लोक— 91—98.

<sup>140</sup> रोहे ज्ञाणे ..... ॥ — स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 7, सूत्र— 63, पृ. 223.

<sup>141</sup> सद्वाङ्गविसयसाहण धनसारक्वणपरायणम णिद्धं ।

सत्वाभिसंकणपरोवधायकलुसाउलं चित्तं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 22.

<sup>142</sup> आचारांगसूत्र में आकुल—व्याकुल के अर्थ में झंझा शब्द का प्रयोग हुआ है।

— आचारों, अ. 3, ए. 3, सू. 63.

शंका में रत रहना, दूसरों के प्राणों के घात के विचार से आकुल-व्याकुल रहना, धनसंचय में गाढ़ आसक्ति रखना<sup>143</sup> परिग्रहानुबन्धी-रौद्रध्यान है। परिग्रह दो प्रकार का है<sup>144</sup>— 1. बाह्य-परिग्रह एवं 2. आभ्यन्तर-परिग्रह। इसके अतिरिक्त, क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्यादि नौ प्रकार का बाह्य-परिग्रह है एवं मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और तीन वेद (पुरुष, स्त्री, नपुंसक) — ये चौदह प्रकार के आभ्यन्तर-परिग्रह हैं। इनके संरक्षण की सतत चिन्ता परिग्रहानुबन्धी-रौद्रध्यान है।

**ज्ञानार्णव** में लिखा है कि दुष्ट अभिप्रायवाला प्राणी, जो आरंभ और परिग्रह के संरक्षण के विषय में सदा प्रयत्नशील रहता है, उसके लिए संकल्प-विकल्प करता रहता है, अपने-आपको शक्तिमान्, बुद्धिमान् आदि सबकुछ समझता है, यानी, ऐसा समझता है कि उसके जैसा दूसरा कोई नहीं है, वह ही सबकुछ है— यह सब चतुर्थ रौद्रध्यान के ही प्रकार हैं, ऐसा निर्मल बुद्धि के धारक गणधरादि का कथन है।<sup>145</sup>

**आदिपुराण** में कहा गया है कि येन-केन-प्रकारेण धन का उपार्जन करना, निरन्तर धनसंग्रह आदि का चिन्तन करना संरक्षणानन्द नामक चौथा रौद्रध्यान है।<sup>146</sup>

**स्थानांगसूत्र** की दृष्टि से संरक्षणानुबन्धी-रौद्रध्यान वह है, जिसमें जीव निरन्तर परिग्रह के अर्जन तथा संरक्षण के सम्बन्ध में तल्लीन रहता है।<sup>147</sup>

**अध्यात्मसार** में उपाध्यायप्रवर यशोविजयजी ने कहा है कि धन की सुरक्षा के लिए युक्ति-प्रयुक्ति का विचार करते रहना, भय और आशंका से अशुभ-विचार करते रहना, कोई मेरे धन को छुएगा भी, तो मैं उसे मार डालूंगा— ऐसी कल्पना करना, कोई मुझे बुरी नजर से देखेगा, तो मैं उसकी आंखें फोड़ दूंगा, जान से मार दूंगा— ऐसे विचार मन में लाना संरक्षणानन्द नामक चतुर्थ रौद्रध्यान है। ऐसा जीव व्यर्थ में पाप का बोझा लेकर नरक की ओर प्रयाण करता है।<sup>148</sup>

<sup>143</sup> दशवैकालिक, अ. 6, गाथा— 21.

<sup>144</sup> (क) मूलाचार, भाग— 1, अधि.— 5, श्लोक— 2

(ख) आचारसार, अधि.— 5, श्लोक— 61.

<sup>145</sup> बहवारम्भपरिग्रहेषु .....जगदेकना थै:। — ज्ञानार्णव, सर्ग— 26, श्लोक— 29-35.

<sup>146</sup> भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृतिरर्थाजनादिषु...।। — आदिपुराण— 21/51.

<sup>147</sup> स्थानांगसूत्र, स्था.— 4, उद्देशक— 1, सूत्र— 63. पृ. 223.

<sup>148</sup> सर्वाभिशाङ्काकलुषं, चित्तं च धनरक्षणे।। — अध्यात्मसार— 16/12.

ध्यानदीपिका में बताया गया है कि अतिआरम्भ, अतिपरिग्रह के लिए संग्राम करके या जीवों का घात करके परिग्रह की रक्षा करने का दृढ़ प्रणिधानरूप संरक्षणानुबन्धी-रौद्रध्यान है।<sup>149</sup>

आवश्यकचूर्णि में रौद्रध्यान के चारों भेदों का सुन्दर वर्णन किया गया है— त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा, झूठ बोलने की प्रगाढ़ इच्छा, चोरी के अध्यवसाय तथा सोना, चांदी की रक्षा हेतु दूसरों का घात करना— ये सभी रौद्रध्यान के रूप हैं।<sup>150</sup>

सम्मतितर्क-वृत्ति में कहा गया है कि हिंसा के आनन्द, असत्य-भाषण के आनन्द, चोरी के आनन्द और धन-संरक्षण के आनन्द— इनके भेद से रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं।<sup>151</sup>

हितोपदेशवृत्ति में भी रौद्रध्यान को निम्न चार प्रकार का माना गया है— 1. प्राणियों का वध आदि हिंसानुबन्ध करने वाला प्रणिधान 2. पिशुन, असभ्य आदि वचनों का प्रणिधान 3. तीव्रलोभ के वशीभूत होकर परद्रव्यादि का हरणरूप प्रणिधान और 4. धन की सुरक्षा, सभी पर शंका, जीवों के उपघात-सम्बन्धी प्रणिधान।<sup>152</sup>

तत्त्वार्थसूत्र<sup>153</sup>, तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति<sup>154</sup>, प्रशमरतिवृत्ति<sup>155</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>156</sup> ध्यानविचार<sup>157</sup>, आगमसार<sup>158</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>159</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>160</sup>, ध्यानसार<sup>161</sup> आदि ग्रन्थों में भी इसी बात का समर्थन किया गया है कि हिंसा में आनन्द मानना, झूठी गवाही देना, दूसरों को उगने के उपाय सोचना आदि में मन का तन्मय या तल्लीन होना, धन का हरण करने तथा धनधान्य आदि की सुरक्षा हेतु रात-दिन मन का अशुभ अध्यवसाय में निमग्न रहना रौद्रध्यान है। इन कालुष्य-परिणामों के कारण जीव

<sup>149</sup> बह्यारम्भपरिग्रह संग्रामैर्जन्तुघातवो रक्षाम् ।

कुर्वन् परिग्रहादेः रक्षारौद्रीति विज्ञेयम् ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 92, पृ. 6.

<sup>150</sup> हिंसं अनुबन्धति पुणो पुणो ..... सारक्खणाणुबंधे सेज्जं तहेव ॥ — आवश्यकचूर्णि.

<sup>151</sup> रूद्रे भवं रौद्रं हिंसाऽनृत-स्तेय-संरक्षणाऽऽनन्दभेदेन चतुर्विधम् ॥ — सम्मतितर्कवृत्ति, का. 3.

<sup>152</sup> परिचत्त अट्टरूद्रे । — हितोपदेशवृत्तौ— 484.

<sup>153</sup> हिंसा-नृत-स्तेय-विषय संरक्षणेभ्यो रौद्रम् विरत..... ॥ — तत्त्वार्थसूत्र— 9136.

<sup>154</sup> हिंसा अनृतं स्तेयं विषयसंरक्षणं चेति द्वन्द्वः । — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति— 36.

<sup>155</sup> रूद्र क्रूरो नृशंसस्तस्यैदरौद्रम् तदपि चतुर्धा । — प्रशमरतिवृत्ति— 20.

<sup>156</sup> ध्यानकल्पतरु, द्वितीय शाखा, चतुर्थ पत्र, पृ. 42-49.

<sup>157</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 15.

<sup>158</sup> आगसार, पृ. 170.

<sup>159</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा— 475- 476.

<sup>160</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह— 11 / 45.

<sup>161</sup> ध्यानसार, श्लोक— 100-109.



दुर्गति को प्राप्त करता है। **ध्यानशतक** में कहा गया है कि रौद्रध्यान निन्दनीय है। रौद्रध्यान स्वयं करना नहीं, करवाना नहीं, साथ ही करने वालों को अच्छा समझना नहीं, क्योंकि यह अश्रेयस्कर तथा अहिकर है।<sup>162</sup>

**रयणसार** में कहा गया है कि जब तक जीव आर्त्त-रौद्रध्यान करता है, तब तक जीव मुक्त नहीं होता और न ही उसे सुख मिलता है।<sup>163</sup>

जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं कि जैनधर्म में चार ध्यान माने गए हैं। इन चार ध्यानों में से आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को ससार-परिभ्रमण एवं कर्मबन्ध का हेतु मानते हुए अशुभ-ध्यान की कोटि में रखे गए हैं। यद्यपि आर्त्त और रौद्रध्यान-दोनों ही अशुभ हैं, फिर भी तीव्रता की अपेक्षा से यदि विचार करें, तो आर्त्तध्यान की अपेक्षा रौद्रध्यान अधिक अशुभ कहा गया है। आर्त्तध्यान में व्यक्ति स्वयं दुःखी होता है अथवा अपनी इच्छाओं, अपेक्षाओं, कामनाओं की पूर्ति न होने के कारण स्वयं तनावपूर्ण दशा से ग्रस्त रहता है। उसमें स्वयं के हित साधने का विचार तो होता है, किन्तु दूसरे के अहित-चिन्तन का विचार निश्चयात्मक रूप से कभी होता है और कभी नहीं भी होता है, जबकि रौद्रध्यानी व्यक्ति हमेशा दूसरों के अहित-चिन्तन में ही लगा रहता है। आर्त्तध्यानी स्वार्थी होता है, जबकि रौद्रध्यानी स्वार्थी होने के साथ ही आक्रामक भी होता है।

आर्त्तध्यानी में लोभ या मान-कषाय की प्रमुखता होती है, जबकि रौद्रध्यानी में क्रोध एवं माया की प्रधानता होती है। स्वामी कुमार ने कहा है कि आर्त्तध्यान मंद-कषाय में भी होता है, किन्तु रौद्रध्यान तो अतितीव्र कषाय में ही होता है।<sup>164</sup> आर्त्तध्यानी को भगवद्गीता में आर्त्त अर्थार्थी<sup>165</sup> कहा गया है, जबकि रौद्रध्यानी को आसुरी-प्रकृति<sup>166</sup> वाला माना गया है। रौद्रध्यानी दूसरों के अहित-चिन्तन में संलग्न रहता है और न केवल वह मानसिक-स्तर पर दूसरों के अहित का चिन्तन करता है, अपितु बाह्यरूप से उस पर आक्रमण भी करता है। आर्त्तध्यानी की चित्तवृत्ति और प्रवृत्ति मानसिक-आधार

<sup>162</sup> इयं करण-कारणाणुमइविसयमणुचिंतणं चउभेयं।

अविरय-देसासंजयजणमणसंसवियमहण्णं॥ - ध्यानशतक, गाथा- 23.

<sup>163</sup> यावच्च अट्टरुद्धं ताव ण मुञ्चेदिं ण हु सोक्खं॥ - रयणसार- 157, पृ. 121.

<sup>164</sup> कार्तिकेयानुप्रेक्षा- 470/72-73.

<sup>165</sup> भगवद्गीता- 7/16.

<sup>166</sup> भगवद्गीता- 16/8- 18.

पर ही अधिक रहती है, जबकि रौद्रध्यानी की प्रवृत्ति में वाचिक और कायिक-पक्ष भी प्रधान बन जाता है और वह आक्रामक होकर दूसरों की हिंसा भी करता है।

इस प्रकार संक्षिप्त में कहें, तो रौद्रध्यानी अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए भी दूसरों का बड़े-से-बड़ा नुकसान अथवा अहित कर सकता है। उसकी वृत्ति हिंसक होती है, साथ ही पर के अहित-चिन्तन और उसे नुकसान पहुंचाने की प्रवृत्ति ही उसमें प्रमुख होती है। ज्ञानियों की दृष्टि में दोनों ध्यान भय के उत्पादक हैं<sup>167</sup> तथा उत्तम गति के बाधक हैं<sup>168</sup>, फिर भी आर्त्तध्यानी की अपेक्षा रौद्रध्यानी अधिक पाप का बन्ध करता है। इसी कारण से यह कहा जाता है कि आर्त्तध्यानी तिर्यच-गति का बन्ध करता है और रौद्रध्यानी नरक-गति का बन्ध करता है।<sup>169</sup>

<sup>167</sup> (क) मूलाचार- 5/200, पृ. 257.

(ख) भगवती आराधना विजयोदयाटीका- 21 व 70, गाथा- 1693.

<sup>168</sup> (क) आसुरी योनिमापन्ना मूढा ..... ॥ - भगवद्गीता- 16/20.

(ख) ध्यानशतक, गाथा.

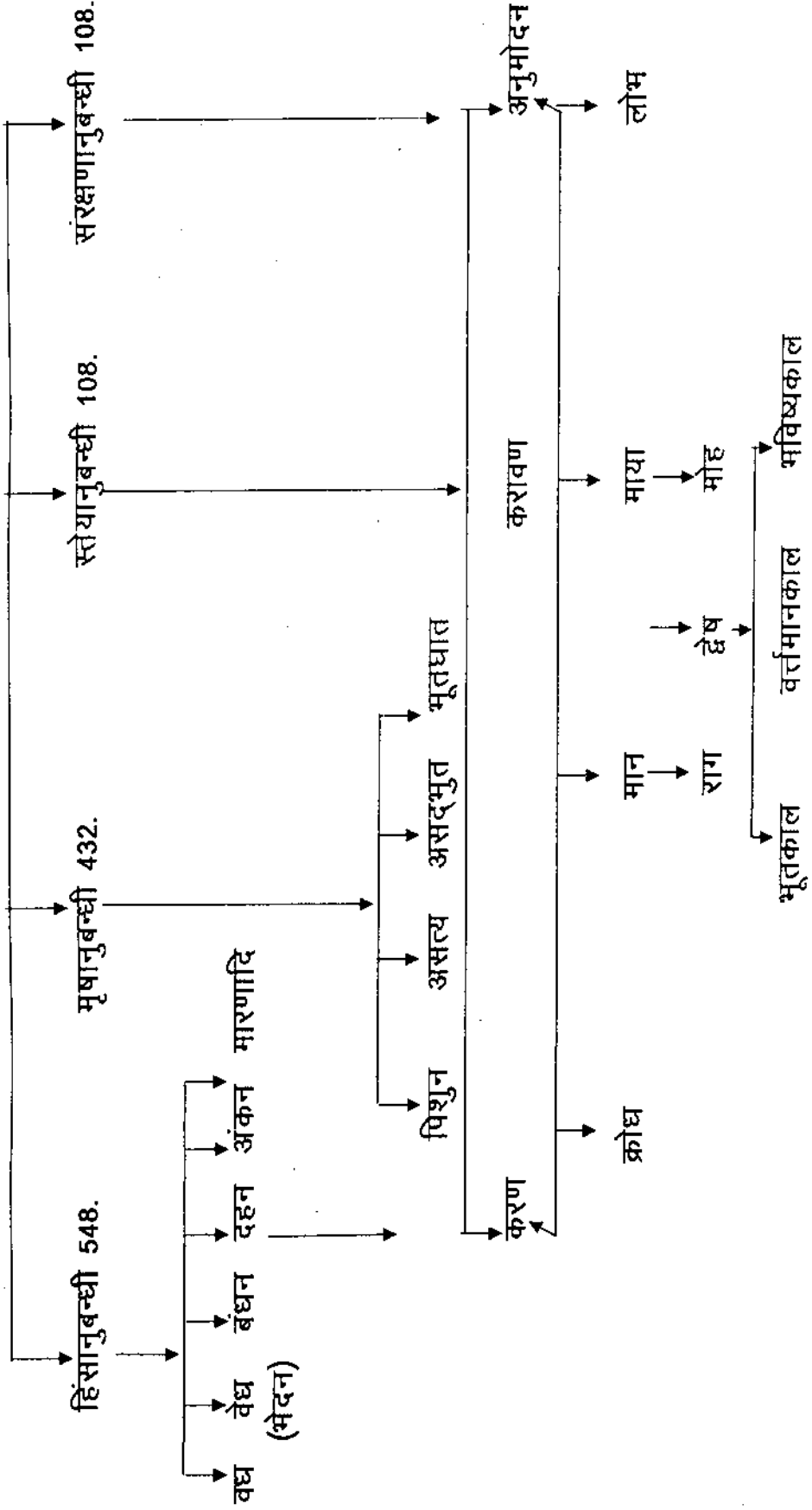
(ग) ध्यानस्तव.

(घ) अध्यात्मसार.

(ङ) ध्यानविचार.

<sup>169</sup> ध्यानशतक, गाथा- 10 एवं 24.

आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका टीका के आधार पर रौद्रध्यान के भेद  
 (ध्यानशातक, गाथा- 27.)  
 रौद्रध्यान, कुल भेद- 1295.



## धर्मध्यान का स्वरूप व लक्षण

**धर्मध्यान का स्वरूप** — अनादिकाल से जीव को आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान का अभ्यास है, अतः जीव को इस ध्यान की कला सहज प्राप्त है। ये दोनों ध्यान अत्यन्त दुःखप्रद एवं भव-परम्परावर्द्धक हैं।<sup>170</sup> इन दोनों ध्यानों से संचित अशुभ अध्यवसायों को दूर करने के लिए प्रबल धर्म-पुरुषार्थ की सतत आवश्यकता है।<sup>171</sup>

धर्म जीवन का वैभव है। धर्म के माध्यम से ही आत्मा की स्वभावदशा को आत्मसात् कर सकते हैं।<sup>172</sup> धर्म मनुष्य को मनुष्य से और आत्मा को परमात्मा से जोड़ने की कला है। धर्म का अवतरण ही मनुष्य को शाश्वत शान्ति और सुख देने के लिए हुआ है।<sup>173</sup>

धर्म का चिन्तन धर्मध्यान है। यह आत्मविकास का प्रथम चरण है, क्योंकि इस ध्यान के माध्यम से जीव का रागभाव मन्द होता है और वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। इस संसार के समस्त प्राणी दुःखी, परेशान, कष्टमय हैं, अतः सभी जीव ऐसे स्थानों की तलाश में रत हैं, जहां थोड़ा-सा भी दुःख न हो। ऐसे अभीष्ट स्थान पर जो जीव को पहुंचाता है, वही धर्मध्यान है।<sup>174</sup>

जैसा कि प्रवचनसार की तात्पर्यव्याख्यावृत्ति में कहा गया है कि जो मिथ्यात्व, राग आदि में हमेशा संसरण करते हुए प्राणियों को भवसागर से ऊपर उठाता है और विकार-रहित शुद्ध चैतन्यभाव में परिणत करता है, वह धर्मध्यान है।<sup>175</sup>

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की दृष्टि से धर्म दस प्रकार का है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को धर्म कहा गया है तथा जीवों

<sup>170</sup> (क) ध्यानद्वयं विसृज्याद्यमसत्संसारकारणम्। — आदिपुराण, पर्व- 21/55.

(ख) अवधुदु अट्टरुदे महमयेसुरगदीय पच्चुहे। — मूलाचार, कुन्दकुन्दस्वामी विरचित.

<sup>171</sup> ध्यानविचार सविवेचन पुस्तक से उद्धृत, पृ. 16.

<sup>172</sup> मृत्यु पाथेय, पृ. 70.

<sup>173</sup> 'धर्म का मर्म' पुस्तक की भूमिका से उद्धृत, डॉ सागरमल जैन, पृ. 06.

<sup>174</sup> इष्ट स्थाने धत्ते इति धर्मः। — सर्वार्थसिद्धि- 9/2.

<sup>175</sup> मिथ्यात्वरगादिसंसरणरूपेण भावसंसारे प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकार शुद्ध चैतन्ये धरतीति धर्मः।

— प्रवचनसार, तात्पर्यव्याख्यावृत्ति- 7/9.

की रक्षा करना भी धर्म है और उस धर्म—चिन्तन से युक्त जो ध्यान होता है, वह धर्मध्यान के नाम से जाना जाता है।<sup>176</sup>

**स्थानांगसूत्र** में कहा गया है कि श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म के चिन्तन—मनन में एकाग्रता धर्मध्यान है।<sup>177</sup> अन्य सभी ओर से चित्तवृत्तियों को हटाकर वीतराग के धर्मोपदेश में ही लीन रहने वाला साधक धर्मध्यान की स्थिति में स्थित है।

**ज्ञानसार** के अनुसार, शास्त्रवाक्यों के अर्थों, व्रतों, गुप्तियों, समितियों, भावनाओं आदि का चिन्तन करना ही धर्मध्यान कहलाता है।<sup>178</sup> विश्व के अधिकतर धर्मों में समाधि, समभाव या समता को धार्मिक—जीवन का मूलभूत लक्षण माना है।<sup>179</sup>

**आचारांगसूत्र** में कहा है कि समता धर्म है, ममता अधर्म।<sup>180</sup>

**अध्यात्मसार** में लिखा है कि अनादिकाल के संस्कारों के कारण व्यक्ति आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान से परिचित है, अतः उसे प्रबल पुरुषार्थ के साथ—साथ उत्साहपूर्वक धर्मध्यान में उद्यमशील होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अप्रशस्त—ध्यान से विरत होकर जीव को प्रशस्त—ध्यान में संलग्न होना चाहिए।<sup>181</sup>

**प्रशमरति—प्रकरण** में कहा है कि शील के अठारह हजार भेदों को धारण करके जो साधु उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त करता है, वह अठारह हजार भेदों वाला भी धर्मध्यानी है।<sup>182</sup>

<sup>176</sup> (क) धम्मो वत्थु सहावो, खमादिभावोय—दसविहो धम्मो।

रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।। — कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा— 478.

(ख) सददृष्टि—ज्ञान—वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः।

तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः।। — तत्त्वानुशासन— 51.

(ग) उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।

— तत्त्वार्थसूत्र— 9/6.

<sup>177</sup> स्थानांगसूत्र— 4/247.

<sup>178</sup> सुत्तत्थधम्मं मग्गणवय गुत्ती समिदि भावणाईणं।

जं कीरइ चिन्तवणं धम्मज्झाणं च इह भणियं।। — ज्ञानसार— 16.

<sup>179</sup> (क) आया खलु सानाइयं।

(ख) समताभाव—स्वरूप सामायिक आकाश की तरह समस्त गुणों का आधार है।

— 'सामायिक धर्म : एक पूर्ण योग' से उद्धृत, पृ. 04.

<sup>180</sup> समियाए धम्मे आरियेहिं पवेइए। — आचारांगसूत्र— 1/8/3.

<sup>181</sup> अप्रशस्ते इमे ध्याने दुरन्ते चिरसंस्तुते।

प्रशस्तं तु कृताभ्यासो ध्यानमारोद्धुमर्हति।। — अध्यात्मसार— 16/17.

<sup>182</sup> धर्माद्भूम्यादीन्द्रियसंज्ञाभ्यः करणतश्चयोगाश्च।

शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्तिः।।

शीलार्णवस्य पारं गत्वा संविग्नसुगमपारस्य।

धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम्।।

— प्रशमरति—प्रकरण— 245, 46.

धर्मरसायन ग्रन्थ में लिखा है कि तीर्थकरों द्वारा प्ररूपित<sup>183</sup> धर्म इस लोक तथा परलोक के लिए हितकारी एवं कल्याणकारी है, साथ ही जन्म, जरा, मृत्यु का निवारक है।<sup>184</sup>

आगमसार में उल्लेखानुसार, धर्म का चिन्तन, उसमें एकाग्रता अर्थात् तन्मयता को धर्मध्यान कहा है। वह पांच विभागों में विभक्त है—

1. कारणधर्म — व्यवहार—क्रिया करना।
2. साधनधर्म — श्रुतज्ञान और चारित्र, उपादानरूप।
3. अपवादधर्म — रत्नत्रयी भेदरूप, अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेदस्वरूप उपादान, शुद्ध उत्सर्गानुयायी व्यवहार।
4. उत्सर्गधर्म — रत्नत्रयी के अभेदरूप शुद्ध साधन निश्चयनय।
5. शुद्धधर्म — 'वस्तु सहावो धम्मो' वास्तविक धर्म वही है, जो वस्तु का स्वभाव है।<sup>185</sup>

ध्यानस्तव के अन्तर्गत धर्म के स्वरूप को निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है— उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शोच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यरूप दस प्रकार के धर्मों को और वस्तु के स्वरूप को धर्म कहा है।<sup>186</sup>

परमात्मप्रकाश के रचयिता योगिन्दुदेव ने धर्मध्यान का अन्तिम लक्ष्य बताते हुए कहा है कि वीतराग परमानन्द सुख में क्रीड़ा करने वाले केवलज्ञानादि अनन्त गुणों वाले अविनाशी शुद्ध आत्मा का एकाग्रचित्त होकर ध्यान करना, दूसरे शब्दों में, सभी शुभाशुभ रोगों से, रसों से, रूपों से चलायमान् चित्त को रोककर अनन्त गुण वाले आत्मदेव का चिन्तन करना धर्मध्यान है।<sup>187</sup>

<sup>183</sup> धम्मं सव्वण्हपण्णतं । — धम्मरसायणं— 94.

<sup>184</sup> (क) वुहजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं ।

इहपरलोयहिजत्थं तं धम्मरसायणं वोच्छं ॥ — वही, 02.

(ख) जाई—जरा—मरण—सोग—पणासणस्स, कल्लाण—पुक्खल—विलास—सुहावहस्सं ।

को देव—दाणव—नरिद—गणच्चियस्स, धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥ — आवश्यकसूत्र.

<sup>185</sup> आगमसार, पृ. 170.—171.

<sup>186</sup> उत्तमो वा तितिक्षादिर्वस्तुरूपस्तथापरः । — ध्यानस्तव, श्लोक— 13.

<sup>187</sup> सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं पंचहिं रूवहिं जंतु ।

चित्तु णिवारिवि ज्ञाहि तुहुं अप्पा देउ अणंतु ॥ — परमात्मप्रकाश— 172.

पण्डित प्रभुदास बेचरदास पारेख ने कहा है कि धर्म का तात्पर्य है— विकासमार्ग और वह खासतौर पर आध्यात्मिक—जीवन है।<sup>188</sup>

मोह—क्षोभरहित (रत्नत्रयरूप) आत्मा की निर्मल परिणति को भी धर्म कहा जाता है।<sup>189</sup>

संक्षिप्त में, यह समझना है कि जिन पवित्र क्रियाओं से आत्मा का शुद्धिकरण होता है, उन क्रियाओं का नाम धर्म है। रत्नत्रय का चिन्तन, संसार की असारता का चिन्तन—मनन ही धर्मध्यान कहा जाता है।<sup>190</sup>

**धर्मध्यान के लक्षण —** 'ध्यानशतक' के कर्त्ता ने धर्मध्यान के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

1. आगमरुचि 2. उपदेशरुचि 3. आज्ञारुचि 4. निसर्गरुचि— इन चारों लक्षणों के अनुसार उच्चारण करने वाले की जिन—प्रतिपादित भावों, तत्त्वों, पदार्थों में जो आस्था या श्रद्धा है, वह ही धर्मध्यान के लक्षण अथवा लिंग हैं और इसी के आधार से जाना जाता है कि अमुक व्यक्ति धर्मध्यान की अवस्था में स्थित है या नहीं।<sup>191</sup>

**1. आगमरुचि —** आगमरुचि को सूत्ररुचि के नाम से भी जाना जाता है। सूत्रों का संकलन आगम कहलाता है। यह दो भागों में विभाजित है— 1. अर्थसमूहरूप और 2. शब्दसमूहरूप।

शब्दसमूहरूप गणधरप्रणीत हैं, जबकि अर्थसमूहरूप तीर्थकरप्रणीत हैं।<sup>192</sup> आगम से तत्त्वों का ज्ञान होता है। आगम को परिभाषित करते हुए विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है— 'जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र, आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।'<sup>193</sup>

<sup>188</sup> जैनशासन के पांच अंग, ले. प्रभुदास बेचरदास पारेख, पृ. 01.

<sup>189</sup> आत्मनः परिणामो ..... । — तत्त्वानुशासन, श्लोक— 52.

<sup>190</sup> आगम—पच्चीसबोल, 19वां बोल, पृ. 105.

<sup>191</sup> आगम—उवएसाऽऽणा—णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं।

भावाणं सद्वहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 67.

<sup>192</sup> अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथति गणहरानिउणं।

सासणस्स हियद्धाए, तओ सुत्तं पवत्तइ ॥ — आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा— 192.

<sup>193</sup> सासिज्जई जेण तयं सत्थं चाऽविसैसियं नाणं।

आगम एवं य सत्थं आगमसत्थं तु सुयनाणं ॥ — विशेषावश्यकभाष्य, गाथा— 559.

इसी प्रकार, न्यायसूत्र में कहा गया है कि आप्तकथन आगम हैं।<sup>194</sup> आचार्य मल्लिषेण ने भी आप्तवचन से पदार्थों के ज्ञान करने को ही आगम कहा है।<sup>195</sup> जैन-परम्परा में आगम के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है, यथा— सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, आज्ञा, वचन, उद्देश्य, प्रज्ञापन, आगम<sup>196</sup>, आप्तवचन, ऐतिह्य—आम्नाय, जिनवचन तथा श्रुत<sup>197</sup>, किन्तु वर्तमान में 'आगम' शब्द ही ज्यादा प्रचलित है। आगम से भेदविज्ञान होता है, जिससे संसार, शरीर के प्रति विरक्ति होती है और विरक्ति से आत्मविशुद्धि होती है, अतः आगमानुसार आचरण करना चाहिए।

स्थानांगसूत्र में कहा है कि जिनाज्ञा के चिन्तन—मनन में रुचि होना ही 'आज्ञारुचि' है, जो धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है।<sup>198</sup>

अध्यात्मसार में उपाध्याय यशोविजयजी ने धर्मध्यानी के तीन लक्षण बताए हैं। प्रथम लक्षण है— श्रद्धा, अर्थात् आगम के प्रति अटल श्रद्धा।<sup>199</sup>

संक्षेप में कहें, तो जिनेश्वर भगवान् के वचनों की अनुपमता, कल्याणकारिता, समस्त सत्—तत्त्वों की यथार्थ प्रतिपादकता आदि जानकर उनके प्रति श्रद्धा ही आज्ञारुचि नामक धर्मध्यान का प्रथम लक्षण है।<sup>200</sup>

**2. उपदेशरुचि** — जिससे सही मार्गदर्शन मिलता हो, उसे उपदेश कहते हैं। सही दिशा, मार्गदर्शन का तात्पर्य है— अपने निश्चित लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। दूसरे शब्दों में, आत्मा को दोषों से मुक्त करके शुद्ध—पवित्र निजस्वरूप को उदघाटित करना ही साधना का लक्ष्य है। वीतरागवाणी के ज्ञान से अथवा धर्मध्यान से आत्मा को शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होती है। आगम के उपदेश को सुनना ही उपदेशरुचि है। उपदेश दो प्रकार से ग्रहण किया जाता है— 1. स्वानुभव से 2. परानुभव से।<sup>201</sup>

<sup>194</sup> आप्तोपदेशः शब्द । — न्यायसूत्र— 1/1/7.

<sup>195</sup> आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ।। स्यादवादमंजरी— 28.

<sup>196</sup> सुयसक्त ग्रन्थ सिद्धतपवयणे आणवयणे उपएसे पण्णवणे आगमे या एकव्हा पंजावासुत्ते ।

— अनुयोगद्वार— 4, उद्धृत— अनुयोगद्वारसूत्र, सं. मधुकरमुनि, प्रस्तावना, पृ. 31.

<sup>197</sup> तत्त्वार्थभाष्य— 1/20.

<sup>198</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देश्यक— 1, सूत्र— 66, पृ. 224.

<sup>199</sup> लिङ्गान्यत्रागमश्रद्धा । — अध्यात्मसार— 16/71.

<sup>200</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 20.

<sup>201</sup> ध्यानशतक, कन्हैयालाल लोढ़ा, गाथा— 27, पृ. 102.



स्थानांगसूत्र में कहा है कि धर्म-कार्यों के करने में सहज ही रुचि उत्पन्न होना 'निसर्ग-रुचि' है, यही धर्मध्यान का द्वितीय लक्षण है।<sup>202</sup>

अध्यात्मसार में धर्मध्यानी के तीन लक्षण बताए गए हैं, उनमें से प्रथम दो इस प्रकार हैं— प्रथम, आगम-श्रद्धा और द्वितीय, विनयभाव।

धर्मध्यानी स्वेच्छाचारी या अविनीत नहीं होता है। वह स्वभाव से नम्र और विनयसम्पन्न होता है। वह परमात्मा या गुरुजनों के समक्ष विनम्रता के साथ उपस्थित होता है, गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा वैयावच्च के लिए सदैव तत्पर रहता है।<sup>203</sup>

दूसरे शब्दों में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यमय आत्म-परिणाम प्रकट करने की रुचि-उत्कण्ठा 'निसर्गरुचि' नामक धर्मध्यान का द्वितीय लक्षण है।<sup>204</sup>

**3. आज्ञारुचि** — वीतराग-प्ररूपित धर्ममार्ग ही आज्ञा है और आज्ञा के अनुसार कर्तव्यों के प्रति सजग रहना ही आज्ञारुचि है।

दूसरे शब्दों में, जब सर्वज्ञ-प्ररूपित तत्त्वों में अभिरुचि, विश्वास या भक्ति का प्रादुर्भाव होता है, तब उसके मन में धार्मिक-कर्तव्यों के पालन के प्रति एक सजग रुचि होती है, वह आज्ञारुचि है।<sup>205</sup>

स्थानांगसूत्र में भी यही कहा है कि आगम, सिद्धान्तों तथा शास्त्रों के पठन-पाठन में रुचि होना 'सूत्ररुचि' है। यह धर्मध्यान का तृतीय लक्षण माना गया है।<sup>206</sup>

अध्यात्मसार में उपाध्यायजी ने धर्मध्यानी के तीन लक्षणों का वर्णन कुछ भिन्न रूप से किया है। उनके अनुसार, तृतीय लक्षण है— सदगुण-स्तुति। हृदय के उच्च भावों से आनन्द-उल्लास से युक्त जिनेश्वर भगवन्तों के गुणों का कीर्तन करना,<sup>207</sup> तात्पर्य यह है कि जिनवचन के उपदेश को श्रवण करने की रुचि करना।<sup>208</sup>

<sup>202</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देश्यक- 1, सूत्र- 66, पृ. 224.

<sup>203</sup> लिङ्गान्यत्रागमश्रद्धाविनयः सदगुण स्तुतिः ।। - अध्यात्मसार- 16/71.

<sup>204</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 20.

<sup>205</sup> ध्यानशतक, गाथा- 67.

<sup>206</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, प्रथम उद्देश्यक, सूत्र- 66, पृ. 224.

<sup>207</sup> लिङ्गान्यत्रागमश्रद्धाविनयः सदगुणस्तुतिः ।। - अध्यात्मसार- 16/71.

<sup>208</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 20.

4. **निसर्गरुचि** -- ज्ञानावरणीय और दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से सहजता से स्वभाव में रुचि होना निसर्गरुचि है। जिसे आर्त-रौद्रध्यान कटु लगते हों, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के प्रति स्वभावतः अरुचि हो और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शान्ति, संयमरूप स्वधर्म में रुचि हो, वही निसर्गरुचि है, जो धर्मध्यान का ही लक्षण है।<sup>209</sup>

**स्थानांगसूत्र** में कहा है कि द्वादशांगी-रूप जिनवाणी के अवगाहन में प्रगाढ़ रुचि होना 'अवगाढ़रुचि' है। यह धर्मध्यान का चतुर्थ लक्षण है।<sup>210</sup>

यहां धर्मध्यान की पहचान के लिए ये चार लक्षण बताए गए हैं। जिन -प्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धा उत्पन्न होने के बाद जीव स्वतः ही जिनवाणी को अपने ध्यान का या चिन्तन का विषय बना लेता है तथा उसकी धार्मिक-कार्यों के लिए सहज रुचि पैदा हो जाती है। धार्मिकानुष्ठान के प्रति रुचि होने पर वह उनको जानने के लिए आगमों के पठन-पाठन में लीन होने लगता है। जब बोधप्राप्ति हेतु वह पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, विचार-विमर्श में निमग्न हो जाता है, तब साधक को सम्यक् प्रकार से तत्त्वज्ञान आत्मगत हो जाता है। अनुराग, सत्य के प्रति अनुराग, सूत्र के प्रति अनुराग और गहन सूत्राध्ययन के लिए अनुराग ही धर्मध्यानी की पहचान है। इस प्रकार वह आगम के अनुशीलन में एकाकार हो जाता है।

**उत्तराध्ययन-निर्युक्ति** के अन्तर्गत रुचि के दस भेद बताए गए हैं। वे निम्नांकित हैं-

1. निसर्गरुचि 2. उपदेशरुचि 3. आज्ञारुचि 4. सूत्ररुचि 5. बीजरुचि 6. अधिगमरुचि 7. विस्ताररुचि 8. क्रियारुचि 9. संक्षेपरुचि और 10. धर्मरुचि।<sup>211</sup>

<sup>209</sup> ध्यानशतक, गाथा- 67.

<sup>210</sup> (क) धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता तं जहा --आणारुई, णिसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाहुरुई। - स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देश्यक- 1, सूत्र- 66, पृ. 224.

(ख) औपपातिकसूत्र- 20.

(ग) भगवतीसूत्र- 802.

(घ) लक्खणाणि इमाणि चत्तारि-आणारुई, निसग्गरुई, सुत्तरुई, ओगाहुरुई।

आणारुई-तित्थगराणं आणं पसंसति, निसग्गरुई-सभावतो जिणप्पणीए, भावे रोयति, सुत्तरुई-सुत्तं पढतो संवेगमावज्जति, ओगाहणारुई-णयवादभंगगुविलं सुत्तमत्थतो सोतूण संवेगमावन्नसद्धो ज्ञायति। - आवश्यकचूर्णि.

<sup>211</sup> निस्सग्गुवएसुरुई आणारुई सुत्तबीय रुइमेव। अभिगमवित्थारुरुई किरिया संखेवधम्मुरुई।  
- पाइयटीकापेत -उत्तराध्ययननिर्युक्ति.

ध्यानशतक के ग्रन्थकार ने कहा है कि धर्मध्यानी उसे कहना चाहिए, जो गुणीजनों के गुणों का कीर्त्तन करता है, प्रशंसा करता है, उनका विनय करता है, दान देता है तथा श्रुत, शील और संयम में निरन्तर प्रगति करता हुआ लीन रहता है।<sup>212</sup>

आदिपुराण में कहा है कि यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदह पूर्व का जानने वाला हो, या दस पूर्व का जानने वाला हो, अथवा नौ पूर्व का ज्ञाता हो, तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। इसके सिवाय, अल्प-श्रुत ज्ञानी, अतिशय बुद्धिमान् और श्रेणी के पहले-पहले धर्मध्यान धारण करने वाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है।<sup>213</sup>

ध्यानदीपिका के अन्तर्गत कहा है कि अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनि आदि गुणवान् महापुरुषों को नमन करना, उनकी भक्ति करना, दान देना, शील का पालन करना, यम-नियमों का पालन करना, तपश्चर्या करना, उत्तम भावना से ओतप्रोत इत्यादि कर्त्तव्यों से युक्त— ये धर्मध्यानी के बाह्य-लक्षण कहलाते हैं।<sup>214</sup>

## धर्मध्यान के चार भेद

धर्म से युक्त ध्यान 'धर्मध्यान' कहलाता है। उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यरूप जो वस्तु का यथार्थ स्वरूप या स्वभाव है, वही धर्म है। दूसरे शब्दों में, वस्तु (पदार्थ) के स्वरूप का जो चिन्तन किया जाता है, वह धर्मध्यान है।<sup>215</sup>

<sup>212</sup> जिणसाहुगुणविकत्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णो ।

सुअ-सीलसंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ।। - ध्यानशतक, गाथा- 68.

<sup>213</sup> स चतुर्दशपूर्वज्ञो दशपूर्वधरोऽपि वा । नव पूर्वधरो वा स्याद् ध्याता सम्पूर्णलक्षणः ।

श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः । प्रबुद्ध धीरधः श्रेण्या धर्मध्यानस्यसुश्रुतः ।।

- आदिपुराण, पर्व- 21/101-102.

<sup>214</sup> अर्हदादिगुणीशानां नतिं भक्तिं स्तुतिं स्मृतिम् ।

धर्मानुष्ठानदानादि कुर्वन् धर्मीति लिङ्गतः ।। - ध्यानदीपिका, श्लोक- 192.

<sup>215</sup> तत्रानपेतं यद् धर्मात्तद् ध्यानं धर्ममिष्यते ।

धर्मोऽहि वस्तु-याथात्म्यमुत्पादादि त्रयात्मकम् ।। - महापुराण, जिनसेनाचार्यकृत, पर्व-21/333.

अनेक ग्रन्थों में धर्मध्यान के चार प्रकारों का वर्णन मिलता है, जैसे— स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, औपपातिक, समवायांग, ध्यानदीपिका, अध्यात्मसार, योगशास्त्र, ज्ञानार्णव, धवलाटीका, आदिपुराण इत्यादि।

ध्यानशतक के अन्तर्गत धर्मध्यान के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

1. आज्ञाविचय
2. अपायविचय
3. विपाकविचय
4. संस्थानविचय

धर्मध्यान के चार भेदों में से प्रथम 'आज्ञाविचय' का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

1. आज्ञाविचय—धर्मध्यान — अत्यधिक निपुणता से युक्त, समस्त जीवराशि का हित चाहने वाली, स्याद्वाद एवं अनेकान्त-दृष्टि से युक्त, गहनार्थ वाली, निरवद्य, नयप्रमाणयुक्त, आगमरूप जिनवाणीरूपी भगवान् की आज्ञा का चिन्तन करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान का पहला प्रकार है।<sup>216</sup>

आज्ञा को हम आगम, सिद्धान्त, जिनवचन भी कह सकते हैं, क्योंकि ये तीनों ही एकार्थक या पर्यायवाची हैं।<sup>217</sup>

यथार्थ का अन्वेषण करने वाला ध्यानविचय कहलाता है। विचिति, विवेक, विचय, विचारणा, अन्वेषण और मार्गण— ये सभी समानार्थक हैं।<sup>218</sup>

<sup>216</sup> सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमणग्घं ।  
अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ॥  
झाइज्जा निरवज्जं जिणाणआणं जगप्पईवाणं ।  
अणिउणज्जणदुण्णेयं नय-भंग-पमाण-गमगहणं ॥  
तत्थय मइदोब्बलेणं तत्विहायरियविरहओ वावि ।  
णेयगहणत्तणेणय णाणावरणोदएणं च ॥  
हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुह जं न बुज्जेज्जा ।  
सव्वण्णुमयमवितहं तहावि न चितए मइमं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 45—48.

<sup>217</sup> तत्थ आणा णाम आगमो सिद्धंतो जिनवयणमिदि एयड्ढो ॥

— षट्खण्डागम, भाग— 5, धवलाटीका, पृ. 70.

<sup>218</sup> तत्त्वार्थवार्तिक— 9/36.

यहां आज्ञा का अर्थ वीतराग के आदेश का विचार करना अथवा गहन रूप से चिन्तन करना है।

समस्त दोषों से निर्दोष, समस्त अशुद्धियों से शुद्ध और समस्त कषायों से रहित जो वीतरागवाणी है, उसका एकमात्र उद्देश्य राग की निवृत्ति और स्व-स्वरूप में अवस्थिति या धर्मप्राप्ति हो, उसका एकाग्रतापूर्वक चिन्तन-मनन आज्ञाविचय—धर्मध्यान है।<sup>219</sup>

स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान के अन्तर्गत प्रथम उद्देश्य में धर्मध्यान के प्रथम उपप्रकार का वर्णन करते हुए लिखा है कि जिनाज्ञा अर्थात् परमात्मा के प्रवचन के चिन्तन में संलग्न रहना आज्ञाविचय—धर्मध्यान है। इस ध्यान में साधक तत्त्व-स्वरूप के चिन्तन-मनन में या उसके विचार-विमर्श में संलग्न रहता है।<sup>220</sup>

तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति ने धर्मध्यान के प्रथम भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सर्वज्ञ पुरुष की आज्ञा में मनोवृत्ति का एकाग्र करना आज्ञाविचय—धर्मध्यान है।<sup>221</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में सिद्धसेन दिवाकर ने भी यही कहा है— सर्वज्ञ प्रणीत जो आगम है, वह आज्ञा है। प्रभु की आज्ञा पूर्वापर दोषों से रहित, अतिहितकारी, निर्दोष अर्थवाली, महाप्रभावशाली, द्रव्य, गुण और पर्याय के स्वरूप को बताने वाली होती है।<sup>222</sup>

नन्दीसूत्र में लिखा है— इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ णासी।<sup>223</sup> यह गणिपिटकरूप जिनवाणी अपने अर्थरूप से त्रिकाल में अवस्थित रहती है, परन्तु ग्रन्थरूप वह उत्पन्न और नष्ट होती है।

ज्ञानार्णव के रचयिता आचार्य शुभचंद्र ने धर्मध्यान के प्रथम भेद 'आज्ञाविचय' का स्वरूप बाईस गाथाओं में वर्णित किया है। वे संक्षेप में यह कहना चाहते हैं कि जिस ध्यान में अपने सिद्धान्त (परमागम) में प्रसिद्ध वस्तुस्वरूप का विचार सर्वज्ञ देव की

<sup>219</sup> ध्यानशतक, सं. बालचन्द्रजी शास्त्री एवं कन्हैयालाल, पृ. 24 एवं 89.

<sup>220</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देश्यक- 1, सूत्र- 65.

<sup>221</sup> तत्त्वार्थसूत्र- 9/37.

<sup>222</sup> सर्वज्ञ प्रणीत आगमः। तामाज्ञामित्थं विचिनुयात्-पर्यालोचयेत्-पूर्वापरविशुद्धमतिनिपुणामशेष-जीवकायहितामनवध्यां महार्थां .....स्मृति समन्वाहारः। प्रथमं धर्मध्यानमाज्ञाविचयाख्यम्।

— तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति.

<sup>223</sup> नन्दीसूत्र- 58.

आज्ञानुसार किया जाता है और तत्त्वों के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, वह आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान कहलाता है।<sup>224</sup>

आदिपुराण में कहा गया है कि छह नयों के द्वारा ग्रहण किए हुए जीव आदि छः द्रव्यों और उनकी पर्यायों के यथार्थ स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना ही ध्यान कहलाता है।<sup>225</sup>

अध्यात्मसार में यशोविजयजी धर्मध्यान के आज्ञाविचय नामक भेद का वर्णन करते हुए लिखते हैं— सर्वज्ञदेव की आज्ञा क्या है ? वह कैसी है ? उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार वीतराग आज्ञा के विषयों में मन को एकाग्र करना आज्ञाविचय—धर्मध्यान कहा जाता है।<sup>226</sup>

ध्यानदीपिका में भी इसी बात का समर्थन किया गया है कि सर्वज्ञ की आज्ञानुसार आत्म और अनात्म के पृथक्करण करना अथवा भेदविज्ञान करना— यह आज्ञाविचय—धर्मध्यान है।<sup>227</sup>

योगशास्त्र में प्रथम आज्ञाविचय—धर्मध्यान के सम्बन्ध में कहा गया है— प्रामाणिक आप्तपुरुषों की अबाधित, अविरुद्ध, अकाट्य आज्ञा का तत्त्वतः चिन्तन करना आज्ञाविचय—धर्मध्यान है।<sup>228</sup>

सम्बोधिप्रकरण में कहा है— जिनोपदिष्ट आगम के सूक्ष्म पदार्थों को आलम्बन बनाकर पदार्थ—चिन्तन में चित्त के रोकने को आज्ञाविचय कहते हैं।<sup>229</sup>

<sup>224</sup> वस्तुतत्त्वं .....मामनेत् ॥ — ज्ञानार्णव, प्रकरण— 30, गाथा— 6—22.

<sup>225</sup> षट्त्रयद्रव्यपर्याययाथात्म्यस्यानुचिन्तनम् ।

यत्तो ध्यानं ततो ध्येयः कृत्स्नः षड्द्रव्यविस्तरः ॥

नयप्रमाणजीवादिपदार्था न्यायभासुराः ।

जिनेन्द्रवक्त्रप्रसृता ध्येया सिद्धान्तपद्धतिः ॥ — आदिपुराण, पर्व— 21, श्लोक— 109—110.

<sup>226</sup> नयभङ्गप्रमाणाऽऽद्यां हेतूदाहरणाऽन्विताम् ।

आज्ञां ध्यायेज्जिनेन्द्राणा—मप्रामाण्याऽकलङ्किताम् ॥ — अध्यात्मसार— 16/36.

<sup>227</sup> स्वसिद्धान्तप्रसिद्धं यत् वस्तुत्त्वं विचार्यते ।

सर्वज्ञानुसारेण तदाज्ञाविचया मतः ॥

आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधिताम् ।

तत्त्वतश्चिंतयेदथास्तदाज्ञा ध्यानमुच्यते ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकाश— 7, श्लोक— 121—122.

<sup>228</sup> आज्ञां यत्र .....जिनाः ॥ — योगशास्त्र, प्रकरण— 10, श्लोक— 8—9.

<sup>229</sup> सम्बोधिप्रकरण— 12/34.

<sup>230</sup> ध्यानविचार, पृ. 22.

<sup>231</sup> आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा विचयस्तदर्थनिर्णयनम् । — प्रशमरति, प्रकरण, श्लोक— 248.

ध्यानविचार<sup>230</sup> एवं प्रशमरति<sup>231</sup> में लिखा है कि परम आप्त-पुरुष जिनेश्वर के वचन ही आज्ञा हैं और उस आज्ञा के अर्थ का निर्णय करना आज्ञाविचय है।

आवश्यकटिप्पन<sup>232</sup> षट्खण्डागमभाष्य<sup>233</sup>, ध्यानस्तव<sup>234</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>235</sup>, ध्यानसार<sup>236</sup>, आगमसार<sup>237</sup> आदि अनेक ग्रन्थों में धर्मध्यान के इस प्रथम प्रकार का वर्णन इस प्रकार किया गया है— भगवान् की हितकारी, मितकारी, मंगलकारी आज्ञा शाश्वत है, समस्त जीवों की पीड़ा दूर करने वाली है,<sup>238</sup> किसी एक जीव का भी संहार नहीं करती है, अर्थात् सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव के भी प्राणों की भी रक्षा करना चाहिए— इस आज्ञा का त्रिविध रूप से पालन आज्ञाविचय—धर्मध्यान है। जिनाज्ञा सर्वदोषरहित अर्थात् सर्वगुणसम्पन्न है। यह जिनाज्ञा गूढातिगूढ है। सूत्रों के अर्थ, जीवों की चौदह मार्गणा, पांच महाव्रत, बारह भावना, पांच इन्द्रियों का दमन आदि सत्तावन हेतुओं का चिन्तन ही धर्मध्यान का प्रथम प्रकार आज्ञाविचय—रूप है।<sup>239</sup>

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ध्यानशतक में जिनाज्ञा के स्वरूप का प्रस्तुतिकरण करते हुए लिखते हैं कि बुद्धि की दुर्बलता से, वस्तु स्वरूप का सही बोध करने वाले आचार्यों के अभाव से, ज्ञेय की गम्भीरता से, ज्ञानावरणीय—कर्म की तीव्रता से, हेतु का अभाव और उदाहरण सम्भव न होने से— इन कारणों के द्वारा सर्वज्ञप्रणीत अविद्यत वचन का सम्यक्प्रकारेण अवबोध नहीं होता है, फिर भी अल्पमतिज्ञ 'सर्वज्ञप्रणीत मत सत्य है'— ऐसा समझें, क्योंकि जिनेश्वर रागद्वेष विजेता बन चुके हैं, इसलिए वे अन्यथावादी नहीं हो सकते।<sup>240</sup>

## आज्ञा का स्वरूप (ध्यानशतक पर आधारित)

<sup>232</sup> आज्ञा (आवश्यक टिप्पण)

<sup>233</sup> षट्खण्डागम, भाष्य— 5, धवलाटीका, गाथा— 38.

<sup>234</sup> जिनाज्ञा: .....त्वयोदितः ॥ — ध्यानस्तव, श्लोक— 12.

<sup>235</sup> ध्यानकल्पतरु, तृतीय शाखा, प्रथम—पत्र, पृ. 98.

<sup>236</sup> जीवादिसप्ततत्त्वानां जिनोक्तानां च चिन्तनम्।

तदाज्ञाविचयोनो धर्मध्यानमिदं मतम् ॥ — ध्यानसार— 115.

<sup>237</sup> आगमसार, पृ. 171.

<sup>238</sup> सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा। — आचारांगसूत्र— 4/1/1.

<sup>239</sup> सूत्रार्थ मार्गणा महाव्रतभावना च पंचेन्द्रिययो च शमताति दयार्द्र भावः। बन्ध प्रमोक्ष गमना गति हेतु चिन्ता ध्यानतु धर्ममिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ — सागारधर्म.

<sup>240</sup> तत्तथ मइदोब्वलेणं तत्विहायरियविरहओ वादि ! णेय गहणत्तणेणय णाणवरणोदएणं च ॥

हेऊदाहरणासंभवे य ..... णण्णहावादिणो तेणं ॥ — ध्यातशतक, गाथा— 47-49.

1. सुनिपुणता — सूक्ष्म द्रव्य का निरूपण करने में अत्यन्त कुशल।
2. अनाद्यनिघना — द्रव्यादि की अपेक्षा से शाश्वत।
3. भूतहिता — जीवों का हित चाहने वाली।
4. भूतभावना — भावना-स्वरूप।
5. अनर्घ्या — अमूल्य।
6. अभिता — अपरिमित।
7. अजिता — अन्य दर्शनों के वचनों द्वारा अपराजित।
8. महार्था — महान् अर्थवाली।
9. महानुभावा — प्रधान सामर्थ्य वाली।
10. महाविषया — समस्त द्रव्यादि विषयों की आज्ञा।
11. निरवद्या — असत्य वगैरह बत्तीस दोषरहित।
12. अनिपुणजनदुज्ञेया — अल्पमति वाले जीव न जान सके— ऐसी।
13. नय-भङ्ग-प्रमाण-गमगहना — नय, भङ्ग, प्रमाण आदि से युक्त।<sup>241</sup>

2. अपायविचय — ध्यानशतक के अन्तर्गत धर्मध्यान का दूसरा प्रकार अपायविचय बताया गया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि कर्तव्यशील, धर्मध्यानी को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि रागद्वेष, कषाय और आस्रव-क्रियाओं में प्रवर्तमान प्राणियों को इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी दुःख सहना पड़ेगा।<sup>242</sup>

जिस प्रकार बीमार व्यक्ति अखाद्य, अभक्ष्य या कुपथ्य के सेवन से दुःख पाता है, उसी प्रकार विषयों में आसक्त जीव राग के वशीभूत होकर इस लोक में नानाविध दुःखों, कष्टों को भोगता है, जैसे— रसनेन्द्रिय के कारण मछली, स्पर्शनेन्द्रिय के कारण हाथी अनेक दुःखों को सहता है, इत्यादि। वह दीर्घ संसारी बनकर इस भव और परभव में दुःखी होता है। जिस प्रकार वृक्ष के कोटर में आग लगती है, तो वह उस वृक्ष को

<sup>241</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानशतक (सन्मार्ग प्रकाशन) से उद्धृत, पृ. 35.

<sup>242</sup> रागद्वेष-कसायाऽऽसवादिकिरियासु वृद्दमाणाणं।

इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी।। — ध्यानशतक, गाथा— 50.



जलाकर भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार द्वेषरूपी अग्नि प्राणी को दोनों भवों में कष्ट, दुःख प्राप्त कराती है। इस प्रकार के चिन्तन का नाम अपायविचय है।<sup>243</sup>

**स्थानांगसूत्र** में धर्मध्यान के द्वितीय प्रकार का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि संसारवृद्धि के हेतुओं का विचार करते हुए उनसे बचने का उपाय करना, अर्थात् हेय क्या है ? इसको समझकर छोड़ने के प्रयत्न का विचार करना ही अपायविचय-धर्मध्यान है।<sup>244</sup>

**तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है कि दोषों के स्वरूप और उनसे मुक्ति पाने के विचारों में मनोरिथिति की एकाग्रता अपायविचय-धर्मध्यान है।<sup>245</sup>

**तत्त्वार्थभाष्य** में अपायविचय की व्याख्या करते हुए कहा गया है— शारीरिक, मानसिक, दुःखादि पर्यायों का अन्वेषण तथा रागद्वेष आदि उपायों में चैतसिक—एकाग्रता की प्राप्ति धर्मध्यान का द्वितीय प्रकार अपायविचय है।<sup>246</sup>

**तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति** में कहा है कि अपाय अर्थात् विपत्ति और विचय अर्थात् शारीरिक अथवा मानसिक—दुःख के कारणों का अन्वेषण या शोधन करना।

यह संसार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दुःखों से भरा है। रागद्वेष की परिणति के कारण संसार—परिभ्रमण चलता रहता है, उसके उन्मूलन हेतु चिन्तन करने से जीव को अपायविचय-धर्मध्यान प्रकट होता है।<sup>247</sup>

**ज्ञानार्णव**<sup>248</sup> में कहा है कि जिस ध्यान में विद्वान्जन उपायपूर्वक हेतु के अन्वेषण के साथ-साथ कर्मों के विनाश का विचार करते हैं, उसे बुद्धिमान् गणधर आदि अपायविचय-धर्मध्यान कहते हैं।

**ध्यानदीपिका** में कहा गया है कि रागद्वेष, कषाय और आस्रव आदि की क्रिया में रत जीव इहलोक तथा परलोक में दुःखों से रहित निर्दोष जीवन जी नहीं पाता है। ऐसे दुःखों—कष्टों से विमुखता का चिन्तन अपायविचय-धर्मध्यान है।<sup>249</sup>

<sup>243</sup> ध्यानशतक, सं. बालचन्द्र शास्त्री, पृ. 28.

<sup>244</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 65.

<sup>245</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 9/37.

<sup>246</sup> तत्त्वार्थभाष्य— 9/37.

<sup>247</sup> तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति, ध्यानशतक (सन्मार्ग प्रकाशन) से उद्धृत, पृ. 77.

<sup>248</sup> अपायविचय ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः .....विशुद्धज्ञानभास्वत्प्रकाशः।

— ज्ञानार्णव, प्रकरण— 30, गाथा— 1—17.

<sup>249</sup> अपायविचयं ज्ञेयं .....स्मरेत् साधुः ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकरण— 7, श्लोक— 123—124.

अध्यात्मसार में लिखा है कि हिंसादि पापों से रागद्वेष-कषाय आदि के दुष्परिणामों के चिन्तन में मन को एकाग्र करना अपायविचय-धर्मध्यान है।<sup>250</sup>

प्रशमरतिप्रकरण<sup>251</sup>, योगशास्त्र<sup>252</sup>, ध्यानस्तव<sup>253</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>254</sup>, आगमसार<sup>255</sup>, ध्यानविचार<sup>256</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>257</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>258</sup> आदि ग्रन्थों में इसी बात की पुष्टि की गई है कि रागद्वेष, कषाय, विकथा, अहंकार, मिथ्यात्व आदि पापप्रवृत्तियों के द्वारा जीव की इस भव में तो दुर्दशा होती ही है, परन्तु परभव में भी दुर्गति होती है एवं भयानक दुःख भोगने पड़ते हैं, उसका चिन्तन करना अपायविचय-धर्मध्यान है। दूसरे शब्दों में कहें, तो अज्ञान, रागद्वेष, कषाय, आश्रव, मिथ्यात्व आदि मेरे नहीं हैं, मैं उनसे भिन्न हूँ, ये सभी बाहर से आई बीमारियाँ या विकृतियाँ हैं, मैं तो अनन्त ज्ञानी, शुद्धबुद्ध अविनाशी हूँ, अक्षय, अक्षर, अनक्षर, अचल, अकल, अकर्मा, अकषायी, अलेशी, अयोगी, अशोकी इत्यादि हूँ, शुद्ध चिदानन्दमय मेरी आत्मा है— इस प्रकार एकाग्रता से विचार करना अपायविचय-धर्मध्यान है।

**3. विपाकविचय** — आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में धर्मध्यान का तीसरा प्रकार 'विपाकविचय' बताया है। वे विपाकविचय नामक धर्मध्यान का वर्णन करते हुए कहते हैं— प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग—रूप कर्मों के विपाक का चिन्तन—मनन करना विपाकविचय-धर्मध्यान है। यह धर्मध्यान का तीसरा प्रकार है।<sup>259</sup> दूसरे शब्दों में, कर्म की जो फल देने की शक्ति है, उसका नाम विपाक है। कर्म प्रकृतिभेद से, स्थितिभेद से, प्रदेशभेद से तथा अनुभागभेद से नानाविध भेद वाले होकर शुभाशुभ प्रकृतियों में परिणत हो जाते हैं। इनके फलस्वरूप इष्ट-अनिष्ट संयोग मिलता

<sup>250</sup> रागद्वेषकषायादि .....विचिन्तयेत् ॥ — अध्यात्मसार— 16/37.

<sup>251</sup> आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्येष्वपायस्तु ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 248.

<sup>252</sup> रागद्वेषकषायाद्यैः ..... पापकर्मणः ॥ — योगशास्त्र, प्रकाश— 10, श्लोक— 10-11.

<sup>253</sup> ध्यानस्तव, श्लोक— 12.

<sup>254</sup> ध्यानकल्पतरु (अमोलक ऋषि द्वारा विरचित) तृतीय शाखा, द्वितीय पत्र, पृ. 155.

<sup>255</sup> आगमसार, पृ. 172.

<sup>256</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 24.

<sup>257</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह— 11/51-52.

<sup>258</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. 367.

<sup>259</sup> पयइ—ठिइ—पएसा ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं ।

जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचित्तेज्जा ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 51.

है। इन सबकी विशेष जानकारी षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, कर्मप्रकृति, कर्मग्रन्थ आदि में विस्तार से दी गई है।<sup>260</sup> इन कर्मों के विपाक या फल का चिन्तन करना विपाकविचय है।

स्थानांगसूत्र में धर्मध्यान के तृतीय प्रकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कर्मों के फल का विचार करना विपाकविचय है। जीव तो कर्माधीन है। पूर्व दूषित कर्मों के परिणामस्वरूप यदि दुःख की स्थिति आए, तब भी समतापूर्वक उसे सहन कर उसके कारणों का चिन्तन करना ही विपाकविचय-धर्मध्यान है।<sup>261</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है— अनुभव में आने वाले कर्म के विपाकों में से कौन-कौन से कर्म के क्या-क्या विपाक हैं ? इसमें मनोस्थिति की एकाग्रता विपाकविचय-धर्मध्यान है।<sup>262</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा गया है कि विविध प्रकार के कर्मों के फल को विपाक कहते हैं। नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव के भवों में कर्मों का जो फल होता है, उस फल का चिन्तन-मनन, अर्थात् विचार-विमर्श करना, उसी चिन्तन में अपने मन को एकाग्र करना विपाकविचय वाला धर्मध्यान कहलाता है।<sup>263</sup>

ज्ञानार्णव में भी यही कहा गया है कि संसारी-जीवों के प्रति समय जो अनेक प्रकार के कर्मों के फल का प्रकटन होता है, उसे ही विपाक जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि अज्ञानवश जीवों के द्वारा बान्धे गए कर्मों का समूह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रित होकर नियम से सुख-दुःखादि के उत्पादनरूप अनेक प्रकार के फल को देता है— यही विपाक है।<sup>264</sup> इसका चिन्तन करना विपाकविचय-धर्मध्यान है।

ध्यानदीपिका में लिखा है कि शुभ अथवा अशुभ, चार प्रकारों के कर्मबन्ध द्वारा जीव कर्मों के विपाक को भोग रहे हैं, उसका विचार करना विपाकविचय है और ऐसा विचार करने वाला व्यक्ति विपाकविचय-धर्मध्यानी कहलाता है।<sup>265</sup>

<sup>260</sup> ध्यानशतक, पं. बालचंद्र शास्त्री, पृ. 28-29.

<sup>261</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र- 65.

<sup>262</sup> तत्त्वार्थसूत्र- 9/37.

<sup>263</sup> तृतीयं धर्मध्यानं विपाकविचयारख्यमुच्यते-विविधो विशिष्टो वा पाको विपाकः अनुभावः ॥

— तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति, सन्नार्ग प्रकाशन ध्यानशतक से उद्धृत, पृ. 79.

<sup>264</sup> स विपाक इति ज्ञेयो ..... स्वसिद्धयर्थिनः । - ज्ञानार्णव, प्रकरण- 30, श्लोक- 1-30 (विपाकविचय के अन्तर्गत.)

<sup>265</sup> चतुर्धा कर्मबन्धेन .... पुण्यापुण्यस्य कर्मणः ॥ - ध्यानदीपिका, प्रकरण- 7, श्लोक- 125-127.

अध्यात्मसार ग्रन्थ के अनुसार, प्रकृति आदि चार भेदों के कर्मों के विपाक का शुभ और अशुभ के विभाग से ध्यान अर्थात् कर्म के परिणाम के विषय में चिन्तन करना विपाकविचयरूप—धर्मध्यान का तीसरा भेद है।<sup>266</sup>

प्रशमरतिप्रकरण<sup>267</sup> योगशास्त्र<sup>268</sup>, ध्यानस्तव<sup>269</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>270</sup>, आगमसार<sup>271</sup>, ध्यानविचार<sup>272</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>273</sup>, श्रावकाचारसंग्रह<sup>274</sup> आदि अनेक ग्रन्थों में यही लिखा है कि शुभाशुभ कर्मों के उदय, फल की प्राप्ति कैसे हुई ? क्यों हुई ? शास्त्रानुसार उसका विचार करना विपाकविचय है। प्रतिक्षण ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों के निमित्त से शुभ अथवा अशुभ कर्मफलों का उदय होता है, अतः कर्मों के विपाकों पर ध्यान केन्द्रित करने या मन के अध्यवसायों की स्थिति ही विपाकविचय—धर्मध्यान कहलाती है।

विपाकविचय कार्य से कारण का साक्षात्कार करने की उत्तम प्रक्रिया है।<sup>275</sup>

प्रस्तुत ध्यान द्वारा साधक के अन्तःकरण में कर्मों से भिन्न होने तथा आत्मभाव से अभिन्न होने की रुचि पैदा होती है।

अपाचविचय और विपाकविचय—दोनों प्रकार के धर्मध्यान एक ही मार्ग के पथिक हैं, अन्तर सिर्फ इतना है कि विपाकविचय—धर्मध्यान का क्षेत्र व्यापक है। साधक आत्मा की कर्मविमुक्ति के विचार से ही अपनी आध्यात्मिक विकास—यात्रा आगे बढ़ती है। इस हेतु कर्मों के विपाक को समझकर ही कर्मविमुक्ति का प्रयास करना चाहिए।

**4. संस्थानविचय — ध्यानशतक** के ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण धर्मध्यान के चौथे प्रकार संस्थानविचय का निरूपण गाथा क्रमांक बावन से सत्तावन तक करते हुए लिखते हैं कि जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य के लक्षण,

<sup>266</sup> ध्यायेत्कर्मविपाकं च ..... शुभाऽशुभविभागतः ॥ — अध्यात्मसार— 16/38.

<sup>267</sup> अशुभाशुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् । — प्रशमरति प्रकरण, श्लोक— 249.

<sup>268</sup> प्रतिक्षण समुद्भूतो ..... कर्मणः । — योगशास्त्र, प्रकरण— 10, श्लोक— 12-13.

<sup>269</sup> ध्यानस्तव, श्लोक— 12.

<sup>270</sup> ध्यानकल्पतरु, तृतीय शाखा, तृतीय पत्र, पृ. 173.

<sup>271</sup> आगमसार, पृ. 172-173.

<sup>272</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 26.

<sup>273</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह— 11/569.

<sup>274</sup> श्रावकाचारसंग्रह, भाग— 5, पृ. 353.

<sup>275</sup> कार्यादिलिङ्गद्वारेणैवावर्गदृशामतीन्द्रियपदार्थावगमो भवति ।

आकृति (आकार), प्रकार, परिमाण और उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य से युक्त द्रव्य, गुण तथा पर्यायरूपी जो आदि-अन्तरहित पुरुषाकार लोक है, उसके स्वरूप का एकाग्रतापूर्ण चिन्तन करना संस्थानविचय-धर्मध्यान है।

शास्त्रों में पंचास्तिकायरूप लोक को अनादि-अनन्त कहा गया है। वह नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय के भेद से आठ प्रकार का है और अधोलोक, तिर्यक्लोक तथा ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का है। इस लोक के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना संस्थानविचय-धर्मध्यान है।

धर्मध्यानी को पृथ्वी, वायुमण्डल, स्वर्ग और नरक आदि के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए।

जीव का लक्षण उपयोग है,<sup>276</sup> वह शाश्वत है। शरीर जड़ है, जीव उससे भिन्न एवं अरूपी है। जीव कर्म के अधीन होने के कारण संसार-समुद्र में जन्म-मरण करता है। यह संसार-समुद्र अनादि, अनन्त और अशुभ है। संस्थानविचयरूप-धर्मध्यान में रत जीव को इसका विचार करना चाहिए।<sup>277</sup>

स्थानांगसूत्र में धर्मध्यान के चौथे प्रकार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीव के जन्म-मरण के आधाररूप पुरुषाकार लोक (चौदह राजलोक) के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए मन को एकाग्र करना संस्थानविचय-धर्मध्यान है।<sup>278</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि लोक के स्वरूप का विचार करने में मन को एकाग्र करना ही संस्थानविचय-धर्मध्यान है।<sup>279</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा गया है कि संस्थान अर्थात् लोक और द्रव्यों का आकार। लोक के आकार में अधोलोक का आकार अधोमुख सिकोरे के सदृश है।

<sup>276</sup> उपयोगो लक्षणं। - तत्त्वार्थसूत्र- 2/8.

<sup>277</sup> जिणदेसियाइ लक्खण ..... संसार-सागरमणोरपारमसुहविचिंतेज्जा ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 52-57.

<sup>278</sup> धम्मे ज्ञाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते, तं जहा-आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए। - स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 01, सूत्र- 65, पृ. 223.

<sup>279</sup> आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। - तत्त्वार्थसूत्र- 9/37.

तिर्यक्लोक गोल थाली के आकार जैसा और ऊर्ध्वलोक मृदंग के आकार के समान है। अधोलोक में नारकी, तिर्यक्लोक में ज्योतिष्क, व्यंतर, मनुष्य तथा तिर्यच रहते हैं। ऊर्ध्वलोक में विमानवासी देव, कित्त्विषिक, ग्रैवेयक, अनुत्तरविमान और मोक्षस्थान रहे हुए हैं। इस तरह संस्थान के स्वरूप के चिन्तन में स्थित रहना, एकाग्र रहना संस्थानविचय—धर्मध्यान कहलाता है।<sup>280</sup>

पदार्थों के स्वरूप का जो परिज्ञान है, वह ही तत्त्वावबोध है। तत्त्वावबोध से क्रियानुष्ठान और क्रियानुष्ठान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

**संबोधिप्रकरण** में कहा गया है कि लोक की आकृति उसमें स्थित पदार्थ और प्रकृति का जो चिन्तन किया जाता है, वह संस्थानविचय कहलाता है।<sup>281</sup>

**ज्ञानार्णव** में भी यही वर्णन है कि अनन्तानन्त आकाश के बीच में लोक स्थित है। उसके स्वरूप का वर्णन अन्तरंग व बहिरंग लक्ष्मी से विभूषित सर्वज्ञ देव द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत समस्त लोक का विस्तार से विवेचन किया गया है। उसका एकाग्र चित्त से चिन्तन करना संस्थानविचय—धर्मध्यान कहलाता है।<sup>282</sup>

**ध्यानदीपिका** में लिखा है— लोक अनन्तानन्त आकाश के मध्य में स्थित है। सर्वज्ञ जिनेश्वर ने अपने केवलज्ञान द्वारा इस लोक की स्थिति का वर्णन किया है। ऐसे लोक के स्वरूप का चिन्तन—मनन, विचार—विमर्श ही संस्थानविचय—धर्मध्यान है।<sup>283</sup>

**अध्यात्मसार** के अनुसार उत्पत्ति, स्थिति, विनाश आदि पर्यायरूपी लक्षणों द्वारा तथा नामादि पृथक् भेदों से युक्त लोकसंस्थान का चिन्तन धर्मध्यान का चौथा भेद है।<sup>284</sup>

**प्रशमरति प्रकरण**<sup>285</sup>, **संवेगरंगशाला**<sup>286</sup>, **योगशास्त्र**<sup>287</sup>, **षट्खण्डागम**<sup>288</sup>, **आदिपुराण**<sup>289</sup>, **ध्यानकल्पतरु**<sup>290</sup>, **आगमसार**<sup>291</sup>, **ध्यानविचार**<sup>292</sup>..

<sup>280</sup> संस्थानविचयं नाम चतुर्थं धर्मध्यानमुच्यते—संस्थानम्—आकारविशेषो लोकस्य द्रव्याणां च। लोकस्य तावत् तत्राधोमुखमल्लक संस्थानं ..... क्रियानुष्ठानं तदनुष्ठानान्मोक्षावाप्तिरिति ।।  
— तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति, सन्मार्ग प्रकाशक ध्यानशतक से उद्धृत, पृ. 82.

<sup>281</sup> सम्बोधिप्रकरण— 12/37.

<sup>282</sup> अनन्तानन्तमाकाशं .....इति निगदितमुच्चैर्लोकसंस्थान। — ज्ञानार्णव— 30/179.

<sup>283</sup> अनंतानंतमाकाशं सर्वतः ..... जगत्त्रयम्। — ध्यानदीपिका, प्रकरण— 7, श्लोक— 128—129.

<sup>284</sup> उत्पादस्थिति ..... लक्षणम्। — अध्यात्मसार— 16/39—40.

<sup>285</sup> द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थान विचयस्तु। — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 249.

<sup>286</sup> संवेगरंगशाला, गाथा— 9633—9664.

<sup>287</sup> अनाद्यन्तस्य लोकस्य ..... व्रजेत्। — योगशास्त्र, प्रकाश— 10, श्लोक— 14—15.

<sup>288</sup> षट्खण्डागम, भाग— 5, धवलाटीका, पृ. 72.

श्रावकाचारसंग्रह<sup>283</sup>, ध्यानसार<sup>284</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>285</sup>, ध्यानस्तव<sup>286</sup> आदि ग्रन्थों में संस्थानविचय धर्मध्यान का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि जगत् का तथा जगत् में रहे पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करना संस्थानविचय-धर्मध्यान है। लोक में अनेक द्रव्य हैं और एक-एक द्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्याय हैं, उनका परिणमन होता है, इस प्रकार का विचार तथा षट्द्रव्यों के स्वरूप आदि का विचार करना संस्थानविचय-धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के इन चार प्रकारों में एक विशेषता यह है कि ये व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनने की प्रेरणा देते हैं। अलग-अलग विषयों से सम्बद्ध होने के बावजूद भी ये सभी आत्मा से सीधे संलग्न होते हैं। वीतसाग देव की वाणी सत्य और तथ्यस्वरूप है। इसका चिन्तन-मनन करते-करते मन में उन तत्त्वों के प्रति स्वतः ही श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, जिससे कि आत्मा पवित्रता की ओर अग्रसर होती जाती है। श्रद्धाभाव होने पर संसार-पतन के हेतुओं से अपने-आप को दूर रखने के चिन्तन में एकाग्रता सहज ही हो जाती है तथा साधक शुभाशुभ परिणति के लिए विचार-विमर्श करता है, अर्थात् कर्मविपाक पर चिन्तन जाग्रत होते ही लोक के विराट स्वरूप का स्वतः ही भान होने लगता है। धीरे-धीरे उसकी कषायों में मंदता आने लगती है तथा उसे अपने निजस्वरूप का ज्ञान होने लगता है।

### संस्थानविचय-धर्मध्यान में चिन्तव्य पदार्थ (ध्यानशतक पर आधारित)

#### 1. षट्द्रव्यों के लक्षण, स्वरूप एवं भेद-प्रभेद, त्रिपदी का स्वरूप, द्रव्य, गुण, पर्याय

<sup>283</sup> संस्थानविचयम् प्राहुर्लोकाकारानुचिन्तनम्। - आदिपुराण, पर्व- 21, श्लोक- 148-158.

<sup>284</sup> ध्यानकल्पतरु, तृतीय शाखा, चतुर्थ पत्र, पृ. 205.

<sup>285</sup> आगमसार, पृ. 173.

<sup>286</sup> ध्यानविचार सविवेचन, पृ. 25-26.

<sup>287</sup> श्रावकाचार संग्रह, भाग- 5, गाथा- 40-42, पृ. 353.

<sup>288</sup> इत्थं त्रिजगतः ..... संस्थितिः ॥ - ध्यानसार, श्लोक- 133-139.

<sup>289</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह, नरेंद्रसेनाचार्य- 11/57-58.

<sup>290</sup> जिनाज्ञा-कलुषापाय ..... त्वयोदितः। - ध्यानस्तव, श्लोक- 12.

और उनका सह-सम्बन्ध।<sup>297</sup>

2. परमात्मा द्वारा कथित पंचास्तिकायमय लोक का स्वरूप।<sup>298</sup>

3. ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक का स्वरूप, अर्थात् त्रिभुवन का स्वरूप।<sup>299</sup>

4. लोकव्यवस्था का स्वरूप।

5. उपयोग लक्षण युक्त, अनादि, अनन्त, शरीर से भिन्न, अरूपी, स्वयं के कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता— ऐसे जीव का स्वरूप।<sup>300</sup>

<sup>297</sup> जिणदेसियाइं लक्खण ..... जे य दव्वाणं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 52.

<sup>298</sup> पंचस्थिकायमइयं ..... तिविहमहोलयभेयाइं ॥ — वही, गाथा— 53.

<sup>299</sup> खिइ—वलंय—दीव—सागर ..... लोगट्टिइविहाणं ॥ — वही, गाथा— 54.

<sup>300</sup> उवओगलक्खणमणाइतिहणमत्थंतरं ..... सयस्स कम्मस्स ॥ — वही, गाथा— 55.



निम्नांकित ग्रन्थों में धर्मध्यान के भेदों की चर्चा है—

स्थानांगसूत्र<sup>301</sup>, भगवतीसूत्र<sup>302</sup>, औपपातिकसूत्र<sup>303</sup>, तत्त्वार्थसूत्र<sup>304</sup>, प्रशमरतिप्रकरण<sup>305</sup>, अध्यात्मसार<sup>306</sup>, योगशास्त्र<sup>307</sup>, ध्यानदीपिका<sup>308</sup>, सम्मतिवृत्ति<sup>309</sup>, हितोपदेशवृत्ति<sup>310</sup>, ज्ञानार्णव<sup>311</sup>, आदिपुराण<sup>312</sup>, ध्यानविचार<sup>313</sup>, ध्यानस्तव<sup>314</sup>, ध्यानसार<sup>315</sup>, तत्त्वानुशासन<sup>316</sup>, ध्यानामृत<sup>317</sup> आदि ग्रन्थों में आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय— इन चार प्रकार के धर्मध्यानों का उल्लेख है।

1. आज्ञाविचय — तीर्थंकर के आदेशों का श्रद्धापूर्वक एकाग्र होकर चिन्तन करना।
2. अपायविचय — आगम निर्दिष्ट व्यवस्था को केंद्र में रखकर अपने आत्मिक-दोषों को दूर करने में एकाग्रचित्त होना।

<sup>301</sup> धम्मं ज्ञाणे चउख्विहे चउप्पडोयारे पण्णते, तं जहा—आणाविचए, अवायविचए, विवागविचए संटाणविचए। — स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 65.

<sup>302</sup> भगवतीसूत्र— 803.

<sup>303</sup> औपपातिकसूत्र— 20.

<sup>304</sup> आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। — तत्त्वार्थसूत्र— 9/37.

<sup>305</sup> जिनवरवचनगुणगणं, सञ्चिन्तयो वधाद्यपायांश्च। कर्मविपाकान विविधान् संस्थानविधीननेकांश्च॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 249.

<sup>306</sup> आज्ञाऽपायविपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात्। धर्मध्यानोपयुक्तानां, ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम्॥ — अध्यात्मसार, अ.— 16/35.

<sup>307</sup> आज्ञाऽपाय—विपाकानां, संस्थानस्य च चिन्तनात्। इत्थं वा ध्येयभेदेन धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधम्॥ — योगशास्त्र, प्रकरण— 10/7.

<sup>308</sup> आज्ञापायविपाकस्य क्रमशः संस्थितेस्तथा। विचयाय पृथग् ज्ञेयं धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥ — ध्यानदीपिका, प्रकरण— 7, श्लोक— 120.

<sup>309</sup> सम्मतिवृत्ति, का.— 3.

<sup>310</sup> तत्राज्ञाविचय—अपायविचय—विपाकविचय—संस्थानविचयभेदाद् धर्मध्यानमपि चतुर्धा तत्र क्षीणशेषरागद्वेषमोहस्य ..... धर्मध्यानम्॥ — हितोपदेशवृत्ति— 484.

<sup>311</sup> आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा। विचयैः यः पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥ — ज्ञानार्णव, सर्ग— 30, श्लोक— 05.

<sup>312</sup> तदाज्ञापायसंस्थानविपाकविचयात्मकम्। चतुर्विकल्पमाप्नातं ध्यानमाप्नाय वेदिभिः॥ — आदिपुराण, पर्व— 21, श्लोक— 134.

<sup>313</sup> भावतस्तु आज्ञाऽपाय—विपाक—संस्थानविचयभिदं धर्म—ध्यानम्। — ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 17.

<sup>314</sup> जिनाज्ञा—कलुषापाय—कर्मपाकविचारणा। लोकसंस्थानविचारश्च धर्मो देव त्वयोदितः॥ — ध्यानस्तव, श्लोक— 12.

<sup>315</sup> आज्ञापायविपाकश्च तथा संस्थानचिन्तनम्। इत्येवं योगिनः प्राहुर्धर्म्यध्यानं चतुर्विधम्॥ — ध्यानसार, श्लोक— 114, पृ. 34.

<sup>316</sup> आज्ञाऽपायौ विपाक च संस्थानं भुवनस्य च। यथागममविक्षिप्त—चेतसा चिन्तयेन्मुनिः॥ — तत्त्वानुशासन— 98.

<sup>317</sup> आज्ञापायविपाक संस्थान विचयाय धर्मम्। — ध्यानाऽमृत, धर्मालंकार पुस्तक से उद्धृत, पृ. 181.

3. **विपाकविचय** -- कर्मफल का विचार करके उससे मुक्त होने के उपाय ढूँढने में चित्त का एकाग्र होना।

4. **संस्थानविचय** -- लोक एवं जीव के संस्थान एवं स्वरूप का एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करना।

### धर्मध्यान के विभिन्न द्वार

आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक की मूल गाथाओं में धर्मध्यान का विवेचन विभिन्न द्वारों (बारह द्वार) के माध्यम से किया है। यहां द्वारों से तात्पर्य ध्यान के विभिन्न विषयों के वर्गीकरण से है।

ध्यानशतक के अन्तर्गत धर्मध्यान के विभिन्न द्वारों के नाम इस प्रकार हैं—

1. भावना—द्वार 2. देश—द्वार 3. काल—द्वार 4. आसन—द्वार 5. आलम्बन—द्वार
6. क्रम—द्वार 7. ध्येय—द्वार 8. ध्याता—द्वार 9. अनुप्रेक्षा—द्वार 10. लेश्या—द्वार
11. लिङ्ग—द्वार और 12. फल—द्वार।

इसमें श्रमणों को निर्देश है कि वे उपर्युक्त द्वारों को जानकर धर्मध्यान में तत्पर हों और धर्मध्यान के अभ्यास के पश्चात् उन्हें शुक्लध्यान की ओर प्रगति करना चाहिए।<sup>318</sup>

योगशास्त्र के सप्तम प्रकाश के प्रथम श्लोक के अन्तर्गत यह स्पष्ट लिखा है कि ध्यानसाधना के अभिलाषी को ध्याता, ध्येय तथा ध्यान का फल जानना चाहिए, क्योंकि सामग्री के बिना कार्य की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है।<sup>319</sup>

**अध्यात्मसार** के रचनाकार उपाध्याय यशोविजयजी ने, ध्यान का अभ्यास व्यवस्थित हो— इस हेतु पूर्व आचार्यों का अनुसरण करके बारह द्वारों का निर्देश किया है,

<sup>318</sup> ज्ञानस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं।

आलम्बणं कमं ज्ञाइयव्वयं जे य ज्ञायारो।।

तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं।

धम्मं ज्ञाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं।। — ध्यानशतक, गाथा— 28—29.

<sup>319</sup> ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम्।

सिध्यन्ति न हि सामग्रीं विना कार्याणि कर्हिचित्।। — योगशास्त्र— 7/1.

जो इस प्रकार है— 1. भावना 2. देश 3. काल 4. आसन 5. आलम्बन 6. क्रम 7. ध्यातव्य 8. ध्याता 9. अनुप्रेक्षा 10. लेश्या 11. लिङ्ग और 12. फल।<sup>320</sup>

**ध्यानदीपिका** के अनुसार, धर्मध्यान की सिद्धि के लिए बुद्धिजीवियों को भावना, स्थान, आसन, काल और आलम्बनादि उपयोगी साधनों को जानना चाहिए।<sup>321</sup>

ध्यान एक साधना है और वह देश, काल—निरपेक्ष नहीं हो सकती है, इसलिए ग्रन्थकार एवं टीकाकार ने इन द्वारों का उल्लेख किया, किन्तु इनमें ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम भावना—द्वार की चर्चा की है।

भावनाएं वस्तुतः एक ओर साधक की मनोदशा की सूचक हैं, वहीं दूसरी ओर, ध्याता को किस विषय का ध्यान करना चाहिए— इसको भी वे सूचित करती हैं।

**1. भावना—द्वार** —जैन—साहित्य में प्राचीनकाल से ही भावना के पर्यायवाची के रूप में 'अनुप्रेक्षा' शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता ने गाथा क्रमांक अट्ठाईस एवं उनतीस में भावना एवं अनुप्रेक्षा— दोनों की चर्चा की है। इन दोनों में कोई खास अन्तर नहीं है, सिर्फ अभ्यास की भिन्नता प्रतीत होती है। ज्ञान—दर्शनादि भावना ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए है और अनित्यादि अनुप्रेक्षा वीतराग—भाव की पुष्टि के लिए है।<sup>322</sup>

वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ ने जिस प्रेक्षाध्यान की पुनः स्थापना की है, उसमें उन्होंने भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।<sup>323</sup>

इसी कड़ी में आचार्य श्री नानेश ने 'समीक्षण ध्यानसाधना—विधि' में भी भावना का महत्त्व प्रतिपादित किया है।<sup>324</sup>

देश, काल और आसन— ये तीनों ध्यान के साधनरूप हैं, जबकि भावना ध्यान की ध्येय है। आचार्य जिनभद्रगणि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की गाथा क्रमांक तीस में यह स्पष्ट किया है कि पूर्वकृत अभ्यास और भावना के माध्यम से ही ध्यान की योग्यता प्रकट होती है।

<sup>320</sup> भावनादेशकालौ च स्वासनाऽऽलम्बनक्रमान् ।

ध्यातव्यध्यात्रनुप्रेक्षा लेश्या लिङ्गफलानि च ॥ — अध्यात्मसार— 16/18.

<sup>321</sup> भावनादीनि धर्मस्य स्थानाद्यासनकानि वा ।

कालश्चालम्बनादीनि ज्ञातव्यानि मनीषिभिः ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 106.

<sup>322</sup> जैनसाधना—पद्धति में ध्यानयोग, पृ. 267.

<sup>323</sup> प्रेक्षा—ध्यान : आधार और स्वरूप, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 41—45.

<sup>324</sup> समीक्षण ध्यानसाधना, आचार्य श्री नानेश, भाग— 4, पृ. 115—150.

ये भावनाएं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से सम्बन्धित हैं।<sup>325</sup> श्रीमद्भागवतगीता<sup>326</sup> में भावना के स्वरूप एवं उसके भेद का वर्णन करते हुए लिखा है—

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ।

आरूढक्षोरभ्यासः ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्यमेदाच्चतुर्धा ॥<sup>327</sup>

योगारूढ होने के इच्छुक मुनि के लिए निष्काम-कर्म (योग की साधना) ही साधन है, परन्तु योगारूढ में स्थित हुए मुनि के लिए समत्व ही मोक्ष का साधन है।

योगसाधना में आरोहण करने के अभिलाषी साधक के अभ्यास ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य-भावना के भेद से चार प्रकार के हैं।

न्यायकोश में कहा है— 'जैसा बनना है, उसके अनुरूप भावुक आत्मा की प्रवृत्ति (व्यापार) विशेष भावना है।'<sup>328</sup>

1 (अ). ज्ञान-भावना — ध्यानशतक में ध्यान की जिन विभिन्न भावनाओं की चर्चा की गई है, उसमें सर्वप्रथम ज्ञान-भावना का उल्लेख हुआ है। मूल ग्रन्थकार एवं टीकाकार हरिभद्रसूरि यह मानते हैं कि ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान के नियमित अभ्यास से ही मन अयोग्य विषयों से निवृत्त होकर आत्मविशुद्धि को प्राप्त होता है। ज्ञान-भावना के माध्यम से साधक अपनी विभाव एवं स्वभाव-दशा समझ सकता है, या दूसरे शब्दों में कहें, तो वह जीव-अजीव के स्वरूप अथवा द्रव्य के स्वरूप का ज्ञाता होता है और उसे यह बोध हो जाता है कि कौन-सी पर्याय जीव की स्वभाव-पर्याय है और कौन-सी विभाव-पर्याय है ? इस तरह से वह विभाव-दशा से हटकर स्वभाव-दशा में स्थिर होता है, साथ ही स्व में स्थित रहकर आत्मविशुद्धि को प्राप्त करता है।<sup>329</sup>

<sup>325</sup> (क) पुष्पकयम्भासो भावणाहिं ज्ञाणस्स जोग्गयमुवेई ।

ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गजणियाओ ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 30.

(ख) ज्ञानदर्शन चारित्र वैराग्याख्याः प्रकीर्तिताः । - अध्यात्मसार- 16/19.

(ग) ज्ञानदर्शनचारित्र्यं वैराग्याद्यास्तथा पराः ॥ - ध्यानदीपिका, श्लोक- 7.

<sup>326</sup> श्रीमद्भागवतगीता, अध्याय- 6, श्लोक- 3.

<sup>327</sup> तुलना- आरूढक्षुर्मुनिर्योगं श्रयेद् बाह्यक्रियामपि ।

योगारूढ शमादेव शुद्धयत्यन्तर्गतक्रियः ॥ - ज्ञानसार, शमाष्टक, श्लोक- 3.

<sup>328</sup> भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः भावना । - न्यायकोश, पृ. 626.

<sup>329</sup> णाणे णिच्चम्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।

नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 31.

आचारांगसूत्र की चूलिका के अनुसार— जीवाजीवादि नौ पदार्थ तत्त्वभूत हैं। वे तत्त्व सम्यक् प्रकार से जानने लायक हैं। इन तत्त्वों को विस्तार से जानने वाले व्यक्ति को ज्ञान-भावना होती है। ज्ञान-भावना से मन की एकाग्रता आदि गुण प्रकट होते हैं, इसलिए ज्ञान में वृद्धि, ज्ञानार्जन, स्वाध्याय, निर्जरा हेतु ज्ञानाभ्यास अवश्य करना चाहिए।<sup>330</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा गया है कि ज्ञान का नित्य अभ्यास होने से गुणों को साक्षात्कार करने वाला तथा निश्चय-मति वाला जीव अनायास ही धर्मध्यान में आगे बढ़ने लगता है।<sup>331</sup> संक्षेप में इतना ही समझना है कि कषायादि से रहित होकर तटस्थ-भाव से जानने की क्रिया का नाम ज्ञान-भावना है।<sup>332</sup>

अध्यात्मसार में ज्ञान-भावना से मन को भावित करने का मार्गदर्शन देते हुए कहा गया है कि ज्ञान-भावना से निश्चलत्व का लाभ होता है। श्रुतज्ञान के अभ्यास से जीव को हेय, ज्ञेय और उपादेय आदि का ज्ञान होता है। इस भावना से व्यक्ति का भेद-विज्ञान पुष्ट होता है।<sup>333</sup>

ध्यानविचार में कहा गया है कि ज्ञान-भावना तीन भेद से युक्त है। वे भेद निम्नांकित हैं— 1. सूत्र 2. अर्थ और 3. तदुभय (सूत्र और अर्थ)।<sup>334</sup>

अ. सूत्र ज्ञान-भावना — मूल पाठ का शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारणपूर्वक अध्ययन करना।

ब. अर्थ ज्ञान-भावना — सूत्रों, सिद्धान्तों पर रचित निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति आदि के द्वारा सूत्रों के अर्थों का अध्ययन-मनन करना।

स. तदुभय ज्ञान-भावना — सूत्र और अर्थ— दोनों के सन्देश को जीवन में आत्मसात् करना।

<sup>330</sup> तत्र ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावनां ..... भावना भवतीति ॥ 337 ॥ — आचारांगसूत्र, चूलिका— 3.

<sup>331</sup> ज्ञाने नित्याभ्यासा ..... धर्म्यं ध्यायति ॥ — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति.

<sup>332</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यान पुस्तक से उद्धृत, पृ. 268.

<sup>333</sup> अध्यात्मसार— 16/19-20.

<sup>334</sup> (क) तत्र ज्ञानभावना-सूत्रार्थ तदुभयभेदात् त्रिधा । — ध्यानविचार— 1.

(ख) वंजण-अर्थ-तदुभय ..... ॥ — श्रावकाचार के पंचाचार में ज्ञानाचार के अन्तर्गत.

ध्यानदीपिका में लिखा है कि पढ़ना, पूछना, यथार्थ तात्पर्य का चिन्तन-मनन करना, पुनरावर्तन करना और धर्म-उपदेश (स्व-पर हिताय) देना- यह सब ज्ञान-भावना है।<sup>335</sup>

1 (ब). दर्शन-भावना - ध्यानशतक में कहा है कि शंकादि से रहित होकर स्वभाव-दशा में स्थिर रहने के लिए दर्शन-भावना आवश्यक है।

आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक की टीका में यह स्पष्ट किया है कि शंकादि दोषों से रहित स्व-स्वरूप में अवस्थिति ही ध्यान के माध्यम से दर्शन-विशुद्धि का आधार बनती है। वे लिखते हैं कि शंकादि दोषों से रहित तथा प्रशम, स्थैर्य आदि गुणों से युक्त विवेकवान् साधु ही ध्यान से दर्शन-विशुद्धि को प्राप्त होता है और इसी ज्ञान के विकास तथा दर्शनविशुद्धि के द्वारा वह आगे चारित्र-भावना में आरोहण करता है।<sup>336</sup>

आचारांगसूत्र की चूलिका की गाथा क्रमांक तीन सौ उनतीस से तीन सौ चौतीस में दर्शन-भावना की विवेचना की गई है। तीर्थकरों, गणधरों आदि का दर्शन, कीर्तन, स्तवना, स्तोत्रों आदि एवं पुष्पमाला से पूजन, अर्चन करना, गुणगान करना दर्शनभावना है। निरन्तर अभ्यास द्वारा दर्शन-भावना के माध्यम से आत्मा के दर्शन की विशुद्धि होती है।<sup>337</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा है कि शंकादि शल्य से रहित, सम्मोह से रहित, संवेग-निर्वेद आदि गुणों से युक्त, दर्शन-भावना से युक्त, निर्मल बुद्धि वाला जीव निरन्तर धर्मध्यान में आगे बढ़ता है।<sup>338</sup> संक्षेप में, राग-द्वेषादि भावों से रहित होकर

<sup>335</sup> वाचना पृच्छना साधुप्रेक्षणं परिवर्तनम्।

सद्धर्मदर्शनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना ॥ - ध्यानदीपिका- 2/8.

<sup>336</sup> (क) संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ।

होइ असंभूढमणोदंसणसुद्धीय ज्ञाणमि ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 32.

(ख) शंकादिदोषरहित इति शङ्कनं शङ्का ..... प्रश्रम, स्थैर्यादिगुणगणोपेतः ॥

- ध्यानशतकटीका, हरिभद्रीय.

<sup>337</sup> दंसणनाणचरित्ते तववेरग्गे य होइ उ पसत्था।

जाय जहा ता य तहा लक्खण वुच्छ सलक्खणओ। तित्थगराण ..... इयं एसा दंसणे होई ॥

- आचारांगसूत्रे, चूलिका- 3.

<sup>338</sup> ..... तथा विगतशङ्कादिशल्यः प्रशम-संवेग-निर्वेदाऽनुकम्पाऽऽस्तिक्य-स्थैर्य-प्रभावना-यतना-सेवन भक्तियुक्तः असम्भूढचेता दर्शनभावनया विमलीकृतमतिरस्खलितमेव धर्मं ध्यायति ॥

- तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ.

तटस्थभाव से पदार्थ को देखना दर्शन-भावना है। इसके सम, संवेगादि पांच गुण हैं और शंका, कांक्षादि पांच दोष हैं।<sup>339</sup>

अध्यात्मसार में कहा है कि दर्शन-भावना का अभ्यास करने वाले को सदैव सुगुरु-सुधर्म के स्वरूप को जानना चाहिए। जिनवचनों पर श्रद्धा रखकर शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, प्रशंसा और संस्तवन- इन सम्यक्त्व के पांच दूषणों को प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए तथा जिनशासन की प्रभावना, जिनाज्ञा आदि का बराबर पालन करना चाहिए।<sup>340</sup>

ध्यानविचार के अनुसार आज्ञारुचि, नवतत्त्व-रुचि और अट्टाईस परम तत्त्वों की रुचि (अर्थात् ध्यान के चौबीस भेदों की रुचि) वाली 'दर्शनभावना' तीन भेद वाली है।<sup>341</sup>

ध्यानदीपिका में लिखा है कि संवेग, उपशम, स्थिरता, दृढ़-निश्चयता, निरभिमानता, आस्था और अनुकम्पा- ये दर्शनभावना के लक्षण हैं।<sup>342</sup>

1 (स). चारित्र-भावना - ध्यानशतक के कर्ता आचार्य जिनभद्रगणि ने चारित्र-भावना को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शुभत्व में स्थिर होने के लिए अशुभत्व का निराकरण अनिवार्य है। यह सत्य है कि शुभत्व के माध्यम से भी नवीन कर्मों का आदान तो होता है, किन्तु उसके साथ पुराने कर्मों की निर्जरा भी होती है, क्योंकि शुभ नाम, गोत्र, कर्मों के उपार्जन से वह पुण्य-प्रकृति का बंध करता है, जिसके अन्तर्गत साता-वेदनीय, सम्यक्त्वमोह, पुरुषवेद, शुभायु, नाम, गोत्र आदि की

प्राप्ति होती है, जिसके माध्यम से वह साधना के क्षेत्र में आगे प्रगति कर सकता है।<sup>343</sup>

<sup>339</sup> प्रस्तुत संदर्भ जैनसाधना-पद्धति में ध्यान पुस्तक से उद्धृत, पृ. 268.

<sup>340</sup> अध्यात्मसार- 16/19-20.

<sup>341</sup> दर्शनभावना-आज्ञारुचि-तत्त्व-परमतत्त्व-रुचि भेदात् त्रिधा संकाइदोसरहिओ इत्यादि।।  
- ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 174.

<sup>342</sup> संवेगः प्रशमः स्थैर्यमसंमूढत्वमस्मयः।

आस्तिक्यमनुकपेति ज्ञेया सम्यक्त्व भावना।। - ध्यानदीपिका- 2/9.

<sup>343</sup> नवकम्पायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।

चारित्तभावणाए ज्ञाणमयत्तेण य समेइ।। - ध्यानशतक, गाथा- 33.

आचारांगसूत्र की चूलिका में कहा है— अहिंसा—स्वरूप वाली पांचों महाव्रतों की भावना बहुत ही सुन्दर व शुभ है— यह जिनवाणी का यथार्थ कथन है। बारह प्रकार के तप का वर्णन मात्र जिनशासन में ही है, अन्य दर्शन में नहीं, अतः ये चारित्र—भावना के लक्षण हैं।<sup>344</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति<sup>345</sup> में कहा है— चारित्र—भावना में स्थित जीव नए कर्मों को ग्रहण नहीं करते, साथ ही पुराने कर्मों की निर्जरा करते हैं और शुभ कर्मों का संचय करते हुए धर्मध्यानी होते हैं।

अध्यात्मसार के कर्ता यशोविजयजी ने चारित्र—भावना का वर्णन करते हुए कहा है— 'प्रस्तुत भावना का अभ्यास करने वाले को इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करके विषयों और कषायों पर विजय प्राप्त करना चाहिए।' हिंसादि सावद्य—क्रियाओं से हटकर बारह प्रकार के तपों में रमण करना और समिति, गुप्ति का पालन करना चाहिए।<sup>346</sup>

ध्यानविचार में कहा है कि चारित्र—भावना के भी तीन स्तर हैं। वे निम्नांकित हैं—

1. सर्वविरत
2. देशविरत और
3. अविरत।<sup>347</sup>

ध्यानदीपिका के अनुसार गमनागमन आदि के सम्बन्ध में संयम, निग्रह करना, मन—वचन—काया का गोपन करना एवं परीषह सहन करना ही चारित्र—भावना है।<sup>348</sup>

रागादिभावों से रहित होकर समभाव की साधना के अभ्यास का नाम ही चारित्र—भावना है। इनमें चार कार्य होते हैं—

1. आस्रवों को रोकना
2. पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा
3. समिति, गुप्ति में शुभ प्रवृत्ति
4. ध्यान की सहज प्राप्ति।<sup>349</sup>

<sup>344</sup> साधु शोभनोऽहिंसादिलक्षणो धर्म इति प्रथमव्रतभावना, तथा सत्यमस्मिन्नेवाहते प्रवचने साधु शोभनं ..... द्वादशाङ्गं तप इहैव शोभनं नान्यत्रेति । — आचारांगसूत्र, चूलिका— 3.

<sup>345</sup> ..... तथाचरणभावनाधिष्ठितः कर्माष्यपराणिनादत्ते, पुरातननिर्जरणं शुभानि वा सञ्चिनुते ततश्चायत्नेनैव धर्मध्यायी भवति ॥ — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ.

<sup>346</sup> अध्यात्मसार— 16 / 19—20.

<sup>347</sup> चारित्र—भावना—सर्वविदित देशविरत—अविरत—भेदात् त्रिधा ॥ —ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 174.

<sup>348</sup> ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्कायगुप्तयः ।

परिषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावना ॥ — ध्यानदीपिका— 2 / 10.

<sup>349</sup> जैनसाधना—पद्धति में ध्यानयोग, पृ. 268.



1 (द). वैराग्य-भावना — ध्यानशतक में वैराग्य-भावना का निरूपण करते हुए कृतिकार कहते हैं— संसार के स्वभाव को भलिभांति जान लेने और विषयासक्ति, भय तथा अपेक्षाओं से मुक्त होने पर हृदय में वैराग्यभाव उत्पन्न हो जाता है। फलस्वरूप, ध्यान में स्थिरता आ जाती है, निसंगता, निर्भयता आदि गुणों की सहज रूप से प्राप्ति होती है।<sup>350</sup>

आचारांग की चूलिका के अनुसार वैराग्य-भावना अर्थात् सांसारिक-सुखों की जुगुप्सा, साथ ही यह चिन्तन कि ज्ञान, दर्शन से युक्त मेरी आत्मा शाश्वत है, बाकी सब संयोग मेरा बाह्य-भाव है।<sup>351</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति के अनुसार, तप और त्याग करने के लिए मैं समर्थ हूँ, शरीर-शुश्रूषा का त्याग करने में मैं समर्थ हूँ, मेरा कौनसा तप कौनसे द्रव्य में चलता है— इस प्रकार का चिन्तन करना, संसार के प्रति निर्वेद-भावना माना है।<sup>352</sup> संक्षेप में, अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय-प्रवृत्ति का सतत अभ्यास करना ही वैराग्य-भावना है।<sup>353</sup>

अध्यात्मसार में कहा है कि वैराग्य-भावना का अभ्यास करने वाले को विनाशशील संसार के स्वभाव तथा शरीर के स्वरूप को जानकर अनासक्त बनना चाहिए, विषय-वासनाओं से विरक्त होना चाहिए। ऐसी भावना से हृदय को भावित करने पर धर्मध्यान करने वालों की योग्यता में वृद्धि होती है।<sup>354</sup>

ध्यानविचार के अनुसार वैराग्य-भावना के तीन भेद हैं—

1. अनादि भव-भ्रमण का चिन्तन 2. विषयों की विमुखता और 3. देह की अशुचिता का चिन्तन।<sup>355</sup>

ध्यानदीपिका में लिखा है कि विषयों के प्रति ममत्व नहीं रखना, तत्त्वों का चिन्तन करना, स्वभाव का विचार करना वैराग्य-भावना है। इससे साधक सहज ही ध्यानारूढ़ हो सकता है।<sup>356</sup>

<sup>350</sup> सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्बओ निरासो य।

वेरग्गभावियमणो ज्ञाणमि सुनिच्चलो होइ ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 34.

<sup>351</sup> इत्येवं तपसि भावना विधेया। एवं संयमे इन्द्रियनोइन्द्रियनिग्रहरूपे तथा संहनने वज्रर्षभादिके ....

वैराग्यभावना अनित्यत्वादि भावनारूपा। — आचारांगसूत्रे चूलिका.

<sup>352</sup> वैराग्यं नाभेत्यादि। विरागभावोवैराग्यम् ..... ॥ — तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ.

<sup>353</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यानयोग, पृ. 268.

<sup>354</sup> अध्यात्मसार— 16/19-20.

<sup>355</sup> वैराग्यभावना-अनादि भवभ्रमण चिन्तन-विषयवैमुख्य-शरीराशुचिता चिन्तन भेदात् त्रिधा सुविदियजगस्सभावो इत्यादि ॥ — ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 174.

सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयी के सतत अभ्यास से ध्यान की योग्यता प्रकट होती है।

**2. देश-द्वार** — ध्यानशतक में कहा है कि ध्यान की साधना के लिए क्षेत्र का भी महत्त्व है। युवतियों, पशुओं, नपुंसकों और निंदनीय आचरण करने वाले व्यक्तियों से शून्य अथवा एकान्त स्थान को साधु के आवास एवं ध्यान के योग्य माना गया है। ध्यान के लिए तो विशेष रूप से एकान्त ही होना चाहिए।<sup>357</sup>

सामान्यतया, यह माना जाता है कि एकान्त-क्षेत्र में ध्यान-साधना अच्छी तरह से होती है, किन्तु जैनदर्शन की मान्यता यह है कि ध्यान की साधना का सम्बन्ध किसी स्थान-विशेष से नहीं है। सक्षम साधक के लिए जनाकीर्ण स्थान पर भी वह सम्भव है, फिर भी टीकाकार हरिभद्र ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि ध्यान-साधना जनाकीर्ण स्थान की अपेक्षा एकान्त में अधिक सफल होती है। इस बात का समर्थन हमें प्राचीनतम जैन-आगम आचारांगसूत्र से भी मिलता है। उसमें कहा गया है कि धर्मसाधना ग्राम में भी एवं अरण्य में भी हो सकती है और न ग्राम में हो सकती है, न ही अरण्य में हो सकती है।<sup>358</sup>

सम्मतिवृत्ति में यह उल्लेख भी मिलता है कि प्रशस्त-धर्मध्यान और शुक्लध्यान— ये दोनों उपादेय हैं। प्रस्तुत ध्यान में पर्वत की गुफा, जीर्णशीर्ण उद्यान, श्मशान, घर, जनपद से रहित स्थान जहां कि एकाग्रता में व्यवधान आए— ऐसे निमित्तों से रहित उचित शिला, जहां मन्द-मन्द वायु चलता हो— ऐसे स्थान पर खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते हैं।<sup>359</sup>

<sup>356</sup> विषयेष्वन्भिष्वङ्ग कार्यं तत्त्वानुचिन्तनम्।

जगत्स्वभावचिन्तेति वैराग्यस्थैर्यभावनाः ॥ — ध्यानदीपिका— 2/11.

<sup>357</sup> निच्छं चियं जुवइ पसू नपुंसग—कुसीलवज्जियं जइणो।

ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाणकालमि ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 35.

<sup>358</sup> (क) ग्रामे जनाकीर्णं शून्येऽरण्ये वा न विशेषः ॥ — आचारांग— 1/8/1.

(ख) गामे वा अदुवारण्णे नेव गाम नेव रण्णे ॥ — आचारांग— 1/8/1.

<sup>359</sup> उपादेयं तु प्रशस्तं धर्म—शुक्ल ध्यानद्वयम्। तत्र पर्वतगुहा जीर्णोद्यान ..... ॥

— सम्मतिवृत्ति, का. 3.

षट्खण्डागम एवं तत्त्वानुशासन में कहा गया है कि निश्चल, स्थिर मन वाले साधक के लिए ग्राम, नगर, वन, श्मशान, गुफा, महल— सब समान हैं।<sup>360</sup>

अध्यात्मसार<sup>361</sup> के अनुसार, आगम में मुनि के लिए स्त्री, पशु, नपुंसक और दुःशील से रहित स्थान कहा गया है। इसमें भी ध्यान के समय को विशेष रूप से कहा है।

योगशास्त्र के कर्ता हेमचन्द्राचार्य, ध्यान करने के लिए किस प्रकार के स्थान की जरूरत है— उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि आसनों का अभ्यास कर लेने वाला योगी ध्यान की सिद्धि के लिए तीर्थकरों की जन्मभूमि या दीक्षा, कैवल्य अथवा निर्वाणभूमि में जाए। यदि जाने की सुविधा न हो, तो किसी एकान्त स्थान का आश्रय ले।<sup>362</sup>

ज्ञानार्णव के ग्रन्थकार आचार्य शुभचन्द्रजी ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ के पच्चीसवें प्रकरण के 'ध्यानविरुद्धस्थान' के अन्तर्गत गाथा क्रमांक बाईस से पैंतीस तक ध्यान के योग्य तथा अयोग्य स्थानों की चर्चा की है।<sup>363</sup>

आदिपुराण में भी इसी बात का समर्थन किया है कि अध्यात्म के स्वरूप को जानने वाला मुनि सूने घर में, श्मशान में, जीर्ण वन में, नदी के किनारे, पर्वत के शिखर पर, गुफा में, वृक्ष की कोटर में अथवा और भी किसी ऐसे पवित्र तथा मनोहर प्रदेश में, जहां आतप न हो, सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, इत्यादि स्थानों पर ध्यान कर सकता है।<sup>364</sup>

<sup>360</sup> (क) थिरकयजोगाणंपुण मुणिणं ज्ञाणेसु ..... विसेसो ।।

— षट्खण्डागम, भाग- 5, धवलाटीका, पृ. 67.

(ख) तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र (रा.से.), गाथा- 90-95.

<sup>361</sup> स्त्रीपशुकलीबदुःशील-वर्जितं स्थानमागमे । सदा यतीनामाज्ञप्तं ध्यानकाले विशेषतः ।।

— अध्यात्मसार- 16/26.

<sup>362</sup> तीर्थ वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये । कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ।

— योगशास्त्र- 4-123.

<sup>363</sup> विकीर्यते मनः सद्यः स्थानदोषेण देहिनाम् । तदेव स्वस्थतां धत्ते स्थानमासाद्य बन्धुरम् ।

म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं ..... सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः । — ज्ञानार्णव- 25/22-35.

<sup>364</sup> शून्यालये श्मशाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा । सरित्पुलिनगिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ।

शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातके । नात्युष्णशिशिरे नापि प्रबुद्धतरमारुते ।

विमुक्तवर्षसंबाधे सूक्ष्मजन्तवनुपद्रुते । जल संपातनिर्मुक्ते मन्दमन्द नभस्वति ।

— आदिपुराण- 21/57-59.

<sup>365</sup> सिद्धतीर्थादिके क्षेत्रे शुभस्थाने निरञ्जने ।

**ध्यानदीपिका** के अनुसार, जिन स्थलों पर जीवों ने मुक्ति प्राप्त की हो— ऐसे तीर्थस्थानों में, अच्छे स्थानों में, जहां मनुष्य न रहते हों— ऐसे स्थानों में, अथवा जहां मन को शांति मिलती हो— ऐसे प्रदेशों में मुनि को ध्यान करना चाहिए।<sup>365</sup>

**योगद्वार :** ध्यानशतक के अनुसार, योगों की स्थिरता से जिनका मन ध्यान में निश्चल हो गया है— ऐसे मुनियों के लिए मनुष्यों से व्याप्त ग्राम में और शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं है, अतः जिस स्थान पर ध्यान करने से मन, वचन और काया के योगों की स्थिरता में व्यवधान न हो, जो स्थान जीवाकुल प्रदेश से रहित हो— ऐसे स्थान ध्यान—साधना के लिए अनुकूल होते हैं।<sup>366</sup>

इससे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ध्यान के लिए शारीरिक—एकाग्रता एवं वचन का मौन भी आवश्यक है, क्योंकि उपर्युक्त दोनों आवश्यकताएं मन की एकाग्रता में सहायक होती हैं। मन जो भी विकल्प करता है, उन विकल्पों की अभिव्यक्ति वचन और शरीर के द्वारा होती है।

टीकाकार हरिभद्र कहते हैं कि योगों की अस्थिरता की एक चतुर्भंगी बनती है—

एक व्यक्ति शरीर से स्थिर होता है, लेकिन मन से अस्थिर होता है।

एक व्यक्ति मन से स्थिर होता है, लेकिन शरीर से अस्थिर होता है।

एक व्यक्ति मन और शरीर— दोनों से अस्थिर होता है।

एक व्यक्ति मन, वचन और शरीर— तीनों से अस्थिर होता है।

जिस प्रकार अस्थिरता की एक चतुर्भंगी बनती है, उसी प्रकार योगों की स्थिरता की भी एक चतुर्भंगी बन सकती है—

शरीर से स्थिर और मन स्थिर।

वचन से स्थिर और मन स्थिर।

शरीर और वचन— दोनों से स्थिर।

मन—वचन और काया— तीनों से स्थिर।

मनः प्रीतिप्रदेशेध्यानसिद्धिर्भवेन्मुनेः ॥ — ध्यानदीपिका— 114.

<sup>366</sup> थिर—कयजोगाणं पुण मुणीण ज्ञाणे सुनिश्चलमणाणं।

गाममि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे वण विसेसो।

तो जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवायकायजोगाणं।

भूओवरोहरहिओ सो देसो ज्ञायमाणस्स। — ध्यानशतक— 36—37.

अध्यात्मसार में लिखा है कि स्थिर योग वाले योगी के लिए तो गांव, जंगल या उपवन कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है। जहां साधि रहे, वही प्रदेश या स्थल ध्यान के अनुकूल माना जाता है।<sup>367</sup>

ध्यानदीपिका में भी इसी बात की पुष्टि मिलती है कि स्थिर योग के अभ्यासी को जन-समुदाययुक्त ग्राम अथवा शून्य जंगल— दोनों स्थान बाधरहित प्रतीत होते हैं।<sup>368</sup>

**3. काल—द्वार** — कालद्वार के अन्तर्गत ध्यानशतक की गाथा क्रमांक अड़तीस में कहा गया है कि सामान्यतया यह माना जाता है कि दिवस और रात्रि के संधिकाल के समय अथवा मध्याह्न में ध्यान करना अच्छा होता है<sup>369</sup>, किन्तु मूल ग्रन्थकार का मन्तव्य यह है कि दिन और रात्रि के संधिकाल में ध्यान ज्यादा अच्छी तरह होता है, फिर भी न तो मूल ग्रन्थकार जिनभद्रगणि और न ही टीकाकार हरिभद्र इससे सहमत थे। वे कहते हैं कि दिवस या रात्रि आदि ध्यान के लिए आवश्यक तत्त्व नहीं हैं। साधक अपनी स्थिति के अनुसार कभी भी ध्यान कर सकता है।<sup>370</sup>

अध्यात्मसार में भी यही लिखा है कि ध्यानी के लिए काल का कोई बन्धन नहीं होता है। चित्त की स्थिरता होने के बाद काल की प्रतिकूलता का बन्धन कम हो जाता है।<sup>371</sup>

ध्यानदीपिका के अनुसार, मन, वचन और काया के योग का श्रेष्ठ समाधान—कारक समय ही उपयुक्त है। ध्यान हेतु दिन, रात, वेला आदि का कोई नियम नहीं है।<sup>372</sup>

<sup>367</sup> स्थिरयोगस्य तु ग्रामे—ऽविशेषा कानने वने।

तेन यत्र समाधानं स देशो ध्यायतो मतः ॥ — अध्यात्मसार— 16/27.

<sup>368</sup> ध्यानदीपिका, पृ. 270.

<sup>369</sup> कालोऽवि सौच्यिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।

न उ दिवस—निसा—वेलाइनियमणं झाइणो भणियं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 38.

<sup>370</sup> दिवस निशा—वेलादिनियमनं ध्यायिनो भणितमिति ... ॥ — ध्यानशतक, हारिभद्रीयवृत्ति, पृ. 66.

<sup>371</sup> यत्र योगसमाधानं कालोऽपीष्टः स एव हि।

दिनरात्रिक्षणादीनां ध्यानिनो नियमस्तु न ॥ — अध्यात्मसार— 16/28.

<sup>372</sup> यत्र काले समाधानं योगानां योगिनो भवेत्।

ध्यानकालः स विज्ञेयो दिनादर्नियमोऽस्ति नः ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 115.

आदिपुराण में भी यह स्पष्ट लिखा है कि ध्यानाभिलाषी धीर, वीर साधकों के लिए रात-दिन और संध्याकाल आदि का समय निश्चित नहीं है। ध्यानरूपी धन इच्छानुसार किसी भी समय प्राप्त किया जा सकता है।<sup>373</sup>

जो निरन्तर शुभभावों में रमण करता है, उस मुनि के लिए काल-विशिष्ट का महत्त्व नहीं है, किन्तु डॉ. सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक जैनसाधना-पद्धति में ध्यान<sup>374</sup> में स्पष्ट लिखा है कि जहां तक मुनि की सामाचारी का प्रश्न है, उत्तराध्ययन-सूत्र में सामान्य रूप से मध्याह्न और मध्यरात्रि को ध्यान के लिए उपयुक्त समय बताया गया है।<sup>375</sup> उपासकदशांगसूत्र में शकडाल पुत्र के द्वारा मध्याह्न में ध्यान करने का निर्देश है।<sup>376</sup> कहीं-कहीं प्रातःकाल और संध्याकाल में भी ध्यान करने का विधान मिलता है।

**4. आसन-द्वार — ध्यानशतक** ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है कि देह की जिस अभ्यस्त-अवस्था में निर्बाध ध्यान सम्भव हो, उसी अवस्था में ध्यान करना चाहिए। इसमें बैठे या खड़े रहने के लिए किसी खास आसन का महत्त्व नहीं है।<sup>377</sup>

दूसरे शब्दों में, सामान्यतया योगदर्शनों में ध्यान के लिए आसन को आवश्यक माना गया है, किन्तु जैन-दर्शन में ध्यान के लिए आसन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इस बात पर ज्यादा जोर दिया गया है कि शरीर की जिस किसी भी अवस्था में ध्यान सम्भव हो, उसी अवस्था या आसन को स्वीकार करके ध्यान करना चाहिए।

टीकाकार हरिभद्र ने अपनी टीका में भी मूल ग्रन्थकार के मन्तव्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि जिस किसी आसन से ध्यान में स्थिरता प्राप्त होती हो, उसी आसन में ध्यान करना चाहिए। यद्यपि उन्होंने टीका में खड़े होकर, बैठकर अथवा वीरासन आदि के द्वारा ध्यान करने का निर्देश किया है।<sup>378</sup>

<sup>373</sup> न चाहोरात्रसंध्यादिलक्षणः कालपर्ययः।

नियतोऽस्याति दिध्यासोस्तद्ध्यानं सार्वकालिकम् ॥ - आदिपुराण- 21/81.

<sup>374</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यान, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 20.

<sup>375</sup> उत्तराध्ययनसूत्र- 26/12.

<sup>376</sup> उपासकदशांगसूत्र- 8/182.

<sup>377</sup> जच्चिय देहावस्था जियाण ज्ञाणोवरोहिणी होइ।

ज्ञाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णोवा ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 39.

<sup>378</sup> उपविष्टो वीरासनादिना ..... ॥ - ध्यानशतक, हारिभद्रीय टीकासहित, सन्मार्ग प्रकाशन, पृ. 66

देश, काल और आसन के ध्यान की चर्चा के उपरान्त मुख्य रूप से मूल ग्रन्थ की गाथा क्रमांक चालीस-इकलातीस में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि श्रेष्ठ केवलज्ञान का लाभ तो पाप के उपशमन से ही होता है तथा जब तक योगों का समाहार नहीं होता, तब तक पाप भी उपशान्त नहीं होते। इस अपेक्षा से यह मानना चाहिए कि योगों के समाधान के लिए इन बाह्य-तत्त्वों का स्थान रहा हुआ है। इस प्रकार, मूल ग्रन्थकार तथा टीकाकार ने ध्यानसाधना के क्षेत्र में देश, काल, आसन आदि के महत्त्व को स्थापित किया है।<sup>379</sup>

अध्यात्मसार में इस बात की पुष्टि करते हुए यशोविजयजी लिखते हैं कि सिद्ध किया हुआ आसन कभी भी ध्यान का उपघात नहीं कर सकता है, अतः तदनुसार बैठे-बैठे, खड़े-खड़े अथवा लेटे-लेटे भी ध्यान कर सकते हैं।<sup>380</sup>

योगशास्त्र ग्रन्थ के कर्ता हेमचन्द्राचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकाश की गाथा क्रमांक एक सौ चौबीस से एक सौ छत्तीस तक आसनों के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा है कि जिस आसन से लम्बे समय तक बैठने पर भी समाधि रहे, चित्त विचलित न हो- इस तरह के सुखासन में ही ध्याता को बैठना चाहिए।<sup>381</sup>

आदिपुराण में लिखा है- शरीर की जो-जो अवस्था (आसन) ध्यान का विरोध करने वाली न हो, उसी-उसी अवस्था में स्थित होकर मुनियों को ध्यान करना चाहिए। वे अवस्थाएं चाहे वीरासन, वज्रासन, गोदोहास, धनुरासन आदि क्यों न हों, अर्थात् खड़े होकर, बैठकर, सोकर भी ध्यान कर सकते हैं।<sup>382</sup>

ध्यानदीपिका में भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि पद्मासन, सिद्धासन या स्वस्तिकासन आदि जो आसन ध्यान में व्यवधान न डालें, जिस आसन से ध्यानसिद्धि सम्भव हो, उसी आसन में साधक को ध्यानमग्न होना चाहिए। एक बात यह भी ध्यान

<sup>379</sup> (क) सव्वासु वड्डमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु।  
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा।।  
तो देस-काल-चेट्ठानियमो ज्ञाणस्स नत्थि समयमि।  
जोगाण समाहाणं जइ होइ तहा पयइयत्वं।। - ध्यानशतक, गाथा- 40-41.

(ख) अध्यात्मसार- 16/30.

<sup>380</sup> यैवाऽवस्था जिता जातु न स्याद् ध्यानोपघातिनी।  
तथा ध्यायेन्निषण्णो वा स्थितो वा शयितोऽथवा।। - अध्यात्मसार- 16/29.

<sup>381</sup> पर्यक-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च। उत्कटिका-गोदोहिका-कायोत्सर्गस्तथाऽसनम्  
स्याज्जंघ ..... ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत्।। - योगशास्त्र- 4/124-136.

<sup>382</sup> पत्यं क इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः। समप्रयुक्तसर्वाङ्गो द्वात्रिंशदोषवर्जितः।  
विसंस्थुलासनस्थस्य ..... सुखासनम्।। - आदिपुराण- 21/69-75.

देने योग्य है कि ध्यानी पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख ही होना चाहिए— ऐसा कोई नियम नहीं है।<sup>383</sup>

इसके अतिरिक्त, अनेक जैनग्रन्थों में ध्यान के आसनों के सम्बन्ध में काफी विचार-विमर्श हुआ। साधारणतया, पद्मासन, पर्यकासन एवं खड्गासन आदि ध्यान के महत्त्वपूर्ण आसन माने जाते हैं।<sup>384</sup>

स्थानांगसूत्र में विविध आसनों का विवेचन है।<sup>385</sup>

औपपातिकसूत्र में एक स्थान पर भगवान् महावीर के अनगारों की उत्कृष्ट धर्मारधना का विवेचन हुआ है, स्वरुचि साधक आराधना-साधना में लीन रहते थे। कुछ साधक अपने दोनों घुटनों को ऊंचा उठाए, मस्तक को नीचा किए, एक विशेष आसन में अवस्थित होते हुए ध्यानरूपी कोष्ठ में प्रविष्ट होते थे, अर्थात् ध्यानरत रहते थे।<sup>386</sup>

सामान्यतया, जैन-परम्परा के अन्तर्गत पद्मासन और खड्गासन ही ध्यान हेतु अधिक प्रख्यात आसन रहे हैं,<sup>387</sup> किन्तु कल्पसूत्र में यह उल्लेख भी मिलता है कि जब महावीर को केवलज्ञान प्रकट हुआ, तब वे गोदुहासन में स्थित थे।<sup>388</sup>

श्री परमात्मद्वात्रिंशिका के कर्ता आचार्य अमितगति ने कहा है कि ध्यान का आसन न संस्तर है, न पाषाण है, न त्रण है, न भूमि है और न काष्ठफलक है, किन्तु जिसके अन्तःकरण से विषय-कषायरूप शत्रु नष्ट हो गए हैं, उसी निर्मल साधक को ज्ञानीजनों ने ध्यान का आसन माना है।<sup>389</sup>

<sup>383</sup> पद्मासनादिना येना-सनेनैव सुखी भवेत्। ध्यानं तेनासनेन स्याद् ध्यानानि ध्यानसिद्धये।  
पूर्वाभिमुखो ध्यानी न चोत्तराभिमुखोऽथवा। प्रसन्नवदनो धीरो ध्यानकाले प्रशस्यते।।

— ध्यानदीपिका— 116-117.

<sup>384</sup> (क) ठाणं (सुत्तागमे) — 5/1/494.

(ख) आयारे (सुत्तागमे) — 1/9/4/512, 2/3/1/700-702.

(ग) अध्यात्मतत्त्वालोक— 3/94-97.

(घ) ज्ञानार्णव— 28/9-10.

<sup>385</sup> पंच णिसिज्जाओ पण्णताओ, तं जहा—उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुता पलियंका  
अट्टपलियंका। — स्थानांगसूत्र— 5/1/50, स. मधुकरमुनि, पृ. 465.

<sup>386</sup> औपपातिकसूत्र— 31, पृ. 80.

<sup>387</sup> ज्ञानार्णव— 28/10.

<sup>388</sup> गोदोहियाए उक्कुडयनिलिज्जाए। — कल्पसूत्र— 120.

<sup>389</sup> नसंस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।

यतो निरस्ताक्ष-कषाय-विद्विषः सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः। — श्री परमात्म द्वात्रिंशिका— 22.

<sup>390</sup> भेद में छिपा अभेद। — यु. महाप्रज्ञ, पृ. 110.



आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार, आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है और ध्यान से होने वाली शरीर की हानियों से दूर रहा जा सकता है।<sup>390</sup>

डॉ सागरमल जैन का कहना है कि समाधिमरण या शारीरिक-अशक्ति की स्थिति में लेटे-लेटे भी ध्यान किया जा सकता है।<sup>391</sup>

सरांश यह है कि जिन आसनों को साधक ने सिद्ध कर लिए हों और सुखपूर्वक बैठने में जो आसन व्यवधान न पहुंचाते हों, वे ही आसन ध्यान के लिए सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।<sup>392</sup>

**5. आलम्बन—द्वार** — वाचना, प्रश्न पूछना, सूत्रों का अभ्यास, अनुचिन्तन, सामायिक और सदधर्म की आवश्यक बातें— ये ध्यान के आलम्बन हैं।<sup>393</sup>

जिस प्रकार कोई व्यक्ति मजबूत रस्सी के सहारे दुर्गम स्थान पर पहुंच जाता है, उसी प्रकार साधक भी वाचना, पृच्छना आदि के आलम्बन से शुद्ध ध्यान में आरूढ़ हो जाता है, अथवा ध्यान का साधक सूत्रों का सहारा लेकर श्रेष्ठ ध्यान तक जा पहुंचता है।<sup>394</sup>

शुक्लध्यान की अन्तिम दो अवस्थाओं को छोड़कर धर्मध्यान और प्रारम्भिक शुक्लध्यान में आलम्बन रहते हैं। इन आलम्बन की चर्चा करते हुए मूल ग्रन्थकार ने एक ओर सामायिक तथा दूसरी ओर वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुचिन्ता आदि को ध्यान के आलम्बन के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने यह माना है कि सामायिक आदि आवश्यक-क्रियाएं और स्वाध्याय— ये ध्यान के आलम्बन हैं। सामायिक में जो मुख-वस्त्रिका, प्रतिलेखन आदि क्रियाएं 'सकल चक्रवाल समाचारी' में समाहित हैं, वे प्रतिलेखनादि में चित्त की एकाग्रता और सजगता के लिए आवश्यक हैं। इस प्रकार, षडावश्यकों, जो कि चारित्रधर्मरूप हैं, उनमें भी सजगता और एकाग्रता आवश्यक होती है, अतः वे भी आलम्बन ही माने गए हैं। इसी प्रकार, स्वाध्याय के वाचनादि अंग भी

<sup>391</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यान, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 19.

<sup>392</sup> ज्ञानार्णव— 28/11.

<sup>393</sup> आलंबणाइ वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिन्ताओ।

सामाइयाइयाइं सद्धम्मावस्ससयाइं च॥ — ध्यानशतक— 42.

<sup>394</sup> विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।

सुत्ताइकयालंबो तह ज्ञाणवरं समारूहइ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 43.

धर्मध्यान में आरोहण करने के लिए आलम्बनरूप ही हैं। ध्यान एवं विशेष धर्मध्यान के लिए दृढ़ता (बलवान) आवश्यक होती है और आलम्बन के आधार से ही ध्यान में क्रमशः प्रगति होती है। चूंकि ध्यान में प्रगति के लिए मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का समाहार या चित्तवृत्ति की समाधि आवश्यक है, अतः साधक को ध्यान के क्षेत्र में आलम्बन लेकर ही प्रयत्न करना चाहिए, इससे चित्त की भटकन कम होती है।

केवली का ध्यान तो निरालम्बन और योगनिग्रहरूप होता है, किन्तु सामान्य व्यक्ति के ध्यान के लिए तो आलम्बन अपेक्षित होते हैं।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आचार्य हरिभद्र ने ध्यानशतक की अपनी टीका में धर्मध्यान के लिए आलम्बन की महत्ता को स्थापित किया है, क्योंकि जब तक राग-देष आदि कषायों का शमन नहीं होता, तब तक ध्यान के क्षेत्र में प्रगति सम्भव नहीं है। आलम्बनों के स्वरूप की चर्चा आगे विस्तार से की जाएगी।

**6. क्रम-द्वार** — ध्यानशतक में क्रमद्वार का निरूपण करते हुए लिखा है कि मोक्षप्राप्ति से पहले अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त केवली के शुक्लध्यान में मनोयोग आदि का निरोध होता है। वह क्रम है— सूक्ष्म मनोयोग, फिर सूक्ष्म वचनयोग और अन्त में सूक्ष्म काययोग का निरोध, बाकी धर्मध्यान की अवस्थाओं में साधक जिस प्रकार भी समाधि को प्राप्त हो, उसी क्रम से निग्रह करता है।<sup>395</sup>

ध्यान का मुख्य लक्ष्य तो मन का अमन हो जाना है, विकल्पों का शान्त हो जाना है, किन्तु यह सब सहज ही सम्भव नहीं होता है। उसके लिए प्रयत्न अथवा साधना आवश्यक है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के जो विभिन्न चरण आगमों में या प्रस्तुत कृति में उल्लेखित हैं, वे सब इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि ध्यान के क्षेत्र में चित्तवृत्ति के निरोध के प्रयत्नों से लेकर निर्विकल्प-अवस्था तक पहुंचने में न केवल समय और साधना अपेक्षित है, अपितु उसमें क्रम भी आवश्यक है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान के चार-चार भेद उसी क्रम को सूचित करते हैं। सर्वप्रथम ज्ञेय विषय का आलम्बन होता है और फिर क्रमशः उस ज्ञेय विषय को सूक्ष्म

<sup>395</sup> ज्ञाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ।

भवकाले केवलिणो सेसस्स जहासमाहीए।। — ध्यानशतक, गाथा— 44.

करते हुए अन्त में निर्विकल्प-दशा को प्राप्त किया जाता है। इससे यह निश्चित होता है कि ध्यान-साधना में क्रमशः ही व्यक्ति आगे बढ़ सकता है।

अध्यात्मसार के अनुसार, केवलज्ञानी महापुरुषों का मोक्ष प्राप्त करने का अतिनिकट समय हो, अर्थात् शैलेशी के पहले का अन्तर्मुहूर्त का काल हो, तब वे योग का निरोध करते हैं, किन्तु इसमें भी क्रम होता है। वे सर्वप्रथम बादरकाययोग का आश्रय लेकर बादरवचनयोग और बादरमनोयोग का निरोध करते हैं, फिर श्वासोच्छ्वास को रोककर फिर सूक्ष्म मनोयोग, सूक्ष्म वचनयोग और अन्त में सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म मन, वचन और काया के योगों के निरोध का क्रम निश्चित है।<sup>396</sup>

ध्यानदीपिका में इसी बात का समर्थन करते हुए केवलज्ञानियों के मोक्ष जाने के अवसर पर मन आदि योगों के निरोधरूप ध्यान का अनुक्रम बताया है।<sup>397</sup>

संक्षेप में, ध्यानप्राप्ति का क्रम दो प्रकार का बताया गया है—

1. केवलज्ञानी आत्मा जब मोक्ष पाने के अतिनिकट काल में अन्तिम शैलेशी-अवस्था के समय योग-निरोध करता है।
2. अन्यो को स्वस्थानुसार होता है।<sup>398</sup>

**7. ध्यातव्य-द्वार —** ध्यातव्य-द्वार के चार भेद माने गए हैं। ये चार भेद वस्तुतः धर्मध्यान के सन्दर्भ में भी विवेचित किए गए हैं।

जिस ध्यान में वस्तु या पदार्थ के यथार्थ रूप का विचार-विमर्श अथवा चिन्तन-मनन किया जाता है, वह धर्मध्यान है और धर्मध्यान के ध्याने योग्य प्रमुख विषय

<sup>396</sup> मनोरोधाऽदिको ध्यान-प्रतिपत्तिक्रमो जिने।

शेषेषु तु यथायोगं समाधानं प्रकीर्तितम् ॥ - अध्यात्मसार- 16/34.

<sup>397</sup> ध्यानानुक्रम उक्तः केवलानां चितयोगरोधादि।

भवकाले त्वितरेषां यथासमाधि च विज्ञेयः ॥ - ध्यानदीपिकायाम्, श्लोक- 119.

<sup>398</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यानयोग, प्रियदर्शना, पृ. 270.

चार माने गए हैं।<sup>399</sup> दूसरे शब्दों में, धर्मध्यान के जो चार भेद हैं, वही यहां ध्यातव्य-द्वार के चार भेद बताए हैं—

1. आज्ञाविचय
2. अपाचविचय
3. विपाकविचय
4. संस्थानविचय।

संक्षेप में, जिनाज्ञा का चिन्तन करना आज्ञाविचय है। आज्ञाविचय के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि सुनिपुण अर्थात् कुशलजनों को भूतहित का विचार करना चाहिए। दूसरे यह कि जिनाज्ञा का स्वरूप समझने के लिए दुर्नय का परित्याग करके सुनय-भंग-प्रमाण से जानना चाहिए।

क्रोधादि कषाय और राग-द्वेष आत्म-कल्याण में बाधक हैं— इस बात का चिन्तन करना अपायविचय है।

कर्मप्रकृतियों के विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय है।

लोक के स्वरूप और उसमें जीव के परिभ्रमण का चिन्तन करना संस्थानविचय-ध्यान है।

इस प्रकार, ध्यातव्य-द्वार में मुख्य रूप से धर्मध्यान के उपर्युक्त चारों प्रकारों का ही जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विस्तार से उल्लेख किया है और उसकी टीका में आचार्य हरिभद्र ने उसको विस्तार से विवेचित किया है। यह ध्यातव्य-द्वार मूल ग्रन्थ की गाथा क्रमांक पैंतालीस से बासठ तक दस गाथाओं में चर्चित है।<sup>400</sup>

**8. धातृ-द्वार** — धातृ-द्वार के अन्तर्गत मूल ग्रन्थकार कहते हैं कि सर्वप्रमादों से रहित क्षीणमोह और उपशान्तमोह साधक धर्मध्यान के ध्याता माने गए हैं।<sup>401</sup> इस प्रकार जिनभद्रगणि के अनुसार सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान के बीच धर्मध्यान के ध्याता माने गए।

यहां यह ज्ञातव्य है कि धर्मध्यान के ध्याता को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में मतभेद हैं। दिगम्बर-परम्परा चौथे गुणस्थान से धर्मध्यान की सम्भावना

<sup>399</sup> तत्रानपेतं यद् धर्मात्तदध्यानं धर्म्यमिष्यते।

धर्मोऽहि वस्तु—याथात्म्यमुत्पादादि प्रयात्मकम्॥

— श्रीजिनसेनाचार्यकृत महापुराण, पर्व— 21, श्लोक— 133.

<sup>400</sup> सुनिउणमणाइणहणं ..... समयसम्भावं॥ — ध्यानशतक, गाथा— 45-62.

<sup>401</sup> सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य।

झायारो नाणधणा धम्मज्झाणस्स निदिट्ठा॥ — ध्यानशतक— 63.

को स्वीकार करती है, जबकि श्वेताम्बर—परम्परा में सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक की आत्माओं को धर्मध्यान का साधक माना जाता है।

शुक्लध्यान के ध्याता के सम्बन्ध में जिनभद्रगणि ने निम्न योग्यताओं का वर्णन किया है, जैसे— जो पूर्व का ध्याता हो, सुप्रशस्त संहनन वाला हो तथा सयोगी, अयोगी केवली हो, वह शुक्लध्यान का ध्याता माना जाता है। इसमें यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्त्तध्यान के ध्याता प्रथम गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक के जीव हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह विशेषता समझना चाहिए कि रौद्रध्यान का ध्याता प्रथम मिथ्यादृष्टि—गुणस्थान में होता है। इस प्रकार, रौद्रध्यान के ध्याता मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। आर्त्तध्यान के ध्याता प्रथम गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं। धर्मध्यान के ध्याता सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं, क्षपक—श्रेणी में पूर्वधर महात्मा को नौवां, दसवां, बारहवां गुणस्थान भी हो सकता है और शुक्लध्यान के ध्याता तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में पाए जाते हैं।

योगशास्त्र<sup>402</sup>, अध्यात्मसार<sup>403</sup>, ज्ञानसार<sup>404</sup>, ध्यानदीपिका<sup>405</sup>, आदि ग्रन्थों में धर्मध्यान के ध्याता का उल्लेख मिलता है कि परीषह और उपसर्ग आने पर भी जो सुमेरु—पर्वत की तरह निष्कम्प रहता है, जो शान्त, दान्त मुनि आत्मरमणता में स्थित रहता है, जो आसक्तिरहित, दृढ संहनन वाला, निष्परिग्रही, ज्ञानवैराग्य आदि भावनाओं से ओतप्रोत जितेन्द्रिय, धैर्ययुक्त, प्रसन्नचित्त वाला, प्रमाद—रहित है और सदा ज्ञानानन्दरूपी अमृतास्वादन करने वाला है, वह प्रबुद्ध ध्याता ध्यान करने योग्य होता है।

**9. अनुप्रेक्षा—द्वार — ध्यानशतक के अनुप्रेक्षा—द्वार के अन्तर्गत कहा गया है कि जिस मुनि का चित्त पहले से ही धर्मध्यान से सुभावित है, वह ध्यान से उपरत होने पर भी नित्य, अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में संलग्न रहता है।<sup>406</sup>**

<sup>402</sup> सुमेरुरिव निष्कम्पः ..... सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥ — योगशास्त्र— 7/7.

<sup>403</sup> मनसश्चेन्द्रियाणां च जयाद्यो ..... सैव साधकयोग्यता ॥ — अध्यात्मसार— 16/62-3-8.

<sup>404</sup> जितेन्द्रियस्य धीरस्य ..... सदेवमनुजेऽपिहि ॥ — ज्ञानसार— 30/6-8.

<sup>405</sup> ज्ञानवैराग्यसम्पन्नः संवृतात्मा ..... स्यात् शुद्धमानसः ॥ — ध्यानदीपिका— 130-133.

<sup>406</sup> ज्ञानोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइचित्तणापरमो ।

होइ सुभाविचिचि तो धम्मज्झाणेण जो पुविं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 65.

आगम में भावना को कहीं-कहीं अनुप्रेक्षा भी कहते हैं।<sup>407</sup> वहां 'अणुप्पेहा' शब्द आध्यात्मिक-चिन्तन एवं प्रगति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।<sup>408</sup> आत्मचिन्तन, मन की एकाग्रता के लिए किसी एक विषय पर केन्द्रित होना-यही ध्यान की स्थिति है। आत्मा का आत्मा में रमण करना ही भावना है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि भव्यात्माओं को इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, इसलिए भावना को आनन्द की जननी कहा गया है।<sup>409</sup>

आचार्य महाप्रज्ञ ने कहा है- अनुप्रेक्षा के सभी प्रयोग चिन्तन पर आधारित हैं। अनुप्रेक्षा का प्रयोग प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।<sup>410</sup>

ध्यानशतक में धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं बताई गई हैं-

1. एकत्वानुप्रेक्षा
2. अनित्यानुप्रेक्षा
3. अशरणानुप्रेक्षा
4. संसारानुप्रेक्षा।

**एकत्वानुप्रेक्षा** - एकत्व का अर्थ एकता व अकेलापन है। साधक ध्यान की गहराई में संयोग में वियोग का अनुभव कर अकेलेपन का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार, भेद-विज्ञान करके अपने स्वरूप में स्थित हो अविनाशी से एकता का अनुभव करना एकत्वानुप्रेक्षा है। यही आचारांगसूत्र में कथित ध्रुवचारी बनने की साधना है।<sup>411</sup>

स्थानांगसूत्र के अनुसार, जीव के द्वारा सदा अकेले संसार में परिभ्रमण करना और सुख-दुःख भोगने का चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।<sup>412</sup>

ध्यानदीपिका में कहा गया है कि जीव शुभाशुभ कर्मों के फल और अनेक जन्म-मरण का फल अकेला ही भोगता है। वह पुत्र, मित्र, पत्नी और कुटुम्बजनों के

<sup>407</sup> (क) स्थानांगसूत्र (आत्मा. म.) - 4/1/12.

(ख) तत्त्वार्थसूत्र- 9/7.

(ग) कुन्दकुन्दभारती 'बारसणुपेक्खा'

<sup>408</sup> (क) उत्तराध्ययनसूत्र- 29/22.

(ख) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका, पृ. 01.

<sup>409</sup> अनुप्रेक्षा: भव्यजनानन्द जननी:। - स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाटीका, पृ. 01.

<sup>410</sup> अमूर्त्तचिन्तन पुस्तक से उद्धृत, युवाचार्य महाप्रज्ञ.

<sup>411</sup> आचारांगसूत्र.

<sup>412</sup> (क) स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र- 68, पृ. 224.

(ख) भगवतीसूत्र- 803.

(ग) औपपातिकसूत्र- 20.

निमित्त से दुष्कर्म करता है, लेकिन मात्र अकेला ही नरकादि दुर्गति में जाकर फल भोगता है।<sup>413</sup>

शान्तसुधारस के प्रणेता उपाध्याय विनयविजयजी ने एकत्वानुप्रेक्षा की महत्ता का अंकन करते हुए कितना सुन्दर लिखा है—

एक उत्पद्यते तनुमान् एक एव विपद्यते ।

एक एव हि कर्म चिनुते एकैकः फल-मश्नुते ॥<sup>414</sup>

अर्थात्, प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है, वह अकेला ही मरण को प्राप्त होता है, वह अकेला ही कर्मों का संचय करता है और अकेला ही उनका फल भोगता है।

अध्यात्मसार के अनुसार—

‘एगो मे सासओ अप्पा णाणदंसण-संजुओ’

अर्थात्, ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न मेरी आत्मा शाश्वत है, अन्य सभी संयोग अस्थायी हैं— इस भावना से आत्म-प्रतीति दृढ़ होती है।<sup>415</sup>

ज्ञानार्णव<sup>416</sup>, योगशास्त्र<sup>417</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>418</sup>, शान्तसुधारस<sup>419</sup>— इन ग्रन्थों में एकत्वानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में लिखा है कि प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मानुसार अगले भव को प्राप्त करता है। यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही गर्भ में आता है, अकेला ही बाल-यौवन-वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, रोगादि से ग्रस्त होता है, शोकमग्न होता है और विविध दुःखों को भोगता हुआ चार गतियों में भटकता रहता है। वास्तव में आत्मा को उत्तम क्षमादि दस धर्म ही चार गतियों के दुःख से बचा सकते हैं। इस प्रकार का चिन्तन एकत्वानुप्रेक्षा है। नमि राजर्षि ने एकत्वभावना का चिन्तन किया था।<sup>420</sup>

<sup>413</sup> शुभाशुभानां जीवोऽयं कृतानां ..... स्वजनास्तदन्ते ॥ — ध्यानदीपिका— 22-23.

<sup>414</sup> शान्तसुधारसभावना, एकत्वभावना, गीतिका— 01, पद्य— 2, पृ. 21.

<sup>415</sup> अध्यात्मसार— 16/70.

<sup>416</sup> महाव्यसनसंकीर्णदुःख ..... दुर्गे भवमरूस्थले ॥ — ज्ञानार्णव— 2/84.

<sup>417</sup> एक उत्पद्यते जन्तुरेक — योगशास्त्र— 4/68.

<sup>418</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा— 38, 74-79.

<sup>419</sup> एक एव भगवानयमात्मा ..... व्याकुलीकरणमेवममत्वम् ॥ — शान्तसुधारस, एकत्व, पृ. 222.

<sup>420</sup> उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय— 01.

सारांश यह है कि आज का मानव बड़ा दिग्भ्रान्त रहता है। वह समझता है कि वह अकेला नहीं है, उसके अनेक सम्पन्न, सबल, कुटुम्बीजन हैं, परन्तु यह एक अज्ञानजनित भ्रान्ति है।

**अनित्यानुप्रेक्षा** — संसार में दृश्यमान् व प्रतीयमान् कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो नित्य हो, अर्थात् सब अनित्य हैं, विनाशी हैं। सुख-दुःख, परिस्थिति, अवस्था, तन, मन, धन, स्वजन, परिजन, मित्र, भूमि, भवन आदि सब अनित्य हैं, अर्थात् पदार्थों की अनित्यता का प्रत्यक्ष अनुभव कर समभाव में अवस्थित रहना, न सगात्मक अथवा न द्वेषात्मक प्रतिक्रिया करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।<sup>421</sup>

**स्थानांगसूत्र** के अनुसार, सांसारिक-वस्तुओं की अनित्यता का चिन्तन ही अनित्य-अनुप्रेक्षा है।<sup>422</sup>

**ध्यानदीपिका** में कहा गया है कि धन का सुख, शरीर का सुख आदि संसार के समस्त सम्बन्ध विनश्वर हैं, यहां तक कि देव और मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती) का ऐश्वर्य, यौवन आदि भी अनित्य हैं।<sup>423</sup>

**अध्यात्मसार** में लिखा है कि इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन और यह शरीर आदि सभी अनित्य हैं।<sup>424</sup>

**प्रशमरतिप्रकरण**<sup>425</sup>, **शान्तसुधारस**<sup>426</sup>, **ज्ञानार्णव**<sup>427</sup>, **स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा**<sup>428</sup>, **अध्यात्मतत्त्वालोक**<sup>429</sup>, **तिलोककाव्यसंग्रह**<sup>430</sup> आदि ग्रन्थों

<sup>421</sup> ध्यानशतक, गाथा— 65.

<sup>422</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/68, मुनिमधुकर, पृ. 224.

<sup>423</sup> सर्वभवं संबन्धा विनश्वरा विभवदेहसुखमुख्याः।

अमरनरेन्द्रैश्वर्यं यौवनमपि जीवितमनित्यम् ॥

अक्षार्थाः पुण्यरूपा ..... भावनामित्यनित्या ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 14-16.

<sup>424</sup> अध्यात्मसार— 16/70.

<sup>425</sup> इष्टजनसंप्रयोगद्विषयसुखसम्पदस्तथारोग्यम्।

देहश्च यौवनं जीवितश्च सर्वाण्यनित्यानि ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 151.

<sup>426</sup> वपुरिवपुरिदं विदभ्रलीलापरिचितमप्यतिभङ्गुरं नराणाम्।

तदतिभिदुरयौवनाविनीतं भवति कथं विदुषां महोदयाय ॥ — शान्तसुधारस, अनित्य — 7, पृ. 79.

<sup>427</sup> हृषीकार्यसमुत्पन्ने प्रतिक्षणविनश्वरे ..... ॥ — ज्ञानार्णव— 2/8-47.

<sup>428</sup> जं किंचिवि उष्णं तस्स ..... ॥ — स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा— 4, 7, 8, 9, 21, 22.



में अनित्यानुप्रेक्षा का निरूपण करते हुए लिखा गया है कि संसार में उत्पन्न सभी वस्तुएं पर्यायरूप से नाशवान् हैं, अनित्य हैं। भरत चक्रवर्ती ने प्रस्तुत अनुप्रेक्षा का चिन्तन किया, तो केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, अतः एकमात्र आत्मा ही सिद्ध, बुद्ध, निरंजन एवं अनन्तानन्दमय है और संसार के समस्त पर-पदार्थ अनित्य हैं— ऐसा चिन्तन-मनन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।

संक्षेप में समझना है कि सांसारिक पर-पदार्थ नश्वर हैं, अनित्य हैं। ये भौतिक-सामग्रियां पथभ्रष्ट बना देती हैं, अतः अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तन-मनन सांसारिक-पदार्थों में विद्यमान आसक्ति को दूर करती है।

**अशरणानुप्रेक्षा** — इस अनुप्रेक्षा में साधक अन्तर्जगत् में शरीर और संवेदनाओं की अनित्यता का अनुभव करता है। ध्यानमग्न साधक देखता है, अनुभव करता है कि तन प्रतिक्षण बदल रहा है। संसार स्वार्थमय है, कोई शरणभूत नहीं है— ऐसी अनुभूति के स्तर पर बोध कर अनित्य पदार्थों के आश्रय का त्याग कर देना, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाना अशरणानुप्रेक्षा है।<sup>431</sup>

**स्थानांगसूत्र** के अनुसार, जीव के लिए धन, परिवार आदि शरणभूत नहीं है— ऐसा चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है।<sup>432</sup>

**ध्यानदीपिका** में लिखा है कि इहलोक एवं परलोक में देव, मनुष्य, इन्द्र, विद्याधर, किन्नर— कोई भी किसी का त्राणदाता नहीं है, अर्थात् शरणभूत नहीं है। लाख कोशिशों के बावजूद भी कोई किसी का रक्षण नहीं कर सकता है— ऐसा चिन्तन अशरणानुप्रेक्षा है।<sup>433</sup>

<sup>429</sup> अध्यात्मतत्त्वालोक— 5/26-27.

<sup>430</sup> तिलोककाव्यसंग्रह, पृ. 83.

<sup>431</sup> ध्यानशतक, गाथा— 65.

<sup>432</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/68.

<sup>433</sup> न त्राणं न हि शरणं सुरनरहरिखेचरकिन्नरादीनाम्।

यमपाशपाशितानां परलोकगच्छतां नियतम्।।

इन्द्रियभरानुभूतैरद् भूतं ..... चिन्तयेत्।। —ध्यानदीपिका— 17-19.

सूत्रकृतांगसूत्र<sup>434</sup>, उत्तराध्ययनसूत्र<sup>435</sup>, प्रशमरतिप्रकरण<sup>436</sup>, शान्तसुधारस<sup>437</sup>, ज्ञानार्णव<sup>438</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>439</sup> एवं योगशास्त्र<sup>440</sup>— इन ग्रन्थों में उल्लेख है कि जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि से पीड़ित प्राणियों का इस संसार में कोई शरणभूत नहीं है। धन, परिवार, माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी आदि कोई मृत्यु से बचा नहीं सकते। आत्मा का यदि कोई रक्षक, तारक, पालक शरणरूप है, तो मात्र धर्म है। धर्म की शरण ही यथार्थ शरण है, बाकी सब मिथ्या हैं— इस प्रकार आत्मा की अशरणभूतता का चिन्तन करना ही अशरणानुप्रेक्षा है।

सत्य यह है कि संसार में प्राणी के लिए कोई भी शरणभूत नहीं है। वह नितान्त अशरण, असहाय और असुरक्षित है। अशरणानुप्रेक्षा साधक को धर्मध्यान में अभिरत करती है।

**संसारानुप्रेक्षा —** ध्यानशतक में संसारानुप्रेक्षा के सन्दर्भ में कहा गया है कि संसार असार है, संसार में क्षण भर के लिए भी, लेशमात्र भी सुख नहीं है।<sup>441</sup> संसार दुःखरूप है, दुःख परिणाम वाला है और दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाला है।<sup>442</sup>

यह संसार मनुष्य, नारक, देव, तिर्यच—रूप चार गतियों से युक्त है। कर्मों की गति विचित्र है और कर्मों के अनुसार वे उत्पन्न होते हैं तथा परिभ्रमण करके मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यह चक्र अनादिकाल से चला आ रहा है। यह भवचक्र बड़ा विषम एवं दुर्गम है। संसारानुप्रेक्षा संसार के स्वरूप का बोध कराती हुई आत्म स्वरूपोन्तमुख बनने की प्रेरणा प्रदान करती है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार, चतुर्गतिरूप संसार की दशा का चिन्तन करना ही संसारानुप्रेक्षा है।<sup>443</sup>

<sup>434</sup> सूत्रकृतांगसूत्र— 2/1/13.

<sup>435</sup> उत्तराध्ययन— 13/22.

<sup>436</sup> जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।

जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥ — प्रशमरतिप्रकरण— 152.

<sup>437</sup> ये षट्खण्डमहीमहीनतरसा ..... ॥ — शान्तसुधारस, पृ. 133.

<sup>438</sup> न स कोऽप्यस्ति दुर्बुधे शरीरी भुवनत्रये ..... ॥ — ज्ञानार्णव— 2/48.

<sup>439</sup> तत्थ भवे किं सरणं जत्थ ..... ॥ — स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा—24, 25, 27, 29, 30.

<sup>440</sup> यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने ..... ॥ — योगशास्त्र— 4/57.

<sup>441</sup> ध्यानशतक, गाथा— 65.

<sup>442</sup> दुःखरूपे दुःखफले दुःखाणुबन्धे । — पंचसूत्र— 1/2.

औपपातिकसूत्र<sup>444</sup> और भगवतीसूत्र<sup>445</sup> में भी इसी बात का समर्थन किया गया है।

अध्यात्मसार में कहा गया है— 'यह चतुर्गतिक् संसार दुःख से भरा हुआ है। सम्पूर्ण संसार के सभी प्राणी दुःखी हैं। जहां स्पृहा है, चाह है, वहीं दुःख है। देवों के सुख की भी अन्तिम परिणति दुःख ही है। इस प्रकार, मनुष्य, पशु, नरकादि के दुःखों का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।'<sup>446</sup>

आचारांगवृत्ति<sup>447</sup>, सूयगडांगसूत्र<sup>448</sup>, उत्तराध्ययनसूत्र<sup>449</sup>, आवश्यकचूर्णि<sup>450</sup>, तत्त्वार्थसूत्र<sup>451</sup>, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य<sup>452</sup>, सर्वार्थसिद्धि<sup>453</sup>, प्रशमरतिप्रकरण<sup>454</sup>, योगशास्त्र<sup>455</sup>, शान्तसुधारस<sup>456</sup>, ज्ञानार्णव<sup>457</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>458</sup>, ध्यानदीपिका<sup>459</sup>, ध्यानविचारसविवेचन<sup>460</sup> आदि ग्रन्थों के अनुसार चतुर्विध गति के परिभ्रमण कराने वाले जन्म-मरणरूप चक्र को ही संसार कहते हैं। तिर्यच-गति में भूख, प्यास, ताड़ना, तर्जना आदि कष्टों को एवं नरकगति में क्षेत्रगत व परमाधामी देवों से प्रगत और परस्परकृत वेदनाओं को सहन करना पड़ता है।<sup>461</sup> मनुष्यगति में जन्म,

<sup>443</sup> धम्मस्सणं ज्ञाणस्स ..... संसारानुपपेहो ॥ - स्थानांगसूत्र- 4/1/68, मधुकरमुनि, पृ. 224.

<sup>444</sup> औपपातिकसूत्र-20.

<sup>445</sup> भगवतीसूत्र- 803.

<sup>446</sup> अनित्यत्वाद्यनुप्रेक्षा, ध्यानस्थोपरमेऽपि हि । भावयेन्नित्यमभ्रान्तः, प्राणा ध्यानस्य ताः खलु ॥  
- अध्यात्मसार- 16/70.

<sup>447</sup> आचारांगवृत्ति (शीलांकाचार्य) - 2/1/185-86.

<sup>448</sup> सूयगडांगसूत्र (शीलांकाचार्य, जवाहरमलजी म.)- 5/1/68-69.

<sup>449</sup> उत्तराध्ययनसूत्र- 19/15, 31- 72.

<sup>450</sup> इमाओ पुण से चत्तारि ..... संसारानुपेहं ॥ - आवश्यकचूर्णि.

<sup>451</sup> तत्त्वार्थसूत्र- 3/3-4.

<sup>452</sup> तत्त्वार्थाधिगमभाष्य- 3/3-4.

<sup>453</sup> सर्वार्थसिद्धि- 3/5.

<sup>454</sup> माता भूत्वा दुहिता ..... शत्रु तां चैव ॥ - प्रशमरतिप्रकरण- 156.

<sup>455</sup> श्रोत्रियः श्वपचः स्वामिपतिर्ब्रह्मा ..... ॥ - योगशास्त्र- 4/65.

<sup>456</sup> इतो लोभः क्षोभं जनयति ..... ॥ - शान्तसुधारस- 7, पृ. 174.

<sup>457</sup> चतुर्गतिमहावर्तेदुःखवाऽवदीपिते ..... ॥ - ज्ञानार्णव- 2/67.

<sup>458</sup> एकं चयदि शरीरं अण्णं ..... ॥ - स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 32, 66,68,69.

<sup>459</sup> संसारदुःखजलधो ..... संसारस्थेतिभावनाः ॥ - ध्यानदीपिका- 3/20-21.

<sup>460</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 34.

<sup>461</sup> परस्परोदीरितःदुःखा । - तत्त्वार्थसूत्र- 3/4.

वृद्धावस्था, मृत्यु की वेदना से तड़पना पड़ता है।<sup>462</sup> देवगति में भौतिक-सामग्री आदि के कारण झगड़ा होता रहता है। जीव संसाररूपी दुर्गम वन में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से ग्रसित पंच संसार में मिथ्यात्व के तीव्रोदय से दुःखित होकर परिभ्रमण करता रहता है। सुई की नोक जितनी जगह भी लोकाकाश की शेष नहीं रही, जहां जीवात्मा ने जन्म न लिया हो।

जो चार गतिरूप संसार में यह जीव परवशतावश परिभ्रमण करता रहता है, उसका चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

संक्षेप में यही समझना है कि जैन दार्शनिकों ने धर्मध्यान के विभिन्न द्वारों की चर्चा करते हुए कहा है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुप्रेक्षाद्वार या भावनाद्वार को सबसे महत्वपूर्ण माना है, क्योंकि कषाय या विकारों के निसरन के लिए उनकी निरर्थकता को समझना आवश्यक होता है और इस निरर्थकता का बोध अनुप्रेक्षा, अर्थात् चिन्तन के द्वारा होता है।

कषायों या रागद्वेष की जो गाठें बंधी हैं, उनको ढीला करने के लिए अनुप्रेक्षा आवश्यक है। चिन्तन के माध्यम से कलुषभाव या रागद्वेष की प्रवृत्तियां समाप्त होती हैं। हमारी चित्तवृत्तियों का पर्यालोचन या अनुचिन्तन आवश्यक है। जैनसाधना के अनुसार, रागद्वेष और मोह ही संसार-वृद्धि का मूल कारण हैं। इनके माध्यम से संकिलष्ट भाव उत्पन्न होते हैं, जो हमारी आत्मिक-शान्ति को भंग करते हैं। रागादि भाव के कारण ही यह जीव संसार से जुड़ा हुआ है। इन रागादिक भावों को समाप्त करने के लिए ही अनुचिन्तन या भावना आवश्यक है।<sup>463</sup>

आचार्य जिनभद्रगणि ने आर्त्त-रौद्रध्यान से विमुक्त होने के लिए और धर्मध्यान में चित्तवृत्ति को स्थैर्य प्रदान करने के लिए भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं को आवश्यक माना है, क्योंकि भावना या अनुप्रेक्षा के माध्यम से जब व्यक्ति को अनित्यता अर्थात् संयोगों के वियोग की अशरणता, एकाग्रता आदि का बोध होता है, तो उसका 'पर' से जुड़ाव समाप्त हो जाता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति का धर्मध्यान से शुक्लध्यान की ओर अधिगमन होता है। यही कारण है कि जिनभद्रगणि ने धर्मध्यान की साधना के लिए सर्वप्रथम भावनाओं का निर्देश किया है। वे कहते हैं कि भावना के सतत अभ्यास से

<sup>462</sup> उत्तराध्ययनसूत्र- 14/4.

<sup>463</sup> ज्ञाणस्स भावणाओ ..... || - ध्यानशतक, गाथा- 28.

चित्तवृत्ति की विकल्पता शान्त होने लगती है और रागभाव समाप्त होकर आत्मविशुद्धि होती जाती है। भावना के माध्यम से नए कर्मों का आगमन रुकता है और पुराने कर्मों की निर्जरा होती है तथा व्यक्ति का चित्त संकिलिष्ट नहीं रहता है, उसमें वैराग्यभाव का विकास होता है।

जो हमारे राग के विषय हैं, हम उनकी वियोगशीलता, अनित्यता और अशरणाता को समझते हैं, तो उनके प्रति हमारा रागभाव क्रमशः कम होता जाता है और रागभाव के कम होते ही व्यक्ति आत्मविशुद्धि की ओर बढ़ता है, इसलिए ध्यानसाधना के क्षेत्र में भावनाद्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यही कारण है कि न केवल ध्यानशतक में, अपितु मरणसमाधि आदि ग्रन्थों में भी भावनाओं का उल्लेख हुआ है।

आचारांग में स्पष्ट रूप से यह माना गया है कि पांच महाव्रतों का पालन पच्चीस भावनाओं के माध्यम से ही सम्भव है और इसीलिए उसके अन्तिम अध्याय में पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का विस्तृत वर्णन है। इसी प्रकार, दिगम्बर-परम्परा में भी आचार्य कुन्दकुन्द का बारस्सानुवेक्खा तथा स्वामीकार्तिकेय की कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ भावना की साधना के लिए महत्वपूर्ण माने गए हैं।

## 10. लेश्या—द्वार — लेश्या दो प्रकार की होती हैं—

1. प्रशस्त (शुभ) और 2. अप्रशस्त (अशुभ) ।

पूर्ववर्ती कृष्ण, नील, कापोत— ये तीन लेश्याएं अप्रशस्त कहलाती हैं, परन्तु ध्यानसाधना में तो परवर्ती पीत, पद्म और शुक्ल— ये तीन प्रशस्त लेश्याएं ही होती हैं। धर्मध्यान के ध्याता को क्रमशः उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाली पीत, पद्म और शुक्ल— ये तीन प्रशस्त लेश्याएं ही होती हैं, जो तीव्र, मंद और मध्य प्रकारों से युक्त होती हैं।<sup>464</sup>

<sup>464</sup> होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय—पम्म—सुक्काओ ।

धम्मज्झाणोवगयस्य तिच्च—मंदाइभेयाओ ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 66.

**11. लिंग—द्वार** — ध्यानशतक ग्रन्थ की गाथा क्रमांक सड़सठ एवं अड़सठ के अन्तर्गत धर्मध्यान के सन्दर्भ में लिंगद्वार की चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि आगम की आज्ञा के अनुसार वर्तन करने वाला तथा तीर्थकरों द्वारा कथित द्रव्यादि पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला, श्रद्धावान् साधक ही धर्मध्यान का अधिकारी होता है। धर्मध्यान का साधक सदैव साधुजनों की प्रशंसा में रत रहता है, उनका गुण—कीर्तन करता है, उनके प्रति विनयभाव, दान देने के भाव रखता है।

इन सबसे फलित होता है कि धर्मध्यान को ध्याने वाले व्यक्ति में सद्गुणों का संचार होता है, अतः यह तो सिद्ध है कि धर्मध्यान की अवस्था तक शील, सदाचार, संयम आदि की वृत्ति रहती है।<sup>465</sup>

**शुक्लध्यान का स्वरूप** — जैनधर्म विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक—धर्म है। उसका प्रारंभ बिंदु है— आत्मा का संज्ञान और उसका चरमबिन्दु है— आत्मोपलब्धि, अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार।

सामान्यतः, शुक्ल का अर्थ 'धवल' से लिया जाता है, किन्तु जैन—ग्रन्थों में शुक्ल का अर्थ 'विशद्', अर्थात् निर्मल से लिया गया है।

शुक्लध्यान ध्यान की वह अवस्था है, जिसमें साधक अपने लक्ष्य की पूर्णता को प्राप्त करता है, क्योंकि इस ध्यान में मन की एकाग्रता के कारण आत्मा परम विशुद्धता को प्राप्त होती है और कषाय, राग आदि भावों, अथवा कर्मों का सर्वथा परिष्कार हो जाता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध—अवस्था को शुक्लध्यान कहते हैं।

<sup>465</sup> आगम—उवएसऽऽणा—णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।  
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ॥  
जिणसाहुगुणुक्कित्तण—पसंसणा—विणय—दाणसंपण्णो ।  
सुअ—सील झंजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ॥ — वही— 67—68.

स्थानांगसूत्र के अन्तर्गत कहा है कि कर्मक्षय के कारणभूत शुद्धोपयोग में लीन रहना शुक्लध्यान कहलाता है।<sup>466</sup>

समवायांग के अनुसार— मन की आत्यन्तिक—स्थिरता, अर्थात् जब एकाग्रता सर्व शुभ—अशुभ भावों से निवृत्त होकर एकमात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूप में स्थिर होती है, तब शुक्लध्यान होता है।<sup>467</sup>

धवलाटीका में लिखा है कि कषायमल का अभाव होना ही शुक्लध्यान है।<sup>468</sup>

ज्ञानार्णव में लिखा है कि जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ध्यान की धारणा से रहित है— वह शुक्लध्यान है।<sup>469</sup>

मूलाचार में भी स्पष्ट रूप से लिखा है कि जो आत्मा के विशुद्ध स्वरूप के साथ संपृक्त है, वह शुक्लध्यान है।<sup>470</sup>

आगमसार में कहा है कि निर्मल—विशुद्ध विचार शुक्लध्यान है।<sup>471</sup>

जिस प्रकार मैल के धुल जाने पर वस्त्र साफ हो जाता है, उसी प्रकार दुर्गुणरहित निर्मल गुणों से युक्त आत्मा की परिणति ही शुक्लध्यान है।<sup>472</sup>

यह भी सत्य है कि धर्मध्यान में पूर्णता प्राप्त अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करने में समर्थ हो सकता है, क्योंकि जब तक पहली सीढ़ी (धर्मध्यान) नहीं चढ़ेगा, तब तक दूसरी कैसे चढ़ पाएगा ?<sup>473</sup>

यह ध्यान आत्मसिद्धि का अन्तिम सोपान है। जो ध्यान सम्पूर्ण कर्माग्नि (कषायाग्नि) को बुझा देता है तथा समग्र कर्मदलिकों को समाप्त कर देता है, वह ध्यान

<sup>466</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/69.

<sup>467</sup> (क) निष्क्रियं करणातीतं ध्यान ध्येयविवर्जितम्।

अन्तर्मुखं तु यद्ध्यानं, तच्छुक्लं योगिनो विदुः॥ — नियमसार (टीका), पृ. 169.

(ख) समवायांगसूत्र— 4/20.

<sup>468</sup> षट्खण्डागम, धवलाटीका, पुस्तक— 13, पृ. 73.

<sup>469</sup> निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।

अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥ — ज्ञानार्णव— 39/4.2

<sup>470</sup> मूलाचार— 5.207—208, पृ. 261—262.

<sup>471</sup> आगमसार, पृ. 174.

<sup>472</sup> यथा मलद्रव्यापायात् शुचिगुणयोगाच्छुक्लं वस्त्रं तथा तद्गुणसाधर्म्यादात्मपरिणामस्वरूपमपि— शुक्लमिति निरुच्यते॥ — राजवार्तिक — 9/28/4/627.

<sup>473</sup> इच्छेवमदिक्कतो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ।

सुक्कज्झाणं ज्ञायदि तत्तो सुविसुद्धलेस्साओ॥ — भगवतीआराधना— 1871.

शुक्लध्यान है। इसके द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा अपने निजस्वरूप में रमण करती हुई अनंतानन्द, परमानन्द या परमसुख को उपलब्ध कर लेती है।

**शुक्लध्यान के लक्षण** — ध्यानशतक ग्रन्थ के अन्तर्गत ग्रन्थकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शुक्लध्यानोपगत चित्त ( जिसका चित्त शुक्लध्यान में निरुद्ध हो गया है) वाले धीर श्रमण की पहचान अथवा लक्षण बताए हैं, जो निम्नांकित हैं—

अवहा—संमोहा—विवेग—विउस्सग्गा तस्स होंति लिंगाई ।

लिंगिज्जइ जेहिं मुणि सुक्कज्झाणोवगय चित्तो ॥<sup>474</sup>

1. अवध—लक्षण 2. असम्मोह—लक्षण 3. विवेक—लक्षण और 4. व्युत्सर्ग—लक्षण।

इनसे मुनि के चित्त का शुक्लध्यान में संलग्न होना सूचित होता है। ध्यानशतक के समान ही अन्य ग्रन्थों में शुक्लध्यान के लक्षणों का वर्णन मिलता है। वे निम्नांकित हैं—

स्थानांगसूत्र<sup>475</sup>, भगवतीसूत्र<sup>476</sup>, औपपातिकसूत्र<sup>477</sup>, आवश्यकचूर्णि<sup>478</sup>, अध्यात्मसार<sup>479</sup>, ध्यानविचार<sup>480</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>481</sup>।

अब एक—एक लक्षण (लिंग) की व्याख्या करेंगे।

<sup>474</sup> ध्यानशतक, गाथा— 90.

<sup>475</sup> चत्तारि ज्ञाणा पण्णता सुक्कस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता तंजहा—अव्वहे, असम्मोहे, विवेगे, विउस्सग्गे ॥ — स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 70.

<sup>476</sup> भगवतीसूत्र— 802.

<sup>477</sup> औपपातिकसूत्र— 20.

<sup>478</sup> लक्खणाणि वि चत्तारि—विवेगे ..... अत्थे न संमुज्झतित्ति । — आवश्यकचूर्णि.

<sup>479</sup> लिङ्गं निर्मलयोगस्य, शुक्लध्यानवतोऽवधः ।

असम्मोहो विवेकश्च व्युत्सर्गश्चाभिधीयते ॥ — अध्यात्मसार— 16/83.

<sup>480</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 35.

<sup>481</sup> ध्यानकल्पतरु, द्वितीय प्रतिशाखा, पृ. 364.

<sup>482</sup> (क) क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनान्यारतिस्त्रीचर्यानिषधाशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृण—स्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥ — तत्त्वार्थसूत्र— 9/9.



1. अवध—लक्षण — ध्यानशतक के ग्रन्थकर्ता शुक्लध्यान के प्रथम लिङ्ग का निर्देश करते हुए कहते हैं कि बाईस परीषह<sup>482</sup> और उपसर्गों से विचलित और भयभीत न होना, अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में चलायमान् न होना ही अवध—लक्षण है।<sup>483</sup>

जैसा कि कहा गया है— शुक्लध्यान का साधक मानव, देव, तिर्यच—कृत उपसर्गों और सभी प्रकार के परीषहों को समभाव से सहने में सक्षम होता है।<sup>484</sup> विश्व की कोई भी शक्ति उसे ध्यान की चिरस्थिरता से विचलित नहीं कर सकती और न ही वह कभी व्यथित हो सकता है।

स्थानांगसूत्र में भी इसी बात का समर्थन किया गया है, उपसर्गादि से पीड़ित होने पर ही क्षोभित नहीं होना— यह शुक्लध्यानी का प्रथम अवध—लक्षण है।<sup>485</sup>

अध्यात्मसार में कहा है— शुक्लध्यानी में अवध नामक प्रथम लिंग होता है। अवध का अर्थ है— अचलता, अर्थात् चलायमान् नहीं होना। शुक्लध्यान पर आरूढ़ हुए साधक को देह और आत्मा की भिन्नता का भान सतत रहता है, इसलिए उपसर्ग आने पर भयभीत या शोकातुर नहीं होता है, बल्कि उन्हें समभाव से सहन करता है।<sup>486</sup>

ध्यानविचारसविवेचन में तो कहा है कि साधक में अवध लक्षण होने पर देवादिकृत उपसर्गों में भी व्यथा का अभाव होता है।<sup>487</sup>

2. असम्मोह—लक्षण — ध्यानशतक के रचयिता शुक्लध्यानी के दूसरे लक्षण को निरूपित करते हुए कहते हैं कि अत्यन्त गहन, सूक्ष्मभाव तथा देवमाया से सम्मोहित नहीं होना, अर्थात् मोहित न होना ही असम्मोह है। यह शुक्लध्यान का दूसरा लक्षण है, जिसका अभिप्राय है— शुक्लध्यानी सम्मोहित नहीं होता है। मूर्च्छित होना, ममत्व करना, दूसरों के प्रभाव से प्रभावित होना, दूसरों के निर्देशों में आबद्ध हो जाना, ऋद्धि—सिद्धियों के चमत्कारों से चमत्कृत होना— ये सभी सम्मोह के ही रूप हैं।

(ख) उत्तराध्ययन, द्वितीय अध्ययन (ग) समवायांगसूत्र— 22/1.

<sup>483</sup> चालिज्जइ बीहेइ व धीरों न परीसहोवसग्गेहिं। — ध्यानशतक, गाथा— 91.

<sup>484</sup> मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः — तत्त्वार्थसूत्र— 9/8.

<sup>485</sup> स्थानांगसूत्र, उद्देशक— 4/1, सूत्र— 70.

<sup>486</sup> अवधादुपसर्गेभ्यः कम्पते न बिभेति वा। — अध्यात्मसार— 16/84.

<sup>487</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 35.

मनोविज्ञान का यह नियम है कि वही व्यक्ति सम्मोहित होता है, जो वस्तु, व्यक्ति आदि पर—पदार्थों को महत्त्व देता है, उन्हें मूल्य प्रदान करता है और उन्हें सर्वशक्तिसम्पन्न मानकर उनसे अनुग्रह की आकांक्षा रखता है, परन्तु शुक्लध्यानी इन सब पदार्थों से पृथक्त्व का बोध व अनुभव कर लेता है। साधना के फलस्वरूप प्राप्त अलौकिक—लब्धियां आदि को भी निस्सार समझता है, इसीलिए वह इन सबसे सम्मोहित एवं प्रभावित नहीं होता है।<sup>488</sup>

स्थानांगसूत्र में कहा है कि देवादिकृत माया से मोहित नहीं होना, अर्थात् मोहग्रस्त नहीं होना— यह शुक्लध्यानी का द्वितीय 'असम्मोह' लक्षण है।<sup>489</sup>

अध्यात्मसार में लिखा है कि शुक्लध्यानी का दूसरा लिङ्ग है— असम्मोह। असम्मोह का अर्थ है— व्यामोहित हो जाना, ठगा जाना, धोखे में रहना आदि का नहीं होना। शुक्लध्यान के प्रकट होने पर ध्याता को कई प्रकार की लब्धियां, सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं। देवी—देवता भी उसे ललचाने के लिए, उसकी परीक्षा के लिए मायाजाल रचते हैं, परन्तु वह उससे विचलित नहीं होता, आकर्षित नहीं होता है। दूसरे शब्दों में, असम्मोह के कारण वह लेशमात्र भी माया में व्यामोहित नहीं होता है।<sup>490</sup>

ध्यानविचार में लिखा है कि शुक्लध्यानी में देवादिकृत मायाजाल, अथवा सैद्धान्तिक सूक्ष्म पदार्थ—विषयक सम्मोह—मूढ़ता का अभाव होता है। यह शुक्लध्यानी का दूसरा असम्मोह नाम का लक्षण है।<sup>491</sup>

**3. विवेक—लक्षण** — आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अपनी रचना 'ध्यानशतक' में शुक्लध्यानी के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहते हैं— मूढ़ता या जड़ता न रहकर सजगता में रहना ही विवेक है। जड़ता जड़—पदार्थों में अपनत्व—भाव से आती है। तन, धन आदि जड़—पदार्थों से अपनत्व—भाव हटकर पृथक्त्व—भाव का आविर्भाव ही विवेक है। दूसरे शब्दों में, निज आत्मा को शरीर तथा सभी संयोगों से भिन्न मानना विवेक नामक तृतीय लक्षण है।<sup>492</sup>

<sup>488</sup> सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ॥ — ध्यानशतक— 91.

<sup>489</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 70.

<sup>490</sup> असम्मोहान्न सूक्ष्मार्थे मायास्वपि च मुह्यति । — अध्यात्मसार— 16/84.

<sup>491</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 35.

<sup>492</sup> देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 92.

स्थानांगसूत्र में कहा है कि आधि, व्याधि तथा उपाधि के ममत्व को त्यागकर पूर्ण निःसंग होना शुक्लध्यान का विवेक नामक तृतीय लक्षण है।<sup>493</sup>

अध्यात्मसार में यशोविजयजी ने शुक्लध्यान के तीसरे 'विवेक' लिङ्ग की चर्चा करते हुए कहा है कि विवेक, अर्थात् भेद-विज्ञान का पुष्ट होना, देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखना, अनुभव करना। जीव का शरीर के साथ सर्व-संयोग होते हुए भी देह से भिन्नता का विचार विवेक है। जीव और अजीव का भेदज्ञान- वही विवेक-लक्षण है।<sup>494</sup>

ध्यानविचार में कहा गया है कि शुक्लध्यान में रत साधक को विवेक-लक्षण सहज होता है, अर्थात् देह से आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होता है।<sup>495</sup>

**4. व्युत्सर्ग-लक्षण -** ध्यानशतक में ग्रन्थकार ने शुक्लध्यानी के चौथे व्युत्सर्ग-लक्षण का उल्लेख करते हुए कहा है कि अनासक्त होकर देह और उपाधि का सर्वथा त्याग करना व्युत्सर्ग है। इसमें साधक में भोगेच्छा और यशेच्छा किञ्चित् मात्र भी नहीं होती है। वह निरन्तर वीतरागता की ओर बढ़ता जाता है।<sup>496</sup>

उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्मसार में शुक्लध्यानी के चौथे लिङ्ग 'व्युत्सर्ग' की व्याख्या करते हुए कहा है कि व्युत्सर्ग का तात्पर्य है- शुक्लध्यानी द्वारा देह और उपाधि के संग का निस्संकोच त्याग करना। शरीर और उपाधि के प्रति उनका अंशमात्र भी राग या द्वेष-भाव नहीं रहता है। वे द्रव्य-उपकरण, शरीरादि तथा भाव-कषाय आदि से मुक्त रहते हैं। शुक्लध्यानी का जब तक आयुष्य शेष रहता है, तब तक देह रहता है, परन्तु देह के प्रति उसका ममत्वभाव नहीं रहता है। इस प्रकार अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग- इन चार लक्षणों द्वारा शुक्लध्यानी महापुरुष को पहचाना जा सकता है।<sup>497</sup>

<sup>493</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र- 70.

<sup>494</sup> विवेकात्सर्वसंयोगादभिन्नमात्मानमीक्षते। - अध्यात्मसार- 16/85.

<sup>495</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 35.

<sup>496</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र- 70.

<sup>497</sup> देहोपकरणासंगो व्युत्सर्गाज्जायते मुनिः। - अध्यात्मसार- 16/85.

<sup>498</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 35.

**ध्यानविचार**<sup>498</sup> एवं **ध्यानकल्पतरु**<sup>499</sup>— इन दोनों ग्रन्थों में लिखा है कि निःसन्देह देह एवं उपधि का त्याग— यह शुक्लध्यानी का व्युत्सर्ग नामक लक्षण कहा जाता है।

साधना का मार्ग बड़ा कठिन है। साधक जब स्व—पर के भेद—विज्ञान को सर्वथा जान लेता है, तब स्व—पर पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति या ममत्व मिट जाता है। यहां तक कि अपनी देह के लिए उपयोगी वस्तुओं में भी चित्त की वृत्ति, अर्थात् भीतर की परिणति अनासक्तिमय बन जाती है।

### शुक्लध्यान के स्तर एवं भेद

धर्मध्यान के बाद की स्थिति शुक्लध्यान है। यह ध्यान आत्म—मुक्ति का मूल मंत्र है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निर्विकल्प किया जाता है। शारीरिक—पीड़ाओं में भी स्थिर हुआ चित्त लेश मात्र भी चलायमान नहीं होता। इस ध्यान की अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है।<sup>500</sup>

यह चित्तवृत्ति का निरोध और मन के अमन (शान्त) हो जाने की स्थिति है। जैनग्रन्थों में शुक्लध्यान के भी चार प्रकार (भेद) देखने को मिलते हैं<sup>501</sup> —

1. पृथक्त्व—वितर्क—सविचार
2. एकत्व—वितर्क—अविचार
3. सूक्ष्मक्रिया—अप्रतिपाती
4. व्युपरतक्रिया—निवृत्ति।

आचार्य जिनभद्रगणिकृत **ध्यानशतक**<sup>502</sup> में भी शुक्लध्यान के इन्हीं चार प्रकारों का उल्लेख है। वस्तुतः, शुक्लध्यान के ये चार प्रकार उसके चार स्तर हैं।

<sup>498</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, पत्र— 1—4, पृ. 364—371.

<sup>500</sup> जैनसाधना—पद्धति में ध्यान, डॉ सागरमल जैन, पृ. 30.

<sup>501</sup> (क) स्थानांगसूत्र— 4/1/69, पृ. 225.

(ख) समवायांग, सम.— 4.

(ग) तत्त्वार्थसूत्र— 9/41.

(घ) भगवतीआराधना— 1872—73.

(ङ) हरिवंशपुराण— 53/53—54.

(च) षट्खण्डागम, भाग— 5, पृ. 77.

(छ) योगशास्त्र— 11/5.

(ज) सिद्धान्तसारसंग्रह— 11/51.

<sup>502</sup> उप्पाय—द्विइ— भंगाइपज्जयाणं जमेगदक्कंमि। नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं।। सवियारमत्थ वंजण—जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं। होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स।।

1. **पृथक्त्व-वितर्क-सविचार** — जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण शुक्लध्यान के प्रथम प्रकार (स्तर) का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति और भंगादि अवस्थाओं का द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों के आश्रय से जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन होता है, वह ही प्रथम शुक्लध्यान माना गया है। वह अर्थान्तर, व्यंजनान्तर और योगान्तर की अपेक्षा से सविचार है। पृथक्त्व-वितर्क-सविचार नाम का यह प्रथम शुक्लध्यान रागरहित वीतराग छद्मस्थ को होता है। यहां पृथक्त्व का अर्थ है— अलग-अलग करके या विश्लेषणपूर्वक और वितर्क-विचार का अर्थ है— युक्तिपूर्वक चिन्तन करना।

स्थानांगसूत्र के अनुसार, जब कोई वज्रऋषभनाराच संहननवर्ती सातवें गुणस्थान में स्थित अप्रमत्त-संयत साधक मोहनीय-कर्म के क्षपण में आगे प्रयत्नशील होता है, तब वह अग्रिम कक्षा अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। प्रतिसमय अनन्त गुणा विशुद्धि के द्वारा शुद्धोपयोगस्वरूप वीतराग परिणतिरूप शुक्लध्यान के प्रथम चरण का प्रारम्भ हो जाता है— यह पृथक्त्व-वितर्क-विचार शुक्लध्यान है।

वितर्क, अर्थात् भावश्रुत के आधार से द्रव्य, गुण और पर्याय का विचार करना। विचार का अर्थ है— व्यंजनों और योगों का परिवर्तन।

जब ध्यान में स्थित साधु एक पदार्थ या पर्याय का चिन्तन कर दूसरे पदार्थ या उसकी पर्याय का चिन्तन करने लगता है, तब उस पृथक्-पृथक् मनन को पृथक्त्व-वितर्क-विचार कहते हैं।<sup>503</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था में पृथक्-पृथक् रूप से श्रुत पर विचार होता है, अर्थात् श्रुत को आधार मानकर एक द्रव्य से उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य आदि पर्यायों का चिन्तन करना पृथक्त्व-वितर्क-सविचार ध्यान कहलाता है।<sup>504</sup>

<sup>503</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/68.

<sup>504</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 9/41.

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त अनेक द्रव्यों एवं उनकी पर्यायों का आलम्बन लेकर चिन्तन करना पृथक्त्व-वितर्क-विचार नामक शुक्लध्यान का पहला स्तर है।<sup>505</sup>

हरिवंशपुराण में कहा है— जिस पदार्थ का ध्यान किया जाता है, वह अर्थ कहलाता है और उसका प्रतिपादक होता है— शब्द या व्यंजन। मन, वचन आदि की प्रवृत्तियों को योग कहते हैं।

इस प्रकार, वितर्क का अर्थ युक्तिपूर्वक चिन्तन करना है। पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान में विचार और विचार के विषय बदलते रहते हैं।<sup>506</sup>

आदिपुराण ग्रन्थ के श्लोक क्रमांक एक सौ उनहत्तर से एक सौ तिरासी तक शुक्लध्यान के प्रथम भेद का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रथम भेद का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिसमें अर्थ, व्यंजन और योगों (मानसिक-प्रवृत्तियों) का पृथक्-पृथक् संक्रमण होता रहे, अर्थात् अर्थ को छोड़कर व्यंजन का और व्यंजन को छोड़कर अर्थ का चिन्तन होने लगे, अथवा मन, वचन और काय— इन तीनों योगों का परिवर्तन होता रहे, उसे पृथक्त्व-वितर्क-विचार कहते हैं।<sup>507</sup>

अध्यात्मसार के अनुसार, द्रव्य से द्रव्यान्तर, गुण से गुणान्तर, पर्याय से पर्यायान्तर में चित्त का संक्रमण होना पृथक्त्व-वितर्क-विचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है।<sup>508</sup>

इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम<sup>509</sup>, ज्ञानार्णव<sup>510</sup>, ध्यानदीपिका<sup>511</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>512</sup>, ध्यानविचार<sup>513</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>514</sup>, ध्यानस्तव<sup>515</sup>, ध्यानसार<sup>516</sup>

<sup>505</sup> पृथक्त्वम्-अनेकत्वम् तेन सह गतो वितर्कः, पृथक्त्वमेव वा वितर्कः सहगतं वितर्कपुरोगं पृथक्-वितर्कम् तच्च परमाणुजीवादावेकद्रव्ये उत्पादव्ययध्रौव्यादिपर्यायानेकतयाऽपि तत्त्वं तत् पृथक्त्वं पृथक्त्वेन पृथक्त्वे वा तस्य चिन्तनं वितर्कं सहचरितं सविचारं च यत् तत् पृथक्त्ववितर्कसविचारं ..... निरोधो ध्यानमिति ।। - तत्त्वार्थसिद्धवृत्तौ- 9/43-45-46.

<sup>506</sup> पृथग्भावः पृथक्त्वं हि नानात्वमभिधीयते । वितर्को द्वादशांगं तु श्रुतज्ञानमनाविलं ।। अर्थव्यंजनयोगानाम् विचारःसंक्रमः क्रमात् । ध्येयोऽर्थो व्यंजनं शब्दो योगो वागादिलक्षणः ।। पृथक्त्वेनवितर्कस्य विचारोऽर्थादिषु क्रमात् । यस्मिन्नास्ति तथोक्तं तत्प्रथमं शुक्लमिष्यते ।। - हरिवंशपुराण- 56/57-59.

<sup>507</sup> इत्याद्यस्य भिदेस्यातामन्वर्था ..... ध्यानमामनन्तिमनीषिणः ।। - आदिपुराण- 21/169-183.

<sup>508</sup> सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वं ..... क्षोभाऽभावदशानिभम् ।। - अध्यात्मसार- 16/74-76.

<sup>509</sup> षट्खण्डागम, भाग- 5, धवलाटीका, गाथा- 58-60, पृ. 78.

<sup>510</sup> ज्ञानार्णव- 42/9, 13, 15.

तथा आगमसार<sup>517</sup> इत्यादि ग्रन्थों में भी शुक्लध्यान के प्रथम भेद पृथक्त्व-वितर्क-विचार का उल्लेख मिलता है।

2. एकत्व-वितर्क-अविचार — ध्यानशतक में शुक्लध्यान के द्वितीय प्रकार का वर्णन करते हुए जिनभद्रगणि कहते हैं कि वायुरहित प्रदेश में रखे हुए निष्कम्प लौ वाले दीपक के समान जो चित्त उत्पाद, स्थिति और लय में से किसी एक पर्याय में स्थिर हो निष्कम्प होता है, जो अविचार होकर पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेने वाला होता है, वह अर्थ, व्यंजन और योग के विचार से रहित होने के कारण एकत्व-वितर्क-अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान है। इसके अन्तर्गत ध्येय के अर्थ-व्यंजन-योग का भेद नहीं रहता है।<sup>518</sup>

स्थानांगसूत्रवृत्ति के अनुसार, बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह क्षपक-साधक की चित्तवृत्ति इस सीमा तक स्थिर या निश्चल बन जाती है कि वहां द्रव्य, गुण अथवा पर्याय के चिन्तन में परिवर्तन नहीं आता है, बल्कि व्यक्ति किसी एक पर्याय पर सूक्ष्मता से या गम्भीर रूप से चिन्तन में निःमग्न हो जाता है— यह शुक्लध्यान की दूसरी सीढ़ी है। इसमें साधक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय-कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों को नाश कर अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त-सुख का धारक सयोगी जिन बनकर तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश पा जाता है।<sup>519</sup>

तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार— किसी एक पर्याय पर चित्तवृत्ति निष्कम्प दीपशिखा के समान स्थिर हो जाती है, अतः मन निश्चल और शान्त बन जाता है। इसके परिणामस्वरूप, कर्मों के आवरण शीघ्र ही दूर होकर वीतराग-दशा प्रकट होती है। एक

<sup>511</sup> सवितर्कं सविचारं पृथक्त्वं च प्रकीर्तितम् ॥ — ध्यानदीपिका, प्रकरण- 9, श्लोक- 198.

<sup>512</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, प्रथम पत्र, पृ. 358.

<sup>513</sup> ध्यानविचारसविवेचन, पृ. 358.

<sup>514</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह- 11/71-72.

<sup>515</sup> सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ॥ — ध्यानस्तव, श्लोक- 17.

<sup>516</sup> आत्मद्रव्येषु पर्याये ..... यांति योगिनाम् ॥ — ध्यानसार, श्लोक- 143-146.

<sup>517</sup> आगमसार, पृ. 174.

<sup>518</sup> जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।

उप्पाय-द्विइ-भंग्गाइयाणमेगम्मि पज्जाए ॥

अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं बिइयसुक्कं ।

पुव्वगयसुयालंबणमेगत्त वितक्कमवियारं ॥ — ध्यानशतक, गाथा- 79-80.

<sup>519</sup> स्थानांगसूत्र, स्थान चतुर्थ, उद्देशक- 1, सूत्र- 68.

ही ध्येय पर चित्तवृत्ति के स्थिर रहने के कारण इसे एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान कहते हैं।<sup>520</sup> इसमें ध्यान का विषय रहता है, किन्तु विकल्प या विचार समाप्त हो जाते हैं।

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति के अनुसार अनेक द्रव्यों एवं पर्यायों में से मात्र एक द्रव्य या उसकी एक पर्याय का आलम्बन लेना 'एकत्व-वितर्क-अविचार' नामक शुक्लध्यान का दूसरा प्रकार है।<sup>521</sup>

ज्ञानार्णव में लिखा है— साधक पृथक्त्वरहित, विचाररहित और वितर्कसहित निर्मल एकत्व-ध्यान को प्राप्त कर लेता है।<sup>522</sup>

योगशास्त्र में कहा है कि शुक्लध्यान के द्वितीय भेद में पूर्वश्रुतानुसार कोई भी एक ही पर्याय ध्येय होती है। एक ही ध्येय होने से इसमें संक्रमण नहीं होता है, इसलिए यह 'एकत्व-वितर्क-अविचार' नामक दूसरा शुक्लध्यान है।<sup>523</sup>

गुणस्थानक-क्रमारोह में कहा गया है कि क्षीणमोह-गुणस्थान में से क्षपक जीव अच्छी तरह आत्मा की वर्तमानकालीन एक पर्याय से ध्याता है। समभावरसी अतिविशुद्ध अपने परमात्म-स्वभाव में लीन रहते हैं। इस ध्यान में ध्याता पृथक्त्व-वितर्क-सविचार से रहित होकर एकत्व-वितर्क-अविचार होकर एक ही द्रव्य, गुण अथवा पर्याय का निष्प्रकम्प चित्त से ध्यान करता है।<sup>524</sup>

अध्यात्मसार के अन्तर्गत बताया गया है कि एकत्व-वितर्क और विचार से संयुक्त एक पर्याय वाला जो दूसरा शुक्लध्यान है— वह निर्वात-स्थान पर रही हुई दीपक की ज्योति के समान है।<sup>525</sup>

आदिपुराण में भी यही कहा है— दूसरा एकत्ववितर्क नाम का शुक्लध्यान भी पहले शुक्लध्यान के समान ही जानना चाहिए, किन्तु विशेषता इतनी ही है कि जिसका

<sup>520</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 9/41.

<sup>521</sup> एकस्य भाव एकत्वं ..... ॥ —तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति, ध्यानशतक पुस्तक से उद्धृत, पृ. 135.

<sup>522</sup> अपृथक्त्वमविचारं सवितर्कं च योगिनः ।

एकत्वमेकयोगस्य जायतेऽत्यन्तनिर्मलम् ॥ — ज्ञानार्णव— 42/26.

<sup>523</sup> एवं श्रुतानुसाराद् एकत्ववितर्कमेकपर्याये ।

अर्थ—व्यंजन—योगान्तरेष्वसंक्रमणमन्यत्तु ॥ — योगशास्त्र— 11/7.

<sup>524</sup> अपृथक्त्वमविचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।

स ध्यायत्येकयोगेन शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥ — गुणस्थानक-क्रमारोहण— 75.

<sup>525</sup> एकत्वेन वितर्केण विचारेण च संयुतम् ।

निर्वातस्थप्रदीपाऽऽभं द्वितीयं त्वेकपर्ययम् ॥ — अध्यात्मसार— 16/77.



मोहनीय—कर्म नष्ट हो गया हो, जो पूर्वी का ज्ञाता हो, जिसका आत्म तेज अपरिमित हो और जो तीन योगों में से वर्तमान में किसी एक योग का धारण करने वाला हो— ऐसे साधक को दूसरा शुक्लध्यान होता है।<sup>526</sup> क्षीणमोह के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का एक साथ नाश करते हैं।<sup>527</sup>

उपरोक्त ग्रन्थों के अलावा षट्खण्डागम<sup>528</sup>, ध्यानदीपिका<sup>529</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>530</sup>, सिद्धान्तसारसंग्रह<sup>531</sup>, ध्यानस्तव<sup>532</sup>, ध्यानसार<sup>533</sup> तथा आगमसार<sup>534</sup> इत्यादि ग्रन्थों में भी शुक्लध्यान के दूसरे भेद का वर्णन मिलता है।

**3. सूक्ष्मक्रिया—प्रतिपाती** — ध्यानशतक के अन्तर्गत आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तृतीय प्रकार के शुक्लध्यान के विषय का निर्देश करते हुए कहते हैं कि केवली के मन और वचन के विकल्परूप दोनों योगों की प्रवृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है, मात्र सूक्ष्म—क्रियाएं ही शेष रहती हैं। यह शुक्लध्यान का सूक्ष्मक्रिया—प्रतिपाती नामक तृतीय प्रकार है। इसे प्रतिपाती कहने का आशय यह है कि इसमें दूसरों के निमित्त से उपयोगदशा में परिवर्तन सम्भव है।<sup>535</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि केवली के योगनिरोध के क्रम<sup>536</sup> अन्ततः सूक्ष्म मनोयोग, वचनयोग और काययोग का पूर्णतः निरोध कर देते हैं। उस वक्त तक यह

<sup>526</sup> द्वितीयमाद्यवज्ज्ञेयं विशेषस्त्वेकयोगिनः ..... ॥ — आदिपुराण— 21/184.

<sup>527</sup> (क) षट्खण्डागम, भाष्य— 5, धवलाटीका, पृ. 79—80

(ख) सर्वार्थसिद्धि— 9/44.

<sup>528</sup> षट्खण्डागम, भाग— 5, धवलाटीका, पृ. 79.

<sup>529</sup> सवितर्कसविचारं पृथक्त्वं च प्रकीर्तितम्।

शुक्लमाद्यं द्वितीयं च विपर्यस्तमतः परम् ॥ — ध्यानदीपिका, त्र.— 9, श्लोक— 197.

<sup>530</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, द्वितीय पत्र, पृ. 360.

<sup>531</sup> सिद्धान्तसारसंग्रह— 11/76.

<sup>532</sup> ध्यानस्तव, श्लोक— 17.

<sup>533</sup> आत्मगुणे स्वपर्याय स्वसंवेदनलक्षणे।

स्वस्मिन् एकत्वसंलीनं तदेकत्व श्रुतस्थिरम् ॥ — ध्यानसार, श्लोक— 147.

<sup>534</sup> आगमसार, पृ. 174.

<sup>535</sup> निष्वाणगमणकाले केवलिणो दरनिरुद्धजोगस्स।

सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 81.

<sup>536</sup> यह क्रम इस प्रकार है— स्थूल काययोग के आश्रय से वचन और मन के स्थूलयोग को सूक्ष्म बनाया जाता है। इसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके शरीर के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, फिर शरीर से सूक्ष्म योग को अवलम्बित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है और अन्त में सूक्ष्म शरीर का भी निरोध किया जाता है। — तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक— सुखालाल संघावी, पृ. 230.

‘सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती’ नामक तृतीय शुक्लध्यान रहता है, क्योंकि इसमें केवल योग ही रह जाते हैं। इसमें मात्र उपयोग-परिवर्तन सम्भव होता है, अतः यह प्रतिपाती कहा जाता है।<sup>537</sup>

स्थानांगसूत्रवृत्ति के अनुसार, यह शुक्लध्यान की तीसरी सीढ़ी है। तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी-केवली मात्र अन्तर्मुहूर्त्त-परिणाम आयु शेष रहने पर नाम, गोत्र एवं वेदनीय-कर्म की स्थिति आयुष्य-कर्म के समान करने के लिए केवली समुदघात करते हैं। उसमें नाम, गोत्र तथा वेदनीय-कर्म भी आयुष्य-कर्म के समान रह जाते हैं। इसके बाद स्थूल मानसिक-वाचिक तथा कायिक-व्यापार का निरोध करते हैं, मात्र सूक्ष्मयोग ही शेष रहते हैं, अतः इसे ही सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति कहते हैं।<sup>538</sup>

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि केवली जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयु के शेष रहने पर मुक्तिगमन के समय कुछ योग-निरोध कर सूक्ष्म काया की क्रियारूप जो ध्यान करता है, वह सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती-शुक्लध्यान कहलाता है।<sup>539</sup>

ज्ञानार्णव में कहा गया है कि घाती-कर्मों से मुक्त होकर केवलज्ञानरूपी सूर्य से प्रकाशमान हुए वे सर्वज्ञ अन्तर्मुहूर्त्त मात्र आयुष्य के शेष रह जाने पर तृतीय सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती शुक्लध्यान के योग्य होते हैं।<sup>540</sup>

योगशास्त्र के प्रणेता कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थ के अन्तर्गत ‘सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती’ शुक्लध्यान का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी को प्राप्त तथा अपार शक्ति से युक्त सयोगी-केवली बादर-काययोग का अवलम्बन लेकर बादर-वचनयोग और मनोयोग को शीघ्र ही रोक लेता है। इस प्रकार सूक्ष्म काययोग से बादर-काययोग को रोकता है। बादर-काययोग का निरोध किए बिना सूक्ष्म काययोग का निरोध असम्भव है। तत्पश्चात्, सूक्ष्म काययोग से सूक्ष्म वचन और मनोयोग को रोकते हैं। तदनन्तर सूक्ष्मकाययोग से भिन्न (रहित) होकर

<sup>537</sup> तत्त्वार्थसूत्र- 9/41-46.

<sup>538</sup> स्थानांगसूत्र- 247, वृत्ति- 81.

<sup>539</sup> ... स यदाऽन्तर्मुहूर्त्त शेषायुष्यकतदा सर्ववाङ्मनसयोगं बादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाय-योगालम्बनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान..... ॥ - सर्वार्थसिद्धि- 9/44/5.

<sup>540</sup> सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः ।

अन्तर्मुहूर्त्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति ॥ - ज्ञानार्णव- 39/37.

सूक्ष्मक्रिया—निवर्त्ती नाम का शुक्लध्यान करते हैं और अन्त में सूक्ष्म काययोग का भी निरोध कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।<sup>541</sup>

अध्यात्मसार में कहा गया है कि सूक्ष्मक्रिया—अनिवृत्ति— यह तीसरा ध्यान केवली को होता है। इसमें सूक्ष्म काययोग के निरोध के अतिरिक्त दूसरे दो योग (मन और वचन) का पूर्ण निरोध होता है।<sup>542</sup>

षट्खण्डागम<sup>543</sup>, आदिपुराण<sup>544</sup>, तत्त्वार्थवार्तिक<sup>545</sup>, ध्यानदीपिका<sup>546</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>547</sup>, आगमसार<sup>548</sup>, ध्यानविचार<sup>549</sup>, ध्यानसार<sup>550</sup>, ध्यानस्तव<sup>551</sup>, ध्यानामृत<sup>552</sup>, गुणस्थानकक्रमारोह<sup>553</sup>, प्रशमरतिप्रकरण<sup>554</sup> आदि ग्रन्थों में शुक्लध्यान के तृतीय प्रकार का उल्लेख इसी रूप से उल्लेखित है। जब मन और वाणी के योग का समग्र निरोध हो जाता है और काययोग की श्वासोश्वास जैसी सूक्ष्म सहज क्रिया मात्र रहती है, तब उस अवस्था को सूक्ष्मक्रिया कहा जाता है और इसमें पतन की आशंका का अभाव है, इसलिए अप्रतिपाती है<sup>555</sup>, अतः यह ध्यान वितर्क एवं विचार से रहित और सूक्ष्मक्रिया से युक्त होता है। इसमें मात्र सूक्ष्म काययोग रहता है।<sup>556</sup> सर्वज्ञ का आयुष्य

<sup>541</sup> श्रीमानचिन्त्यवीर्यः शरीरयोगोऽथबादरे ..... सूक्ष्मतनुयोगम् ॥ — योगशास्त्र— 11/53—55.

<sup>542</sup> सूक्ष्मक्रियानिवृत्त्यारब्धं तृतीयं तु जिनस्य तत् ।

अर्थरुद्धांगयोगस्स रुद्धयोगद्वयस्य च ॥ — अध्यात्मसार— 16/78.

<sup>543</sup> षट्खण्डागम, भाग— 5, धवलाटीका, वीरसेनाचार्य, गाथा— 72, पृ. 83.

<sup>544</sup> पुनरन्तर्मुहूर्त्तं निरुन्धन् योगमास्रवम् । कृत्वा वाङ्मनसे सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥

सूक्ष्मीकृत्य पुनः काययोगं च तदुपाश्रयम् । ध्यायेत् सूक्ष्मक्रियं ध्यानं प्रतिपातपराङ्मुखम् ॥

— आदिपुराण— 21/194—195.

<sup>545</sup> तत्त्वार्थवार्तिक— 9/44 की वृत्ति.

<sup>546</sup> सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयं सर्ववेदिनाम् ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 198.

<sup>547</sup> ध्यानकल्पतरु, अमोलक ऋषि, तृतीय पत्र, चतुर्थ शाखा, पृ. 362.

<sup>548</sup> आगमसार, पृ. 185.

<sup>549</sup> ध्यानविचारसविवेचन.

<sup>550</sup> निर्वाणगतिसामीप्ये काले केवलियोगिनाम् ।

परिस्पन्दादिरूपेण सूक्ष्मा कायिकसत्क्रिया ॥ — ध्यानसार, श्लोक— 151.

<sup>551</sup> सूक्ष्मकायक्रियस्य स्याद्योगिनः सर्ववेदिनः ।

शुक्लं सूक्ष्मक्रियं देव ख्यातमप्रतिपातितत् ॥ — ध्यानस्तव, श्लोक— 20.

<sup>552</sup> ध्यानामृत, धर्मालंकार पुस्तक से उद्धृत, पृ. 203.

<sup>553</sup> बादरे काययोगोऽस्मिन् ..... चिद्रूप विन्दति स्वयम् ॥ — गुणस्थानकक्रमारोह, श्लोक— 97—100.

<sup>554</sup> सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो । — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 280.

<sup>555</sup> संस्कृति के दो प्रवाह, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 225.

<sup>556</sup> योगशास्त्र— 11/8.

मात्र अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहे, तब अघाती-कर्म (वेदनीय, नाम, गोत्र) की स्थिति ज्यादा रह जाए, तब केवली उनको एक समान करने के लिए केवली-समुद्घात करते हैं।<sup>557</sup>

**खवगसेढी** के अनुसार, आत्मप्रदेशों के समूह को देह से बाहर क्षेपण की क्रिया समुद्घात है।<sup>558</sup> जिनके वेदनादि कर्म यदि आयुष्य जितने ही स्थिति वाले हों, तो उन्हें समुद्घात की आवश्यकता नहीं होती है। वैसे वेदनादि सात समुद्घात होते हैं, इनमें केवली-समुद्घात अन्तिम है।<sup>559</sup> केवली जब समुद्घात करते हैं, तो उसके पूर्व उन्हें एक प्रक्रिया अवश्य करनी पड़ती है और वह है— आउज्जीकरण।

**आउज्जीकरण (आयोज्यकरण)** — समस्त सयोगी सर्वज्ञ मोक्ष जाने के एक मुहूर्त पूर्व केवली-समुद्घात करने के पहले किए जाने वाला शुभ-व्यापारयोग आउज्जीकरण कहलाता है।<sup>560</sup> दूसरे शब्दों में, केवली-समुद्घात के पहले की जाने वाली त्रियोग की शुभक्रिया एक अन्तर्मुहूर्त तक कर्म-पुद्गल को उदयवलिका में डालने के रूप में उदीरणा-विशेष को आउज्जियाकरण कहते हैं।<sup>561</sup> संक्षेप में, मन, वचन और काया की शेष अघाती-कर्मों की उदीरणा अन्तिम शुभप्रवृत्ति को ही आउज्ज या आउज्जीकरण कहा जाता है।<sup>562</sup> इसे आयोजिकाकरण, आवश्यककरण, अवश्यककरण, आवर्जितकरण के नाम से भी सम्बोधित करते हैं।<sup>563</sup>

<sup>557</sup> यस्य पुनः केवलिनः कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम् ।

स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्तुम् ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 273.

<sup>558</sup> शरीराद् बहिर्जीवप्रदेशानां निस्सारणमिति समुद्घातः । — खवगसेढी, पृ . 452.

<sup>559</sup> (क) सत्त समुद्घाया पन्नता, तं जहा-वेयणासमुद्घाए 1, कसायसमुद्घाए 2, मारणासमुद्घाए 3, वेउव्वियसमुद्घाए 4, तेयासमुद्घाए 5, आहारसमुद्घाए 6, केवलिसमुद्घाए 7 ।

— पणवणासुत्तं (सुत्तागमे)— 36/686.

(ख) प्रशमरतिप्रकरण की वृत्ति, गाथा— 273.

<sup>560</sup> (क) कइ समएणं भंते । आउज्जीकरणे पणत्ते, तं जहा-गोयमा असंखेज्जसमइएअंतोमुहुत्तिए पणत्ते ..... ॥ — ओववाइयसुत्तं ॥ सुत्तागमे ॥ — पृ. 36.

(ख) कइ समएणं भंते । आउज्जीकरणे ..... पणत्ते ।— पणवणासुत्तं ॥ सुत्तागमे ॥ — 36/711.

(ग) सचित्र अर्धमागधी कोष, भाग— 2, पृ. 11.

<sup>561</sup> वही, भाग— 2, पृ. 11.

<sup>562</sup> सचित्रअर्धमागधी कोष (सं. शतावधानी रत्नचंद्रमुनि), पृ. 10-11.

<sup>563</sup> (क) आवज्जणमुवओगो वावारो वा तदत्थमाईए । तं च गन्तुमन्ताः प्रारिप्सुः पूर्वमावर्जी करणमभ्येति विदधाति ..... । उच्यते—तदर्थं समुद्घातकरणार्थमादौ केवलिन उपयोगो 'मयाऽधुनेदं कर्तव्यम् ।' इत्येवं रूपः उदयावलि कायां कर्मप्रेक्षरूपो व्यापारो वाऽऽवर्जनमुच्यते । तथा भूतस्य करणमावर्जीकरणम् ॥ — विशेषावश्यकभाष्य, हेमचंद्रटीका, गाथा— 3051, पृ. 243.

(ख) खवगसेढी, स्वोपज्ञवृत्ति, ॥ श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर ॥, पृ. 448-449.

सम्पूर्ण आत्मस्थिरता की ओर जाने वाले अत्यन्त प्रवर्द्धमान परिणाम से निवृत्त न हुई हो, ऐसी (सूक्ष्म से बादर में परिणत नहीं होने वाली) सूक्ष्मक्रिया को ही सूक्ष्मक्रिया—अनिवर्ती कहते हैं। यह अवस्था ही ध्यान कही जाती है<sup>564</sup> और इसे ही योगनिरोध की प्रक्रिया भी कहते हैं।

आधुनिक चिन्तक विद्वलदास के शब्दों में— “शरीर की सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया को रागद्वेष रहित होकर देखना चाहिए।” देह के समग्र हिस्से को रुके बिना देखते रहने का विधान विपश्यना एवं प्रेक्षा के अन्तर्गत आता है।<sup>565</sup>

**व्युच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाति** — ध्यानशतक के अन्तर्गत शुक्लध्यान के चतुर्थ प्रकार को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने यह कहा है कि शैल (पर्वत) की भांति कम्पन, हलन—चलन—क्रिया से रहित होकर, अर्थात् योग से रहित हुए केवली ‘अयोगी—केवली’ नामक चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होकर शैलेशी—अवस्था को प्राप्त होते हैं, उसे ‘व्युच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाति’ नाम का सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान कहते हैं।<sup>566</sup>

‘सेलेसी’ शब्द प्राकृत का है तथा ‘शैलेशी’ इसका संस्कृत रूपान्तरण है। इसका अर्थ है— शैल के समान स्थिर ऋषि।

दूसरे शब्दों में, ‘स एव अलेसी सेलेसी’, अभिप्राय यह है कि केवली लेश्या से रहित होते हैं,<sup>567</sup> अथवा प्रकारान्तर से सर्वसंवररूप शील का जो ईश (स्वामी) है,

<sup>564</sup> (क) सूक्ष्म क्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो ध्यात्वा विगतक्रियममनिवर्तिन्वमुत्तरं ध्यायति परेण ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 280.

(ख) योगशास्त्र, स्वोपज्ञभाष्य— 11/53—55.

(ग) अभिधान राजेंद्रकोश, भाग— 4, पृ. 1662.

<sup>565</sup> (क) विपश्यना साधना, विद्वलदास मोदी, पृ. 7.

(ख) प्रेक्षाध्यान : प्रयोग—पद्धति, युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृ. 10.

<sup>566</sup> तस्सेव ये सेलेसीगयस्स सेलौव्व णिप्पकंपस्स ।

वोच्छिन्न किरियमप्पडिवाइज्जाणं परमसुक्कं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 82.

<sup>567</sup> ..... तदो अंतोमुहुतंसेलेसिपडिवज्जदि । ततोऽन्तर्मुहूर्तमयोगिकेवलौ भूत्वा शैलेश्यमेष भगवान्— लेश्यभावेन प्रतिपद्यते इति सूत्रार्थः । ..... भाव शैलेश्य सकलगुण—शीलानामैकाधिपत्य— प्रतिलम्भनमित्यर्थः । — जयधवला, अ. प. 1246 (धव. पु. 10, पृ. 326 की टीका— 1)

उसे शीलेश कहा जाता है। ऐसे केवली जिन ही होते हैं, जो पूर्व समय में शीलेश हो जाते हैं, अतः उन्हें सेलेसी कहा जाता है।<sup>568</sup>

स्थानांगसूत्रवृत्ति के अनुसार, यह शुक्लध्यान की चरम-अवस्था है। यहां सूक्ष्म-काययोग का निरोध होने पर जीवात्मा चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करती है। यहां सूक्ष्म योगों की प्रवृत्ति सम्पूर्णतया समाप्त हो जाने के साथ ही आत्मा अयोगी-अवस्था, अर्थात् सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार, वह अपने प्राप्तव्य स्थान (स्वस्थान) पर पहुंच जाती है।<sup>569</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि जब काययोग की श्वास-प्रश्वासरूप सूक्ष्म क्रियाएं भी समाप्त हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं, तब 'व्युपरतक्रियानिवृत्ति' नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है।<sup>570</sup>

हरिवंशपुराण में लिखा है कि शुक्लध्यान की अन्तिम-अवस्था में केवली सूक्ष्मकाययोग की क्रिया को भी समाप्त कर देते हैं। आत्मा में किसी भी प्रकार का कोई भी प्रकल्प नहीं होता, चाहे वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, उसका सदा-सर्वथा के लिए अभाव हो जाता है।<sup>571</sup>

योगशास्त्र में कहा है कि ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्म क्रिया से मुक्त होते ही केवली (अ, इ, उ, ऋ, लृ- इन पांच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय के लिए) शैलेशी-अवस्था को प्राप्त होते हैं।<sup>572</sup> इसमें मेरु-पर्वत की भांति निष्प्रकम्प हो जाते हैं। जब शैलेशीकरण में स्थित होते हैं, तब विच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है।<sup>573</sup>

<sup>568</sup> (क) शीलेशः सर्वसंवररूपचरणप्रभुस्तस्येव याऽवस्था स्थिरतासाधर्म्यात् सा शैलेशी । - व्याख्याप्रज्ञप्ति अभय, वृ. 1, 8, 72.

(ख) ध. पु. 6, पृ. 417 का टिप्पण - 1.

<sup>569</sup> सुक्के ज्ञाणे चउखिहे चउप्पडोआरे पण्णत्ते, तं जहा-पुहुत्तवितक्के सवियारी, एगत्तवितक्के-अविचारी, सुहुमकिरिए अणियट्ठी, समुच्छिण्णकिरिए अप्पडिवाती ।। - स्थानांगसूत्र- 4/1/69.

<sup>570</sup> पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ।। - तत्त्वार्थसूत्र- 9/41.

<sup>571</sup> स्वप्रदेशपरिस्पन्दयोगप्राणादि कर्मणाम् । समुच्छिन्नतयोक्त तत्समुच्छिन्नक्रियाख्यया ।। सर्वबन्धास्रवाणां हि निरोधस्तत्र यत्नतः । अयोगस्य यथाख्यात चारित्रं मोक्ष साधनम् ।। - हरिवंशपुराण- 56/78-79.

<sup>572</sup> लघुवर्णपञ्चकोदगिरण तुल्यकालमवाप्य शैलेशी ।। - योगशास्त्र- 11/57.

<sup>573</sup> (क) केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।

उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीयं परमशुक्लम् ।। - योगशास्त्र- 11/9.

(ख) ईषदस्वाक्षरपञ्चको ..... गतलेश्यः ।। - प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक- 283.

अध्यात्मसार के कर्त्ता के अनुसार— आत्मप्रदेशस्पन्दनरूप सूक्ष्मक्रिया का उच्छेद हो जाने पर समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती नामक चौथा शुक्लध्यान होता है। शैलेशी-अवस्था में उनके आत्म-प्रदेश मेरु-पर्वत के सदृश अडिग होते हैं।<sup>574</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा है— जैसे योगों का निरोध होता है, वैसे ही बंध का भी निरोध हो जाता है। इस समय केवली भगवान् त्रस, बादर, पर्याप्त सौभाग्य, कीर्त्ति, मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, साता अथवा असाता में से एक और उच्चगोत्र, मनुष्यायु आदि कर्म-प्रकृतियों का वेदन करते हुए उन्हें क्षय करते हैं। यदि तीर्थकर हो, तो तीर्थकर-नामकर्म की प्रकृति को सम्मिलित करके बारह अथवा तेरह प्रकृतियों का क्षय करके सूक्ष्मकाययोग (श्वास) से मुक्ति पाने हेतु समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाती नामक शुक्लध्यान के चौथे स्तर में प्रवेश करते हैं।<sup>575</sup>

ज्ञानार्णव<sup>576</sup> में वर्णित है— यह अति उत्तम ध्यान चौदहवें अयोगी-गुणस्थान में प्रारंभ होता है, जिसमें केवली उपान्त्य में बहत्तर अवशिष्ट तेरह कर्म-प्रकृतियों का भी नाश कर देते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नांकित ग्रन्थों में भी शुक्लध्यान के चौथे भेद का वर्णन है, जो इस प्रकार है— प्रशमरति<sup>577</sup>, षट्खण्डागम<sup>578</sup>, आदिपुराण<sup>579</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>580</sup>, आगमसार<sup>581</sup>, ध्यानसार<sup>582</sup>, ध्यानस्तव<sup>583</sup>, ध्यानदीपिका<sup>584</sup>,

<sup>574</sup> तुरीयं तु समुच्छिन्नक्रियप्रतिपाती तत् ।

शैलवन्निष्प्रकम्पस्य शैश्यां विश्ववेदिनः ॥ — अध्यात्मसार— 16/79.

<sup>575</sup> त्रसबादरपर्याप्तादेयशुभगकीर्त्ति ..... व्युपरतिक्रियमनिवर्तीत्यर्थः ॥ — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति.

<sup>576</sup> द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयस्तदा । अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जयाः ।

विलयं वीतरागस्य तत्र यान्ति त्रयोदश । कर्मप्रकृतयः सद्यः पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥

— ज्ञानार्णव— 39/47, 49.

<sup>577</sup> विगतक्रियमनिवर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण । — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 280.

<sup>578</sup> समुच्छिन्ना क्रिया योगो यस्मिन्तत्समुच्छिन्नक्रियम् ।

समुच्छिन्न क्रियं च अप्रतिपाति च समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यानम् ॥

— षट्खण्डागम, धवलाटीका, भाग— 5, पृ. 87.

<sup>579</sup> ततो निरुद्धयोगः सन्नयोगी विगतास्रवः ।

समुच्छिन्नक्रियंति ध्यानमनिवृत्ति तदा भजेत् ॥ — आदिपुराण— 21/196.

<sup>580</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, चतुर्थ पत्र, पृ. 363.

<sup>581</sup> आगमसार, पृ. 175.

<sup>582</sup> अनिवृत्ति ध्यानं जायते परमेष्ठिनः । यथाऽशोषाणि कर्माणि भस्मात् कुरुतेक्षणात् ॥

— ध्यानसार, श्लोक— 155.

<sup>583</sup> स्थिरसर्वात्मदेशस्य समुच्छिन्न ..... सर्वज्ञस्थानिवर्तकम् ॥ — ध्यानस्तव, श्लोक— 21.

<sup>584</sup> समुच्छिन्नं ध्यानं तुर्यमार्यैः प्रवेदितम् ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 198.

ध्यानामृत<sup>585</sup>, सर्वार्थसिद्धि<sup>586</sup>, गुणस्थानकक्रमारोह<sup>587</sup> उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा अन्य ग्रन्थों में भी शुक्लध्यान के इन्हीं चारों प्रकारों का उल्लेख है।

आवश्यकचूर्णि<sup>588</sup>, सम्मतिवृत्ति<sup>589</sup>, हितोपदेशवृत्ति<sup>590</sup>, संवेगरंगशाला<sup>591</sup> भगवती-आराधना<sup>592</sup>, जैनसाधना-पद्धति में ध्यान<sup>593</sup>— इत्यादि ग्रन्थों में संक्षेप में शुक्लध्यान के चार प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है—

1. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार — द्रव्य-पर्याय को एक-दूसरे में संक्रमण करने की विचारधारा 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' शुक्लध्यान है।
2. एकत्व-वितर्क-अविचार — द्रव्य की विभिन्न पर्यायों में चित्त के आवागमन को छोड़कर मात्र एक ही पर्याय (विषय) में विचारधारा का रहना एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान है।
3. सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती — मानसिक-वाचिक और कायिक-प्रवृत्तियों का निरोध करके मात्र श्वासोश्वास की सूक्ष्मक्रिया शेष रहना— यह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती शुक्लध्यान है।
4. समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति — जब मन, वचन और काया की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध होने पर तीसरे स्तर पर जो सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास रहता है, उसका भी निरोध समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति है।

<sup>585</sup> ध्यानामृत, धर्मालंकार पुस्तक से उद्धृत, पृ. 206.

<sup>586</sup> सर्वार्थसिद्धि— 9/44.

<sup>587</sup> समुच्छिन्न क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकाऽपि हि।

समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः ॥ — गुणस्थानकक्रमारोह— 106.

<sup>588</sup> सुत्तणाणे उवउत्तो अत्थंमि .....बित्तिए ज्झाणे वितक्कती ॥ — आवश्यकचूर्णि.

<sup>589</sup> कषायदोषमलापगमात् शुचित्वम् ..... बन्धवियोगो मोक्षः ॥ — सम्मतिवृत्ति, का.— 3/63.

<sup>590</sup> शुक्लध्यानमपि चतुर्विधं ..... मुनेर्मनोगुप्तिरिति ॥ — हितोपदेशवृत्ति— 484.

<sup>591</sup> संवेगरंगशाला, गाथा— 9963-64.

<sup>592</sup> ज्ञाणं पुधत्तसवितक्कसविचारं हवे पढमसुक्कं । सवितक्केक्कत्ताविचारं ज्झाणं विदियसुक्कं ॥

सुहुमकिरियं तु तदियं सुक्कज्झाणं ..... सुक्कं जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥

— भगवतीआराधना— 1872-73.

<sup>593</sup> जैनधर्मसाधना-पद्धति में ध्यान, डॉ सागरमल जैन, पृ. 30-31.



इस प्रकार, शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते चरमावस्था के अन्तर्गत केवली तीनों योग-प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था को प्राप्त करते हैं, जो कि धर्मसाधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।

## शुक्लध्यान के द्वार

1. ध्यातव्य—द्वार — जैसा कि हमने पूर्व में ही सूचित किया था कि शुक्लध्यान आत्म-मुक्ति का मूल मन्त्र है। शुक्लध्यान के माध्यम से मन को शान्त और निर्विकल्प किया जाता है। इस ध्यान की अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है।

ध्यानशतक की गाथा क्रमांक सतहत्तर से बयासी तक शुक्लध्यान के ध्यातव्य—द्वार का विवेचन है। यहां ध्यातव्य से तात्पर्य ध्यान के विषय से है। इसमें यह बताया गया है कि प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य— ये तीन अवस्थाएं पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त है। पर्यायें बदलती रहती हैं, अतः शुक्लध्यान के प्रथम चरण में एक ही द्रव्य में जो समकाल होता है, उस समकाल में होने वाली उत्पाद—व्यय और ध्रौव्य की अवस्थाओं का चिन्तन होता है। आगम एवं नय आदि के अनुसार द्रव्य के स्वरूप का चिन्तन करना प्रथम पृथक्त्व—वितर्क—सविचार नामक शुक्लध्यान का ध्यातव्य है।<sup>594</sup> यहां जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने एक बात विशेष रूप से कही है कि इस चिन्तन में वस्तु के प्रति रागभाव का अभाव होता है, फिर भी द्रव्यसत्ता की क्रमशः होने वाली विभिन्न पर्यायों का तथा नयानुसार विभिन्न विकल्पों का चिन्तन चलता रहता है। इसमें द्रव्य एक रहता है, किन्तु पर्यायें बदलती रहती हैं।

जब द्रव्य की एक ही पर्याय में चित्त की अवस्थिति स्थिर हो जाती है, तो वह एकत्व—वितर्क—अविचार नामक द्वितीय शुक्लध्यान का ध्यातव्य—द्वार होता है, अतः यहां विचार या विकल्प नहीं होते हैं।<sup>595</sup>

निर्वाणकाल के समय केवली के द्वारा शैलेशी—अवस्था में स्थित होना और स्थूल मन—वचन और काया के योगों का निरुद्ध हो जाना सूक्ष्मक्रिया—अप्रतिपाती नामक

<sup>594</sup> उपाय—द्विष्ट—भंगाइपज्जयाणं ..... सवियारमरागभावस्स ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 77—78.

<sup>595</sup> जं पुण सुणिप्पकंपनिवाय ..... वितक्कमवियारं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 79—80.

शुक्लध्यान का तीसरा ध्यातव्य—द्वार है। इसमें ध्यातव्य की निर्विकल्प सत्ता होती है।<sup>596</sup> इसमें सूक्ष्मकाययोग अवशिष्ट रहता है, किन्तु पतन की स्थिति समाप्त हो जाती है, इसलिए इसे सूक्ष्मक्रिया—अनिवृत्ति कहा जाता है। यहां काया की विचारपूर्वक होने वाली क्रियाएं समाप्त हो जाती हैं, किन्तु सहज दैहिक—क्रियाएं चलती रहती हैं।

जिसमें सूक्ष्मकाययोग की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, वह चतुर्थ व्युपरत—क्रिया—निवृत्ति नामक शुक्लध्यान का चौथा ध्यातव्य—द्वार है।<sup>597</sup> इसमें मात्र जो बारह अथवा तेरह कर्म—प्रकृतियां उदय में हैं, वे ही बनी रहती हैं। उनके क्षय होते ही साधक निर्वाण को प्राप्त होता है, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि छद्मस्थ के मन का निश्चल हो जाना और केवली के कायादि योगों का निरोध हो जाना ही अन्तिम शुक्लध्यान है।

इसका ध्यातव्य सूक्ष्मयोग निरोध ही होता है, यह पूर्णतः निर्विकल्पदशा है।

2. ध्यातृ—द्वार — ‘ध्यातृ’ का अर्थ ध्याता या फिर ध्यान करने वाले से है। यद्यपि ध्याता आत्मा ही होता है, फिर भी यह समझ लेना चाहिए कि सभी आत्माओं में प्रशस्त—ध्यान की सामर्थ्यता नहीं होती है। प्रशस्त— ध्यान का सामर्थ्य केवल चौथे गुणस्थान से ही सम्भव होता है। इन दोनों ध्यान के सन्दर्भ में ध्याता को लेकर मतभेद हैं।

श्वेताम्बर—परम्परा के अनुसार, सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों में धर्मध्यान सम्भव होता है, जबकि दिगम्बर—परम्परा के अनुसार यह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीवों में सम्भव होता है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ध्यानशतक में कहा है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण में ध्यान करने वाला, प्रशस्त—संघयण वाला, अप्रमत्तपूर्वधर, अर्थात् वज्र—ऋषभ—नाराच—संघयण वाला होता है।<sup>598</sup> इसी बात का समर्थन तत्त्वार्थसूत्र<sup>599</sup> में भी मिलता है।

<sup>596</sup> निव्वाणगमणकालेकेवलिणो ..... तणुकायकिरियस्स ॥ — ध्यानशतक— 81.

<sup>597</sup> तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पंकपस्स ।

वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परम सुक्कं ॥ — ध्यानशतक— 82.

<sup>598</sup> सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहाय । ज्ञायारो नाणधणा धम्मज्ञाणस्स निहिट्ठा ॥

शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरण में ध्याता सयोगी या अयोगी ही होता है, अध्यात्मसार<sup>600</sup>, योगशास्त्र<sup>601</sup> में भी यही माना गया है।

शुक्लध्यान के सन्दर्भ में श्वेताम्बर-परम्परा एवं दिगम्बर-परम्परा दोनों ही यह मानती हैं कि शुक्लध्यान केवल तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही सम्भव होता है। शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण तेरहवें गुणस्थान (सयोगी-केवली) में होते हैं और अन्तिम दो चरण चौदहवें गुणस्थान (अयोगी-केवली-दशा) में होते हैं।

इस सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा हम धर्मध्यान के ध्याताद्वार में भी कर चुके हैं।

**अनुप्रेक्षा-द्वार** — अनुप्रेक्षा का अर्थ होता है— गहन चिन्तन करना। आत्मा के द्वारा विशुद्ध चिन्तन के माध्यम से सांसारिक विषय-विकारों का विनाश होता है। परिणामस्वरूप साधक प्रगति करता हुआ मोक्ष के अधिकार की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ध्यान-साधना में अवस्थित रहने के लिए साधक के द्वारा ध्यानान्तरावस्था में धर्मध्यान और शुक्लध्यान की चार-चार अनुप्रेक्षाओं का आधार लिया जाता है। वे अनुप्रेक्षाएं क्रमशः इस प्रकार हैं—

**धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएं** — अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा और अपायानुप्रेक्षा<sup>602</sup>— इन चारों अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख आगमों में तो है ही,<sup>603</sup> परन्तु

एतेच्चिय पुष्पाणं पुष्पधरा सुष्पसत्थसंघयणा ! दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ।।

— ध्यानतशतक, गाथा-63-64.

<sup>599</sup> (क) उत्तमसंहनन ..... ।।

(ख) उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ।

(ग) शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः । परे केवलिणः ।। — तत्त्वार्थसूत्र- 9/27-38, 39, 40.

<sup>600</sup> ध्याताऽयमेव शुक्लस्या-प्रमत्तः पादयोर्द्वयोः ।

पूर्वविद् योग्ययोगी च केवली परयोस्तयोः ।। — अध्यात्मसार- 16/69.

<sup>601</sup> इदमादिमसंहनना एवालं पूर्ववेदिनः कुर्तम् ।

स्थिरतां न याति चित्तं कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम् ।।

धत्ते न खुल स्वास्थ्यं व्याकुलितं तनुमतां मनोविषयै ।

शुक्लध्याने तस्माद् नास्त्यधिकारोऽपसाराणाम् ।। — योगशास्त्र- 4/2-3.

<sup>602</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ जैनसाधना-पद्धति में ध्यानयोग पुस्तक से उद्धृत, पृ. 270.

आगमेतर ग्रन्थों, जैसे— ध्यानशतक (ज्ञानज्झयण)<sup>604</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>605</sup>, अध्यात्मसार<sup>606</sup>, ध्यानविचार<sup>607</sup>, ध्यानदीपिका<sup>608</sup> आदि ग्रन्थों में इन अनुप्रेक्षाओं को निम्नांकित नामों से जाना जाता है—

1. आस्रवद्वार—अनुप्रेक्षा । (आश्रव—अपाय—अनुप्रेक्षा) ।
2. संसारस्वभावानुप्रेक्षा ।
3. भवसंतति—अनुप्रेक्षा ।
4. विपरिणामानुप्रेक्षा (विभाव—अनुप्रेक्षा) ।

1. अपायानुप्रेक्षा — ध्यानशतक के रचनाकार जिनभद्रगणि ने कहा है कि शुक्लध्यान से सुभावित चित्तवाला, चारित्र—सम्पन्न श्रमण ध्यान से उपरत होने पर भी निरन्तर चारों अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन—मनन करता रहता है।<sup>609</sup> बन्ध के हेतुओं को दोषजनक, कष्टजनक सोचना ही अपायानुप्रेक्षा कहलाती है।<sup>610</sup> आस्रवद्वार कौन—कौन से हैं और उनके सेवन से इहलोक एवं परलोक में कैसे—कैसे दुःखों को भोगना पड़ेगा, कितने कष्ट सहन करना पड़ेंगे, इत्यादि विषयों का चिन्तन करना आस्रव—अपाय—अनुप्रेक्षा कहलाती है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार, राग—द्वेष से होने वाले दोषों का विचार करना ही अपायानुप्रेक्षा है।<sup>611</sup>

<sup>603</sup> (क) सुक्कस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पं तं जहा—अणंतवतियाणुप्पेहा, विप्परिणामाणुप्पेहा, अशुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा ।। — स्थानांगसूत्र— 4/1/72.

(ख) भगवतीसूत्र— 25/7

(ग) औपपातिक.

<sup>604</sup> ध्यानशतक, गाथा— 88.

<sup>605</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा— 89, 38, 66—73, 64—65.

<sup>606</sup> आश्रवाऽपायसंसार—नुभावभवसन्ततीः ।

अर्थे विपरिणामं वाऽनुपश्येच्छुक्लविश्रमे ।। — अध्यात्मसार— 16/18.

<sup>607</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 36.

<sup>608</sup> ध्यानदीपिका, पृ. 390—391.

<sup>609</sup> सुक्कज्ज्ञाणसुभाविवियचित्तोचिंतेइ ज्ञाण विरमेऽवि ।

णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ।। — ध्यानशतक— 87.

<sup>610</sup> आस्रवदारावाए ..... ।। — ध्यानशतक, गाथा— 88.

<sup>611</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/72.

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि जीव कर्मवर्गणाओं के कारण भटकता रहता है। इसका मुख्य कारण है— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग। इन कर्मास्रवों के बन्ध—हेतुओं का विचार आस्रवानुप्रेक्षा है।<sup>612</sup>

अध्यात्मसार में लिखा है— आश्रव, अर्थात् कर्मों के आने का द्वार। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद— इन पांचों को ही आश्रव के पांच द्वार कहते हैं। मिथ्यात्वादि पांच द्वारों से, आर्त एवं रौद्रध्यान से, राग—द्वेष एवं कषायों के कारण से, इन्द्रियों की विषयोन्मुखता आदि के माध्यम से निरन्तर शुभाशुभ कर्म बंधते रहते हैं और जीव अज्ञान एवं मिथ्यात्व के अन्धकार में भटकता रहता है। इस प्रकार का चिन्तन—मनन आश्रवापायानुप्रेक्षा कहलाती है।<sup>613</sup>

समयसार के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मिथ्यात्वादि के निमित्त से जीव में राग—द्वेष मोह आदि उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे आस्रव हैं।<sup>614</sup> इसके अलावा स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>615</sup>, ध्यानदीपिका<sup>616</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>617</sup>, ध्यानविचार<sup>618</sup> आदि ग्रन्थों में भी लिखा है कि आस्रव के स्वरूप का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

**2. अशुभानुप्रेक्षा** — ध्यानशतक के कृतिकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि संसार के अशुभत्व का चिन्तन—मनन करना अशुभानुप्रेक्षा है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि विकारी—दशा या विभाव—दशा की अशुभ की कोटि में गणना की गई है, क्योंकि अन्ततोगत्वा उसका परिणाम अहितकारी ही होता है।<sup>619</sup> सर्वभौतिक एवं पर—पदार्थों के प्रति आसक्ति अशुभ है, दुःखरूप है एवं दुःखद फल को देने वाली है। पर—पदार्थों के प्रति आसक्ति के परित्याग से ही आत्महित सम्भव है— ऐसा चिन्तन करने से 'पृथक्त्व—वितर्क—सविचार' शुक्लध्यान बलवान् होता है।

<sup>612</sup> मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगो बन्ध हेतवः। — तत्त्वार्थसूत्र— 8/1.

<sup>613</sup> आश्रवाऽपाय ..... || — अध्यात्मसार— 16/81.

<sup>614</sup> मिच्छतं अविरमणं—कसाय जोगाय ..... रागदोसादिभावकरो ।।

— समयसार, आस्रवाधिकार, गाथा— 164—165.

<sup>615</sup> मोह विवाग—वसादो .....अण्ये—विहा ।। — स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा— 89.

<sup>616</sup> ध्यानदीपिका, गुजराती भाषान्तर, विजयकेशरसूरि, पृ. 390.

<sup>617</sup> ध्यानकल्पतरु, अमोलक ऋषि, चतुर्थ शाखा, प्रथम पत्र, पृ. 382.

<sup>618</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, सं. कलापूर्णसूरि, पृ. 36.

<sup>619</sup> संसारासुहाणुभावं च ..... || — ध्यानशतक, गाथा— 88.

स्थानांगसूत्र के अनुसार, संसार, देह और भोगों के अशुभत्व का विचार करना ही अशुभानुप्रेक्षा है।<sup>620</sup>

अध्यात्मसार में लिखा है कि यह संसार अनादि-अनन्तकाल से चलता आ रहा है। समग्र लोकाकाश की कोई भी ऐसी जगह न होगी, जहां जीव ने जन्म-मरण न किया होगा।

इस संसार-चक्र के परिभ्रमण में जीव अनंतानंत भव कर चुका है। अनेकानेक रिश्ते-नाते जोड़े, परन्तु वे सभी स्थाई न रह सके, इनके पीछे आसक्त बनकर बहुत दुःख एवं कष्ट भोगे, जबकि आत्म-वैभव एवं आत्मिक-सुख शाश्वत हैं, हितकारी हैं तथा कल्याणकारी हैं, फिर भी यह जीव भौतिक सुख-साधनों के पीछे भागदौड़ करता रहता है। इस प्रकार, संसार के स्वभाव का चिन्तन ही अशुभानुप्रेक्षा है।<sup>621</sup> इसके अतिरिक्त, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>622</sup>, ध्यानदीपिका<sup>623</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>624</sup>, ध्यानविचार<sup>625</sup> आदि ग्रन्थों में लिखा है कि संसार दुःखमय है और जीव सुख की खोज में अनन्तकाल से भटक रहा है, परन्तु भटकन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिला। राग-द्वेषात्मक संसार की अशुभता का, असारता का सम्यक् प्रकार से विचार करना अशुभानुप्रेक्षा है।

**3. अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा** — ध्यानशतक के कर्ता ने कहा है कि अनन्तता का विचार-विमर्श करना— वह अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा है।<sup>626</sup>

संसार-परिभ्रमण के कारण मिथ्यात्व, राग-द्वेष मोहादि हैं। उनमें भी मिथ्यात्व प्रमुख है। जब तक जीव की दृष्टि मिथ्यात्व से मलिन रहती है, तब तक वह जीव मिथ्यादृष्टि और अपरीतसंसारी होता है, उसका संसार अनन्त बना रहता है। इसके विपरीत, जिसकी दृष्टि मिथ्यात्वजनित कालुष्य का त्याग कर समीचीनता को प्राप्त कर लेती है, उस सम्यग्दृष्टि जीव का संसार सीमित हो जाता है, तब वह अनन्त संसारी न

<sup>620</sup> स्थानांगसूत्र, सं. मुनि मधुकर, चतुर्थ स्थान, प्रथम उद्देशक, सूत्र- 72, पृ. 226.

<sup>621</sup> संसारानुभाव ..... ।। - अध्यात्मसार- 16/81.

<sup>622</sup> सर्व्वपि होदि णरए खेत-सहावेण दुक्खदं असुहं।

कुविदा वि सर्व्व-कालं अण्णोण्णं होदि णेरइया ।। - स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 38.

<sup>623</sup> ध्यानदीपिका, गुजराती भाषान्तर पुस्तक से उद्धृत, पृ. 390.

<sup>624</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, द्वितीय-पत्र, पृ. 384.

<sup>625</sup> ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 36.

<sup>626</sup> भवसंताणमरणन्तं ..... ।। - ध्यानशतक, गाथा- 88.

रहकर ज्यादा-से-ज्यादा अर्द्धपुद्गल-परिणाम संसारवाला हो जाता है। यहां एक बात समझने लायक है कि अभव्य का संसार अनन्त ही रहता है, उनका संसार-परिभ्रमण बना ही रहता है- इस प्रकार का चिन्तन करना अनन्तवर्तिकानुप्रेक्षा नामक तीसरी अनुप्रेक्षा है।<sup>627</sup>

स्थानांगसूत्र के अनुसार, संसार में परिभ्रमण की अनन्तता का विचार करना अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा कहलाती है।<sup>628</sup>

अध्यात्मसार में लिखा है कि भवसन्तति, अर्थात् जन्म-मरण की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।<sup>629</sup> अनादिकाल से जीव मिथ्यात्व और कषाय के कारण संसार में भटक रहा है, उसने अनन्तानन्त भव व्यतीत किए हैं- इस प्रकार का चिन्तन-मनन करना ही अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा है।<sup>630</sup>

ध्यानदीपिका<sup>631</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>632</sup>, ध्यानविचार<sup>633</sup> आदि ग्रन्थों में भी इसी बात का समर्थन किया गया है। जीव की अनन्त संसार में परिभ्रमण करने की जो प्रवृत्ति रहती है, उससे निवृत्ति होने का विचार अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा है।

**4. विपरिणामानुप्रेक्षा** - ध्यानशतक में लिखा है कि पदार्थ की पर्यायों के परिणमन से होने वाले परिणाम पर चिन्तन करना विपरिणामानुप्रेक्षा है। संसार में दृश्यमान् असंख्य वस्तुएं हैं, चाहे वे जड़ हों, अथवा चेतन, उनमें प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। आज जो वस्तु या पदार्थ सुन्दर मनमोहक एवं अच्छे लगते हैं, वे ही कल असुन्दर, अमनोज्ञ अथवा बुरे लगने लगते हैं। उनके परिवर्तनों को देखकर आश्चर्य या सम्मोह नहीं होना ही विपरिणाम-अनुप्रेक्षा है।<sup>634</sup>

<sup>627</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ ध्यानशतक (सं. बालचन्द्रशास्त्री) पुस्तक से उद्धृत, पृ. 47.

<sup>628</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक- 1, सूत्र- 72, पृ. 226.

<sup>629</sup> भवसंतती: ..... || - अध्यात्मसार- 16/81.

<sup>630</sup> (क) संसारो पंचविहो दब्बे खत्ते तहेव काले य।

भवभ्रमणो य चउत्थो पंचमओ भाव संसारो ||

बंध मुंचदि जीवो ..... संसरणं जेण णासेइ || - स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 66-67.

(ख) स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा- 66-72 की संस्कृत टीका, पृ. 37-39.

<sup>631</sup> ध्यानदीपिका, पृ. 391.

<sup>632</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, तृतीय पत्र, पृ. 387.

<sup>633</sup> ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 36.

<sup>634</sup> आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च।

भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च || - ध्यानशतक, गाथा- 88.

स्थानांगसूत्र के अनुसार, वस्तुओं के विविध परिणमनों का विचार करना ही विपरिणामानुप्रेक्षा है।<sup>635</sup>

अध्यात्मसार<sup>636</sup> में उपाध्याय यशोविजयजी ने कहा है कि संसार की प्रत्येक वस्तु परिणमनशील है। चेतन अथवा अचेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए कि सर्वस्थान अशाश्वत हैं, सर्वद्रव्य परिणामी हैं और सर्वपर्याय परिवर्तनशील हैं।<sup>637</sup> संसार नाशवान् है, अतः भौतिक साधनों का आकर्षण भी क्षणिक है। जो किसी समय बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक था, लेकिन आज उसके पास कुछ नहीं है। बड़े-बड़े महलों व मजबूत और अभेद्य किले आज वीरान खण्डहर पड़े हैं। बचपन में खेल रुचिकर लगते थे, पर आज नहीं, जहां जवानी में जोश था, वहीं आज वृद्धावस्था का रोग है। किसी समय शरीर अत्यन्त रूपवान् था, किन्तु उसी पर आज कुरूपता छा गई है। रिश्ते-नाते सभी बदलते हैं, आज जो अत्यधिक प्रिय है, कल वही घोर शत्रु बन जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है। इस प्रकार का विचार-विमर्श करना विपरिणाम-अनुप्रेक्षा है।

आवश्यकचूर्णि<sup>638</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>639</sup>, ध्यानदीपिका<sup>640</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>641</sup>, ध्यानविचार<sup>642</sup> आदि ग्रन्थों में शुक्लध्यान की चौथी विपरिणामानुप्रेक्षा का पर्याप्त वर्णन मिलता है। संक्षेप में, यही समझना है कि पदार्थों का प्रतिक्षण विविध रूपों में परिणमन होता रहता है, इस प्रकार उसकी प्रतिक्षण परिवर्तनशील यथार्थ का चिन्तन-मनन करना विपरिणामानुप्रेक्षा है।

उक्त अनुप्रेक्षाएं सामान्य साधक के लिए सरल नहीं हैं, क्योंकि अति सूक्ष्म-ध्यान मात्र आन्तरिक-अनुभूतियों का विषय है। जो महान् अध्यात्मयोगी उच्चतम गुणस्थानों को प्राप्त कर चुके हैं, वे योगी ही इसकी अनुभूति कर सकते हैं। कन्हैयालालजी लोढ़ा ने

<sup>635</sup> सुक्कस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-अणंतवतियाणुप्पेहा विप्परिणामा-णुप्पेहा, अशुभाणुप्पेहा, अवायाणुप्पेहा।। - स्थानांगसूत्र- 4/1/72.

<sup>636</sup> आश्रवाऽपायसंसारा-नुभावभवसन्ततीः।

अर्थे विपरिणामं वाऽनुपश्येच्छुक्लविश्रमे।। - अध्यात्मसार- 16/80.

<sup>637</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ अध्यात्मसार पुस्तक से उद्धृत, अनु. डॉ. प्रीतिदर्शना, पृ. 621.

<sup>638</sup> इमाओ पुण से चत्तारि ..... अणंतत्त सव्वभावविपरिणामित्तं।। - आवश्यकचूर्णि.

<sup>639</sup> पुत्तोवि भाउ जाओ सो चिय ..... धम्मरहिदाणं। - स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा- 64-65.

<sup>640</sup> ध्यानदीपिका, पृ. 391.

<sup>641</sup> ध्यानकल्पतरु, चतुर्थ शाखा, चतुर्थ पत्र, पृ. 39.

<sup>642</sup> ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 36.



ध्यानशतक के सम्पादकीय में लिखा है कि जिस प्रकार शुक्लध्यान के लक्षण और आलम्बन शुक्लध्यान की अन्तिम स्थिति तक रहते हैं, उसी प्रकार अनुप्रेक्षाएं अन्तिम समय तक नहीं रहती हैं, कारण यह है कि अनुप्रेक्षाओं या भावनाओं की आवश्यकताएं वहां होती हैं, जहां अधूरापन हो, समस्या का समाधान ढूँढना हो, विकार या अशुद्धि को समाप्त करना हो। यह स्थिति मात्र शुक्लध्यान के प्रथम चरण 'पृथक्त्व-वितर्क-सविचार' तक ही रहती है। शुक्लध्यान के अगले चरणों में पूर्ण निर्विकार-अवस्था आ जाती है, अतः अनुप्रेक्षा की आवश्यकता नहीं रहती है।<sup>643</sup>

परमात्मप्रकाश में कहा गया है कि निर्मल चित्त में परमात्मा के दर्शन ठीक उसी प्रकार होते हैं, जिस प्रकार निर्मल आकाश में सूर्य के।<sup>644</sup>

इस प्रकार का ध्यान करने वाला योगी अन्त में स्वयं ही निर्मल परमात्मा बन जाता है।

**लेश्या-द्वार** — चित्त में उत्पन्न विषय-विकार के विचार को लेश्या कहते हैं। जिनके कारण जीव कर्मलिप्त होता है, उन्हें स्थानांगवृत्ति में लेश्या कहा है।<sup>645</sup>

आचारांगसूत्र में लिखा है— लेश्या, अर्थात् आत्मा का परिणाम, अध्यवसाय-विशेष है।<sup>646</sup> लेश्या के स्वरूप के सन्दर्भ में जैन-चिन्तकों में कुछ विभिन्नताएं हैं—

1- लेश्या योग-परिणाम है।<sup>647</sup>

2- लेश्या कर्म-विपाक है।<sup>648</sup>

3- लेश्या कषाय-रूप है।<sup>649</sup>

<sup>643</sup> ध्यानशतक, सं. — कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 116.

<sup>644</sup> परमात्मप्रकाश— 1/1/9.

<sup>645</sup> (क) लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या। — स्थानांगवृत्ति, पत्र— 29.

(ख) लिंपई अप्पीकीरई ..... । — गो. जी./अ. 15/गा. 489.

<sup>646</sup> अध्यवसाये, आत्मनः परिणाम विशेषे, अन्तःकरणवृत्तौ।

<sup>647</sup> योगपरिणामो लेश्या। — स्थानांगवृत्ति, पत्र— 29.

<sup>648</sup> कर्म निष्पन्दो लेश्या। — उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति, अध्याय— 34 की टीका.

<sup>649</sup> ते च परमार्थतः कषाय-स्वरूपा एव। — पण्णवणा, पद— 17, मलयगिरी टीका.

लेश्या के सन्दर्भ में जैनैद्रसिद्धान्तकोश में कहा गया है कि जीव को कर्म-वर्गणाओं से लिप्त करने वाला हेतु लेश्या है।<sup>650</sup>

पंचसंग्रह<sup>651</sup> में भी यही लिखा है कि जैसे आम-पिष्ट से मिश्रित गेरू मिट्टी के लेप द्वारा दीवार रंगी जाती है, वैसे ही शुभ-अशुभ भावरूप लेश्या के माध्यम से आत्मा के परिणाम लिप्त होते हैं।<sup>652</sup>

स्थानांगसूत्र<sup>653</sup>, समवायांगसूत्र<sup>654</sup>, प्रज्ञापना<sup>655</sup> उत्तराध्ययन<sup>656</sup>, आदि आगम ग्रन्थों में लेश्या के छः प्रकारों का उल्लेख मिलता है। इन लेश्याओं के नाम इस प्रकार हैं— कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या।

ध्यानशतक की गाथा क्रमांक उन्नवे (89) में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शुक्लध्यान में कौन-कौनसी लेश्या होती है— इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण में शुक्ललेश्या, तृतीय चरण में परमशुक्ललेश्या होती है, किन्तु शुक्लध्यान का अन्तिम चरण लेश्यातीत होता है। कुछ विचारकों का कहना है कि शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरणों में जीव अलेशी होता है, अर्थात् लेश्या से परे होता है, केवल प्रथम दो चरणों में ही लेश्या मान सकते हैं। चूंकि तृतीय चरण में स्थूल और सूक्ष्म— दोनों ही मनोयोग निरुद्ध हो जाते हैं, अतः शुक्लध्यान के तीसरे तथा चौथे चरण में जीव को अलेशी मानना चाहिए।

प्रथम चरण में विर्तिक और विचार होने से तथा द्वितीय चरण में मात्र वितर्क होने से लेश्या की सत्ता मानना चाहिए, जबकि ध्यानशतक के कर्त्ता ने यह माना है कि शैलेशी-अवस्था में स्थित आत्मा सुमेरु पर्वत से भी अधिक निष्प्रकम्प होने के कारण उसमें निर्विकल्प परमशुक्ल-अवस्था होती है, अतः शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में ही शुक्ललेश्या की संभावना मान सकते हैं।

अध्यात्मसार<sup>657</sup>, ध्यानदीपिका<sup>658</sup> में भी इसी बात की पुष्टि की गई है।

<sup>650</sup> जैनैद्र शब्दकोश, भाग- 3, पृ. 422.

<sup>651</sup> पंचसंग्रह- 1/143.

<sup>652</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ लेश्या और मनोविज्ञान पुस्तक से उद्धृत, पृ. 25.

<sup>653</sup> छलेसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-कण्हलेसा, णीललेसा, तेउलेसा, पम्हलेसा, सुक्कलेसा।

— स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि- 6/47.

<sup>654</sup> समवायांग, 6 सम.

<sup>655</sup> प्रज्ञापनासूत्र, प्रद- 17.

<sup>656</sup> उत्तराध्ययन, अध्याय- 34.

संक्षेप में, इतना ही समझना है कि जीव शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण में शुक्ललेश्यायुक्त तृतीय चरण में परमशुक्ललेश्यायुक्त तथा अन्तिम चरण में लेश्यारहित होता है।

**चार ध्यानों में लेश्या** —आगम—साहित्य में अनेक स्थानों पर लेश्या शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मा से कर्म—वर्गणाओं का संयोग हो जाना लेश्या है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में लेश्या की परिभाषा करते हुए आचार्य अंकलक लिखते हैं— कषायोदय से रंजित योग—प्रवृत्ति लेश्या है। आत्मा के अशुद्ध और शुद्ध अध्यवसायों की दृष्टि से इसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल के नामों से जाना जाता है।<sup>659</sup> लेश्या के छः भेदों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

1. **कृष्णलेश्या** — कृष्णलेशी जीव के अध्यवसायों में कषायों की तीव्रतम स्थिति होती है।
2. **नीललेश्या** — नीललेशी जीव में ऐसे अध्यवसाय पैदा होते हैं, जिससे वह दूसरों से द्वेष, ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल—कपट, चोरी आदि करने लगता है।
3. **कापोतलेश्या** — कापोतलेशी जीवों में भी कषायों के परिणाम तो तीव्र होते हैं, लेकिन वे कृष्ण, नील की अपेक्षा कम होते हैं।
4. **तेजोलेश्या** — तेजोलेश्या वाली आत्मा में ऐसे अध्यवसायों का आविर्भाव होता है, जिससे वह विनयी, विवेकी और नम्र बन जाता है, उसे कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य का भान होने लगता है तथा वह दया—दान लोकहित की प्रवृत्ति में तत्पर रहता है।
5. **पद्मलेश्या** — पद्मलेशी जीव के अध्यवसाय तेजोलेश्या वाले जीवों के अध्यवसायों से भी अधिक शुभ होते हैं। इस लेश्या में कषाय मन्द हो जाती है तथा जीव यम—नियम—शील के पालन में उद्यमशील बनता है, प्रशान्त चित्त वाला होता है।
6. **शुक्ललेश्या** — शुक्ललेशी जीव के मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग की प्रवृत्ति में सरलता और सहजता आ जाती है। उसकी कषाय उपशान्त रहती है, उसमें

<sup>657</sup> द्वयो शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता।

चतुर्थः शुक्लभेदस्तु लेश्यातीतः प्रकीर्तितः ॥ — अध्यात्मसार— 16/82.

<sup>658</sup> ध्यानदीपिका, पृ. 391.

<sup>659</sup> कषायोदयरजिता योगप्रवृत्तिलेश्या। — तत्त्वार्थराजवार्तिक— 2/6.

वीतराग—भाव में स्थिर रहने की क्षमता प्रकट हो जाती है, वह श्रेष्ठतम शुभ या शुद्ध परिणाम वाला होता है।

**प्रशमरतिप्रकरण** में जामुन खाने के इच्छुक व्यक्तियों के उदाहरण द्वारा अध्यवसायों की तीव्र, मन्द तथा मध्यम अध्यवसायों की तुलना की गई है।<sup>660</sup>

**ध्यानशतक** के अन्तर्गत आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आर्त्तध्यानी ध्यानवर्ती जीव की लेश्या तथा उनके परिणाम का निरूपण करते हुए कहते हैं कि आर्त्तध्यानी जीवों के कर्मोदय से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण—लेश्याएं रौद्रध्यान की अपेक्षा कुछ कम संक्लिष्ट परिणाम वाली होती हैं।<sup>661</sup> आगे, ग्रन्थकार गाथा क्रमांक पच्चीस में रौद्रध्यानी में पाई जाने वाली लेश्याओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि रौद्रध्यान से ग्रस्त जीवों में भी कापोत, नील और कृष्ण— ये तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं, परन्तु आर्त्तध्यानी की अपेक्षा अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाली एवं दूसरों के अहित में प्रवृत्त होती है। ये लेश्याएं कर्म—परिपाकजनित होती हैं।<sup>662</sup>

धर्मध्यान में स्थित जीवों में क्रमशः विशुद्धि प्रदान कराने वाली पीत, पद्म और शुक्ल—लेश्याएं होती हैं। परिणामों की अपेक्षा से ये भी तीव्रता, मन्दता के भेदों से युक्त होती हैं।<sup>663</sup>

**ध्यानशतक** के अनुसार, शुक्लध्यान के प्रथम दो स्तरों में शुक्ल, तृतीय स्तर में परमशुक्ल तथा चरम स्तर में जीव अलेशी होता है।<sup>664</sup>

<sup>660</sup> (क) ताः कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामानः।

श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधान्यः ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 38.

(ख) षट् लेश्याः—मनसः परिणामभेदा। स च परिणामस्तीव्रोऽध्यवसायोऽशुभो ॥

जम्बूफलभुक्षुषट्पुरुषदृष्टान्तादिसाध्यः ॥ — प्रशमरतिप्रकरण टीका, गाथा— 38, पृ. 30.

<sup>661</sup> कावोय—नील—कालालेस्साओ णाइसंकिलिद्धाओ।

अद्दुज्जाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 14.

<sup>662</sup> कावोय—नील—कालालेस्साओ तिव्वसंकिलिद्धाओ।

रोद्दुज्जाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 25.

<sup>663</sup> होंति कम विसुद्धाओ लेसाओ पीय—पम्म—सुक्काओ।

धम्मज्जाणोवगयस्स तिव्व—मंदाइमेयाओ ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 66.

<sup>664</sup> सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए।

थिरयाजियसेलेसं लेसाईयं परमसुक्कं ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 89.

<sup>665</sup> अवहा—ऽसंमोह—विवेग—विउसग्गा तस्स होंति लिंगाई।

लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्जाणोवगयचित्तो ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 90.

**लिंग—द्वार** — जैनदर्शन में वेद और लिंग में अन्तर माने गए हैं। वेद का सम्बन्ध स्त्री—पुरुष—नंपुसक सम्बन्धी कामवासना से है, जबकि लिंग का सम्बन्ध शारीरिक—संरचना से है, किन्तु ध्यानशतक ग्रन्थ के ग्रन्थकार ने लिंगद्वार में मुख्य रूप से व्यक्ति के वासनात्मक—पक्ष को ही लिया है।

गाथा क्रमांक नब्बे में शुक्लध्यान के लिंग का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग— ये चार शुक्लध्यान के लिंग हैं। इनसे मुनि के चित्त का शुक्लध्यान में संलग्न होना सूचित होता है।<sup>665</sup>

कामवासना नौवें गुणस्थान तक सम्भव है। दसवें गुणस्थान में वासना समाप्त हो जाती है, मात्र शारीरिक—संरचना के रूप में लिंग रहता है।

श्वेताम्बर—परम्परा इस स्तर पर तीनों लिंगों की सत्ता मानती है, जबकि दिगम्बर—परम्परा मात्र पुरुषलिंग को ही मानती है।

शुक्लध्यान के चारों स्तरों का विवेचन पीछे किया जा चुका है। इस लिंगद्वार के अन्तर्गत हमें सिर्फ इतना ही समझ लेना है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण में शुभ का भाव रहता है, किन्तु अन्तिम दो में ये भाव—लिंग भी नहीं रहते हैं। धर्मध्यान की स्थिति में पुण्यबन्ध की सम्भावना रहती है, लेकिन शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरण में ये सम्भावना नहीं रहती हैं।

शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरण में एकान्त—निर्जरा की ही स्थिति रहती है, अतः लिंगद्वार की अपेक्षा से यह समझना चाहिए कि शुक्लध्यान के पहले दो चरणों में ही लिंगद्वार की सम्भावना है, अन्तिम दो चरणों में लिंगद्वार सम्भव नहीं है।

चाहे हम लिंग शब्द का अर्थ वेश अथवा लक्षण करें, उससे कोई फर्क नहीं, लेकिन यदि लिंग का अर्थ शारीरिक—संरचना या स्त्री—पुरुष—नंपुसकरूप शरीर से हो, तो हमें यह समझना होगा कि श्वेताम्बर—परम्परा के अनुसार तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तीनों लिंग (स्त्री, पुरुष, नंपुसक) हो सकते हैं, जबकि दिगम्बर—परम्परा के अनुसार तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में मात्र पुरुषलिंग ही होता है।

**आलम्बन—द्वार** — ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण शुक्लध्यान के आलम्बन का निरूपण करते हुए कहते हैं कि जिनमत में क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा मुक्ति आदि गुणों की प्रमुखता रही है। ये आलम्बन कहे गए हैं, जिनका आधार लेकर श्रमण शुक्लध्यान में आरूढ़ होता है।<sup>666</sup>

शुक्लध्यान के आलम्बनद्वार के मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्षमा, मृदुता, ऋजुता और निर्लोभता आदि दस धर्म हैं।<sup>667</sup>

यद्यपि ये दस धर्म धर्मध्यान के भी आलम्बन माने जा सकते हैं, किन्तु उन्हें शुक्लध्यान का आलम्बन इसलिए माना जाता है कि धर्मध्यान के आधार पर ही शुक्लध्यान का विकास होता है। दूसरा यह कि ये दस धर्म कषायों को उपशान्त करने के लिए एवं आत्मा की पवित्रता के लिए भी आधारभूत हैं।

शुक्लध्यान का संबंध आत्मा की पवित्रता से है, इसलिए इन्हें शुक्लध्यान के आलम्बन के रूप में कहा है, फिर भी हमें यह समझ लेना चाहिए कि शुक्लध्यान का मुख्य लक्ष्य तो मन को अमन की स्थिति में ले जाना है और मन को अमन (निर्विकल्प) बनाने के लिए सर्वप्रथम उसे अशुभ से शुभ में नियोजित करना होगा, तत्पश्चात् वह शुद्ध में जाएगा, इसलिए आलम्बन अर्थात् आधार के रूप में इन दस धर्मों को शुक्लध्यान के आलम्बन के रूप में बताया गया है।

जीवात्मा ने सभी दुष्प्रवृत्तियों का त्याग कर मात्र आत्मस्वरूप का आलम्बन लिया है। उसका ध्यान ही सर्वोपरि ध्यान है।<sup>668</sup>

शुक्लध्यान के आलम्बनों के स्वरूप की आगे विस्तार से चर्चा की जा रही है।

**क्रम—द्वार** — योग—साधना क्रमानुसार करना चाहिए, जिसका क्रम इस प्रकार है—

### 1. चित्त की निर्मलता

<sup>666</sup> अह खंति—मद्दव—ऽज्जव—मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ।

आलंबणार्हं जेहिं सुक्कज्झाणं समारूहइ ॥ — ध्यानशतक— 69.

<sup>667</sup> (क) उत्तमः क्षमा—मार्दवाऽऽर्जव ..... ॥ — तत्त्वार्थसूत्र— 9/7.

(ख) सेव्यः क्षान्तिमार्दवमार्जवशौचे च संयमत्यागौ।

सत्यतपोब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधिः ॥ — प्रशामरतिप्रकरण, गाथा— 171.

<sup>668</sup> अप्पसरूवांलबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं ..... ॥ — नियमसार— 119.

2. चित्तवृत्ति की स्थिरता और उसमें तन्मयता।

3. योगनिरोध।<sup>669</sup>

शुक्लध्यान का मुख्य लक्ष्य ध्येय विषयों को संक्षिप्त करते हुए मन को निर्विकल्पता की स्थिति में ले जाना है, अथवा मन को अमन बना देना है।

**ध्यानशतक** की गाथा क्रमांक सत्तर में ग्रन्थकर्ता जिनभद्रगणि ने कहा है कि शुक्लध्यान के प्रथम तीन चरणों में ध्यान के विषयों को क्रमशः संक्षिप्त करते हुए अन्त में चेतना को निष्कम्प बनाया जाता है।<sup>670</sup>

पहले शरीर को स्थिर किया जाता है, फिर क्रमशः वचन का निरोध और अन्त में स्थूल मन का निरोध किया जाता है। शुक्लध्यान के जो चार चरण हैं, उनमें क्रमशः स्थूल-काययोग, फिर स्थूल-वचनयोग और उसके बाद स्थूल-मनोयोग का निरोध होता है, फिर अग्रिम चरण में सूक्ष्म-काययोग के संयोग से सर्वप्रथम सूक्ष्म-मनोयोग का निरोध होता है, तत्पश्चात् सूक्ष्म-मनोयोग के संयोग से सूक्ष्म-वचनयोग का निरोध होता है और अन्त में सूक्ष्म-काययोग का भी निरोध करके निर्वाण को प्राप्त किया जाता है।<sup>671</sup>

इस क्रम से शुक्लध्यान में योगनिरोध की प्रक्रिया चलती है, इसमें जो क्रम बताया गया है, उसमें व्यतिक्रम सम्भव नहीं है।

**ध्यानविचार**<sup>672</sup> ग्रन्थ के अन्तर्गत यह लिखा है कि चित्त को प्रथम तीन भुवन-रूपी विषय में व्याप्त करके, तत्पश्चात् उसमें से एक वस्तु में संकुचित करते हैं, फिर उस वस्तु की एक पर्याय पर केन्द्रित करते हैं, तदनन्तर उस वस्तु की एक पर्याय में से भी चित्त को हटा लिया जाता है, इस स्थिति को परमशून्य भी कहा जाता है।<sup>673</sup>

**चार ध्यानों के फलद्वार** — **ध्यानशतक** में बताया गया है कि आर्त्तध्यान राग-द्वेष एवं मोह की परिणति वाले जीवों को ही होता है, जिसके फलस्वरूप आर्त्तध्यान

<sup>669</sup> ध्यानविचार-सविवेचन पुस्तक के ग्रन्थपरिचय से उद्धृत, पृ. 57.

<sup>670</sup> तिहुयणविसंय कमसो संखिविउ मणो अणुमि छउमत्थो।

झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होई॥ - ध्यानशतक, गाथा- 70.

<sup>671</sup> (क) अध्यात्मार- 16/34.

(ख) ज्ञानार्णव- 39/43-49.

(ग) ध्यानदीपिका- 19.

<sup>672</sup> परम-शून्यं-त्रिभुवनविषय-व्यापि चेतो विधाय।

एकवस्तुविषयतया संकोच्य ततस्तस्मादप्यपनीयते॥ - ध्यानविचार, मूलपाठ- 4.

<sup>673</sup> ध्यानविचार सविवेचन पुस्तक से उद्धृत, पृ. 45.

के ध्याता मरकर तिर्यचगति को प्राप्त होते हैं और जन्म-मरण की शृंखला के कारण संसार-परिभ्रमण में वृद्धि होती है।<sup>674</sup>

रौद्रध्यानी जीव की राग-द्वेष और मोह की परिणति अतितीव्र होती है, इसलिए रौद्रध्यान का ध्याता मरकर नरकगति का अधिकारी बनता है।<sup>675</sup>

धर्मध्यानी जीव के कर्मफल का स्वरूप बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शुभास्रव, संवर, निर्जरा तथा देवलोक की ऋद्धि धर्मध्यानवर्ती जीवों को प्राप्त होती है।<sup>676</sup>

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों का फल अनुत्तर देवलोक का सुख तथा अन्तिम दो चरणों का फल निर्वाण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।<sup>677</sup>

दशवैकालिकचूर्णि के अन्तर्गत भी यही कहा गया है कि आर्त्तध्यान का फल तिर्यचगति, रौद्रध्यान का फल नरकगति, धर्मध्यान का फल देवगति और शुक्लध्यान का फल सिद्धगति अर्थात् मोक्षसुख होता है।<sup>678</sup>

### आर्त्तध्यान के चिन्तन के विषय

जैसा कि हमने पूर्व में लिखा है कि आर्त्तध्यान का मूलभूत कारण व्यक्ति की इच्छाएं, आकांक्षाएं तथा अपेक्षाएं होती हैं। आर्त्तध्यान में सामान्यतया व्यक्ति यह चिन्तन करता है कि मुझे अमुक परिस्थिति, व्यक्ति या वस्तु की प्राप्ति हो— इस प्रकार वह चाह और चिन्ता में जीता है। इसी को बौद्ध-परम्परा में तृष्णा कहा गया है और वे इस तृष्णा को निर्वाण में बाधक मानते हैं।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार, जन्म-मरण का कारण तृष्णा है। राग, द्वेष एवं मोह से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से ही राग, द्वेष और मोह पनपता है। उन राग-द्वेष से

<sup>674</sup> (क) एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहाकियस्स जीवस्स ।

अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 10.

(ख) अमितगति श्रावकाचार, परि. 15.

<sup>675</sup> एयं चउव्विहं राग-दोस मोहाकियस्स जीवस्स ।

रोद्वज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 24.

<sup>676</sup> होति सुहासव-संवर-विणिज्जराऽमरसुहाइं विउलाइं ।

झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 93.

<sup>677</sup> तेय विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च ।

दोण्हं सुक्काणं फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ॥ - ध्यानशतक, गाथा- 94.

<sup>678</sup> अट्टेण तिरिक्खगईं रुद्वज्झाणेण गम्मतीनरयं ।

धम्मेणदेवलोयं सिद्धिगईं सुक्कज्झाणेणं ॥ - दशवैकालिकचूर्णि, अ.- 1/1.



लिप्त व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करता रहता है और कर्म के परिणामस्वरूप जन्म—मरण होता रहता है। राग—द्वेष का निरोध होने पर जन्म—मरण की परम्परा का भी निरोध हो जाता है।

दूसरे शब्दों में, राग—द्वेष का निरोध भव (जन्म—मरण) का निरोध होता है और भव का निरोध ही निर्वाण है।<sup>679</sup> राग, द्वेष और मोह से वियोग पाना ही निर्वाण है।<sup>680</sup> निर्वाण बुझे हुए दीपक के समान है।

भगवान बुद्ध ने कहा है— 'भिक्षुओं ! जब तक दीए में तेल और बाती है, तब तक दीया जलता है और इन दोनों के अभाव में दीया बुझ जाता है, ठीक उसी प्रकार तृष्णा के क्षय से जन्म—मरण की क्रिया भी समाप्त हो जाती है, वेदनाएं शान्त हो जाती हैं।'<sup>681</sup>

सामान्यतया, सब यह मानते हैं कि तृष्णा दुःख का कारण है और इसलिए वे वासना की पूर्ति के माध्यम से तृष्णा की सन्तुष्टि चाहते हैं, किन्तु हम यह भी जानते हैं कि व्यक्ति की तृष्णा अथवा आकांक्षा, अपेक्षा आदि कभी पूरी नहीं होती है, एक इच्छा या आकांक्षा के पूरी होने से पहले ही दूसरी आकांक्षा या इच्छा जन्म ले लेती है।

भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययनसूत्र<sup>682</sup> में कहा है— 'इच्छा हु आगाससमा अणंतिया', अर्थात् मनुष्य की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। जैसे आकाश का कहीं आर—पार नहीं है, वैसे ही इच्छाओं का भी कहीं अन्त नहीं है। मनुष्य एक इच्छा को पूरी करना प्रारंभ करता है, उस इच्छा को वह पूरी भी नहीं कर पाता कि अन्य अनेक नई इच्छाएं जाग्रत हो जाती हैं। इच्छाएं प्याज के समान हैं। जब प्याज का ऊपरी छिलका उतारते हैं, तो उस छिलके के नीचे पुनः एक छिलका आ जाता है, दूसरे छिलके को उतारते ही फिर तीसरा छिलका आ जाता है, जैसे—जैसे छिलके उतारते जाते हैं, वैसे—वैसे पुनः नवीन छिलका प्रकट होता जाता है, ठीक ऐसी ही स्थिति इच्छा की भी है। एक इच्छा को पूरी करते हैं, तो उसी के पश्चात् पुनः एक नवीन इच्छा जाग्रत हो जाती है, फिर दूसरी, तीसरी, चौथी— इस प्रकार कोई भी इच्छा अन्तिम नहीं होती है। ज्यों—ज्यों समुद्र के खारे पानी को पिया जाए, त्यों—त्यों प्यास शान्त होने के

<sup>679</sup> संयुक्तनिकाय, पृ. 117.

<sup>680</sup> यो खो आंतुसो दोसक्खयो मोहक्खोग इति इन्द्रं पुचाति निब्बानं। — सुत्तनिपात— 5/11.

<sup>681</sup> मज्झिमनिकाय— 1/3/7.

<sup>682</sup> उत्तराध्ययनसूत्र.

स्थान पर और अधिक लगने लग जाती है, यही स्थिति इच्छाओं से तृप्ति पाने के सन्दर्भ में है।

**विसुद्धिमग्ग** के अनुसार, भीतर जटा (तृष्णा, इच्छा) है, बाहर जटा है, चारों ओर से यह सब प्रजा जटा से जकड़ी हुई है।<sup>683</sup>

किसी ने कहा है— 'तृष्णा न जीर्णाः व्यमेव जीता', अर्थात् तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती। व्यक्ति वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है, अंग गलित होने लगते हैं, सिर के बाल सफेद हो जाते हैं, मुंह की दन्तपंक्ति गिर जाती है, बिना लकड़ी के सहारे चल नहीं सकता, फिर भी आश्चर्ययुक्त बात तो यह है कि वह इच्छाओं या आकांक्षाओं को नहीं छोड़ता है।<sup>684</sup>

बिना इच्छा, आकांक्षा और अपेक्षा को छोड़े तृष्णा से मुक्त होना सम्भव नहीं है, अतः संक्षिप्त में कहें, तो आर्त्तध्यान के चिन्तन का आधार व्यक्ति की तृष्णा ही होती है। आर्त्तध्यान पर विजय पाने के लिए तृष्णा का त्याग आवश्यक है।

**उत्तराध्ययनसूत्र** में भगवान् महावीर ने कहा है कि जो व्यक्ति संसार की पिपासा, तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है।<sup>685</sup>

मानव जब तृष्णा से पीड़ित होता है, उस समय यदि उसे सोना—चांदी तथा धनधान्य आदि से भरा समस्त विश्व भी दे दिया जाए, तब भी वह सन्तुष्ट नहीं होगा।<sup>686</sup>

बौद्ध—परम्परा के **महासतिपट्टान** में यह माना गया है कि तृष्णा के त्याग के बिना निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं। यह तृष्णा तीन प्रकार की होती है—

1. कामतृष्णा,
2. भवतृष्णा,
2. विभवतृष्णा।<sup>687</sup>

भोग्यवस्तु तथा भोक्ता का वियोग न हो, उनका उच्छेदन न हो— यह लालसा तृष्णा कहलाती है। यह लालसा जितनी गहरी होती है, उतना ही गहरा दुःख होता है।

<sup>683</sup> अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा। — विसुद्धिमग्ग.

<sup>684</sup> अंग गलितं पलीतं मुंड, दशन विहिनं जातं तुण्डम्

वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डम्, तदपि न मुञ्चत्यासा पिण्डम् ॥ — भर्तृहरि .....

<sup>685</sup> हललोए निष्पिवासस्सनत्थि किंचि वि दुक्करं ॥ — उत्तराध्ययनसूत्र— 19/45.

<sup>686</sup> कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं .....

<sup>687</sup> सेय्यथिदं, कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा। — महासतिपट्टान.

समस्त दुःखों की जड़ यह तृष्णा ही है। विषय—वासनाओं, कामनाओं को जगाने वाली इच्छा कामतृष्णा कही जाती है। अपने अस्तित्व को सदा बनाए रखने की तृष्णा भवतृष्णा कहलाती है। दुःख संवेदनरूप विषयों के सम्पर्क को लेकर जो विनाश—सम्बन्धी इच्छा उदित होती है, वह विभवतृष्णा के रूप में जानी जाती है।

तृष्णा बिना पेंदे का रिक्त पात्र है; उसे भरने के लिए कोई कितना ही जल डाले, वह कभी नहीं भरता। तृष्णा की पूर्ति के लिए कोई कितना ही प्रयत्न करे, वह पूर्ण नहीं होती। दूसरे शब्दों में, अपने से भिन्न पर—पदार्थों को पाने की लालसा तृष्णा कहलाती है। जो साधक तृष्णा पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं, जिस प्रकार कमल के पत्ते से जल गिर जाता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में लिखा है कि संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष—वेल है।<sup>688</sup>

जैनदर्शन ने उपर्युक्त कामतृष्णा, भवतृष्णा एवं विभवतृष्णा— इन तीनों को ही आर्त्तध्यान के चिन्तन का विषय माना है। कहीं—कहीं इसे आर्त्तध्यान का आलम्बन भी कहा गया है, क्योंकि इच्छा, आकांक्षा, अपेक्षा आदि के आधार पर ही आर्त्तध्यान होता है और यह सभी तृष्णा के ही विभिन्न रूप हैं। दूसरे शब्दों में, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि विषयों का वियोग न हो जाए, इनका संयोग बना रहे, इस शरीर में किसी भी प्रकार की व्याधि न हो, रोग पीड़ित होने पर उसके वियोग की पुनः—पुनः चिन्तन करना, भविष्य में क्या—क्या मिलना चाहिए, इसकी कल्पना— इन भावों के साथ धर्मध्यान आदि क्रिया करना— ये सब आर्त्तध्यान के मुख्य कारण हैं।

प्रशमरतिप्रकरण में लिखा है कि इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, सांसारिक—सुख पाने के लिए समग्र विश्व के विषयों की अभीप्सा, उनका वियोग न हो, इसलिए रात—दिन परिश्रम करना, बार—बार उसी चिन्तन में लगे रहना— ये सब आर्त्तध्यान के ही चिन्तन हैं।<sup>689</sup>

शरीर में वेदना न हो और यदि वेदनाग्रसित है, तो किसी भी उपाय से इसका वियोग हो जाए, निरन्तर इसी में डूबे रहना आर्त्तध्यान है, लेकिन उत्तराध्ययनसूत्र में

<sup>688</sup> भवतृष्णा लया वृत्ता भीमा भीमफलोदया।

तमुद्धरितु जहानायं विहरामि महामुणी ॥ — उत्तराध्ययनसूत्र— 23/48.

<sup>689</sup> इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोग ..... ॥ — प्रशमरतिप्रकरण— 124, 125.

भगवान् महावीर ने कहा है कि अनेक भवों में अनन्त बार यह जीव शारीरिक तथा मानसिक—रूप से भयंकर वेदनाओं को सहन करता रहता है, दुःखों और भय से पीड़ित होता है।<sup>690</sup>

जैनसिद्धान्तदीपिका में बताया गया है कि इष्ट शब्दादि इन्द्रियों के विषयों का वियोग अनिष्ट शब्दादि इन्द्रियों के विषयों का संयोग होने पर रोना, आक्रन्दन करना, वेदना के पैदा होने पर आकुल—व्याकुल होना, वैषयिक—सुख प्राप्त हो— ऐसा दृढ़ संकल्प करके बारम्बार उसी चिन्तन में रत रहना— ये आर्तध्यान के विषय के चिन्तन हैं।<sup>691</sup>

अच्छा जीवन जीने के लिए अपेक्षाएं जरूरी हैं, परन्तु आत्मशान्ति हेतु, अपेक्षा न हो— यह भी जरूरी है। अच्छा जीवन, शान्त जीवन, स्वस्थ जीवन, पवित्र जीवन, आनन्दमय जीवन जीना हो, तो इच्छा, आकांक्षा, तृष्णा, लोभवृत्ति का बहिष्कार अनिवार्य है।<sup>692</sup>

### रौद्रध्यान के चिन्तन के विषय

रौद्रध्यान वस्तुतः दूसरों का अहित करने से सम्बन्धित विचार है। आर्तध्यान में अनुकूल—विषयों की उपलब्धि की तथा प्रतिकूल विषयों की अनुपलब्धि की चिन्ता होती है, जबकि रौद्रध्यान में मूलतः दूसरों के अहित की वृत्ति ही काम करती है, इसलिए यह माना गया है कि आर्तध्यान सातवें गुणस्थान तक हो सकता है, जबकि रौद्रध्यान दूसरों के अहित का विचार है, वह ईर्ष्याजन्य आक्रमक—वृत्ति है और इसलिए एक दृष्टि से सामान्यतया रौद्रध्यान मिथ्यात्वादि गुणस्थान में ही सम्भव है। आर्तध्यान में आकांक्षा, अपेक्षा, इच्छा, तृष्णादि के कारण संसार—परिभ्रमण होता है, जबकि रौद्रध्यान में घनीभूत कर्मबन्ध के कारण संसार—परिभ्रमण होता है।

रौद्रध्यानी में क्रोध, आवेग, हिंसक—वृत्ति की प्रवृत्ति ज्यादा रहती है। क्रोध के मूल में प्रतिकार का भाव होता है। क्रोधाभिभूत व्यक्ति में विवके—दृष्टि का अभाव होता है, वह भले—बुरे की परख नहीं कर पाता है।

<sup>690</sup> सारीर'—माणसा चैव वेयणाओ अणन्तसो ..... ॥ — उत्तराध्ययनसूत्र— 19/46.

<sup>691</sup> प्रियाणां शब्दादिविषयाणां वियोगे तत्संयोगाय ..... ॥ — जैनसिद्धान्तदीपिका, सूत्र— 47-48.

<sup>692</sup> ज्ञाणं 63 दुध्यानों, पतित मन में पावन करो, सन्मार्ग प्रकाशन से उद्धृत, पृ. 126.

क्रोधावस्था में स्वयं की गलती होने के बावजूद भी अन्य की भूल को ही प्रधानता दी जाती है। क्रोधी व्यक्ति के निन्दनीय कार्य में जो-जो भी तत्त्व अर्थात् वस्तु या व्यक्ति बाधक रूप लगते हैं, वे उसके लिए सर्वाधिक अप्रिय बन जाते हैं और निन्दनीय कार्य में साथ देने वाले पदार्थ या व्यक्ति उसके प्रिय पात्र बन जाते हैं।

सामान्यतया, व्यक्ति क्रोध तब करता है, जब उसे यह अनुभूति होती है कि अमुक व्यक्ति उसकी इच्छानुरूप कार्य नहीं कर रहा है, उसकी अनुपरिस्थिति में या उपरिस्थिति में कोई उसकी निन्दा कर रहा है, किसी के हंसी-मजाक को देखकर वह नकारात्मक-सोच के कारण अपना ही उपहास समझ बैठता है, या उसे लगता है कि उसकी कोई उपेक्षा कर रहा है— इन सब परिस्थितियों के कारण उसके मन में शत्रुता के भाव पनप जाते हैं, क्रोध भड़क जाता है और उसके उग्र स्वभाव के कारण परिवारजन एवं सगे-सम्बन्धियों के मधुर सम्बन्धों के बीच कड़वाहट या बैर तथा प्रतिशोध की ज्वाला भड़कने लगती है।

दशवैकालिकसूत्र में लिखा है कि क्रोध प्रीति का विनाशक होता है।<sup>693</sup>

क्रोध उत्तेजक आवेग है। उत्तेजित होते ही आक्रमण-वृत्ति प्रवेश करने लगती है और यह वृत्ति इतनी आवेगात्मक रहती है कि अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए वह दूसरे की हिंसा तक कर बैठता है।

मनावैज्ञानिकों के अनुसार— क्रोध और भय में यही मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेग में आक्रमण का और भय के आवेग में आत्मरक्षा का प्रयत्न होता है।<sup>694</sup>

सामान्यतौर पर जैनदर्शन में क्रोध के दो प्रकार माने गए हैं—

1. द्रव्य-क्रोध।

2. भाव-क्रोध।

द्रव्य-क्रोध व्यक्ति की मानसिक-स्थिति न होकर मात्र शारीरिक-परिवर्तन के स्तर तक सीमित है, जबकि भाव-क्रोध मानसिक-स्तर पर आधारित है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक-पक्ष भाव-क्रोध है, जबकि अभिव्यक्त्यात्मक-पक्ष द्रव्य-क्रोध कहलाता है।<sup>695</sup>

<sup>693</sup> कोहो पीइं पणासेइ ।। — दशवैकालिकसूत्र, अध्याय— 8, गाथा— 38.

<sup>694</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ कषाय ।। साध्वी हेमप्रज्ञाश्री ।। पुस्तक से उद्धृत, पृ. 13.

<sup>695</sup> भगवतीसूत्र— 12/5/2.

ज्ञानार्णव में लिखा गया है कि जब व्यक्ति क्रोधकषाय से युक्त होता है, तब उसके शरीर में निम्नांकित परिवर्तन होते हैं, जैसे— आग की धिंगारी के समान लाल नेत्र, भृकुटियों की कुटिलता, शरीर की भयानक आकृति, कम्पित होना और पसीने से तर-बरत होना आदि।<sup>696</sup>

योगशास्त्र में बताया गया है कि क्रोधाग्नि पहले उसे ही जलाती है, जिसमें क्रोध उत्पन्न हुआ है, तत्पश्चात् दूसरे को जलाती है।<sup>697</sup>

जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार, तीव्रता तथा अल्पता के आधार पर क्रोध के चार प्रकार माने गए हैं, जो इस प्रकार हैं<sup>698</sup>—

1. अनन्तानुबंधी—क्रोध (तीव्रतम) — पत्थर में पड़ी रेखा के समान क्रोध, जो किसी के प्रति एक बार मनमुटाव हो जाए, तो आजीवन बना रहता है।
2. अप्रत्याख्यानी—क्रोध (तीव्रतर) — सूखे तालाब में खींची रेखा के समान क्रोध, जो ज्यादा से ज्यादा वर्षभर में किसी के समझाने—बुझाने पर शान्त हो जाता है।
3. प्रत्याख्यानी—क्रोध (तीव्र) — बालू रेती में खींची रेखा के समान, जो हवा के झोंके के आते ही मिट जाती है, उसी तरह यह क्रोध भी ज्यादा से ज्यादा चार महीने ही टिकता है और फिर शान्त हो जाता है।
4. संज्वलन—क्रोध (अल्प) — पानी में खींची रेखा के समान, जो शीघ्र ही मिट जाती है। इस क्रोध से युक्त प्राणी का क्रोध भी ज्यादा समय तक नहीं रहता।<sup>699</sup>

जैनसिद्धान्तदीपिका में भी प्रस्तुत उदाहरण मिलते हैं।<sup>700</sup>

बौद्धदर्शन में भी क्रोध के तीन प्रकार बताए गए हैं<sup>701</sup>—

1. पत्थर में खींची रेखा के समान 2. पृथ्वी में खींची रेखा के समान 3. पानी में खींची रेखा के समान। दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत दृष्टान्त—साम्य प्रतीत होता है।

<sup>696</sup> विस्फुलिङ्गिनिभे—नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृतिः ।

कम्पस्वेदादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम् ॥ — ज्ञानार्णव— 24/36.

<sup>697</sup> उत्पद्यमानः प्रथमं दहत्येव स्वमाश्रयम् ..... ॥ — योगशास्त्र, प्रकरण— 4, श्लोक— 10.

<sup>698</sup> चउव्विधे कोहे पण्णते, तं जहा—अणंताणुबंधी कोहे, अपच्चक्खाणकसाए कोहे, पच्चखाणावरणे कोहे, संजलणे कोहे। — स्थानांगसूत्र, स्थान— 4, उद्देशक— 1, सूत्र— 84.

<sup>699</sup> (क) जलरेणुपद्धविपव्वय—राईसरिसो चउव्विहो कोहो .... ॥ — प्रथम कर्मग्रन्थ— 19.

(ख) संज्वलनादिभिः ॥ — योगशास्त्र— 4/67.

<sup>700</sup> पर्वत—भूमि—रेणु—जलराजि स्वभावः क्रोधः ॥ — जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकरण— 4, श्लोक— 24.

<sup>701</sup> अंगुत्तरनिकाय— 3/130.

गीता में कहा गया है कि क्रोधाधीन व्यक्ति स्वयं के तथा दूसरों के देह में अवस्थित परमात्मा से द्वेष करने वाला होता है।<sup>702</sup>

बहुत बार तामसिक—भोजन अथवा शरीर की कमजोरी या बाह्य—परिस्थिति की अनुकूलता न होने पर भी क्रोधोत्पत्ति हो जाती है।<sup>703</sup>

जब व्यक्ति का अन्तःकरण कषायजनित हो जाता है, तब वह चिड़चिड़ा हो जाता है, बिना वजह किसी पर भी बरस पड़ता है, कर्तव्य—अकर्तव्य का भान खो देता है, उग्रता के कारण अनर्थ कर डालता है, यह उग्रता स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद नहीं होती है, क्रोध से यकृत, तिल्ली और गुर्दे भी विकृत होते हैं,<sup>704</sup> पाचनशक्ति भी खराब हो जाती है।

अमेरिका की लाइफ मेगजीन के अन्तर्गत आवेश के कारण व्यक्ति किन—किन रोगों का शिकार बनता है, उसका सचित्र लेख अंकित था। हृदयरोग, रक्तचाप, अल्सर आदि बीमारियों का मूल कारण आवेशात्मक—वृत्ति ही है।<sup>705</sup>

आत्महत्याएं, हत्याएं, धारदार अस्त्रों से किसी का अंग छेदन करना, सतत दूसरों को कष्ट देने के उपाय सोचते रहना, राग—द्वेष—मोह से आकुल—व्याकुल रहना, पापाचरण में आनन्द की अनुभूति करना, मरणान्त कष्ट के लिए सदैव तत्पर रहना, स्वयं की भूलों का अहसास न करके सदैव दूसरों की भूलों को देखना, स्वयं के बड़े—से—बड़े दोषों को नजरअन्दाज करना तथा दूसरों के अल्पतम दोषों पर बड़ी सजा देना— ये सभी रौद्रध्यान के आलम्बन के विषय हैं। हिंसा, असत्य, चोरी और विषय—भोगों की रक्षा के निमित्त होने वाली हिंसक—मनोवृत्ति की एकाग्रता रौद्रध्यान के चिन्तन के विषय कहलाते हैं।<sup>706</sup>

आक्रोशवृत्ति कम होने पर व्यक्ति सही सोच के अनुसार बर्ताव करने लगता है और उसके अभाव में पतन के गर्त में जा गिरता है।<sup>707</sup>

<sup>702</sup> गीता— 16/4.

<sup>703</sup> स्थानांगसूत्र, चतुर्थ स्थान, उद्देशक— 1, सूत्र— 80.

<sup>704</sup> शारीरिक मनोविज्ञान, ओझा एवं भार्गव, पृ. 214.

<sup>705</sup> सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा, पृ. 420—421.

<sup>706</sup> हिंसा—अनृत—स्तेय—विषयसंरक्षार्थं रौद्रम् ..... ॥ — जैनसिद्धान्तदीपिका— 6/48.

<sup>707</sup> कंपति रोषादग्निः संधुक्षितवच्च दीप्यतेऽनेन ।

तं प्रत्याक्रोशत्याहन्ति च हन्येत येन स मतः ॥

— उत्तराध्ययनसूत्र, मधुकरमुनि पुस्तक से उद्धृत, अध्याय— 2, पृ. 45.

**चूर्णिकार** ने प्रतिसंज्वलन के लक्षण का निरूपण करते हुए कहा है कि जो रोष-अवस्था में कम्पित होता है, आग के समान धधकने लगता है, रोषाग्नि प्रज्ज्वलित कर देता है, जो आक्रोश के बदले आक्रोश एवं घात के बदले प्रतिघात करता है, वही प्रतिसंज्वलन है।

**ध्यानशतक** में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि हिंसादि क्रिया अभी आचरित नहीं हुई, झूठे वचन अभी तक बोले नहीं, चोरी अभी की नहीं, दूसरों को ताड़ना-तर्जना की नहीं, मात्र चिन्तन कर रहा है, अर्थात् उसके बारे में सोच रहा है, तो भी उग्र परिणाम के अभिप्राय से उसका ये चिन्तन कर्मबन्ध की तीव्र स्थिति वाला हेतु बन गया,<sup>708</sup> इसी कारण नरकगति का बन्ध कर डालता है।<sup>709</sup>

**डॉ सागरमल जैन**<sup>710</sup> के शब्दों में- “निरन्तर हिंसक-प्रवृत्ति में तन्मयता, असत्य-भाषण करने सम्बन्धी चित्त की एकाग्रता, निरन्तर चोरी करने-कराने की प्रवृत्ति में एकलयता और परिग्रह के अर्जन और संरक्षण-सम्बन्धी चित्त का स्थिरीकरण- ये सभी रौद्रध्यानी के चिन्तन के विषय माने गए हैं। कुछ आचार्यों ने विषय-संरक्षण का अर्थ बलात् यानी ऐन्द्रिक-भोगों का संकल्प किया है, जबकि कुछ आचार्यों ने ऐन्द्रिक-विषयों के संरक्षण में उपस्थित क्रूरता के भाव को ही विषय-संरक्षण कहा है।”

इन सभी भिन्नताओं से परे होकर हमें संक्षेप में इतना ही समझना चाहिए कि रौद्रध्यानी सदैव ही प्रतिपक्ष के अहित का ही सोचता है, इसलिए रौद्रध्यान में अशुभ लेश्याएं ही होती हैं।<sup>711</sup>

एक दृष्टि से रौद्रध्यान में व्यक्ति अपने अल्पतम हित के लिए भी दूसरे का अधिकतम अहित करने से भी चूकता नहीं है।

आर्त्तध्यानी सुरक्षात्मक-वृत्ति से युक्त होता है, जबकि रौद्रध्यानी आक्रमणवृत्ति से युक्त होता है। आर्त्तध्यानी में चाह है, जबकि रौद्रध्यानी में आक्रोश है, उसका विचार दूसरों के अहित-चिन्तन में ही लगा रहता है। वह अपने क्षुद्र-स्वार्थ के पीछे भी दूसरे का अधिकतम अहित करने को तत्पर हो जाता है। आर्त्तध्यान अधिकतर विचार के स्तर

<sup>708</sup> ध्यानशतक, सं. महाबोधिविजय से उद्धृत, पृ. 47.

<sup>709</sup> रोद्वज्जाण संसारवद्धणं नरयगइमूलं ..... ।। - ध्यानशतक, गाथा- 24.

<sup>710</sup> जैनसाधना-पद्धति में ध्यान - डॉ सागरमल जैन, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 28.

<sup>711</sup> कोवाय-नील-काला लेस्साओ तिव्वसंकिलिद्धाओ।

रोद्वज्जाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ।। - ध्यानशतक- 25.



पर होता है, जबकि रौद्रध्यान क्रिया के स्तर पर होता है। दूसरों को मारना, काटना, अंगभंग करना, नुकसान पहुंचाना— ये रौद्रध्यानी के चिन्तन के प्रमुख विषय होते हैं।

## धर्मध्यान के आलम्बन

एक पदार्थ पर अवस्थित मन जब चलायमान् अथवा विचलित हो जाता है, तब धर्मध्यान का साधक जिन आलम्बनों पर अवलम्बित रहता है, वे आलम्बन इस प्रकार हैं—

वाचना, प्रतिपृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।<sup>712</sup> कहीं-कहीं हमें यह भी देखने को मिलता है कि प्रतिपृच्छना को पृच्छना और परिवर्तना को परावर्तन नाम से भी अभिहित किया गया है। कहीं-कहीं स्वाध्याय के भेद के रूप में धर्मकथा का भी उल्लेख मिलता है, इन्हें ध्यान के आलम्बन भी कहा गया है। आलम्बन का अर्थ है, जिनके सहारे ध्यान किया जाता है।<sup>713</sup>

ध्यानशतक ग्रन्थ के ग्रन्थकार ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुप्रेक्षा के स्थान पर अनुचिन्ता नाम अभिहित किया है।<sup>714</sup> अनुप्रेक्षा या अनुचिन्ता में भी आलम्बन की अपेक्षा रहती है। अनेक आगमों तथा आगमेतर ग्रन्थों में धर्मध्यान के उन चार आलम्बनों का उल्लेख मिलता है, जो मूलतः स्वाध्याय के अंग कहे गए हैं।

<sup>712</sup> वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा ..... ।। - उत्तराध्ययन.

<sup>713</sup> आलम्बणं च वायण पुच्छण परिवपट्टणाणुपेहाओ ।

धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ।। - भगवती-आराधना- 1705.

<sup>714</sup> परियट्टणाऽणुचिन्ताओ ।। - ध्यानशतक- 42.

स्थानांग<sup>715</sup>, भगवती<sup>716</sup>, औपपातिक<sup>717</sup>, तत्त्वार्थसूत्र<sup>718</sup>, आवश्यकचूर्णि<sup>719</sup>, ध्यानशतक<sup>720</sup>, धर्माभूत (अनगार)<sup>721</sup>, अध्यात्मसार<sup>722</sup>, ध्यानदीपिका<sup>723</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>724</sup>, ध्यानविचार<sup>725</sup> आदि में तथा नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने स्थानांगसूत्र की टीका में लिखा है कि सत्शास्त्रों का अध्ययन आत्म-हितकारी है। सत्शास्त्रों का सविधि अच्छी तरह से अध्ययन करना ही स्वाध्याय है।<sup>726</sup>

चारित्रसार में स्वाध्याय के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि अपने स्वयं का हित करने वाला अध्यात्म-अध्ययन स्वाध्याय है।<sup>727</sup> तत्त्वज्ञान का पठन-पाठन और स्मरण करना ही स्वाध्याय कहलाता है।<sup>728</sup>

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो यह लिखा है कि पूजा-प्रतिष्ठादि से निरपेक्ष होकर मात्र कर्म-मैल के शुद्धिकरण हेतु जो मुनि जिनप्रणीत शास्त्रों को भक्तिभावपूर्वक पढ़ता है, उसका श्रुतज्ञान हितकारी तथा सुखकारी है।<sup>729</sup>

<sup>715</sup> धम्मस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि आलंबणा पं. तं. वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्ठणा, अणुप्पेहा।।

— स्थानांगसूत्र— 4/1— 67.

<sup>716</sup> ज्ञाणस्स चत्तारि आलंबणा पं. तं. वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्ठणा, धम्मकहा।।

— भगवतीसूत्र— 25/7.

<sup>717</sup> औपपातिकसूत्र— 20.

<sup>718</sup> वाचानाप्रच्छनानुप्रेक्षाग्नायधर्मोपदेशाः।। — तत्त्वार्थसूत्र— 9/27.

<sup>719</sup> आलंबणाणि च से चत्तारि, जथा—विसमसमुत्तरणे वल्लिमादीणि, तं जथा—वायणा पुच्छणा परियट्ठणा अणुप्पेहा, धम्मकहा परियट्ठणे, पडति। एवं विभासेज्जा।। — आवश्यकचूर्णि.

<sup>720</sup> आलंबणाइ वायण—पुच्छण—परियट्ठणाऽणुचिंताओ ..... ।। — ध्यानशतक, गाथा— 42.

<sup>721</sup> वाचानाप्रच्छनानुप्रेक्षाग्नायधर्मोपदेशाः।। — धर्माभूत ।। अनगार।। — 9/25.

<sup>722</sup> वाचना चैव पृच्छ च परावृत्त्यनुचिन्तने।

क्रिया चाऽऽलम्बनानीह सद्धर्माऽऽवश्यकानि च।। — अध्यात्मसार— 16/31.

<sup>723</sup> आलम्बनानि धर्मस्य वाचनाप्रच्छनादिकः।

स्वाध्यायः पंचधा ज्ञेयो धर्मानुष्ठानसेवया।। — ध्यानदीपिका— 97, श्लोक— 118.

<sup>724</sup> ध्यानकल्पतरु, तृतीय शाखा, पत्र— 1-4, पृ. 220-243.

<sup>725</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 20.

<sup>726</sup> सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः।। — स्थानांगसूत्रटीका, आ. अभयदेव —5/3/465.

<sup>727</sup> स्वस्मै हितोध्यायः स्वाध्यायः।। — चारित्रसार— 152/5.

<sup>728</sup> स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च।। — वही— 44/3.

<sup>729</sup> पूयादिसु णिखेक्खो जिणसत्थं जो पढेइभतिजुओ।

कम्ममलसोहणइं सुयलाहो सुहयरो तस्स।। — कार्तिकेयानुप्रेक्षा— 462.

सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है— ज्ञान पाने हेतु आलस, प्रमाद को त्यागकर पठन—पाठन में रत रहना स्वाध्याय—तप है।<sup>730</sup> अभ्यास की दृष्टि से इसके पांच प्रकार हैं— 1. वाचना 2. पृच्छना 3. अनुप्रेक्षा 4. आम्नाय और 5. धर्मकथा।

स्वाध्याय, अर्थात् आत्मकल्याण के लिए शास्त्रों का अध्ययन करना। समीचीन ग्रन्थों के पठन—पाठन से कर्मों का संवर एवं निर्जरा होती है।<sup>731</sup>

आचार्य पतंजलि कहते हैं— स्वाध्याय से अपने आराध्यदेव का साक्षात्कार होने लगता है।<sup>732</sup>

वैदिक—महर्षियों<sup>733</sup> ने कहा है— तपो हि स्वाध्यायः, अर्थात् तप ही स्वाध्याय है, साथ ही यह प्रेरणा भी दी जाती है कि स्वाध्याय में कभी आलस (प्रमाद) मत करना।<sup>734</sup> इस प्रकार, स्वाध्याय के अंग ही ध्यान के आलम्बन हैं। इनमें मात्र धर्मकथा को छोड़ दिया गया है।

1. वाचना—आलम्बन — पूर्व में धर्मध्यान के आलम्बन—द्वार के अन्तर्गत यह कहा जा चुका है कि वाचना, प्रश्न पूछना, सूत्रों का अभ्यास करना, उस पर चिन्तन करना, सामायिक और स्वाध्याय आदि धर्मध्यान के आलम्बन हैं।<sup>735</sup>

जैसे रस्सी के सहारे व्यक्ति अति कठिन स्थान पर सकुशल पहुंच जाता है, वैसे ही वाचना, पृच्छनादि के आलम्बन से साधक शुद्धध्यान, अर्थात् शुक्लध्यान में अग्रसर हो जाता है।

ध्यानशतक में कहा गया है कि ध्यान का साधक सूत्रों का सहारा लेकर श्रेष्ठ ध्यान तक जा पहुंचता है।<sup>736</sup> जिनके माध्यम से साधना में प्रगति होती है, उसे आलम्बन कहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्य आलम्बन की संख्या चार बताई गई है। वे इस प्रकार हैं—

<sup>730</sup> ज्ञानभावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्यायः ॥ — सर्वार्थसिद्धि, पृ. 439.

<sup>731</sup> धर्माभूत (अनगार)— 9/25.

<sup>732</sup> समवायांगसूत्र, संकलन— मुनि मधुकर, पृ. 34.

<sup>733</sup> तैत्तिरीय आरण्यक— 2/14.

<sup>734</sup> तैत्तिरीय उपनिषद— 1-11-1.

<sup>735</sup> ध्यानशतक, गाथा— 42.

<sup>736</sup> विसमंभि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो। सुत्ताइ ..... समारूहइ ॥ — ध्यानशतक— 43.

### 1. वाचना 2. पृच्छना 3. परिवर्तना और 4. अनुचिन्ता।<sup>737</sup>

जिस किसी सत्साहित्य के अध्ययन से कर्म-निर्जरा होती हो, ऐसे सुशास्त्रों का पठन-पाठन करना ही वाचना है। वाचना के अन्तर्गत वे ही ग्रन्थ आते हैं, जो विषय-विकारों के निवारण में, क्रोधादि कषायों को नष्ट करने में, ममत्व-बुद्धि को समाप्त करने में और विभाव से स्वभाव की ओर गति कराने में सहायक-रूप हों। सम्यक्प्रकारेण शास्त्र एवं उनके अर्थ का अध्ययन करने से चित्त की एकाग्रता में वृद्धि होती है, साथ ही प्रज्ञा निर्मल तथा पवित्र बनती है। वह पठन-पाठन अर्थात् स्वयं पढ़ना और दूसरों को भी पढ़ाना, जिससे दोनों के धार्मिक-भावों में अभिवृद्धि होती है, वह धर्मध्यान का आलम्बन होता है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार, आगम-सूत्रों का पठन-पाठन करना ही वाचना कहलाती है।<sup>738</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में लिखा है कि शिष्यों को पढ़ाना अर्थात् कालिक, उत्कालिक श्रुत का दान देना ही वाचना है।<sup>739</sup>

अध्यात्मसार<sup>740</sup> के अनुसार, सूत्र और अर्थ—दोनों को शुद्धतापूर्वक पढ़ना वाचना है। शिष्यों को आगमों की वाचना देना और शिष्यों द्वारा मन की एकाग्रता के साथ भक्तिभाव से वाचना लेना—इससे ज्ञानावरणीय-कर्म की निर्जरा होती है तथा शास्त्रों के नए-नए अर्थों का आविर्भाव होता है। श्रुत की भक्ति के साथ रुचिपूर्वक वाचना करने से तीर्थकर-प्रणीत धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है और धर्मध्यान में एकाग्रता हो जाती है।<sup>741</sup>

ध्यानदीपिका में लिखा है कि शिष्य को निर्जरा हेतु सूत्रादि की वाचना देना या पढ़ना ही वाचना है।<sup>742</sup>

धर्माभूत (अनगार) में कहा गया है कि वाचना अर्थात् पढ़ना। शब्दोच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखना, सही समझ द्वारा अर्थ को ग्रहण करना, बिना सोचे-समझे न तो

<sup>737</sup> आलंबणाइ वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुधिन्ताओ। - ध्यानशतक- 43.

<sup>738</sup> स्थानांगसूत्र, संकलन- मधुकरमुनि- 4/1/67, पृ. 224.

<sup>739</sup> शिष्याणामध्यापनं वाचना कालिकस्योत्कालिकस्य वाऽऽलापकप्रदानम्। -तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति- 25.

<sup>740</sup> अध्यात्मसार, अध्याय- 16, श्लोक- 03.

<sup>741</sup> अध्यात्मसार, अनु.- डॉ. प्रीतिदर्शना, पृ. 579.

<sup>742</sup> ध्यानदीपिका, श्लोक- 118, पृ. 275.

शीघ्रगति से वाचन करना और न ही अयोग्य स्थान पर रुकना तथा शब्दशः पढ़ते हुए अक्षर अथवा पद को न छोड़ना इत्यादि वाचना है।<sup>743</sup>

ध्यानविचार ग्रन्थ में भी इसी बात की पुष्टि की गई है।<sup>744</sup> संक्षेप में, गणधर द्वारा विरचित सूत्रों का योग्य शिष्य को अध्यापन कराना ही वाचना नामक धर्मध्यान का प्रथम आलम्बन कहलाता है।

**2. पृच्छना—आलम्बन** — ध्यानशतक ग्रन्थ के प्रणेता गाथा क्रमांक बयालीस के अन्तर्गत धर्मध्यान के दूसरे आलम्बन का निरूपण करते हुए कहते हैं कि ग्रन्थशास्त्रों की संख्या सीमित होती है, अतः बहुत सी विषय—वस्तु ग्रन्थों में समाहित न होने के कारण किसी स्थान पर अर्थ की गम्भीरता से विषय ठीक से समझ नहीं आता, तो कहीं भिन्न—भिन्न विचार—भेद के कारण संदेह उत्पन्न हो जाता है। इन सब शंकाओं का निवारण करने के लिए गीतार्थ अर्थात् विद्वानों अथवा गुरु के समीप जाकर पृच्छा करना ही पृच्छना—आलम्बन कहा जाता है।<sup>745</sup>

शंका—समाधान के समय मन एकाग्र बना रहता है, इसलिए विषय—वासनाओं की वृत्ति उपरत हो जाती है।

स्थानांगसूत्र के अनुसार, शंका के निवारणार्थ गुरुजनों को पूछना ही पृच्छना—आलम्बन है।<sup>746</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में लिखा है कि सूत्र—विषयक शंका को पूछना ही पृच्छना है।<sup>747</sup>

अध्यात्मसार में कहा गया है कि पृच्छना, अर्थात् पूछना। वाचना लेते समय होने वाली शंकाओं को एवं जिज्ञासाओं को विशिष्ट ज्ञानीजनों से पूछकर यथार्थ निर्णय करना पृच्छना है।<sup>748</sup>

<sup>743</sup> शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम्।

शुद्धग्रन्थार्थोभयदाने पात्रेऽस्य वाचना भेदः॥ — धर्माभूत ॥ अनगार ॥ — 7/83.

<sup>744</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, संकलन— कलापूर्णसूरि, पृ. 20.

<sup>745</sup> ध्यानशतक, गाथा— 42.

<sup>746</sup> स्थानांगसूत्र, संकलन— मधुकरमुनि— 4/1/67, पृ. 224.

<sup>747</sup> ग्रन्थः सूत्रार्थः सूत्राभिधेयं तद्विषयं प्रच्छनम्॥ — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति— 25.

<sup>748</sup> अध्यात्मसार— 16/31.

ध्यानदीपिका के अनुसार, प्रज्ञाशील व्यक्ति तो शंका का समाधान स्वयं कर लेता है, परन्तु अल्पमतिज्ञ व्यक्ति को पढ़ने के समय यदि कोई शंका हो जाए, तो गुरु आदि के निकट जाकर विनयभाव से संशयों का निवारण करना पृच्छना—आलम्बन है।<sup>749</sup>

धर्माभूत (अणगार) में लिखा है— पृच्छना अर्थात् पूछना, प्रश्न आदि करना। मूलपाठ और अर्थ— दोनों के विषय में, क्या यह ऐसा है अथवा नहीं— यह संशय दूर करने के लिए, अथवा, यह ऐसा ही है— इस प्रकार के निर्णय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न करना पृच्छना है।<sup>750</sup>

ध्यानविचार<sup>751</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>752</sup> आदि में लिखा है— यथार्थ रूप से पूर्वापर सम्बन्ध समझ में न आने पर सविनय प्रार्थना करके जिज्ञासा का समाधान करने के लिए गुरु से प्रश्न पूछना, पृच्छना—आलम्बन कहलाता है।

संक्षेप में, जिज्ञासाओं का प्रस्तुतिकरण करना पृच्छना है।<sup>753</sup>

3. परिवर्तना—आलम्बन — ध्यानशतक के अन्तर्गत धर्मध्यान के तृतीय आलम्बन का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्वपठित एवं पूछे हुए सूत्र तथा अर्थ की पुनः—पुनः आवृत्ति न की जाए, तो विस्मृत होने की सम्भावना बनी रहती है। कहीं विस्मृत न हो जाए, इस हेतु पढ़े हुए, सुने हुए ज्ञान को पुनः—पुनः दोहराना ही परिवर्तना है।<sup>754</sup>

नियम यह है कि मन जैसा स्मरण करता है, वही अन्तःकरण में अंकित हो जाता है। जैसे विद्यार्थी पूर्वपठित विषय को स्मृति में रखने के लिए बार—बार पुनरावर्तन करता है, वैसे ही साधक को अध्यात्म—क्षेत्र में प्रगति करने के लिए ज्ञान की पुनः—पुनः परावर्तना करना चाहिए, साथ ही तदनुसार आचरण किया जाए, तो उसके संस्कार दृढ़ बन जाते हैं। संस्कारों की दृढ़ता साधक को धर्म की ओर उत्प्रेरित करती है, अतः धर्मध्यान में सहायकभूत होने से परावर्तना भी धर्मध्यान का आलम्बनरूप है।

<sup>749</sup> ध्यानदीपिका, श्लोक— 118.

<sup>750</sup> पृच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रवनाय वा।

प्रश्नोऽधीति प्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि।। — धर्माभूत (अणगार)— 9/84.

<sup>751</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, पृ. 20.

<sup>752</sup> ध्यानकल्पतरु, तृतीय शाखा, द्वितीय पत्र, पृ. 227.

<sup>753</sup> प्रस्तुत अंश 'आर्हती दृष्टि', समणी मंगलप्रज्ञा, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 68.

<sup>754</sup> ध्यानशतक— 42.

स्थानांगसूत्र के अनुसार, पठित सूत्रों को बार-बार आवर्तन करते हुए हृदयस्थ कर लेना ही परावर्तना है।<sup>755</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में लिखा है कि धर्मध्यान के आलम्बनों के रूप में तीसरा स्थान अनुप्रेक्षा का है। संदेह सहित सूत्र तथा अर्थ का मन से चिन्तन करना ही अनुप्रेक्षा है।<sup>756</sup>

अध्यात्मसार में कहा गया है कि उपार्जित ज्ञान को स्थिर रखने के लिए पुनः-पुनः उसको दोहराना— यह धर्मध्यान का आलम्बन है। इससे ज्ञान ताजा बना रहता है, विस्मृति और स्खलन से बचाव होता है, मन शुभ प्रवृत्ति में जुड़ा रहता है।<sup>757</sup>

ध्यानदीपिका के अनुसार, पूर्व में याद किए हुए सूत्रादि कहीं भूल न जाएं, इसलिए पुनः-पुनः उनका अभ्यास करना ही परावर्तना है।<sup>758</sup>

धर्माभूत (अनगार)<sup>759</sup> में लिखा गया है कि ज्ञात या निश्चित अर्थ का मन से बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा ही अन्तर्जल्प या आत्मचिन्तन है। वाचनादि में बहिर्जल्प (बाहरी बातचीत) होता है, जबकि अनुप्रेक्षा में मन में चिन्तन चलने से अन्तर्जल्प होता है। 'मूलाचार टीका' में अनित्यता आदि के बार-बार चिन्तन को अनुप्रेक्षा कहा गया है और उसे स्वाध्याय का भेद माना है।<sup>760</sup>

ध्यानविचार<sup>761</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>762</sup> में भी इसी बात का समर्थन किया गया है। गुरु द्वारा प्रदत्त सूत्र तथा अर्थ कण्ठस्थ हों, वे विस्मृत न हो जाएं— इस उद्देश्य से तथा कर्म-निर्जरा के लक्ष्य से बार-बार पठित पाठ का परावर्तन करना— यह धर्मध्यान का आलम्बन है।

<sup>755</sup> स्थानांगसूत्र, मधुकर मुनि— 4/1/67.

<sup>756</sup> सन्देहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति— 25.

<sup>757</sup> अध्यात्मसार— 16/31.

<sup>758</sup> ध्यानदीपिका, श्लोक— 118, पृ. 275.

<sup>759</sup> साऽनुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।

स्वाध्यायलक्ष्य पाठोऽन्तर्जल्पामाऽत्रापि विद्यते।। — धर्माभूत अनगार— 7/86.

<sup>760</sup> जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. विजयकुमार, पृ. 114.

<sup>761</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, आ.— कलापूर्णसूरि, पृ. 20.

<sup>762</sup> ध्यानकल्पतरु, तृतीय शाखा, तृतीय पत्र, पृ. 228-230.

4. अनुचिन्ता (धर्मकथा)—आलम्बन — ध्यानशतक के कृतिकार धर्मध्यान के चौथे आलम्बन की अनुचिन्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अनुचिन्ता को परिवर्तना में सम्मिलित कर कई ग्रन्थों में धर्मकथा को ही चौथा आलम्बन माना है।<sup>763</sup>

धार्मिक सूत्र—सिद्धान्तों के कथन करने, पढ़ने, श्रवण करने तथा अर्थ का अनुप्रेक्षण कर उस पर चिन्तन—मनन करने से अन्तःकरण सबल बन जाता है। धर्मकथाओं के पठन एवं श्रवण से यह ज्ञात होता है कि किस—किस महापुरुष ने विषय—विकारों तथा कषायादि को नष्ट करने के लिए कैसी—कैसी साधना की, स्वभाव—दशा को प्राप्त करने एवं सदा—सर्वदा उसमें अवस्थित रहने के लिए घोर उपसर्ग उपस्थित होने के उपरान्त भी किस प्रकार वे साधना—मार्ग से विचलित नहीं हुए तथा यम—नियमों में स्थिर रहे। धर्म—सम्बन्धी सूत्र एवं अर्थ के चिन्तन—मनन से आत्मा सावद्यपथ से निरवद्यपथ की ओर गमन करने लगती है, वह सावद्य से मुक्ति और आत्मरमणता की युक्ति में संलग्न रहती है, अतः धर्मकथा धार्मिक जीवन—निर्माण में सहायक होती है, इसलिए धर्मकथा धर्मध्यान का आलम्बन है।<sup>764</sup>

स्थानांगसूत्र के अनुसार, पठित सूत्रों के अर्थ का चिन्तन करना ही अनुप्रेक्षा है।<sup>765</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति के अनुसार उदात्त आदि परिशुद्ध सूत्रों को दूसरों को देना, अथवा पदों के अक्षरों की गिनती करना आम्नाय कहलाता है। यहां धर्मोपदेश से तात्पर्य सूत्र और अर्थ का कथन, व्याख्यान, अनुयोग का वर्णन, श्रुत और चारित्र का धर्मोपदेश देना है।<sup>766</sup>

अध्यात्मसार<sup>767</sup> के अनुसार— सूत्र और अर्थ का गहन चिन्तन करना अनुप्रेक्षा—स्वाध्याय है। किसी भी शास्त्रीय और आगमिक—विषय पर एकाग्रतापूर्वक सम्पूर्ण

<sup>763</sup> ध्यानशतक, संकलन— कन्हैयालाल लोढा, पृ. 87.

<sup>764</sup> ध्यानशतक, गाथा— 42.

<sup>765</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/67, संकलन— मधुकरमुनि, पृ. 224.

<sup>766</sup> आम्नायोऽपि परिवर्तनम् उदात्तादिपरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यास ... । — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति.

<sup>767</sup> वाचना चैव पृच्छा च पराकृत्यनुचिन्तने।

क्रिया चालम्बनानीह सद्धर्मावश्यकानि च।। — अध्यात्मसार— 16/31.

<sup>768</sup> अध्यात्मसार, डॉ प्रीतिदर्शना, पृ. 570.



मनोयोग के साथ गहन चिन्तन करने से अनेक गुत्थियों का समाधान प्राप्त होता है। जैसे-जैसे आत्मा श्रुतसागर में अवगाहन करती है, वैसे-वैसे उसे अनुपम ज्ञान-रत्नों की उपलब्धि होती है। अनुप्रेक्षा अथवा चिन्तन का लाभ बताते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि आयुर्कर्म को छोड़कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्म-प्रकृतियां यदि गाढ़ बन्धन से बन्धी हुई हों, तो उन्हें अनुप्रेक्षा स्वाध्यायी शिथिल बन्धन वाली बना लेता है, यदि तीव्र रस वाली हो, तो मन्द रस वाली बना लेता है और यदि बहुत प्रदेश वाली हो, तो कम प्रदेश वाली कर डालता है, अतः वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा— ये चारों श्रुतधर्म के अन्तर्गत रहे हुए धर्मध्यान के आलम्बन हैं।

इसके अतिरिक्त, सामायिक, स्तुति, प्रतिक्रमण, पडिलेहन आदि आवश्यक -क्रियाएं भी धर्मध्यान के आलम्बन-रूप हैं, जो चारित्रधर्म के अन्तर्गत आती हैं।<sup>768</sup>

**ध्यानदीपिका** में लिखा है कि अनुप्रेक्षा, अर्थात् विचार करना, अर्थात् आत्मलाभ में उपयोगी पदार्थों का विचार करना एवं निरुपयोगी अथवा आत्मलाभ में विघ्नरूपी विचारों को हटाकर उपयोगी क्रियाओं में संलग्न रहना, ताकि आत्मस्वरूप का विस्मरण न हो और जाग्रति के पलों में ज्यादा-से-ज्यादा समय तक आत्मस्वरूप का स्मरण बना रहे।<sup>769</sup>

**धर्माभूत (अनगार)** में कहा गया है कि पूर्वपठित सूत्रों के शुद्धतापूर्वक पुनः-पुनः उच्चारण को आम्नाय कहते हैं।<sup>770</sup>

इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत लिखा है कि देववन्दना के साथ धर्म का कथन करना धर्मकथा है।<sup>771</sup> धर्मकथा के आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजनी और निर्वेदनी नामक चार प्रकार हैं।

**1. आक्षेपिणी** — जिस कथानक में श्रुत, चारित्र के कथन का वर्णन किया जाता है, जैसे- मति, श्रुतादि ज्ञानों का निरूपण है और सामायिक, प्रतिलेखनादि चारित्र का स्वरूप है, उसे आक्षेपिणी कहते हैं।<sup>772</sup>

<sup>768</sup> आलम्बनानि धर्मस्य वाचनाप्रच्छनादिकः। ..... - ध्यानदीपिका, श्लोक- 118.

<sup>770</sup> आम्नायो घोषशुद्धं यद् वृत्तस्य परिवर्तनम्।। - धर्माभूत अनगार- 7/87.

<sup>771</sup> धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा संस्तुति मङ्गला।। - वही- 7/87.

<sup>772</sup> आक्खेवणी कहां सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ। - भगवती-आराधना- 655.

**प्रशमरतिप्रकरण** के प्रणेता उमास्वाति ने भी प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोक क्रमांक एक सौ ब्यासी में बुद्धि को स्थिर रखने के लिए चार प्रकार की धर्मकथा के अभ्यास करने का निर्देश किया है। वे कहते हैं कि जो कथा जीवों को धर्माभिमुख करती है, उसे आक्षेपिणी कहते हैं।<sup>773</sup>

**2. विक्षेपिणी** — जिस कथा के अन्तर्गत स्व तथा पर की चर्चा की जाती है, वह विक्षेपिणी है, जैसे— वस्तु सर्वथा नित्य है या क्षणिक है, एक है या अनेक है, सब सत् है अथवा असत्, ज्ञानमय है या शून्य, इत्यादि। दूसरे पक्ष में कहा गया है कि कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक इत्यादि स्वरूप का निरूपण करना विक्षेपिणी-कथा कहलाती है।<sup>774</sup>

**प्रशमरतिप्रकरण** के अनुसार, जो कथा जीवों को कामभोग से मुक्त अथवा कुमार्ग से विमुख करती है, उसे विक्षेपिणी कहते हैं।<sup>775</sup>

**3. संवेजनी** — सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा शुद्ध तप के द्वारा आत्मा में प्रकट होने वाली ऊर्जा अथवा शक्तियों के स्वरूप का वर्णन करने वाली कथा को संवेजनी कहते हैं।<sup>776</sup>

**प्रशमरतिप्रकरण** के अनुसार, जो कथा जीवों को संसार से भयभीत करती है, उसे संवेदनी कहते हैं<sup>777</sup>, जैसे— नरकादि का कष्ट।

**4. निर्वेदनी** — रस, मांस, रुधिर, अस्थि-मज्जा आदि से युक्त यह देह अपवित्र है, रज और वीर्य उसका बीज है, अशुचि आहार उसका पोषक है, यह अशुचि ही नहीं, अपितु असार भी है, भोग भी क्षणिक हैं, उससे मिलने वाले सुख से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता है, यहां दुःख की बहुलता एवं सुख की अल्पता है— इस तरह शरीर और भोगों की आसक्ति से विरक्त कराने वाली कथा निर्वेदनी कहलाती है।<sup>778</sup>

**प्रशमरतिप्रकरण** के अनुसार जो कथा कामभोग से वैराग्य उत्पन्न कराती है, उसे निर्वेदनी कहते हैं।<sup>779</sup>

<sup>773</sup> आक्षेपिणी ..... | — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 182.

<sup>774</sup> ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेपणी णाम। — भगवती-आराधना— 655.

<sup>775</sup> प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 182.

<sup>776</sup> संवेयणी पुण कहा णाणचरिततवीरियइद्धिगदा। — भगवती-आराधना— 656.

<sup>777</sup> प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 182.

<sup>778</sup> णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य ... ..।। — भगवती-आराधना— 656.

<sup>779</sup> आक्षेपणी विक्खेपणी विमार्गबाधनसमर्थविन्यासा .... ।। — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 182.

संक्षेप में, रागादि भावों से विमुख करके सत्य तत्त्वों को सम्मुख लाने वाली कथा **आक्षेपिणी—कथा** है। कुमार्ग से विमुख करके सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली कथा **विक्षेपिणी—कथा** है। वैराग्यभाव में अभिवृद्धि कराने वाली कथा **संवेदनी—कथा** है। संसार के प्रति उदासीन भाव पैदा करने वाली कथा **निर्वेदनी—कथा** है।<sup>780</sup>

इस प्रकार, संक्षेप में धर्मकथा के भेदों का उल्लेख किया गया है।

**आदिपुराण** के कर्त्ता जिनसेनाचार्य ने इक्कीसवें पर्व के श्लोक क्रमांक सतासी (87) के अन्तर्गत धर्मध्यान के आलम्बन का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जो बुद्धिबल से युक्त है, शास्त्रों के अर्थ का आलम्बन करने वाला है, जो धीर—वीर है और जिसने समस्त परीषहों को सह लिया है— ऐसे उत्तम मुनि शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त होते हैं।<sup>781</sup> वाचना, पृच्छना, परियट्टना (परिवर्तन) और अनुप्रेक्षा (धर्मकथा)— ये चारों आलम्बन मन को आत्माभिमुख करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। संक्षेप में, इतना ही समझना है कि वाचना अर्थात् समझपूर्वक पढ़ना। यदि कोई कुशाग्र बुद्धि वाला व्यक्ति है, तो वह अपनी शंका का समाधान स्वतः ही कर लेता है, लेकिन साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति को शंका उत्पन्न होती है, तो वह उसके निवारण के लिए गुरुजनों से समाधान प्राप्त करता है— यही प्रतिपृच्छना है।

कण्ठस्थ सूत्रों की बार—बार पुनरावृत्ति करते रहना ही परावर्तना है, ताकि कण्ठस्थ सूत्र विस्मृत न हो जाएं।

आगमों के अर्थों पर चिन्तन—मनन करना अनुप्रेक्षा है,<sup>782</sup> उसको धर्मकथा के नाम से भी जाना जाता है। कुछ विद्वानों की मान्यता यह भी है कि संसार की अनित्यता का चिन्तन करना भी अनुप्रेक्षा है। इन चारों आलम्बनों से धर्मध्यान में वृद्धि, शुद्धि होती है— ये मन को पुष्ट तथा शुद्ध बनाकर ध्यान में स्थिरता प्राप्त करवाते हैं।

## शुक्लध्यान के आलम्बन

<sup>780</sup> धर्माभूत अनंगार— 7/88.

<sup>781</sup> प्रज्ञापारमितो योगी ..... सूत्रार्थालम्बनो धीरः सोढाशेषपरीषहः ।। — आदिपुराण— 2/87.

<sup>782</sup> प्रवचनसारोद्धार, साध्वी हेमप्रभाजी, भाग— 1, पृ. 123—124.

जो आत्मा को 'स्व' में स्थिर बनाए, अर्थात् निजस्वरूप में अवस्थित करे, स्व-स्वरूप में आधाःभूत बने, उसे ध्यान के क्षेत्र में आलम्बन कहते हैं। समवायांग<sup>783</sup>, विशेषावश्यकभाष्य<sup>784</sup> में कषाय के चार प्रकार बताए गए हैं, वे निम्नांकित हैं—

1. क्रोध      2. मान      3. माया      4. लोभ।

इन चार कषायों के क्षय होने पर चार गुण प्रकट होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. क्षमा      2. मार्दव      3. आर्जव      4. मुक्ति।

मूलतः, शुक्लध्यान के उपर्युक्त जो चार आलम्बन हैं, वे कषायों के अभाव के हेतु हैं। जब साधक के जीवन में शान्ति समा जाती है, तब क्रोध का स्वतः ही पलायन हो जाता है,<sup>785</sup> जो मार्दव, मान-कषाय के त्याग का सूचक है।<sup>786</sup> आर्जव—गुण आने पर माया-कषाय नष्ट हो जाती है<sup>787</sup> और निर्लोभता से तो लोभ का अस्तित्व ही नहीं रहता है।<sup>788</sup>

दशवैकालिक के आठवें अध्ययन में भी इसी बात का समर्थन मिलता है।<sup>789</sup>

योगशास्त्र में कहा है कि क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से और लोभ को निस्पृहता से जीतें।<sup>790</sup>

शुक्लध्यान के शिखर पर आरोहण करने के लिए कषाय की अल्पता अनिवार्य है। श्री कन्हैयालाल लोढा ने कहा है— "क्षमादि गुणों में जितनी दृढ़ता एवं वृद्धि होती जाती है, उतनी ही शुक्लध्यान में प्रगति होती जाती है।"<sup>791</sup>

सामान्य तौर पर व्यक्ति क्रोध आदि के द्वारा दैनिक-जीवन में क्रिया-प्रतिक्रिया में रत रहता है। उसके जीवन की गतिविधियों के मुख्य आधार क्रोध, मान, माया और लोभ-रूप कषायभाव ही बन जाते हैं। कषायभाव की वृद्धि, जो पर-पदार्थों के प्रति

<sup>783</sup> समवाओ, समवाय— 4, सूत्र— 1.

<sup>784</sup> विशेषावश्यकभाष्य, गाथा— 2985.

<sup>785</sup> कोहविजएणंखन्तिं जणयइ ..... || — उत्तराध्ययनसूत्र— 29/68.

<sup>786</sup> माणविजएणं मद्दवं जणयइ ..... || — वही— 29/69.

<sup>787</sup> मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ ..... || — वही— 29/70.

<sup>788</sup> लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ ..... || — वही— 29/71.

<sup>789</sup> (क) उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।

मायमज्जव भावेण, लोभं संतोसओ जिणे।। — दशवैकालिकसूत्र— 8/39.

(ख) धर्म के दस लक्षण, पृ. 23—28.

<sup>790</sup> क्षान्त्या क्रोधो, मृदुत्वेन मानो मायाऽऽर्जवेन च।

लोभश्चानीहया जेयाः कषायाः इति संग्रहः।। — योगशास्त्र— 4/23.

<sup>791</sup> ध्यानशतक, संकलन— कन्हैयालाल लोढा, पृ. 104.

ममत्वभाव और भौतिक सुख-साधनों पर निर्भर करती है, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान की अभिव्यक्ति है। शुक्लध्यानवर्ती को तो आत्म-विकास प्रिय होता है, अतः वह भौतिक सुख-साधनों, पर-पदार्थों और आकांक्षाओं से परे होता है और कषाय को क्षीण करते हुए क्षमा, मार्दव, आर्जव और निर्लोभता का अवलम्बन प्राप्त कर साधना के क्षेत्र में प्रगति करता है।

आचारांगसूत्र<sup>792</sup>, स्थानांगसूत्र<sup>793</sup>, समवायांगसूत्र<sup>794</sup>, औपपातिक<sup>795</sup>, उत्तराध्ययनसूत्र<sup>796</sup>, तत्त्वार्थसूत्र<sup>797</sup>, मूलाचार<sup>798</sup>, आदि आगम-ग्रन्थों में भी शुक्लध्यान के आलम्बनों का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि उनमें संख्या-क्रम में भेद हैं, परन्तु विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं है। उपर्युक्त आगम-ग्रन्थों में दसविध धर्मों का भी वर्णन है। उन्हीं में से क्षमा, मार्दव, आर्जव और निर्लोभता— इन चार आलम्बनों को ध्यानशतक में शुक्लध्यान के आलम्बन माना गया है।

**1. क्षमा-आलम्बन —** ध्यानशतक ग्रन्थ की गाथा क्रमांक उनहत्तर में शुक्लध्यान के आलम्बन का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि विश्व के समस्त जीवों को आत्मवत् दृष्टि से देखें, तो किसी भी जीव पर क्रोध के अभाव में क्षमा-गुण का प्रकटीकरण होगा।<sup>799</sup>

उत्तराध्ययनसूत्र में महावीर देव ने कहा है कि मोह से आत्मा नीचे गिरती है।<sup>800</sup> क्रोधी व्यक्ति स्वयं और दूसरे— दोनों के पतन का कारण बनता है।

<sup>792</sup> आचारांगसूत्र— 1/6/5.

<sup>793</sup> स्थानांगसूत्र— 4/1/72.

<sup>794</sup> समवायांगसूत्र— 10/1.

<sup>795</sup> औपपातिकसूत्र (तपविवेचनान्तर्गत)— 30.

<sup>796</sup> उत्तराध्ययनसूत्र— 9/57.

<sup>797</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 9/6.

<sup>798</sup> मूलाचार— 11/15.

<sup>799</sup> ध्यानशतक, गाथा— 69.

<sup>800</sup> अहे वयइ कोहेण। — उत्तराध्ययनसूत्र.

<sup>801</sup> तत्रोपतापकः क्रोधोवैरस्य कारणम् ..... सुखार्गला।। — योगशास्त्र— 4/9.

योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि क्रोध शरीर और मन को कष्ट देता है, बैर से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध दुर्गति का मार्ग है, क्रोध मोक्ष-सुख में अर्गला के समान है।<sup>801</sup>

**धर्माभूत (अनगार) —** इसके अनुसार, क्रोध एक विशेष अग्नि है, क्योंकि सामान्य अग्नि तो मात्र शरीर का दहन करती है, परन्तु क्रोध, देह और मन— दोनों को भस्मीभूत कर देता है। क्रोध आने पर व्यक्ति अविवेकी बन जाता है और उस स्थिति में वह अनर्थ कर डालता है।<sup>802</sup>

**ज्ञानार्णव**<sup>803</sup> में क्रोध से होने वाली हानियों एवं परिणाम का वर्णन इस प्रकार वर्णित है कि क्रोध में सर्वप्रथम स्वयं का चित्त अशान्त होता है, विद्वेष के भावों में तीव्रता आ जाती है, विवेकरूपी दीपक बुझ जाता है। क्रोधी दूसरे को अशान्त कर पाए या नहीं, पर स्वयं तो जलता ही है, जैसे दिया-सलाई दूसरे को जलाए या नहीं, स्वयं तो जल ही जाती है।<sup>804</sup>

गीता के अन्तर्गत श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि अपने निजस्वरूप का घात करने वाले क्रोध और लोभ नरक के द्वार हैं। क्रोधवृत्ति से मूढ़ता, मूढ़ता से ग्राह्यशक्ति का हास, स्मृति के हास से विवेक नष्ट और विवेक तथा बुद्धि के नष्ट होने पर सर्वनाश होता है।<sup>805</sup>

क्रोध पर आधारित विवेचना में बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में क्रोधी व्यक्ति को सर्प के समान माना है।<sup>806</sup>

**इतिवृत्तक** में बुद्ध ने कहा है कि क्रोध से युक्त व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त होता है, क्रोध के त्याग से संसार-भ्रमण समाप्त होता है, अतः जड़ से ही क्रोध को खत्म कर दो।<sup>807</sup>

क्रोध के अभाव में व्यक्ति के भीतर क्षमावृत्ति का आविर्भाव होगा और क्षमावृत्ति से समस्त जीवों पर मैत्रीभाव का सर्जन होगा।

<sup>802</sup> धर्माभूत अनगार, अध्याय- 6, श्लोक- 4.

<sup>803</sup> ज्ञानार्णव- 18/38 से 77 तक (क्रोध तथा निवारणार्थ चर्चा)

<sup>804</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ, 'कषाय', साध्वी हेमप्रज्ञाश्री से उद्धृत, पृ. 15.

<sup>805</sup> गीता, अध्याय- 2, श्लोक- 63.

<sup>806</sup> अंगुत्तरनिकाय, द्वितीय भाग, पृ. 108-109.

<sup>807</sup> इतिवृत्तक, निपात- 1, वर्ग- 1, पृ. 02.

उत्तराध्ययनसूत्र<sup>808</sup> में महावीर देव ने कहा है कि क्षमाभाव से मैत्रीभाव और मैत्रीभाव से सर्वप्राणियों के प्रति दया, करुणा, अनुकम्पा प्रकट होती है।

प्रशमरतिप्रकरण के प्रणेता उमास्वाति ने क्षमाधर्म की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि धर्म का मूल दया है, किन्तु क्षमाभाव से रहित हृदय वाला व्यक्ति दया को धारण नहीं कर सकता।<sup>809</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति के अनुसार— क्षमा, अर्थात् तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोधनिग्रह— ये सब क्षमा के पर्यायवाची शब्द हैं।

क्षमा — शक्ति-सम्पन्न आत्मा के सहन करने के परिणाम।

तितिक्षा — माफ करना।

सहिष्णुता — सहनशील स्वभाव।

राजवार्तिक में भी कहा है कि समग्र जीवराशि के प्रति मैत्रीभाव होना ही अनुकम्पा है।<sup>810</sup>

योगशास्त्र में लिखा है कि साधक को क्रोधाग्नि को शान्त करने के लिए एकमात्र क्षमा का आधार लेना चाहिए।<sup>811</sup>

क्रोध-निग्रह — क्रोध के उदय को रोकना, अथवा उदीयमान क्रोध को विवेक से निष्फल करना क्षमा कहलाता है।<sup>812</sup>

प्रतिकूल व्यवहार के उपरान्त भी किसी व्यक्ति के प्रति क्रोधित न होना, सहनशील रहना, क्रोध को उत्पन्न ही न होने देना, यदि उत्पन्न हो भी जाए, तो विवेक तथा नम्रभाव से उसे शान्त कर देना ही क्षमा है।

<sup>808</sup> पल्हायणभावमुपगए य सव्व पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुष्पाएइ।

<sup>809</sup> धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दयां समादत्ते ..... ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 168.  
— उत्तराध्ययन— 29/62.

<sup>810</sup> सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा ॥ — राजवार्तिक— 1/2.

<sup>811</sup> क्रोधवहनेस्तदहनायशमनाय ..... ॥ — योगशास्त्र— 4/11.

<sup>812</sup> क्षमा तितिक्षा सहिष्णुत्वं क्रोधनिग्रह इत्यनर्थान्तरम् ॥ तत्र क्षमेत्यादिना विवृणोति । उत्तमत्वं क्षमेति क्षमणं-सहनं परिणाम आत्मनः शक्तिमतः । अशक्तस्य वा प्रतीकारानुष्ठाने तां पर्यायशब्दैराचष्टे । तितिक्षा क्षान्तिः । सहिष्णुत्वं सहनशीलत्वम् । क्रोधनिग्रहः क्रोधस्योदयनिरोधः उदितस्य वा विवेकबलेन निष्फलताऽऽपादनाम् ..... ॥ — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति— 01.

**दशवैकालिक** में कहा गया है कि क्रोध से प्रीति का नाश होता है।<sup>813</sup> क्रोध का उपशमन क्षमा से ही सम्भव है।

**बृहत्कल्पभाष्य** में तो यहां तक कहा गया है कि श्रमण—श्रमणियों के मध्य यदि कलह हो जाए, तो उसी समय क्षमायाचना द्वारा उसे शान्त कर देना चाहिए। बिना क्षमायाचना के न तो वे गोचरी जा सकते हैं, न स्वाध्याय कर सकते हैं और न ही विहारादि सम्भव है।<sup>814</sup> जब तक क्षमा का आदान—प्रदान नहीं हो जाता, तब तक वह श्रमण अथवा श्रमणी आराधक होकर भी विराधक की कोटि में गिना जाता है।

पं. **सुखलाल संघवी** ने क्षमा की साधना के पांच उपाय बताए हैं—

1. अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना।
2. क्रोधवृत्ति के दोषों पर चिन्तन—मनन करना।
3. बाल—स्वभाव का विचार करना।
4. अपने किए हुए कर्म के परिणाम पर विचार करना।
5. क्षमा के गुणों का चिन्तन—मनन करना।<sup>815</sup>

शुक्लध्यान के साधक की मानसिक—वृत्ति में क्रोध उत्पन्न ही नहीं होता, चाहे कितने की क्रोध के प्रसंग उपस्थित हो जाएं, क्योंकि वह क्रोध—विजयी बन जाता है, जिससे उसका अन्तःकरण दया, करुणा, क्षमा—भावों से ओतप्रोत रहता है, इसलिए 'क्षमा'— यह शुक्लध्यानी का प्रथम आलम्बन कहलाता है।

**2. मार्दव—आलम्बन** — ध्यानशतक ग्रन्थ में कहा गया है कि शुक्लध्यान का दूसरा आलम्बन मार्दव कहलाता है। इस आलम्बन से शुक्लध्यान में प्रगति होती है।<sup>816</sup>

मार्दव, अर्थात् मृदुता—गुण, इसका प्रकटीकरण मान—कषाय के क्षीण होने से होता है।

**दशवैकालिकसूत्र** में कहा गया है कि मान—कषाय को मृदुता से जीतें।<sup>817</sup>

<sup>813</sup> कोहो पीइं पणासेइ ..... ।। — दशवैकालिक— 8/37.

<sup>814</sup> बृहत्कल्पभाष्य— 4/15.

<sup>815</sup> तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलाल संघवी, पृ. 208.

<sup>816</sup> ध्यानशतक, गाथा— 69.

<sup>817</sup> माणमद्वया जिणे । — दशवैकालिक— 8/39.



अहंकार व्यक्ति को पतन के मार्ग पर प्रयाण कराता है। अभिमानी मनुष्य की वृत्ति स्वार्थमय होती है। मैं ही महान् हूँ, मैं ही सब कुछ हूँ, मैंने ऐसा किया है, मैंने वैसा किया है, मेरे पास सबकुछ है— वह इसी प्रकार से सोचकर अभिमान करता है। ज्ञानी कहते हैं कि यह सब मानव का झूठा भ्रम है। अभिमान से मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है।<sup>818</sup>

मान एक ऐसी मनोवृत्ति है, जिसमें व्यक्ति स्वयं को बड़ा एवं दूसरों को छोटा समझने लगता है।

**सूत्रकृतांग** के अनुसार, अहंकारी अपने घमण्ड में चूर होकर दूसरों को अपनी प्रतिच्छाया के समान निम्न समझता है।<sup>819</sup>

**ज्ञानार्णव** के प्रणेता शुभचन्द्राचार्य का कहना है कि अभिमानी विनय का उल्लंघन करता है और स्वच्छन्दाचारी होता है।<sup>820</sup>

**योगशास्त्र** के कर्ता मानकषायजनित हानियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि मान से विनय, श्रुत और सदाचार का हनन होता है। यह धर्म, अर्थ और काम का घातक है।<sup>821</sup>

**धर्माभूत (अनगार)** में कहा गया है कि जैसे सूर्यास्त होते ही अंधेरा छा जाता है और निशाचर (राक्षस) इधर-उधर घूमने लगते हैं, उसी प्रकार विवेकरूपी सूर्य के अस्त होते ही मोह का तिमिर चारों ओर फैल जाता है, रागद्वेषरूपी निशाचर भटकने लगते हैं, व्यक्ति अनभिज्ञ होकर स्वेच्छाचार में प्रवर्तन करता है।<sup>822</sup>

**भगवतीसूत्र** की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने लिखा है कि जिस वृत्ति के उदय से अहंकार का भाव उत्पन्न होता है— वह वृत्ति ही मान कहलाती है।<sup>823</sup>

**समवायांगसूत्र**<sup>824</sup> तथा **भगवतीसूत्र**<sup>825</sup> में अहंकार उत्पन्न होने के आठ हेतु बताए गए हैं, इसीलिए मद (घमण्ड) के आठ प्रकार हैं—

<sup>818</sup> लुप्यते मानतः पुंसां विवेकामललोचनम् ॥ — शुभचन्द्राचार्य.

<sup>819</sup> ..... अण्णं जणं पस्सति बिबभूयं ... ॥ — सूत्रकृतांग— 13/8.

<sup>820</sup> करोत्युद्धतधीर्मानाद्विनयाचारलघनम् ॥ — ज्ञानार्णव— 19/53.

<sup>821</sup> विनयश्रुतशीलानां त्रिवर्गस्य च घातक ..... ॥ — योगशास्त्र— 4/12.

<sup>822</sup> धर्माभूत (अनगार) — अध्याय— 6, श्लोक— 10.

<sup>823</sup> भगवतीसूत्र/रा. 12/उ. 5/सूत्र— 3 की वृत्ति, वृत्तिकार— अभयदेवसूरि.

<sup>824</sup> अद्द मयट्ठणा पण्णत्ता, तं जहा—जातिमए, कुलमए, बलमए, रूवमए, तवमए, सुयमए, लाभमए, इस्सरियमए।' — समवाओ, समवाय— 8, सूत्र— 1.

1. जाति—मद 2. कुल—मद 3. रूप—मद 4. बल—मद 5. श्रुत—मद 6. तप—मद 7. लाम—मद और 8. ऐश्वर्य—मद।

मृदुता इन आठ मदों को समाप्त कर सकती है। मृदुता के माध्यम से व्यक्ति का चित्त विनम्रवृत्तियुक्त बन जाता है। मृदुता गुण के प्रकटीकरण के बाद जीव को न तो स्वयं की प्रशंसा या सम्मान की अपेक्षा होती है और न ही उसकी बड़े-छोटे के पक्षपात की प्रवृत्ति रहती है।

प्रशमरतिप्रकरण में कहा है कि समस्त गुण विनयाधीन हैं और विनय मार्दवाधीन है। जिसकी परिणति मार्दव—धर्म के अनुकूल है, वह समग्र गुणों का अधिकारी बन जाता है।<sup>826</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति के अनुसार— अभिमान के परिणाम से रहित वर्तन करना, जैसे— खड़ा होना, आसन प्रदान करना, हाथ जोड़ना आदि यथोचित विनय करना और गर्व के परिणाम से आत्मा को दूर रखना, जाति, कुलादि आठ प्रकार के जो मद्यस्थान हैं, उनसे दूर रहना ही मार्दव—धर्म है।<sup>827</sup>

सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि मार्दव—धर्म को सिद्ध करने के लिए जाति, कुलादि के मद का परित्याग जरूरी है।<sup>828</sup> मद के आवेश का अभाव ही मार्दव है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार<sup>829</sup> के अनुसार— ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीर— इन आठ वस्तुओं का अभिमान नहीं करना मार्दव है, अथवा परकृत पराभिमान की उत्पत्ति के निमित्त मिलने पर भी अभिमान नहीं करना मार्दव है।<sup>830</sup>

पं. सुखलाल संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र में इसे परिभाषित करते हुए कहा है कि चित्त में मृदुता और व्यवहार में भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव—गुण है। जाति, कुलादि की

<sup>826</sup> गोयमा ! जाइअमएणं, कुलअमएणं, बलअमएणं, रूपअमएणं, तवअमएणं, सुयअमएणं लाभअमएणं, इस्सरियअमएणं ..... ।। — भगवतीसूत्र— श.— 8, उदेशक— 9.

<sup>826</sup> विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे विनयश्च मार्दवायतः ।

यस्मिन् मार्दवमखिलं स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति ।। — प्रशमरतिप्रकरण— 169.

<sup>827</sup> नीचैर्वृत्त्यनुत्सैकाविति । नीचैर्वृत्तिः—अभ्युत्थानासनदाना—जलिप्रगृह्यथार्हविनयकरुणा रूपाउत्से— कष्टित्तपरिणामो गर्वरूपस्तद्विपर्ययोऽनुत्सैकः ..... ।। — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति— 02.

<sup>828</sup> जात्यादिमदावेशादभिमाना भावों मार्दव मान निर्हणं वा ।। — सर्वार्थसिद्धि.

<sup>829</sup> ज्ञानं पूजां कुल जाति बलमृद्धि तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गत स्मथाः ।। इति श्लोक कथित स्याष्ट विद्यस्य मदस्य समावेशात् परकृत पराभि—भवन निमिताभिमान मुक्ति मार्दव मुच्यते ।। — रत्नकरण्डक श्रावकाचार.

<sup>830</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ 'धर्मालंकार' पुस्तक से उद्धृत, पृ. 37.

<sup>831</sup> तत्त्वार्थसूत्र, संकलन— पं. सुखलाल संघवी, पृ. 209.

प्राप्ति के पश्चात् इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके अभिमानरूपी शूल को निकालकर फेंक देना चाहिए।<sup>831</sup> चूंकि शुक्लध्यान के साधक का हृदय मृदुता या नम्रता से सराबोर होता है, इसलिए मार्दव-गुण शुक्लध्यान का आलम्बन कहलाता है।

**3. आर्जव-आलम्बन** - ध्यानशतक के प्रणेता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने गाथा क्रमांक उनहत्तर के अन्तर्गत शुक्लध्यानी के आलम्बन की चर्चा करते हुए कहा है कि आर्जव-गुण की प्राप्ति माया-कषाय के अभाव से होती है।<sup>832</sup>

दशवैकालिकसूत्र में भी यही कहा गया है कि माया-कषाय पर विजय पाने के लिए ऋजुभाव (सरलता) जरूरी है।<sup>833</sup> छल, कपट और मायावृत्ति से जीव अनन्त बार संसार-परिभ्रमण कर चुका है, कर रहा है और भविष्य में भी यही वृत्ति रही, तो करता रहेगा। थोड़ी-सी भी मायाचार की वृत्ति भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न कर देती है। मायावी जीव में कुटिलता कूट-कूट कर भरी रहती है।

धर्माभूत (अनगार) में तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जिसकी कथनी एवं करनी में अन्तर है, वह मायावी कहलाता है<sup>834</sup> और मायावी कभी किसी का विश्वासपात्र नहीं बन सकता है, क्योंकि उसका अन्तःकरण विश्वासघात की वृत्ति वाला होता है।

आचारांगसूत्र के अनुसार, मायावी तथा प्रमादी पुनः-पुनः जन्म-मरण करता रहता है, उसके संसार-परिभ्रमण का कभी अन्त नहीं होता। माया-कषाय के अभाव में उसकी सम्पूर्ण आराधना-साधना निष्फल होती है।<sup>835</sup>

सूत्रकृतांगसूत्र के अन्तर्गत माया से होने वाली हानियों का निर्देश करते हुए लिखा है कि मायावी क्यों न निर्वस्त्र होकर घोर तपस्या करके कृशकायी होकर विचरण करे, सुदीर्घ तपस्या करे, फिर भी अनन्तकाल तक जन्म-मरण करता रहता है।<sup>836</sup>

<sup>832</sup> ध्यानशतक, गाथा- 69.

<sup>833</sup> मायं चज्जवभावेण ..... ।। दशवैकालिकसूत्र- 8/8/39.

<sup>834</sup> यो वाचा स्वमपि स्वान्तं ..... ।। - धर्माभूत, अध्याय- 8, गाथा- 19.

<sup>835</sup> माई पमाई पुणरेह गभं ..... ।। - आचारांगसूत्र, अध्याय- 3, उद्देशक- 1, सूत्र- 14.

<sup>836</sup> जे इह मायाइ मिज्जइ, आगंता गम्भाय णंत सो ।।

- सूत्रकृतांगसूत्र, अध्याय- 2, उद्देशक- 2, गाथा- 9.

<sup>837</sup> योगशास्त्र- 4/14.

योगशास्त्र में लिखा है कि मायाश्रित कभी नहीं रहना चाहिए, क्योंकि यह असत्य की जननी, शीलवृक्ष को नष्ट करने वाली कुल्हाड़ी, मिथ्यात्व और अज्ञान की जन्मभूमि एवं दुर्गति की द्योतक है।<sup>837</sup>

ज्ञानार्णव के अनुसार— यह माया अज्ञान की पृथ्वी, अप्रशंसा का घर, पाप की गर्त और मोक्षपथ की बाधक है।<sup>838</sup>

इस माया-कषाय से अधीन होकर जीव कपट-वचन से स्वयं के एवं दूसरों के प्राणों को संकट में डाल देता है और यदि छल द्वारा कार्य सिद्ध न हो, तो स्वयं बहुत बचैन एवं संतप्त होता है। माया महादोष है, इसमें उपयोगवृत्ति न जुड़ जाए— इसका खास ध्यान रखना चाहिए।<sup>839</sup>

समवायांगसूत्र<sup>840</sup>, भगवतीसूत्र<sup>841</sup>, कसायपाहुड<sup>842</sup> में माया की क्रमशः सत्रह, पन्द्रह एवं ग्यारह पर्यायें बताई गई हैं। चित्त सरल हो, कुटिलतारहित हो, माया-कषायरूप प्रवृत्ति न हो— ऐसी प्रवृत्ति का नाम ही आर्जव-गुण है। इसमें मुख्य रूप से वक्रता (दोहरेपन) का निरसन होना जरूरी है, क्योंकि वक्रता हमारे विकास के द्वार बन्द कर देती है।

तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है— सरलता से अर्थात् ऋजुता से जीव देह की सरलता, परिणामों की सरलता, भाषा की अभिव्यक्ति की सरलता और अविस्वादिता को प्राप्त करता है, जिससे धर्म-साधना की पात्रता के योग्य बन जाता है।<sup>843</sup>

काया, भाव तथा भाषा की सरलता और अविस्वादन-योग शुभ-नामकर्म के हेतु हैं<sup>844</sup> और तीनों की वक्रता तथा विस्वाद-योग अशुभ-नामकर्म के हेतु हैं।<sup>845</sup>

<sup>838</sup> ज्ञानार्णव, सर्ग— 19.

<sup>839</sup> मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, पृ. 23.

<sup>840</sup> माया उ वही नियडा वलए ..... ।। — समवाओ, समवाय— 52, सूत्र— 1.

<sup>841</sup> भगवतीसूत्र, श.— 12, उदेशक— 5, सूत्र— 4.

<sup>842</sup> कषायचूर्णि, अध्याय— 9, गाथा— 88.

<sup>843</sup> (क) योगवक्रता विस्वादनं चाशुभस्य नाम्नः । विपरीतं शुभस्य । — तत्त्वार्थसूत्र— 6/21-22.

(ख) अज्जवयाएणं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं, अविस्वायणं, जण्यइ ।

अविस्वायण-संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।। — उत्तराध्ययन— 29/49.

<sup>844</sup> गोयमा! कायउज्जुयाए, भावुज्जुयाए, भासुज्जुययाए अविस्वायणजोगेणं सुभ नामकम्मासरीर-जाव पओगबंधे । — भगवतीसूत्र, श.— 8, उदेशक— 1, सूत्र— 84.

<sup>845</sup> गोयमा कायअणुज्जुययाए ..... जाव विस्वायणजोगेणं पओगबंधे ।। — भगवतीसूत्र— 8/9.

<sup>846</sup> नानार्जवो विशुध्यति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा ।

प्रशमरतिप्रकरण के अनुसार, शुद्धिकरण में आर्जव की महत्वपूर्ण भूमिका है। अशुद्ध आत्मा धर्माराधना में मग्न नहीं हो सकती है, धर्म के बिना मोक्ष नहीं और मोक्ष से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है।<sup>846</sup>

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति में कहा गया है कि आर्जव अर्थात् सरलता, जहां कपटता का अभाव है, वहां आर्जव-धर्म है।<sup>847</sup>

पं. सुखलाल संघवी ने तत्त्वार्थसूत्र के विवेचन में लिखा है कि भाव की विशुद्धि, अर्थात् विचार, भाषण और व्यवहार की एकता ही आर्जव-गुण है। इसकी प्राप्ति के लिए कुटिलता या मायाचारी के दोषों के परिणाम का विचार करना चाहिए।<sup>848</sup>

बौद्ध-परम्परा के अंगुत्तरनिकाय में कहा गया है कि माया, छल, कपट, शठता, ठगना आदि दुर्गति के हेतु हैं, जबकि सरलता, ऋजुता आदि स्वर्ग या मोक्ष के हेतु हैं।<sup>849</sup>

आर्जव-गुण का प्रकटीकरण माया-कषाय के अभाव में होता है, अतः आर्जव-गुण शुक्लध्यान का आधार व आलम्बन होता है।

**4. मुक्ति-आलम्बन** — ध्यानशतक की गाथा क्रमांक उनहत्तर में शुक्लध्यान के चौथे आलम्बन का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कहते हैं कि जब कषाय पूर्णरूपेण क्षीण होता है, तब मुक्ति का आविर्भाव हो जाता है।<sup>850</sup>

मुक्ति का अपर नाम निर्लोभता है, क्योंकि सभी बन्धनों, दोषों का कारण विषय-सुख का प्रलोभन है।<sup>851</sup> लोभ के अभाव में सन्तोष-गुण प्रकट होता है।

आचारांगसूत्र में उल्लेख है कि सुख की लालसा वाला लोभी व्यक्ति पुनः-पुनः दुःखमय जीवन व्यतीत करता है।<sup>852</sup>

धर्माद्वेते न मोक्षो मोक्षात्परं सुखं नान्यत् ॥ — प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक— 170.

<sup>847</sup> ऋजुभावः ऋजुकर्म वाऽऽर्जवम् । — तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति.

<sup>848</sup> तत्त्वार्थसूत्र — विवे.— पं. सुखलाल संघवी, पृ. 209.

<sup>849</sup> अंगुत्तरनिकाय— 2/15, 17.

<sup>850</sup> अहं खंति— मद्भवऽज्जव मुत्तीओ ..... ॥ — ध्यानशतक, गाथा— 69.

<sup>851</sup> जैनधर्म में ध्यान — कन्हैयालाल लोढा, पृ. 130.

<sup>852</sup> सुहृद्दी लालप्पभाणे सएण दुक्खेण भूढे विप्परियासमुवेति ..... ॥

— आचारांगसूत्र, अध्याय— 2, उद्देशक— 6/151.

स्थानांगसूत्र में लोभ को आमिषावर्त्त कहते हैं। जिस प्रकार गिद्धादि पक्षी मांस पाने के लिए इधर-उधर भटकते हैं, उसी प्रकार लोभी व्यक्ति पर-पदार्थों या इष्ट-पदार्थों को पाने के लिए इधर-उधर भटकता है।<sup>853</sup>

दशवैकालिक में कहा है कि लोभवृत्ति सर्वनाश कर डालती है।<sup>854</sup>

प्रशमरतिप्रकरण में वर्णन मिलता है कि सर्व विनाशों का मुख्य आधार लोभ है, यह सभी व्यसनों का मुख्य पथ है।<sup>855</sup>

योगशास्त्र में कहा गया है कि लोभ-कषाय समस्त दोषों की खान है, सर्वगुणों का घातक, दुःख का कारण एवं धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थों का घातक है, अतः लोभ दुर्जेय है।<sup>856</sup>

ज्ञानार्णव में लिखा है कि पाप का बाप लोभ है, जो सभी अनर्थों का मूल है।<sup>857</sup>

धर्माभूत (अनगार) में बताया गया है कि लोभग्रस्त व्यक्ति अपने स्वामी, गुरु, कुटुम्बजन, असहायों को भी निस्संकोच मरणान्त कष्ट तक भी देने में पीछे नहीं रहता। ऐसा व्यक्ति अपनी इच्छापूर्ति के लिए रिश्ते-नाते तक तोड़ देता है।<sup>858</sup>

जब तक व्यक्ति इस कषाय से पीड़ित नहीं होता है, तब तक ही मित्रता निभाता है, अपने आश्रित रहने वालों की सार-सम्भाल में ध्यान देता है और जैसे ही लोभवृत्ति उत्पन्न होती है, वह सब-कुछ भूल जाता है, मात्र स्वार्थपूर्ति में दिन-रात संलग्न रहता है।

मोक्षमार्ग-प्रकाशक में लिखा है- पांचों इन्द्रियों के विषय एवं मान-कषाय की पूर्ति की लालसा भी लोभ ही है।<sup>859</sup>

चिन्तामणि में लोभ के दो उग्र लक्षण बताए हैं- 1. असन्तोष 2. अन्य वृत्तियों का दमन।<sup>860</sup> जैसे-जैसे लाभ बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे लोभवृत्ति भी बढ़ती जाती है।<sup>861</sup>

<sup>853</sup> आमिसावत्समाणो लोभे ॥ - स्थानांगसूत्र- 4/4/653.

<sup>854</sup> लोहो सव्व विणासइ ..... ॥ - दशवैकालिक- 8/38.

<sup>855</sup> सर्वविनाशाश्रयिणः सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य ।

लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखांतरमुपेयात् ॥ - प्रशमरतिप्रकरण- 29.

<sup>856</sup> आकरः सर्वदोषाणां गुणग्रसनराक्षसः ..... ॥ - योगशास्त्र, प्रकरण- 4, गाथा- 18.

<sup>857</sup> स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान ..... ॥ - ज्ञानार्णव, सर्ग- 19, श्लोक- 70.

<sup>858</sup> तावत्कीर्त्यै ..... ॥ - धर्माभूत, अध्याय- 6, गाथा- 27.

<sup>859</sup> मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. 53.

ऐसी स्थिति में मान-अपमान, दया-करुणा, न्याय-अन्याय तो विस्मृत होता ही है, परन्तु कई बार तो क्षुधा-तृषा, निद्रा-विश्राम, सुख-भोग की इच्छा का भी दमन हो जाता है।<sup>862</sup>

समवायांगसूत्र<sup>863</sup>, भगवतीसूत्र<sup>864</sup> – इन दोनों सूत्रों में लोभ के क्रमशः चौदह और सत्रह पर्यायवाची नाम बताए गए हैं।

कषायपाहुड<sup>865</sup> में तो लोभ के बीस पर्यायवाची नाम मिलते हैं।

स्थानांगसूत्र में कहा है— चार खड्डे, जो कभी नहीं भरते— 1. श्मशान का खड्डा, 2. पेट का खड्डा, 3. समुद्र का खड्डा, 4. लोभ का खड्डा – इन सभी खड्डों में कितना भी डालो, परन्तु ये कभी पूर्ण नहीं होते।<sup>866</sup>

भोजप्रबन्ध<sup>867</sup> में लिखा है— लोभ पाप की प्रतिष्ठा है, लोभ ही पाप की जननी है और लोभ ही पाप की मूल जड़ है, क्योंकि रागद्वेषोत्पत्ति वहीं से प्रारम्भ होती है।

गीता<sup>868</sup> में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि अन्तरात्मा अर्थात् अध्यवसायों के शुद्धिकरण हेतु सन्तोष-गुण ग्राह्य है। सन्तोष ही आत्मा का परम हितकारी, कल्याणकारी मित्र है। संसार में सन्तोषी सदा सुखी रहता है। समता अथवा सन्तोष के द्वारा लोभ या तृष्णा की वृत्ति को सर्वथा निर्मूल करना ही निर्लोभता अर्थात् मुक्ति है।

<sup>860</sup> चिन्तामणि, भाग- 2, पृ. 83.

<sup>861</sup> जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ॥ – उत्तराध्ययनसूत्र.

<sup>862</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ 'कषाय', साध्वी हेमप्रज्ञाश्री पुस्तक से उद्धृत, पृ. 35.

<sup>863</sup> लोभे इच्छा मुच्छा कंखा गेही ..... ॥ – समवाओ, समवाय- 52, सूत्र- 1.

<sup>864</sup> अहं भंते। लोभे इच्छा मुच्छा ..... ॥ – भगवतीसूत्र, शं.- 12, उद्देशक- 5, सूत्र- 5.

<sup>865</sup> कामो राग णिदाणो ..... ॥ – कषायचूर्णि, अध्याय- 9, गाथा- 89.

<sup>866</sup> स्थानांगसूत्र.

<sup>867</sup> लोभः प्रतिष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च।

द्वेष-क्रोधादिजनको लोभ पापस्य कारणम् ॥ – भोजप्रबन्ध.

<sup>868</sup> आत्मा ..... शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

– गीता, प्रस्तुत सन्दर्भ धर्मालंकार पुस्तक से उद्धृत, पृ. 54.

प्रशमरतिप्रकरणवृत्ति<sup>869</sup> में लिखा है कि भीतरी शुद्धिकरण हेतु शास्त्रों में उपदिष्ट विधिवत् प्रवृत्ति होना चाहिए। यही निर्लोभता का मूल कारण है और लोभ का त्याग ही यथार्थ रूप से मुक्ति है।

तत्त्वार्थसिद्धवृत्ति के अनुसार, मुक्ति यानी अलोभ, सन्तोष। धर्म के उपकरणों एवं देह तक की ममत्त्ववृत्ति का त्याग ही निर्लोभता अथवा शौच-धर्म है।<sup>870</sup>

शुक्लध्यान के ध्याता को किसी प्रकार की कोई इच्छा, आकांक्षा या लोभ नहीं रहता, वह पूर्णरूपेण कषाय-मुक्त रहता है। आत्मा के निज स्वरूप में स्थित रहने के अतिरिक्त किसी भी वस्तु पर ममत्व न रखना ही मुक्ति अर्थात् निर्लोभता है।

श्री कन्हैयालालजी लोढ़ा के शब्दों में— "निर्लोभी साधक अपरिग्रही होने से आकुलता-व्याकुलता, चिन्ता, भय आदि उन समस्त दुःखों से बच जाता है, धनलोलुप परिग्रही पुरुषों को ये दुःख सहन करने पड़ते हैं। निर्लोभी साधक निराकुल, निश्चिन्त निर्भयी होता है। मुक्तिगुण की अभिव्यक्ति लोभकषाय के क्षय से होती है, अतः मुक्तिगुण शुक्लध्यान का आलम्बन है।"<sup>871</sup>

आवश्यकचूर्णि<sup>872</sup>, तत्त्वार्थसूत्र<sup>873</sup>, योगशास्त्र<sup>874</sup>, अध्यात्मसार<sup>875</sup>, ध्यानविचार<sup>876</sup>, ध्यानकल्पतरु<sup>877</sup>, ध्यानदीपिका<sup>878</sup>, जैनसिद्धान्तदीपिका<sup>879</sup> तथा

<sup>869</sup> मलप्रक्षालनादिष्वपि प्रवचनोक्तेन विधिनाऽनुष्ठेयम् । — प्रशमरतिप्रकरणवृत्ति, श्लोक— 171.

<sup>870</sup> अलोभः शौचलक्षण ..... ॥ — तत्त्वार्थसिद्धिवृत्ति, सन्मार्ग प्रकाशन, ध्यानशतक, पृ. 123.

<sup>871</sup> जैनधर्म में ध्यान, कन्हैयालाल लोढ़ा, पृ. 130.

<sup>872</sup> आलंबणाणि चत्तारि-खंती, मुत्ती, अज्जवं मद्दवन्ति ॥ — आवश्यकचूर्णि.

<sup>873</sup> उत्तमः क्षमा-मार्दवऽऽर्जव-शौच ..... ॥ — तत्त्वार्थसूत्र— 9/6.

<sup>874</sup> आद्ये श्रुतावलम्बनपूर्वे ..... ॥ — योगशास्त्र— 11/13.

<sup>875</sup> ध्यायेच्छुक्लमथ क्षान्तिमृदुत्वार्जवमुक्तिभिः ..... ॥ — अध्यात्मसार, अध्याय— 16, श्लोक— 73.

<sup>876</sup> ध्यानविचार—सविवेचन, आचार्य श्रीमद्कलापूर्णसूरि, पृ. 35.

<sup>877</sup> ध्यानकल्पतरु, अमोलक ऋषि, चतुर्थ शाखा, पत्र— 1-4, पृ. 373-380.

<sup>878</sup> श्रुतज्ञानार्थसंबन्धात् ..... ॥ — ध्यानदीपिका, श्लोक— 197, पृ. 375-375.

<sup>879</sup> क्षान्ति-मुक्ति-आर्जव ..... ॥ — जैनसिद्धान्तदीपिका, आचार्य तुलसी, पृ. 160.

<sup>880</sup> चर्चासागर, पं. चम्पालाल विरचित, चर्चा संख्या— 164, पृ. 219.



चर्चासागर<sup>880</sup> आदि ग्रन्थों में संक्षिप्त रूप से शुक्लध्यान के क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति— इन चार आलम्बनों का उल्लेख मिलता है।

### आलम्बन की आवश्यकता

ध्यान के लिए ध्येय का निर्धारण आवश्यक होता है। जैन-दर्शन में ध्यान शब्द को व्यापक अर्थ में लेकर उसको ध्येय के साथ जोड़ने का प्रयास किया गया है।

ध्यान का जो ध्येय होता है, या दूसरे शब्दों में, ध्यान के चिन्तन के जो-जो विषय होते हैं, वे ही ध्यान के आलम्बन कहे जाते हैं। ध्येय को दो भागों में बांटा गया है— 1. द्रव्य-ध्येय और 2. भाव-ध्येय।

हमारे समक्ष जड़ या चेतन जो पदार्थ उपस्थित होते हैं, जब उन्हें ध्येय बना लिया जाता है, तो वे द्रव्य-ध्येय कहलाते हैं। ध्यान का ध्येय के रूप में परिणमन होना भाव-ध्येय कहलाता है। जैसे-जैसे ध्यान अभ्यस्य होता जाएगा, वैसे-वैसे ध्यान ध्येय के रूप में परिवर्तित होता चला जाएगा।<sup>881</sup>

ध्यान के विषय का चैतसिक-बिम्ब ही भाव-ध्येय है। सामान्यतया, जैन-दर्शन में ध्यान को चित्तवृत्ति का निरोध न मानकर चित्तवृत्ति की एकाग्रता माना जाता है और चित्तवृत्ति की एकाग्रता के लिए आलम्बन आवश्यक होता है। जो चित्त चंचल होता है, वह लक्ष्यवेध करने में सफल नहीं होता है, अतः ध्यान में ध्येयरूप आलम्बन की अपेक्षा रहती है। लक्ष्यवेध एकाग्रता में ही सम्भव है और यह एकाग्रता किसी आलम्बन का सहारा लेकर ही सम्भव होती है।

इससे यह फलित होता है कि ध्यान के लिए ध्येय या आलम्बन की सबसे ज्यादा आवश्यकता होती है। जिस प्रकार यदि एक पशु अधिक भाग-दौड़ करता है, दूसरों के खेतों को नुकसान पहुंचाता है, तो उसकी उन सभी गतिविधियों को रोकने के लिए उसे किसी एक जगह बांध दिया जाता है, उसी प्रकार चित्त को भी एकाग्र होने के लिए किसी एक विषय पर केंद्रित करना होता है। जिस प्रकार पशु की भाग-दौड़ को समाप्त करने के लिए उसे खूंट से बांधने की आवश्यकता होती है, उसी तरह मन की

<sup>881</sup> द्रव्यध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाचेतनात्कम्  
भावध्येयं पुनर्ध्येयसन्निभध्यानपर्ययः ॥

— प्रस्तुत सन्दर्भ— तब होता है ध्यान का जन्म पुस्तक से उद्धृत.

भाग-दौड़ को समाप्त करने के लिए और चित्त की एकाग्रता को बनाए रखने के लिए आलम्बन की आवश्यकता होती है। आलम्बन का अर्थ है— किसी एक विषय या वस्तु पर चित्त को केंद्रित करने का अभ्यास करना।

आलम्बन के माध्यम से चित्तवृत्ति वांछित विषय पर केंद्रित होती है। फलतः, चित्तवृत्ति की चंचलता समाप्त होकर चित्त एकाग्र होने लगता है। संक्षेप में कहें, तो चित्त की एकाग्रता के लिए प्राथमिक-स्तर पर आलम्बन आवश्यक है। मन या चित्त निर्विषय होकर अपना अस्तित्व खो देता है। यदि ध्यान चित्तवृत्ति की एकाग्रता की साधना है, तो उसके लिए ध्यान में आलम्बन की आवश्यकता बनी रहती है।

### आलम्बन से निरालम्बन की ओर

यद्यपि ध्यान के लिए आलम्बन की आवश्यकता होती है, किन्तु ध्यान का लक्ष्य तो आलम्बन से निरालम्बन की ओर ही होता है।

चाहे कोई भी साधना-पद्धति हो, उसमें योगसाधना या ध्यानसाधना का लक्ष्य चित्तवृत्ति का विलय ही माना गया है।

मोक्ष का अन्तिम साधन 'योग' है— यह बात न केवल जैनदर्शन स्वीकार करता है, अपितु समस्त भारतीय-दर्शन समवेत रूप से इसका समर्थन करते हैं।<sup>882</sup>

वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत योग का साध्य समाधि से है,<sup>883</sup> जबकि जैन तथा बौद्ध-साहित्य में योग का सामान्य अर्थ क्रिया या प्रवृत्ति है, जो शुभ और अशुभ— दोनों प्रकारों से होती है।<sup>884</sup>

बौद्ध-साहित्य में वर्णित काययोग, भावयोग और दृष्टियोग इत्यादि में योग शब्द का प्रयोग बन्धन अथवा संयोजन के अर्थ में हुआ है।<sup>885</sup> योग शब्द का सीधा अर्थ है— जोड़ना।<sup>886</sup>

<sup>882</sup> (क) योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।

योग प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धे स्वयं ग्रहः॥ — योगबिन्दु, श्लोक— 37.

(ख) योगः समाधि स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः।

(ग) दीर्घनिकाय— 1/2, पृ. 28-29.

<sup>883</sup> युज समाधो (दिवादिगणीय-युज्यते आदि) पाणिनीय धातुपाठ— 4/68.

<sup>884</sup> (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय— 29, गाथा— 8. (ख) अंगुत्तरनिकाय— 2/12.

<sup>885</sup> अभिधर्मकोश— 5/40.

<sup>886</sup> युजिर योग (रूधादिगणीय-युनक्ति, युजते आदि), पाणिनीय धातुपाठ— 7/7.

जैनदर्शन में योग शब्द का प्रयोग आस्रव के अर्थ में भी हुआ है,<sup>887</sup> साथ ही यह भी जाना है कि अशुभ पाप-कर्मों का प्रक्षालन ध्यान जैसे प्रशस्त-योग द्वारा ही सम्भव है।<sup>888</sup>

जैनागमों में मन-वचन और काया की प्रवृत्ति के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>889</sup>

पातंजल-योगसूत्र<sup>890</sup> में कहा गया है कि योगश्चित्तस्य चित्तवृत्तिः निरोधः। जैन-परम्परा में भी ध्यान-साधना का लक्ष्य मन को अमन बनाना है, या मनोयोग का निरोध ही है। ध्यान में जब तक आलम्बन रहता है, तब तक चित्तवृत्ति चाहे एकाग्र हो, किन्तु वह निर्विकल्प नहीं होती है। साधना के क्षेत्र में चित्त जब आलम्बन से ऊपर उठ जाता है, तब चित्त या मन निर्विषय हो जाता है और निर्विषय मन वस्तुतः मन न रहकर अमन हो जाता है।

योगनिरोध, चित्तवृत्ति का निरोध या मन का निरोध— यह निरालम्बन-दशा में ही सम्भव है। जब तक आलम्बन है, तब तक चित्तवृत्ति निर्विषय नहीं होती है और ऐसी स्थिति में चित्त या मन जीवित बना रहता है।

ध्यान-साधना का लक्ष्य तो मन से परे ज्ञाता-दृष्टा भाव में अवस्थिति है। ज्ञाता-दृष्टा होने के लिए किसी आलम्बन की अपेक्षा नहीं होती है।

निरालम्बन निर्विकल्प और निर्विषय आत्मसत्ता की अनुभूति ही ध्यान-साधना का अन्तिम लक्ष्य है, अतः ध्यान-साधना में प्राथमिक स्तरों पर आलम्बन की अपेक्षा होती है, किन्तु अन्त में आलम्बन का परित्याग करके निरालम्बन की दशा में चेतना की स्थिति ही ध्यान-साधना की सार्थकता है।

जिस प्रकार एक बालक को प्राथमिक स्तर पर स्वर और व्यंजनों का बोध कराने के लिए यह सिखाया जाता है कि 'अ' अनार का, 'आ' आम का आदि, किन्तु यदि बालक जीवनभर यही करता रहे, तो शिक्षा के क्षेत्र में उसकी प्रगति सम्भव नहीं है, उसी

<sup>887</sup> तत्त्वार्थसूत्र— 6/12.

<sup>888</sup> आवश्यकनिर्युक्ति, भाग— 2, गाथा— 1232 एवं 1250, पृ. 50.

<sup>889</sup> (क) ज्ञाणजोगं समाहट्ट कायं वोसेज्ज संव्वसो। — सूत्रकृतांग— 1/8/27.

(ख) इह जीवियं अणियमित्ता पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं। — उत्तराध्ययन— 8/14.

(ग) तवं चिमं संजमजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्टए। — दशवैकालिक— 8/161.

<sup>890</sup> चित्तवृत्तिनिरोधयोगः। — योगशास्त्र— 1/2.

तरह प्राथमिक-स्तर पर आलम्बन लेना पड़ता है, किन्तु उसे अन्त में छोड़ना भी होता है। साधना के क्षेत्र में साधना को स्वीकार किया जाता है, किन्तु लक्ष्यप्राप्ति के समय उसका परित्याग भी आवश्यक होता है, अतः ध्यान के क्षेत्र में हमें आलम्बन से निरालम्बन की ओर प्रगति करना होती है।

—000—

जिनमद्गणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका :  
एक तुलनात्मक अध्ययन

**चतुर्थ अध्याय**

1. ध्यान का स्वामी
2. ध्याता और ध्यातव्य में भेदाभेद का प्रश्न
3. ध्याता के आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न भूमिकाएँ {चौदह गुणस्थान}
4. आर्त्तध्यान के स्वामी की विभिन्न भूमिकाएँ
5. रौद्रध्यान के स्वामी की विभिन्न भूमिकाएँ
6. धर्मध्यान के स्वामी की भूमिका के सम्बन्ध में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर-परम्परा का मतभेद
7. धर्मध्यान में पिण्डस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत ध्यानों का स्वरूप
8. पार्थिवादि चार प्रकार की धारणाओं का स्वरूप एवं जैन-परम्परा में विकास

## अध्याय-4 ध्यान के स्वामी

संसार की समस्त जीवराशि में ध्यान की योग्यता पाई जाती है, क्योंकि जैन-दर्शन के सिद्धान्तानुसार आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान तो संसारी-जीवों के साथ अनादिकाल से लगे हुए हैं। व्यापक दृष्टि से तो ध्यान में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों ही प्रकार के ध्यानों का समावेश होता है।

तत्त्वानुशासन में लिखा है जो इस लोक-परलोक की फलाकांक्षा, इच्छाओं, अपेक्षाओं से ग्रसित है, वे सब आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के अधिकारी होते हैं, इसलिए आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को त्यागकर व्यक्ति को धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान की उपासना करनी चाहिए।<sup>1</sup>

डॉ. सागरमल जैन का इस सन्दर्भ में यह कहना है —“हमें यह मानना होगा कि अप्रशस्त ध्यानों की पात्रता तो अपूर्ण रूप से विकसित सभी प्राणियों में किसी न किसी रूप में रही हुई है। मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में स्थित नारक, तिर्यच, मनुष्य तथा देव आदि सभी में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान पाए जाते हैं। यद्यपि आर्त्तध्यान प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान में भी रहता है, किन्तु जब हम ध्यान का तात्पर्य केवल प्रशस्तध्यान अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान से लेते हैं, तो हमें यह मानना ही होगा कि इन ध्यानों के अधिकारी अथवा स्वामी सभी प्राणी नहीं हैं।”<sup>2</sup>

ध्यान के स्वामी के सन्दर्भ में स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, मूलाचार, औपपातिक आदि सूत्रों में किसी भी प्रकार का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

<sup>1</sup> क) यदध्यानं रौद्रमार्तं वा, यदैहिकफलार्थिनाम्।

तस्मादेतत्परित्यज्य, धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम्।। — तत्त्वानुशासन, 220

ख) इष्टोपदेश श्लोक, टीका 20, पृष्ठ 23

<sup>2</sup> जैनसाधना पद्धति में ध्यान, डॉ. सागरमल जैन, पृ.22-23

‘ध्यानशतक’ के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र की तरह ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल—इन चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है और साथ ही इन चारों ध्यानों के चार—चार भेद भी कहे गए हैं।

### 1. आर्त्तध्यान का स्वामी —

तत्त्वार्थसूत्र<sup>3</sup> तथा ध्यानशतक<sup>4</sup> इन दोनों ग्रन्थों के अभिप्राय से यह स्पष्ट होता है कि आर्त्तध्यान छठवें गुणस्थान तक ही संभव है, अर्थात् आर्त्तध्यान अविरत (मिथ्यादृष्टि), देशविरत (श्रावक) और प्रमत्त—संयत (छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि) को होता है। उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में प्रमाद ही मूल कारण है, अतः श्रमणों तथा श्रावकों को प्रमाद का त्याग अवश्य करना चाहिए। गुणस्थान के आधार पर असंयमी—अविरत (मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि) कथंचिद् संयमी—देशविरत और प्रमादसहित संयमी द्वारा किए जाने वाला आर्त्तध्यान ही प्रमाद का हेतु है, अतः श्रमणों के आर्त्तध्यान का त्याग करना चाहिए, परन्तु प्रमत्तसंयतों को उदय की तीव्रता से आर्त्तध्यान के निदान भेद को छोड़कर शेष तीन आर्त्तध्यान रहते हैं।<sup>5</sup> ‘तत्त्वार्थवार्त्तिक’<sup>6</sup> में भी यही लिखा है कि प्रमत्तसंयतों में ‘निदान’ नामक आर्त्तध्यान का अभाव होता है, शेष आर्त्तध्यानों की सत्ता संभव है।

हरिवंशपुराण<sup>7</sup> में भी केवल इतना ही लिखा है कि आर्त्तध्यान छह गुणस्थान भूमिवाला है, अर्थात् छह गुणस्थानों में ही होता है। ‘ज्ञानार्णव’ में भी यही लिखा है कि आर्त्तध्यान ‘षड्गुणस्थानभूमिक’ वाला है और/इसका भी निर्देश है कि

<sup>3</sup> तदविरत—देशविरत—प्रमत्तसंयतानाम्। — तत्त्वार्थसूत्र (दि.) 9/34, (श्वे.) 9/35

<sup>4</sup> तदविरत—देशविरत—प्रमादपरसंयतानाम् ज्ञानं। सव्यमयमूलं वज्जेयवं जइजणेणं। — ध्यानशतक, 18

<sup>5</sup> तत्राविरत—देशविरतानां चतुर्विधमार्त्तं भवति असंयमपरिणामोपेतत्वात्।

प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित् स्यात्॥ — सर्वार्थसिद्धि, 9/34

<sup>6</sup> कदाचित् प्राच्यमार्त्तध्यानत्रयं प्रमत्तानाम्।

निदानं वर्जयित्वा अन्यदार्त्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात् कदाचित् प्रमत्तसंयतानां भवति — तत्त्वार्थवार्त्तिक, 9/34/1

<sup>7</sup> अधिष्ठानं प्रमादोऽस्य, तिर्यग्गतिफलस्य हि।

परोक्षं मिश्रको भावः, षड्गुणस्थानभूमिकम्॥ — हरिवंशपुराण, सर्ग 56, श्लो.18

संयतासंयतों में चारों प्रकार के आर्त्तध्यान शक्य हैं, परन्तु प्रमत्त-संयतों में निदान के बिना शेष तीन प्रकार के आर्त्तध्यान होते हैं।<sup>8</sup>

इस प्रकार, यहाँ आर्त्तध्यान के स्वामी की चर्चा समाप्त करते हुए रौद्रध्यान के स्वामी के सन्दर्भ में इस प्रकार कहा गया है —

## 2. रौद्रध्यान का स्वामी —

‘ध्यानशतक’ के अन्तर्गत रौद्रध्यान के स्वामी का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि अविरत और देशविरत गुणस्थान में रौद्रध्यान होता है। इन दोनों गुणस्थानों में आर्त्तध्यान भी होता है, परन्तु अन्तर इतना है कि आर्त्तध्यान की अपेक्षा रौद्रध्यान में अतिसंक्लिष्ट परिणाम रहते हैं।<sup>9</sup>

तत्त्वार्थसूत्र<sup>10</sup>, सर्वार्थसिद्धि<sup>11</sup>, तत्त्वार्थवार्तिक<sup>12</sup>, हरिवंशपुराण<sup>13</sup> और ज्ञानार्णव<sup>14</sup> आदि ग्रन्थों में यह निर्दिष्ट है कि रौद्रध्यान का अस्तित्व एक से पाँच गुणस्थान तक ही होता है।

## 3. धर्मध्यान का स्वामी —

धर्मध्यान के स्वामी के सम्बन्ध में जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदायों में मतभेद रहा हुआ है।

<sup>8</sup> अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे । विद्वयसद्दयानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम् ।

संयतासंयतेष्वेतच्चतुर्भेदं प्रजायतेऽ प्रमत्तसंयतानां तु निदानरहितं त्रिधा ॥ — ज्ञानार्णव, 38-39

<sup>9</sup> अविरय-देसासंजयजणमणसंसेवियमहण्णं ॥ — ध्यानशतक, श्लो. 23

<sup>10</sup> तत्त्वार्थसूत्र, 9/35

<sup>11</sup> सर्वार्थसिद्धि 9/35

<sup>12</sup> तत्त्वार्थवार्तिक 9/35

<sup>13</sup> हरिवंशपुराण 56/26

<sup>14</sup> ज्ञानार्णव 36



‘**ध्यानशतक**’ ग्रन्थ के ग्रन्थकार ने कहा है कि जिस साधक का अन्तःकरण सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र तथा वैराग्यभाव से ओतप्रोत है, वह धर्मध्यान का अधिकारी कहलाता है।<sup>15</sup>

दूसरे शब्दों में, जो श्रमण मद, विषय, कषाय, विकार आदि सर्वप्रमादों से रहित हैं, जिनका मोह पतला अथवा उपशान्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी साधक धर्मध्यान के स्वामी हैं।

‘**तत्त्वार्थसूत्र**’ में धर्मध्यान के स्वामी को लेकर कुछ भिन्नता है। श्वेताम्बर-परम्परानुसार धर्मध्यानीवर्ती में अप्रमत्तसंयत, उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान होते हैं, अर्थात् सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक धर्मध्यान शक्य है।<sup>16</sup>

दिगम्बर-परम्परानुसार **तत्त्वार्थसूत्र** के मूलपाठ में धर्मध्यानाधिकारी का वर्णन नहीं है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर-टीकाओं में पूज्यपाद अकलंक तथा विद्यानन्दी ने इसका वर्णन किया है कि चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक ही धर्मध्यान रहता है, आगे के गुणस्थानों में धर्मध्यान की संभावना नहीं है।

‘**सर्वार्थसिद्धि**’ में इतना लिखा है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत –इन चार गुणस्थानों में धर्मध्यान होता है।<sup>17</sup>

**बृहद्द्रव्यसंग्रहटीका**<sup>18</sup> और **अमितगतिश्रावकाचार**<sup>19</sup> में भी धर्मध्यानी के अस्तित्व को अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत –इन चार आध्यात्मिक-विकास की भूमियों को स्वीकार किया है। **तत्त्वार्थवार्तिक** में धर्मध्यान के अधिकारी के बारे में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है, शंका के निवारण में जरूर

<sup>15</sup> सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंत मोहा य।

ज्ञायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निद्धिहा ॥ - ध्यानशतक, गाथा 63

<sup>16</sup> .....अप्रमत्तसंयतस्य । उपशान्त-क्षीणकषायोश्च ॥ - तत्त्वार्थसूत्र 9/37-38

<sup>17</sup> तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति ॥ - सर्वार्थसिद्धि 9/36

<sup>18</sup> ..तारतम्यवृद्धिक्रमेणासंयतसम्यग्दृष्टि-देशविरत प्रमत्तसंयताप्रमत्ताभिधान-चतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसम्भवम् ॥ - बृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका 48, पृ. 175

<sup>19</sup> अमितगतिश्रावकाचार - 15-17

थोड़ा-बहुत प्रसंग आया है।<sup>20</sup> 'धवला' में बहुत ही स्पष्ट रूप से धर्मध्यान के पात्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि सकषायी जीवात्मा ही धर्मध्यान का अधिकारी है, क्योंकि धर्मध्यान की कार्य-प्रणाली असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वसंयत, अनिवृत्तिसंयत और सूक्ष्मसाम्परायिक-क्षपकों एवं उपशमकों में होती है; यह जिनेश्वर-वाणी से जाना जाता है।<sup>21</sup>

'आदिपुराण' के अनुसार, सम्यग्दृष्टियों, संयतासंयतों और प्रमत्तसंयतों में धर्मध्यान की स्थिति संभव है।<sup>22</sup>

'तत्त्वानुशासन' में लिखा है कि धर्मध्यान अप्रमत्तों में और औपचारिक इतरों में सम्यग्दृष्टि, देशसंयत और प्रमत्तसंयतों में होता है।<sup>23</sup> आवश्यकचूर्णि,<sup>24</sup> योगशास्त्र,<sup>25</sup> ध्यानदीपिका<sup>26</sup> आदि ग्रन्थों में भी धर्मध्यान की पात्रता का निरूपण किया गया है।

सामान्यतया, चौथे गुणस्थान अर्थात् सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने के बाद ही साधक धर्मध्यान की पात्रता को पाता है। धर्मध्यान के स्वामी के प्रश्न को लेकर अनेक मतभेद हैं।

#### 4. शुक्लध्यान का स्वामी —

धर्मध्यान के स्वामी के पश्चात् शुक्लध्यान के अधिकारी का परिचय देते हुए 'ध्यानशतक' के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने कहा है कि धर्मध्यान में अभ्यस्त

<sup>20</sup> तत्त्वार्थवार्तिक - 9/36, 14-16

<sup>21</sup> असंजदसम्मादिद्वि-संजदासंजद-पमत्तसंजद-अप्पमत्तसंजद-अपुव्वसंजद-अणियद्विसंजद-सुहुम-सांपराइय-खवगोवसामएसु धम्मज्जाणस्स पवुत्ती होदि ति जिणोवएसोदो॥ - धवला, पुस्तक 13, पृ.74

<sup>22</sup> आदिपुराण, 21/155-156

<sup>23</sup> मुख्योपचार भेदेन धर्मध्यानमिह-द्विधा। अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम्। - तत्त्वानुशासन, 47

<sup>24</sup> पंचासपडिविरओ चरित्त जोगमि वट्टमाणो उ। सुतत्थमणुसरंतो धम्मज्जायी मुणेयवो॥ - आवश्यकचूर्णि-7

<sup>25</sup> सुमेरुरिव निष्कम्पः.....प्रशस्यते॥ - योगशास्त्र-7/7

<sup>26</sup> ज्ञानवैराग्यसंपन्न .....निर्ममः समतालीनो ध्याता स्यात् शुद्धमानसः॥ - ध्यानदीपिका-130-133

हो जाने के बाद जो पूर्व के ज्ञाता और सुप्रशस्त संहनन अर्थात् वज्रऋषभनाराच-संहनन वाले श्रमण होते हैं, वे ही शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों पृथक्त्ववितर्कविचार और एकत्ववितर्कअविचार के ध्याता होते हैं। सयोगी-केवली तीसरे सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति-शुक्लध्यान के और अयोगी-केवली चौथे व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती-शुक्लध्यान के अधिकारी होते हैं।<sup>27</sup>

‘तत्त्वार्थसूत्र’ के अनुसार, श्रुतकेवली शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों के तथा केवली शुक्लध्यान के चरम दो चरण के अधिकारी कहलाते हैं।<sup>28</sup> सर्वार्थसिद्धि<sup>29</sup> तत्त्वार्थवार्तिक<sup>30</sup> में लिखा है कि श्रुतकेवली में पूर्व के दो शुक्लध्यानों के साथ धर्म्यध्यान भी होता है। विशेष इतना है कि श्रेणी चढ़ने के पहले धर्म्यध्यान और दोनों श्रेणियों में वे दो शुक्लध्यान होते हैं।

‘तत्त्वार्थाधिगमभाष्यसम्मत’ सूत्रपाठ के अनुसार उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय के धर्म्यध्यान के साथ प्रथम के दो शुक्लध्यान भी होते हैं।<sup>31</sup>

‘धवला’ में शुक्लध्यान के स्वामी के सन्दर्भ में यह अभिप्राय प्रकट किया गया है कि प्रथम शुक्लध्यान का ध्याता चौदह, दस या नौ पूर्व का ज्ञाता, तीन प्रकार के प्रशस्त संघयण वाला और उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ होता है।<sup>32</sup> शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी चौदह, दस अथवा नौ पूर्वों का जानकार, प्रथम संघयण वाला तथा अन्यतर संस्थानवाला, क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषायी होता है।<sup>33</sup> एक बात ध्यान देने योग्य है कि यहाँ बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के दूसरे भेद और

<sup>27</sup> एतेच्चिय पुष्पाणं पुष्पधरा सुप्पसत्थसंघयणा। दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराणकेवलिणो।। - ध्यानशतक-64

<sup>28</sup> शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। परे केवलिनः।। - तत्त्वार्थसूत्र, 6/39, 40

<sup>29</sup> च-शब्देन धर्म्यमपि समुच्चीयते। तत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात् प्राग्धर्म्यम्, श्रेण्योः शुक्ले इति व्याख्यायते।। - सर्वार्थसिद्धि, 9/37

<sup>30</sup> तत्त्वार्थवार्तिक, 9/37

<sup>31</sup> शुक्ले चाद्ये।। - तत्त्वार्थसूत्र 9/39

<sup>32</sup> धवला, पुस्तक, 13, पृ. 78

<sup>33</sup> वही, पुस्तक 13, पृ. 79

क्षीणकषायकाल में शुक्लध्यान के प्रथम भेद के होने की सम्भावना प्रकट की गई है।<sup>34</sup> शुक्लध्यान के तीसरे भेद का प्रगटीकरण केवली-अवस्था<sup>35</sup> में और चौथे भेद का प्रगटीकरण योगनिरोध के पश्चात् शैलेशी-अवस्था में संभव है।<sup>36</sup> आदिपुराण<sup>37</sup> के अनुसार शुक्लध्यान को शुक्ल तथा परमशुक्ल—इन दो भागों में विभाजित किया गया है। इनमें छद्मस्थों को तो उपशांतमोह अथवा क्षीणमोह—दशा में शुक्लध्यान तथा केवलज्ञानियों में परमशुक्ल—शुक्लध्यान होता है।

‘तत्त्वानुशासन’ में मात्र शुक्लध्यान के स्वरूप का वर्णन है, उसके भेदों, स्वाभी आदि का कोई उल्लेख नहीं है।<sup>38</sup>

‘ज्ञानार्णव’ में भी आदिपुराण के समान ही पूर्व के दो शुक्लध्यानों के स्वामी छद्मस्थ एवं अन्तिम दो शुक्लध्यानों के अधिकारी विमुक्त केवली हैं।<sup>39</sup>

‘ध्यानस्तव’ के ग्रन्थकार की मान्यता के अनुसार अत्यधिक विशुद्ध धर्मध्यान रूप शुक्लध्यान दो श्रेणियों में विद्यमान है। प्रथम शुक्लध्यान का अधिकारी तीन योगों से युक्त पूर्ववेदी, द्वितीय शुक्लध्यान का अधिकारी एकयोग से युक्त पूर्ववेदी, तृतीय शुक्लध्यान का अधिकारी सूक्ष्मकाययोग की क्रिया वाला सयोगी—केवली और चरम शुक्लध्यान का अधिकारी अयोगी—केवली होता है।<sup>40</sup>

श्वेताम्बर—परम्परानुसार, उपशान्तकषाय तथा क्षीणकषाय पूर्वधरों में शुक्लध्यान के प्रथम के दो चरण संभव होते हैं और चरम के दो शुक्लध्यान सयोगी और अयोगी—केवली में भी संभव हैं।

<sup>34</sup> उवसंतकसायम्भि.....संभवसिद्धी दो॥ — धवला, पुस्तक 13, पृ. 81

<sup>35</sup> वही, पुस्तक—13, पृ. 83—86

<sup>36</sup> वही, पुस्तक—13, पृ. 87

<sup>37</sup> शुक्लं परमशुक्लं चेत्यान्नाये तद् द्विधोदितम्। छद्मस्थस्वामिकं पूर्व परं केवलिनां मतम्॥ — आदिपुराण, 21/167

<sup>38</sup> तत्त्वानुशासन — 221—222

<sup>39</sup> छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते।

द्वे त्वन्त्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम्॥ — ज्ञानार्णव, 7, पृ. 431

<sup>40</sup> सवितर्क सवीचारं.....सर्वज्ञस्यानिवर्तकम्॥ — ध्यानस्तव, श्लो. 17—21

दिगम्बर—परम्परानुसार, प्रथम के दो शुक्लध्यान के स्वामी आठवें से चौदहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधर होते हैं और चरम दो शुक्लध्यान क्रमशः तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।<sup>41</sup>

इस प्रकार, धर्मध्यान के स्वामी की चर्चा समाप्त होती है।

## ध्याता और ध्यातव्य के भेदाभेद का प्रश्न

ध्यान के क्षेत्र में ध्याता, ध्यातव्य और ध्यान —ये तीन मुख्य आधार होते हैं।

ध्याता आत्मा है, यह एक निर्विवाद सत्य है, किन्तु उसका ध्यातव्य क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। ध्यातव्य अनेक भी हो सकते हैं, किन्तु यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें, तो ध्याता और ध्यातव्य में जब तक तादात्म्य नहीं बनता है, तब तक ध्यान संभव ही नहीं होता है।

ध्यान में ध्याता और ध्यातव्य —इन दोनों में तादात्म्य—संबंध हो जाता है, इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ध्याता और ध्यातव्य में किस सीमा तक अभेद होता है और किस सीमा तक भेद होता है ? यह एक चिन्तनीय प्रश्न है।

ध्यान करने वाला ध्याता कहा जाता है और ध्यान का जो विषय होता है, वह ध्यातव्य कहलाता है, किन्तु ध्यान के विषय के लिए जब हम ध्यातव्य शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमें यह समझ लेना चाहिए कि ध्यातव्य का अर्थ मात्र ध्यान का विषय नहीं, अपितु उसका तात्पर्य जिसका ध्यान किया जाना चाहिए, उससे है, अतः जैनधर्म और आचारशास्त्र की अपेक्षा से केवल धर्मध्यान और शुक्लध्यान के विषय ही ध्यातव्य की कोटि में आते हैं।

आर्त और रौद्रध्यान के विषय ध्यातव्य नहीं माने जा सकते हैं। व्यावहारिक—दृष्टि से देखने पर ध्यातव्य और ध्याता —दोनों अलग—अलग होते हैं, क्योंकि ध्याता आत्मा है और ध्यातव्य धर्मध्यान और शुक्लध्यान के वे तथ्य हैं, जिनका ध्यान किया

<sup>41</sup> जैनसाधना पद्धति में ध्यान, डॉ. सागरमल जैन, पृ.32

जाना चाहिए, लेकिन जब हम ध्यान की प्रक्रिया का विचार करते हैं, उस समय ध्याता और ध्यातव्य में अभेद होता है, क्योंकि ध्यान केवल विचारों का ही होता है और ध्याता से भिन्न नहीं होते हैं। ध्यान की कोई वस्तु हो सकती है, जैसे—जिनप्रतिमा, किन्तु ध्यान के समय चित्तवृत्ति प्रतिमा पर स्थित न होकर प्रतिमा की जो मानस-आकृति है, उसी पर होती है, अतः ध्याता वस्तुतः अपनी ही चैतसिक पर्यायों का ध्याता होता है और जिस प्रकार द्रव्य और पर्याय पृथक्-पृथक् नहीं होते, उसी प्रकार ध्याता और ध्यातव्य भी पृथक्-पृथक् नहीं होते हैं।

जिस प्रकार द्रव्य और उसकी पर्यायों में भेदाभेद हैं, उसी प्रकार ध्याता और ध्यातव्य में भी भेदाभेद हैं।

### ध्याता के आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न भूमिकाएँ {चौदह गुणस्थान}

आज समस्त विश्व का जनसमूह स्वार्थवृत्ति के चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। वह भौतिक-सुख को ही अपना सुख मान रहा है। भौतिक-सुखों को ही परम सुख मानकर वह सत्य तथ्यों से एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों से कोसों दूर भाग रहा है, स्वयं के आत्म-उत्क्रान्ति के प्रयत्नों से विमुख हो रहा है। वह यह भूल रहा है कि आत्मा की क्रमोन्नति क्रमशः संवर और निर्जरा-रूप अध्यवसायों से ही संभव है।

दूसरे शब्दों में, नए-नए कर्मों का आगमन रुके और पूर्वकृत कर्मों का परिमार्जन हो; ऐसी साधना करने से वह शनैः-शनैः उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। जैसे-जैसे उसके आत्म-गुणों का प्रकटीकरण होगा, वैसे-वैसे उसके कर्मावरणों का निवारण होता जाएगा और जैसे-जैसे कर्मावरण क्षीण होंगे, वैसे-वैसे वह आध्यात्मिक-विकास की ऊँचाइयों की ओर आगे बढ़ता जाएगा।

जैन-दर्शन में आध्यात्मिक-विकास की भूमिकाओं को चौदह भागों में विभाजित किया है, जो चौदह गुणस्थान के नाम से जानी जाती हैं। वे चौदह प्रकार इस प्रकार हैं — अधोलिखित

1. मिथ्यात्व—गुणस्थान
2. सास्वादान—सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान
3. मिश्रदृष्टि—गुणस्थान
4. अविरतसम्यग्दृष्टि—गुणस्थान
5. देशविरतसम्यग्दृष्टि—गुणस्थान
6. प्रमत्तसंयत—गुणस्थान
7. अप्रमत्तसंयत—गुणस्थान
8. अपूर्वकरण—गुणस्थान
9. अनिवृत्तिकरण—गुणस्थान
10. सूक्ष्मसम्पराय —गुणस्थान
11. उपशान्तमोह—गुणस्थान
12. क्षीणमोह—गुणस्थान
13. सयोगीकेवली—गुणस्थान
14. अयोगीकेवली—गुणस्थान।<sup>42</sup>

आत्मशक्ति की विकसित और अविकसित—अवस्था को समवायांगसूत्र<sup>43</sup> में गुणस्थान न कहकर जीवस्थान कहा गया है।

डॉ. श्रीमती कोकिला के शब्दों में —“आत्मा के गुणों के विकास की भूमिकाओं की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।”<sup>44</sup>

आत्म—शक्ति की आविर्भाव वाली प्रथम अवस्था को प्रथम गुणस्थान कहा गया है। धीरे—धीरे क्रमिक विकास के साथ—साथ आत्म—आलोक प्रकट होने लगता है और बढ़ते—बढ़ते यह चौदहवें गुणस्थान तक सम्पूर्ण रूप से आत्मा की निर्विकल्प दशा या शैलेषी—अवस्था को प्राप्त होता है। तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है और तभी जीव अपने अन्तिम लक्ष्य तक या अपने साध्य ‘मोक्ष’ तक पहुंचता है। पूर्णता की यह अन्तिम अवस्था ही मोक्षावस्था, सिद्धावस्था या निजस्वरूपावस्था है। इस अवस्था में जन्म, जरा और मरण नहीं होता, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता,

<sup>42</sup> क) मिच्छे सासणमीसे अवरिय देसे पमत्त—अपमत्ते। नियट्टि अनियट्टिं सुहु—मुवसमखीणसजोगिअजोगिगुणा॥ — कर्मग्रन्थ, 2/2  
ख) चतुर्दशगुणश्रेणी..... चतुर्दशम्॥ — गुणस्थानक्रमारोह, 2—6

<sup>43</sup> कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाण पण्णत्ता तं जहा —  
मिच्छादिट्ठि सासायणसम्मादिट्ठि .....अयोगी केवली॥ — समवायांगसूत्र, सं.मधुकर मुनि, 14/15

<sup>44</sup> ‘प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा’ पुस्तक के शुभकामना से उद्धृत।

सदैव सर्वथा आनंद—ही—आनंद होता है।<sup>45</sup> आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, ऋषि—भाषित, भगवती आदि आगमों में गुणस्थान का कोई वर्णन नहीं है। सर्वप्रथम समवायांग में गुणस्थान की तरह जीवस्थान का उल्लेख मिलता है।

‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में भी इसका वर्णन मिलता है, लेकिन उन अवस्थाओं का नामोल्लेख करते हुए भी उन्हें गुणस्थान नहीं कहा है।<sup>46</sup> श्वेताम्बर—परम्परा के अनुसार सबसे पहले ‘गुणस्थान’ शब्द का प्रयोग हमें आवश्यकचूर्णि (सातवीं शताब्दी) में करीब तीन पृष्ठों गुणस्थानों का विवेचन देखने को मिलता है,<sup>47</sup> साथ ही तत्त्वार्थ—भाष्य की वृत्ति,<sup>48</sup> हरिभद्रीय तत्त्वार्थसूत्र की टीका<sup>49</sup> में भी गुणस्थान के नाम से विवेचन किया गया है। दिगम्बर—परम्परा के अनुसार, कषायपाहुड के सिवाय षट्खण्डागम<sup>50</sup> मूलाचार<sup>51</sup>, भगवती—आराधना<sup>52</sup>, समयसार आदि ग्रन्थों के साथ ही तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि<sup>53</sup> राजवार्त्तिक<sup>54</sup> श्लोकवार्त्तिक<sup>55</sup> आदि

<sup>45</sup> वही

<sup>46</sup> मिच्छादिद्वी सासायणे य तह सम्ममिच्छादिद्वीय.....अजोगीय ॥ -निर्युक्तिसंग्रह (आवश्यकनिर्युक्ति)पृ.149

<sup>47</sup> तथ इमाति चोदस गुणद्व्याणि.....अजोगिकेवली नाम सलेसी पाडिवन्नओ सो य तीहिं जोगेहिं विरहितो जाव कखगघड, इच्चेताइं पंचहस्सक्खराइं उच्चरिज्जंति एवतियं कालमजोगिकेवली भावितूण तोहे सब्बकम्मविणिमुक्को सिद्ध भवति।

—आवश्यकचूर्णि, जिनदासगणि, उत्तरभाग, पृ.133-136

<sup>48</sup> एतस्य त्रयः स्वामिनश्चतुर्थ—पंचम षष्ठ गुणस्थानवर्तिन..... ॥

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सिद्धसेनगणि कृत भाष्यानुसारिणिका समलङ्कृत टीका, 9-35

<sup>49</sup> श्री तत्त्वार्थसूत्रम् (टीका—हरिभद्र), पृ. 465-466

<sup>50</sup> एदेसि चेष चोदसप्हं जीवसमासाण परुवणद्वदाए तथ इमाणि अद्व अणियोगद्वाराणि णायव्वाणि, भवन्ति मिच्छादिद्वी.....सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ॥ -षट्खण्डागम पु.1पृ154-201

<sup>51</sup> मिच्छादिद्वी सासादणो य मिस्सा असंजदो चेष। देस विरदो पमतो अपमतो तह य णायव्वो। एत्तो अपुव्वकरणो अणियद्वी सुहुमसंपराओ य। उवसंतखीणमोहो सजोगि केवलि जिणे अजोगी य ॥ सुरणारयेसु चत्तारि होति तिरियेसु जाण पंचेष। मणुसगदीएवि तहा चोदसगुणणाममधेयाणि ॥

—मूलाचार (पर्याप्त्यधिकार), पृ. 273-279

<sup>52</sup> अध खवयसेडिमधिगम्म कुणइ साधू अपुव्वकरणं सो। होइ तमपुव्वकरणं कयाइ अप्पत्तपुव्वन्ति ॥ अणिवित्तिकरणणामं णवमं गुणठाणयं च अधिगम्म। णिद्वाणिद्वा पयलापयला तध थीणगिद्धिं च ॥

— भगवती—आराधना, भाग-2, पृ. 890, विशेष गा. 2072 से 2126

<sup>53</sup> सर्वार्थसिद्धि, सूत्र 1-8 की टीका, पृ. 30-40 तथा 9-12 की टीका

<sup>54</sup> राजवार्त्तिक (भट्ट अकलंक) 9-10/22, पृ. 488

<sup>55</sup> तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकम् गुणस्थानापेक्ष....10-3 गुणस्थानभेदेन....9...36-4, पृ. 403 अपूर्णकरणादीनां। विशेष विवरण हेतु 9.33.44 तक की संपूर्ण व्याख्या



दिगम्बराचार्यों की टीकाओं के अन्तर्गत सविस्तार गुणस्थान—सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। षट्खण्डागम के अतिरिक्त शेष सभी ग्रन्थों में इसे गुणस्थान के नाम से अभिहित किया गया है। हमने भी यह सभी विवेचन डॉ. सागरमल जैन के ग्रन्थ 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' के आधार पर किया है।

### गुणस्थान शब्द की परिभाषा —

'प्रवचनसारोद्धार की टीका' के अन्तर्गत लिखा है कि गुणों के विकास या ह्रास रूप आत्मा की जो शुद्धावस्था या अशुद्धावस्था होती है, वह गुणस्थान कहलाती है।<sup>56</sup>

'कर्मग्रन्थ की टीका' के अनुसार, परमसाध्य की प्राप्ति तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी—ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणी को विकास—क्रम या उत्क्रान्ति—मार्ग कहते हैं और जैनशास्त्रीय—परिभाषा में उसे गुणस्थान कहते हैं।<sup>57</sup> अमितगतिकृत दिगम्बर—संस्कृत 'पंचसंग्रह' में लिखा है कि औदयिक आदि भावों के आधार पर गुण—अवगुण—रूप से जीवों की जिन विभिन्न अवस्थाओं का बोध होता है, वे गुणस्थान कहलाती हैं।<sup>58</sup> 'गोम्मटसार' में गुणस्थान की उत्पत्ति के कारण को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि मोहनीयकर्म के माध्यम से तीनों योगों में अर्थात् मन, वचन और काया में जो प्रवृत्ति होती है, उसी से गुणस्थानों का उद्भव होता है।<sup>59</sup> मूलाचार में भी इसी बात की पुष्टि मिलती है।<sup>60</sup>

<sup>56</sup> प्रवचनसारोद्धार, सटीक, 224 वां द्वार, गाथा 1302, पृ. 464

<sup>57</sup> कर्मविपाक अर्थात् कर्मग्रन्थ, भाग 1-2-3, अनु. सुखलाल संघवी, प्रस्तावना पृ. xxxix

<sup>58</sup> दिगम्बर संस्कृत पंचसंग्रह, गाथा 12

<sup>59</sup> गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-9

<sup>60</sup> मूलाचार, गाथा-29

## चौदह गुणस्थानों का स्वरूप -

जैन-दर्शन में आध्यात्मिक-विकासयात्रा के विकसित एवं अविकसित चौदह सोपान माने गए हैं। उन चौदह सोपानों के नाम पूर्व में सूचित किए गए हैं।

इन चौदह सोपानों को जीवस्थान, जीवसमास, जीवमार्गणा, आध्यात्मिक-भूमिकाएं या गुणस्थान की संज्ञा से निर्दिष्ट किया गया है।

'गोम्मटसार' में संक्षेप, ओघ, सामान्य, जीवसमास -ये चार शब्द गुणस्थान के समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।<sup>61</sup>

डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में - "चौदह गुणस्थान में से प्रथम के चार गुणस्थान तक का क्रम सम्यग्दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है, जबकि पांचवें से बारहवें गुणस्थान तक का विकासक्रम सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित है। तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान आध्यात्मिक-पूर्णता का द्योतक है। इनमें भी, दूसरे और तीसरे गुणस्थानों का संबंध विकासक्रम से न होकर, मात्र चतुर्थ गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान की ओर होने वाले पतन को सूचित करने से है।"<sup>62</sup>

इन गुणस्थानों का संक्षेप परिचय इस प्रकार है -

### 1. मिथ्यात्व-गुणस्थान -

इस गुणस्थान में वस्तु-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान या सत्य की अनुभूति नहीं होती है। इसमें जीव को सही दिशा का ज्ञान न होने के कारण वह भौतिक पदार्थों तथा भौतिक सुख-साधनों से सुख-प्राप्ति की अभीप्सा में डूबा रहता है। वह आध्यात्मिक-सुख अथवा आत्मिक-आनंद की अनुभूति नहीं कर पाता है। गलत दृष्टिकोण के कारण वह सही को गलत एवं गलत को सही, यथार्थ को अयथार्थ और अयथार्थ को यथार्थ, अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मान बैठता है, अलक्ष्यता के कारण पथभ्रान्त हो जाता है और इसी कारण, अपने निर्धारित लक्ष्य

<sup>61</sup> क) संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा .....। - गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-3

ख) चउददस जीवसमासा कमेण सिद्धाय णादव्वा।। - वही, जीवकाण्ड, गाथा-10

<sup>62</sup> गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण, डॉ. सागरमल जैन, पृ.52

तक नहीं पहुँच पाता है। यह अवस्था जीव की अज्ञानमय अवस्था है। इसमें मोह की स्थिति प्रगाढ़ होती है। दर्शनमोहनीय-कर्म के प्रभाव के कारण प्रथम गुणस्थान का नाम मिथ्यात्व गुणस्थान है। प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव में क्रोध, मान, माया, लोभ (अनंतानुबन्धी कषाय) अति तीव्र होते हैं। वासनात्मक-प्रवृत्तियों का प्रभाव हर क्षण बना रहता है, जिनके कारण वह सत्य-दर्शन एवं नैतिक-आचरण से वंचित रहता है।

जैन-सिद्धान्तानुसार, संसार की अधिकतर आत्माएँ मिथ्यात्व-गुणस्थान की निवासी हैं। इनको दो भागों में बांटा गया है - 1. भव्य-आत्माएँ और 2. अभव्य-आत्मा।

**1. भव्य-आत्मा :-** जो भविष्य में कभी भी अपने यथार्थ ज्ञान के कारण आध्यात्मिक-विकास की अग्रिम भूमिकाओं की अधिकारी बनेगी, वह भव्य-आत्मा है।

**2. अभव्य-आत्मा :-** जो हमेशा के लिए नैतिक-विवेक एवं नैतिक-आचरण से शून्य ही रहेगी, वह अभव्यात्मा है। यह आत्मा लक्ष्य-विमुखता के कारण ही आध्यात्मिक-विकास की भूमिका की अधिकारी नहीं बनती है। इस गुणस्थान में आत्मा को पाँच वस्तुओं का अभाव होता है - 1. एकान्तिक धारणाओं, 2. उल्टी धारणाओं, 3. सदियों से चली आ रही असम्यक्-परम्पराओं, 4. शंका और 5. विवेकज्ञान से रहित रहती है।<sup>63</sup> इसमें यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति उसी प्रकार रुचि नहीं होती, जिस प्रकार बुखार-पीड़ित व्यक्ति को सरस षट्स भोजन भी रुचिकर नहीं लगता है।<sup>64</sup> किसी ने शंका की है कि मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानसहित होता है। वह यथार्थबोध को न तो जान पाता है और न ही तदनुसार जीवन जी सकता है, तो फिर मिथ्यात्व को गुणस्थान की श्रेणी में क्यों रखा गया ?

<sup>63</sup> तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धिटीका, (पूज्यपाद) - 8/1

<sup>64</sup> गोम्मटसार, जीवकाण्ड -17

**अनुयोगसार**<sup>65</sup> में इसका समाधान इस प्रकार मिलता है —“मिथ्यादर्शनलब्धि, मति-अज्ञानलब्धि, श्रुत-अज्ञानलब्धि आदि भी कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं। मिथ्यादृष्टि-जीव का मिथ्यादर्शन एवं मिथ्या-ज्ञान क्षायोपशमिक-भाव होने से मिथ्यात्व को भी गुणस्थान कहा गया है।”<sup>66</sup>

पं. सुखलालजी के शब्दों में —“प्रथम गुणस्थान में रहने वाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं, जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा-सा दबाए हुए होती हैं। वे यद्यपि आध्यात्मिक-लक्ष्य के सर्वदा अनुकूलगामी नहीं होती, तो भी उनका बोध व चारित्र्य अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसी आत्माओं की अवस्था आध्यात्मिक-दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण मिथ्यादृष्टि, विपरीतदृष्टि या असद्दृष्टि कहलाती है, तथापि वह सदृष्टि के समीप ले जाने वाली होने के कारण उपादेय मानी गयी है,<sup>67</sup> अतः यह मानना होगा कि इस गुणस्थान का मुख्य लक्षण मिथ्यादर्शन अथवा मिथ्याश्रद्धान है। इसमें मात्र आर्त्त या रौद्र-ध्यान ही होते हैं।

## 2. सास्वादन-गुणस्थान —

इस गुणस्थान में आत्मा पतनोन्मुख होती है, उसका चित्रण है। इस अवस्था में सम्यक्त्व का क्षणिक आस्वादन रहता है, इसलिए इस गुणस्थान को सास्वादन गुणस्थान कहा जाता है।<sup>68</sup> इसमें वमित हो रहे सम्यक्त्व का बहुत ही अल्पतम

<sup>65</sup> “खओवसमिआ मइ अण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुय अण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी, खओवसमिआ, चक्खुदंसणलद्धी, खओवसमिआ अचक्खु-दंसणलद्धी, ओहिदंसणलद्धी एवं समदंसण- लद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्ममिच्छादंसणलद्धी एवं पण्डियवीरियलद्धी, बालवीरियलद्धी, बाल- पण्डियवीरियलद्धी, खओवसमिआ सोइन्द्रियलद्धी, जाव खओवसमिआ पासेन्दीयलद्धी.....।

—अनुयोगद्वाराणि, पत्रांक-116, सू. 126

<sup>66</sup> ‘प्राकृत एवं संस्कृत-साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा’, -साध्वी डॉ.दर्शनकला, प्रथम अध्याय, पृ. 7

<sup>67</sup> जैन बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.451

<sup>68</sup> क) सहेव तत्त्वश्रद्धानं रसास्वादानेन वर्तते इति सास्वादनः। -समवायांगवृत्तिपत्र-26)

ख) गुणस्थान-क्रमारोह - 12

समय के लिए आस्वादन होता है, इसी हेतु इसको सास्वादन—गुणस्थान के नाम से निर्दिष्ट किया है। इसका काल—परिमाण न्यूनतम एक समय और अधिकतम छः आवलिका का होता है। इस अवस्था में जीव अवश्यमेव मिथ्यात्व को पाने वाला होता है फिर भी जैसे खीरपान के पश्चात् उल्टी होने के बाद भी खीर का आंशिक स्वाद आता रहता है, ठीक वैसे ही सम्यक्त्व के अध्यवसायों को छोड़ने के बाद भी मिथ्यात्व की ओर जाते हुए जीव को कुछ समय के लिए ही सही, पर सम्यक्त्व का आस्वाद रहता है।<sup>69</sup>

गोम्मटसार में लिखा है कि जैसे पर्वत से जमीन तक पहुंचने से पूर्व जो बीच का समय है, वह न तो पर्वत पर रुकने का है और न जमीन पर ठहरने का, वह तो बीच की स्थिति का अनुभवकाल है, वैसे ही अनंतानुबन्धीकषायचतुष्क में से किसी का भी उदय होने पर सम्यक्त्व को त्यागकर मिथ्यात्व के अनुदय तक बीच के अनुभव—काल में जो अध्यवसाय होते हैं, वही सास्वादन—गुणस्थान है।<sup>70</sup>

डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —“जिस प्रकार मिष्टान्न खाने के अनन्तर वमन होने पर वमित वस्तु का एक विशेष प्रकार का आस्वादन होता है, उसी प्रकार यथार्थ—बोध हो जाने पर मोहासक्ति के कारण जब पुनः अयथार्थता (मिथ्यात्व) का ग्रहण किया जाता है, तो उसे ग्रहण करने के पूर्व थोड़े समय के लिए उस यथार्थता का एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव बना रहता है। यही पतनोन्मुख अवस्था में होने वाला यथार्थता का क्षणिक आभास या आस्वादन ‘सास्वादन—गुणस्थान’ है।”<sup>71</sup> दिगम्बर—परम्परा में इसका नाम ‘सासादन—गुणस्थान’ है। इस गुणस्थान में मात्र आर्त्त एवं रौद्रध्यान ही संभव है।

<sup>69</sup> सासादनं तत्र आयमौपशमिकं सम्यक्त्व लक्षणं सादयति अपनयति आसादनम् अनन्तानुबन्धी कषायवेदनम् .... ततः सहासादनेन वर्तते इति सासादनम् । तथाऽत्रापि गुणस्थाने मिथ्यात्वभिमुखतया सम्यक्त्वस्योपरि व्यलीकचित्तस्य पुरुषस्य सम्यक्त्वमुद्धमतस्तद्रसास्वादो भवतीति इदं सास्वादनमुच्यते । — षडशीतिप्रकाश, पत्रांक 43-44

<sup>70</sup> सम्मत्तरयण पव्वयसिहरादो मिच्छभूमि समभिमुहो ।

जासिय सम्मतो सो सासणजामो मुणेयव्वो ।। — गोम्मटसार, जीवकाण्ड—20

<sup>71</sup> गुणस्थान सिद्धान्तः एक विश्लेषण, डॉ. सागरमल जैन, पृ.54

### 3. मिश्रदृष्टि—गुणस्थान —

यह गुणस्थान आत्मा की वह अवस्था है जिसमें जीव न पूर्ण सम्यक्-दृष्टि होता है और न पूर्ण मिथ्यादृष्टि। दर्शन—मोहनीय के तीन पुंजों सम्यक्त्व (शुद्ध), मिथ्यात्व (अशुद्ध) और सम्यक्-मिथ्यात्व (अर्द्धशुद्ध) में से जब अर्द्धशुद्ध पुंज का उदय होता है, तब मिश्र गुणस्थान ह्वेता है।<sup>72</sup> जैसे शक्कर के साथ दही का स्वाद कुछ खट्टा कुछ मीठा अर्थात् मिश्र होता है, वैसे ही जीव का दृष्टिकोण भी कुछ सही कुछ गलत यानी सम्यक्मिश्र-मिथ्या होता है। इस अवस्था को सम्यग्मिथ्यादृष्टि—गुणस्थान कहते हैं।<sup>73</sup> इस गुणस्थान की विशेषता यह है कि जो जीव इस अवस्था में है, उसकी मृत्यु संभव नहीं।

इस संदर्भ में **आचार्य नेमिचंद्र** का कहना है कि जहाँ आगामी आयुष्यकर्मबंध की संभावना नहीं होती है, वहाँ मृत्यु की भी संभावना नहीं होती है।<sup>74</sup> यही आध्यात्मिक विकास की तीसरी भूमिका मिश्रगुणस्थान है। पहले गुणस्थान वाला जीव एकान्त-मिथ्यात्वी होता है। दूसरे गुणस्थान का अधिकारी अपक्रान्ति वाला होता है और तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव अपक्रान्ति और उत्क्रान्ति—दोनों ही प्रकार वाले होते हैं। इन तीनों गुणस्थानों में ध्यान तो है ही, किन्तु आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान हैं जो संसार—परिभ्रमण के हेतु हैं।

### 4. अविरति—सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान —

इस गुणस्थान में साधक को यथार्थता का भान हो जाता है। वह सही को सही, गलत को गलत, सत्य को सत्य के रूप में तथा असत्य को असत्य के रूप

<sup>72</sup> सम्मामिच्छुदयेणय जत्तंतर सव्वघादि कज्जेण।

न य सम्मं मिच्छं पि यं, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ — गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 21

<sup>73</sup> क) जात्यन्तर समुद्भूतिर्वड्वा खरयोर्यथा। गुडदध्नोः सणायोमे रस भेदान्तरं यथा।

तथा धर्मद्वयेश्रद्धा जायते समबुद्धितः। मिश्रोऽसौ भण्यते तस्माद् भावो जात्यन्तरात्मकः ॥ — गुणस्थानकक्रमारोहण, श्लोक 14-15, पृ. 6

ख) दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णोव करिदु सक्कं ..... ॥ — गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा. 22

ग) सम्यग् मिथ्यारूचिर्मिश्रः सम्यग् मिथ्यात्व पाकतः..... ॥ — संस्कृत पंचसंग्रह, श्लोक— 1/22

<sup>74</sup> गोम्मटसार (जीवकाण्ड) — 2

में जानने लगता है। सर्वज्ञप्रदत्त उपदेशादि में उसकी एक स्वाभाविक रुचि पैदा होती है, विचारों में शुद्धि होने के बावजूद भी आचरण की शुद्धता नहीं होती है। वह हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि को अकरणीय मानते हुए भी उन कार्यों में संलग्न रहता है; क्योंकि उसका ज्ञानात्मक—पक्ष सम्यक् होता है, परन्तु आचरणात्मक—पक्ष सम्यक् नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में वह वासनात्मक—वृत्तियों के दुष्परिणाम का ज्ञाता होने पर भी उसको छोड़ नहीं पाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें व्रत, यम—नियमों से रहित मात्र सम्यक्त्व रहता है। ऐसे जीव को अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं और इस अवस्था—विशेष को अविरत—सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान कहते हैं।

गोम्मटसार के अनुसार, इस गुणस्थान में दर्शन एवं ज्ञान तो सम्यक् हो जाता है, किन्तु सम्यक्चारित्र का विकास नहीं होता है।<sup>75</sup>

'गुणस्थानक—क्रमारोह' में लिखा है कि अविरतसम्यग्दृष्टि—गुणस्थान वाला जीव अप्रत्याख्यानीयकषायचतुष्क के उदय होने से व्रत—ग्रहण करने में असमर्थ होता है,<sup>76</sup> लेकिन इसमें व्रतादि ग्रहण करने की भावना दृढ़ होती है। इसमें जीव तीर्थकर नाम का उपार्जन कर सकता है। दिगम्बर—परम्परानुसार, इसमें जीव को धर्मध्यान करने की योग्यता होती है, अतः यह धर्मध्यान का उद्गम—स्थान है।<sup>77</sup> इसमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान भी संभव हो सकते हैं, यद्यपि वे तीव्र नहीं होते हैं।

## 5. देशविरति—सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान —

यह जीव की आध्यात्मिक—विकास की पाँचवीं भूमिका है। चौथे अविरत—सम्यग्दृष्टि—गुणस्थान में जीव को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए इसकी जानकारी या इसका विवेक तो होता है, परन्तु वह व्रत—प्रत्याख्यान नहीं

<sup>75</sup> गोम्मटसार, गाथा—29

<sup>76</sup> द्वितीयानां कषायानामुदयाद्वतवर्जितम् । सम्यक्त्वं केवलं यत्र तच्चतुर्थं गुणास्पदम् ॥ —गुणस्थानक्रमारोह—16

<sup>77</sup> क) गुणस्थानक्रमारोह, गाथा 18—20, 23

ख) षट्खण्डागम —1/1/12

ग) गोम्मटसार, जीवकाण्ड —29

करता है। प्रत्याख्यानावरणीय—कषाय के उदय से सावद्य—क्रियाओं अथवा पापाचरण से सर्वथा मुक्त तो नहीं, पर आंशिक रूप से उन सावद्य—क्रियाओं से निवृत्त होता है; इस गुणस्थान में स्थित जीव देशविरति—श्रावक कहलाता है। उसकी इस आंशिक त्यागमयी वृत्ति के कारण इसे देशविरति—गुणस्थान कहते हैं।<sup>78</sup>

'षट्खण्डागम'<sup>79</sup> में इसे संयतासंयत और 'गोम्मटसार'<sup>80</sup> में इसे विरताविरत नाम से अभिहित किया है। इस गुणस्थान में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान मंद होता है। श्रावक आवश्यक क्रिया, ग्यारह प्रतिमाओं एवं बारह व्रतों को ग्रहण करनेवाला होने से इसमें धर्मध्यान मध्यम कोटि का होता है। इस गुणस्थान में न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त एवं अधिकतम स्थिति कुछ न्यून करोड़ वर्ष की होती है।<sup>81</sup>

डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —“वासनामय जीव से आंशिक रूप में निवृत्ति, हिंसा, झूठ, परस्त्रीगमन आदि अशुभाचार तथा क्रोध, लोभ आदि कषायों से आंशिक रूप में विरत होना ही देशविरति है। इस गुणस्थान में साधक यद्यपि गृहस्थाश्रमी रहता है, फिर भी वासनाओं पर थोड़ा—बहुत यथाशक्ति नियन्त्रण करने का प्रयास करता है। पंचम गुणस्थानवर्ती साधक साधना—पथ पर फिसलता तो है, लेकिन उसमें संभलने की क्षमता भी होती है। ऐसे साधक के लिए यह जरूरी है कि क्रोधादि कषायों की आंतरिक एवं बाह्य—अभिव्यक्ति होने पर उनका नियंत्रण करे और अपनी मानसिक—विकृति का परिशोधन एवं विशुद्धिकरण करे। जो व्यक्ति चार मास के अन्दर उनका परिशोधन तथा परिमार्जन नहीं कर लेता, तो वह श्रेणी से गिर जाता है।”<sup>82</sup>

<sup>78</sup> पच्चक्खाणुदयादो संजय भावो ण होदि ण व दिंतु।

थोव वदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ।।

— गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 30

<sup>79</sup> षट्खण्डागम -1/1/13-14

<sup>80</sup> विरदाविरदो निसेक्कमइ ।। - गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 31

<sup>81</sup> गुणस्थान क्रमारोह, गाथा 24-26 की टीका सहित

<sup>82</sup> प्रस्तुत संदर्भ : 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' ले. डॉ.सागरमल जैन से उद्धृत, पृ. 58-59



## 6. प्रमत्तसयतगुणस्थान —

इस गुणस्थानवर्ती जीव की परिणति पाँचवें गुणस्थान अर्थात् देशविरत-सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा विशुद्ध होती है। पाँचवें गुणस्थान में जीव सावद्य-पापक्रियाओं का आंशिक रूप से त्याग करता है, परन्तु इस गुणस्थान में जीव पापाचरण से पापजनक-व्यापारों से सर्वथा विमुख हो जाता है। दिगम्बर-परम्परानुसार, इसमें बाह्य-परिग्रह से परिपूर्ण-निवृत्ति होती है, साथ ही वह भीतरी, आभ्यन्तर-परिग्रह की निवृत्ति के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है, निजस्वरूप में अवस्थित होने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जब जीव प्रमादावस्था में रहता है, तब वह छठवें गुणस्थान में रहता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह छठवें गुणस्थान में ही रहे। जब अध्यवसाय अप्रमत्त, देहातीत, आसक्ति को छोड़कर ज्ञाता-दृष्टाभाव में रहे, तो वह सातवें गुणस्थान में चला जाता है। छठे गुणस्थान की स्थिति दोलायमान स्थिति है। जीव कभी छठे तो कभी सातवें गुणस्थान में आता-जाता रहता है। यह उतार-चढ़ाव देशोनकोटिपूर्व तक ही रहता है। इसमें धर्मध्यान की मात्रा बढ़ जाती है।<sup>83</sup> इस गुणस्थान में जीव साधनापथ में परिचारण करता हुआ आगे बढ़ना तो चाहता है, लेकिन प्रमाद उसमें बाधक बना रहता है। जब श्रमण लक्ष्य के प्रति सतत जागरूक रहता है, तो सातवें गुणस्थान में प्रवेश कर लेता है और देहभाव, आसक्ति, प्रमाद की वृत्ति होने पर पुनः छठवें गुणस्थान में आ जाता है। इस गुणस्थान में प्रवेश करने के लिए साधक को पन्द्रह कर्मप्रकृतियों का नाश करना जरूरी है। वे इस प्रकार हैं — अनंतानुबंधी-चतुष्क, अप्रत्याख्यानी-चतुष्क, प्रतयख्यानी-चतुष्क, मिथ्यात्व-मोहनीय, मिश्रमोह और सम्यक्त्वमोह।<sup>84</sup> श्वेताम्बर-परम्परानुसार, इस गुणस्थान तक आर्त्तध्यान बना रह सकता है। रौद्रध्यान केवल चैतसिक स्तर पर अल्प-समय के लिए संभव होता है।

<sup>83</sup> क) गुणस्थान क्रमारोह, गा. 27, 28-31

ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गा. 32

<sup>84</sup> गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण — डॉ. सागरमल जैन, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 60

## 7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान —

आध्यात्मिक-विकास की इस भूमिका में साधक सतत आत्मरमणता, आत्म-सजगता में अवस्थित रहता है। देह में रहते हुए भी विदेहता में रमण करता है और प्रमाद पर काबू करता है, फिर भी कुछ दैहिक-उपाधियों के कारण साधक विचलित हो जाता है। कोई भी सामान्य साधक अड़तालीस मिनट के अन्दर की अवधि तक देह के प्रति अनासक्त नहीं रह सकता है, अतः इस गुणस्थान में साधक का ठहरना अल्पकालीन होता है। अप्रमत्त-संयत-गुणस्थानवर्ती साधक सभी प्रमादों के कारणों (जिनकी संख्या 37,500 मानी गई है) से बचता है।<sup>85</sup>

भगवतीसूत्र के अनुसार —“एक जीव के एक भव में अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान का समस्त काल-परिमाण देशोनकरोड़ पूर्व माना गया है, परन्तु यहाँ दोनों गुणस्थान (छठवां प्रमत्तसंयत तथा सातवां अप्रमत्तसंयत) का काल-मान संयुक्त रूप से जानना चाहिए।<sup>86</sup> इस गुणस्थान में शुभ धर्मध्यान होता है, साथ ही रूपातीत ध्यान की महत्ता के कारण आंशिक रूप से इसमें शुक्लध्यान भी सम्मिलित रहता है। इस गुणस्थान में रहने वाले जीव में षडावश्यकदि क्रियाओं का अभाव होने पर भी श्रेष्ठ ध्यान के योग्य होने से आत्मशोधन की वृत्ति रहती है।<sup>87</sup> इस गुणस्थान में श्वेताम्बर-परम्परानुसार धर्मध्यान और दिगम्बर-परम्परानुसार शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण ही संभव हैं।

## 8. अपूर्वकरण-गुणस्थान —

यह आध्यात्मिक-विकास की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इस अवस्था में अधिकांश घाती कर्म-प्रकृतियों का क्षय या उपशम करने से साधक एक विशेष प्रकार की आनंदानुभूति को महसूस करता है। जिसका पूर्व में कभी अनुभव नहीं किया, उसे

<sup>85</sup> 25 विकथाएँ, 25 कषाय और नोकषाय 6, मनसहित पाँचों इन्द्रियों, 5 निद्राएँ, 2 राग और द्वेष —इन सबके गुणनफल से 37500 की संख्या बनती है।

<sup>86</sup> अपमत्तसंजयस्सणं भंते ! अप्पमत्तू संजमे वट्टमाणस्स सत्त्वा वि य णं अप्पमत्तद्धा कालतो-केवच्चिरं होति । मंडियापुता! एक जीव पडुच्च जहन्नेण अन्तोमुहूतं उक्कोसेणं पुव्वकोडी देसूणा! णाणा जीवे पडुच्च सब्बद्धं — भगवतीसूत्र —3/3/154

<sup>87</sup> चतुर्थानां कषायाणां.....सद्धानसाधनारम्भं, कुरुते मुनिपुंगव धर्मध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम्। रूपातीततया शुक्लमपि स्यादंशमात्रतः।। इत्येतस्मिन्.....सतत ध्यानसद्योगाच्छुद्धिः स्वाभाविको यतः।। — गुणस्थानक्रमारोह, गा. 32-36

अपूर्व कहते हैं, या यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकार की आत्मशक्ति का प्रकटीकरण होना। इस गुणस्थान में प्रवर्तित साधक अधिकांशः विषय-विकारों, वासनाओं से मुक्त होता है। संज्वलन-कषाय, अर्थात् अल्पमात्रा में माया और लोभ की वृत्ति रहती है। बादर, अर्थात् स्थूल-कषाय की निवृत्ति के कारण इसको निवृत्ति-बादर-गुणस्थान भी कहते हैं।

‘गुणस्थानक्रमारोह’ के अनुसार, अप्रमत्तसंयत-गुणस्थानवर्ती साधक अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा के द्वारा जब आत्म-विकास की दिशा में आगे बढ़ता है तब वह अष्टम अपूर्वकरण-गुणस्थान में प्रवेश करता है।<sup>88</sup> अष्टम-गुणस्थानवर्ती साधक को निम्नलिखित पांच बातों को करने की अपूर्व योग्यता प्राप्त होती है, वे, इस प्रकार हैं—

1. **स्थितिघात** — उदय में आने वाले कर्मदलिकों को उदीरणा से घटाकर कम करना स्थितिघात है।

2. **रसघात** — एकत्रित हुए कर्मदलिकों के फल देने की तीव्र शक्ति को मंद करना रसघात है।

3. **गुणश्रेणी** — जिन कर्मदलिकों के फल देने की तीव्र शक्ति को मंदरस करके उदय से हटाया है, उनको समय क्रम से अन्तमुहूर्त के भीतर स्थापित करना गुणश्रेणी है।<sup>89</sup>

4. **गुणसंक्रमण** — पूर्व में बंधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बन्ध रही शुभ प्रकृति के रूप में परिणत करना गुणसंक्रमण है। इस गुणस्थान में श्वेताम्बर-परम्परानुसार धर्मध्यान और दिगम्बर-परम्परानुसार धर्मध्यान और शुक्लध्यान के प्रथम ही चरण संभव हैं।

<sup>88</sup> अपूर्वात्मगुणाप्तित्वादपूर्वकरणं मतम् ॥ — गुणस्थानक्रमारोह, पृ.26

<sup>89</sup> उपरितनस्थितोर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्त ॥ — कर्मग्रन्थाः (कर्मस्तव) सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः, पृ.4

**5. अपूर्वस्थितिबंध** — पूर्व की अपेक्षा अति-अल्प स्थिति वाले कर्मों को बांधना अपूर्वस्थितिबंध है।<sup>90</sup> उपर्युक्त पांचों प्रक्रिया पहले के गुणस्थानों में भी होती है, लेकिन इस गुणस्थान में इनको करने का अपूर्व-विधान होने से यह गुणस्थान अपूर्वकरण कहलाता है।<sup>91</sup>

आत्म-विकास की चौदह अवस्थाओं में पहले की सात अवस्थाओं तक अनात्म का आत्म पर अधिकार होता है और पीछे की सात अवस्थाओं में आत्म का अनात्म पर अधिशासन होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन ने एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा है<sup>92</sup> — “ऐसे किसी उपनिवेश की कल्पना कीजिए, जिस पर किसी विदेशी जाति ने अनादिकाल से आधिपत्य कर रखा हो और वहाँ की जनता को गुलाम बना लिया हो, यही प्रथम गुणस्थान है। उस पराधीनता की अवस्था में ही शासक-वर्ग द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ उठाकर वहीं की जनता में स्वतंत्रता की चेतना का उदय हो जाता है — यही चतुर्थ गुणस्थान है। बाद में, वह जनता कुछ अधिकारों की माँग प्रस्तुत करती है और कुछ प्रयासों और परिस्थितियों के आधार पर उनकी यह माँग स्वीकृत होती है— यही पांचवां गुणस्थान है। इसमें सफलता प्राप्त कर जनता अपने हितों की कल्पना के सक्रिय होने पर औपनिवेशिक-स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयास करती है और संयोग उसके अनुकूल होने से उनकी वह माँग भी स्वीकृत हो जाती है— यह छठवां गुणस्थान है। औपनिवेशिक-स्वराज्य की इस अवस्था में जनता पूर्ण स्वतंत्रता-प्राप्ति का प्रयास करती है, उसके हेतु सजग होकर अपनी शक्ति का संचय करती है— यह सातवाँ गुणस्थान है। आगे वह अपनी पूर्ण स्वतंत्रता का उद्घोष करती हुई उन विदेशियों से संघर्ष प्रारम्भ करती है। संघर्ष की प्रथम स्थिति में यद्यपि उसकी

<sup>90</sup> शुभं प्रकृतिष्वशुभप्रकृति दलिकस्य प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्धया विशुद्धिवशांन्नयनं गुणसंक्रमःतमिहासावपूर्वकरोति ।” — सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः (कर्मस्तव) पृ.4 कर्मग्रन्थ भाग-2,पृ.26

<sup>91</sup> अपूर्वकरणं स्थितिघातरसघात गुणश्रेणिगुणसंक्रमण स्थितिबन्धानां पंचानामर्थानां निर्वर्तनमस्यासावपूर्वकरणः तथाहि यावत्प्रमाणमसौ पूर्वगुणस्थानविशुद्धया स्थितिखण्डकं रस खण्डकं वा हलवान् ततो वृहत्तरप्रमाणमपूर्वस्मिन् गुणस्थानेहन्ति ।। — वही, पृ. 4

<sup>92</sup> गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण। — ले. डॉ. सागरमल जैन, पृ. 64

शक्ति सीमित होती है और शत्रु-वर्ग भयंकर होता है, फिर भी अपने अद्भुत साहस और शौर्य से उसको परास्त करती है – यही आठवाँ गुणस्थान है। नौवाँ गुणस्थान वैसे ही है, जैसे युद्ध के बाद आन्तरिक-अवस्था को सुधारने और छिपे हुए शत्रुओं के उन्मूलन के लिए किया जाता है।<sup>93</sup>

इस गुणस्थान में धर्मध्यान में अभिवृद्धि और शुक्लध्यान की सम्भावना बढ़ जाती है।

### 9. अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान –

इस गुणस्थान में साधक विषयों की आकांक्षाओं, इच्छाओं, कामनाओं से रहित होता है इसलिए अध्यवसायों में शुद्धता रहती है, अर्थात् पुनः उस साधक का मन इन विषयों की लालसा में नहीं जाता है। इस प्रकार के अध्यवसायों के कारण इसका नाम अनिवृत्तिकरण-गुणस्थान रखा गया है।<sup>94</sup> इस गुणस्थान में स्थूल कषायों का नाश करने का प्रयास होता है। परन्तु सूक्ष्मलोभ-कषायादि तो विद्यमान रहती हैं। अतः इसे अनिवृत्तिबादर-गुणस्थान अथवा बादरसम्पराय-गुणस्थान भी कहते हैं।<sup>95</sup>

नौवे गुणस्थानवर्ती जीव दो प्रकार के होते हैं – एक, उपशमश्रेणी वाले और दूसरे, क्षपकश्रेणी वाले। जो चारित्रमोहनीय-कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशम-श्रेणी वाले जीव कहे जाते हैं और जो मूलतः चारित्र-मोहनीय-कर्म का क्षय करते हैं वे क्षपकश्रेणी वाले जीव कहे जाते हैं। यह गुणस्थान अल्पकालिक होता है और धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति पूर्ववत् हो जाती है।

<sup>93</sup> 'जैन बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' – पृ. 463

<sup>94</sup> जैन धर्म-दर्शन, पृ. 498

<sup>95</sup> वही, पृ-49

## 10. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान —

सूक्ष्म अर्थात् अल्प सम्पराय यानी कषाय। जिस गुणस्थान में मात्र सूक्ष्म लोभ का ही उदय रहता है, उस गुणस्थान का नाम सूक्ष्मसम्पराय—गुणस्थान है। इस गुणस्थान के प्रथम के कुछ सूक्ष्म खण्डों में मोहनीयकर्म की अट्टाईस प्रकृतियों में से सत्ताईस प्रकृतियों का नाश हो जाता है,<sup>96</sup> तब साधक इस गुणस्थान का अधिकारी बनता है। इसमें लोभ के अलावा सब प्रकृतियों का अभाव हो जाता है। 'पंचसंग्रह' में लिखा गया है कि जिस प्रकार धुले हुए गुलाबी रंग के कपड़े में लालिमा सुखी की सूक्ष्म—सी आभा विद्यमान रहती है, उसी प्रकार इस गुणस्थान का अधिकारी जीव संज्वलन—लोभ के सूक्ष्म खण्डों का वेदन करता है।<sup>97</sup>

डॉ. टाटिया के शब्दों में —“आध्यात्मिक—विकास की उच्चता में रहे हुए इस सूक्ष्म लोभ की व्याख्या अवचेतन रूप में शरीर के प्रति रहे हुए राग के अर्थ में की जा सकती है।”<sup>98</sup>

ध्यान की अपेक्षा से इस गुणस्थान की स्थिति अल्पकालिक है। सामान्यतया, इसमें धर्मध्यान तो रहता ही है, किन्तु इसके अन्तिम चरण में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय हो जाने से इसके अन्त में शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण सम्भव हो सकते हैं।

## 11. उपशान्तमोह—गुणस्थान —

जब साधक आध्यात्मिक—विकास की इस भूमिका में प्रवेश करता है, तब पूर्व अवस्था में रहा सूक्ष्म लोभ भी जब उपशान्त हो जाता है, वह अवस्था आती है, लेकिन साधक के लिए यह अवस्था खतरनाक भी है क्योंकि यदि वासनाओं का

<sup>96</sup> क) अण-दंस-नपुंसि-स्थी-वेय-च्छकं च पुरिसवेयं च। दो दो एगंतरिए सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥

ख) उवसामगसेदीए पट्टवओ अप्पमतविरओ उ। एकेकक्केणंतरिए संजलणेणं उवसमेइ ॥

ग) विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्याः ॥ - हेमचंद्र, अ.2. पृ. 482-484

घ) प्रवचनसारोद्धार, द्वार-90, गा. 700-708

ड) कर्मग्रन्थ- 5/98

पूर्वज्ञः शुद्धिमात् युक्तो ध्याद्यैः संहननैस्त्रिभिः। संध्यायत्राद्यशुक्लाशं स्वां श्रेणिं शमकः श्रयेत् ॥ - गुणस्थानक्रमारोह-40

<sup>97</sup> लोभः संज्वलनः सूक्ष्मः शमं यत्र प्रपद्यते। क्षयं वा संयतः सूक्ष्मः साम्परायः स कथ्यते ॥

कौसुम्मोन्तर्गतो रागो यथावस्त्रे तिष्ठते। सूक्ष्म लोभ गुणेलोभः शोध्यमानस्तथा तनुः ॥ - संस्कृत पंचसंग्रह - 1/43-44

<sup>98</sup> स्टडीज इन जैन फिलॉसफी, पृ. 278

दमन किया गया है, तो वह आत्मा उपशमश्रेणी की ओर विकास करता हुआ सीधा बारहवें गुणस्थान को स्पर्श कर लेता है।

दूसरे शब्दों में, जिस अवस्था के अन्तर्गत कषाय उपशान्त हो गई, सूक्ष्म रागादि का सर्वथा अनुदय है, किन्तु सत्ता में स्थित हैं, वह जीव उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान वाला कहा जाता है।<sup>99</sup>

इस गुणस्थान वाला साधक अन्तर्मुहूर्त के अन्दर अवश्यमेव पतित होता है। यदि इस काल-परिमाण के मध्य वह मृत्यु को प्राप्त हो जाए, तो अनुत्तरविमान में देव-अवस्था को प्राप्त होता है और यदि मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है, तो पतन होना शुरू होता है, अर्थात् पुनः क्रमशः नीचे के गुणस्थानों में सातवें, चौथे या प्रथम गुणस्थान तक आ पहुंचता है। सातवें गुणस्थान में स्थित रहकर या चौथे गुणस्थान में रहकर वह पुनः क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करके आगे बढ़ जाता है। यह गुणस्थान अति अल्पकालीन होने से इसमें ध्यान की स्थिति पूर्ववत् ही होती है।

## 12. क्षीणमोह-गुणस्थान -

उपशमश्रेणी से आगे बढ़ा हुआ साधक ग्यारहवें गुणस्थान तक आकर पुनः पतन अर्थात् नीचे के गुणस्थान में पहुंच जाता है, लेकिन जो साधक क्षपकश्रेणी से आगे बढ़ता है, तो वह मोहनीय-कर्म की सभी कर्मप्रकृतियों का क्षय होते ही, यहाँ तक कि उनका सत्ता में भी अभाव होता है, वह क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। यहाँ से साधक अवश्यमेव मोक्षगामी होता है।

दूसरे शब्दों में, इस अवस्था में जीव आध्यात्मिक-विकास की अग्रिम भूमिकाओं का अधिकारी बनता है तथा उसके पुनः पतन की अवस्था का अभाव होता है।

<sup>99</sup> सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः (कर्मस्तव), पृ. 4-5

डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —“जैन-विचारणा के अनुसार, मोहकर्म अष्टकर्मों में प्रधान है। वह बन्धन में डालने वाले कर्मों की सेना का प्रधान सेनापति है। इसके परास्त हो जाने पर शेष कर्म भी स्वतः भागने लगते हैं। मोहकर्म के नष्ट हो जाने के पश्चात् थोड़े ही समय में दर्शनावरण, ज्ञानावरण एवं अन्तराय — ये तीनों कर्म भी नष्ट होने लगते हैं। क्षायिक-मार्ग पर आरूढ़ साधक दसवें गुणस्थान के अन्तिम चरण में उस अवशिष्ट सूक्ष्म लोभांश को भी नष्ट कर इस बारहवें गुणस्थान में आते हैं और एक अन्तर्मुहूर्त्त जितने अल्पकाल तक इसमें स्थित रहते हुए इसके अन्तिम चरण में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीनों कर्मों के आवरणों को नष्ट कर अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन और अनन्त-शक्ति से युक्त हो विकास की अग्रिम श्रेणी में चले जाते हैं।”<sup>100</sup> इस गुणस्थान में शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण संभव होते हैं।

### 13. सयोगीकेवली-गुणस्थान —

साधक क्षीणमोह-गुणस्थान के चरम समय में तीन घातीकर्मों का नाश करके सयोगीकेवली-गुणस्थान यानी तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है।<sup>101</sup> यहाँ ज्ञानावरणीय के क्षय से अनन्तज्ञान, दर्शनावरणीय के क्षय से अनन्तदर्शन और अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त-सुख तथा अनन्तवीर्य का प्रगटीकरण होता है।

डॉ.सागरमल जैन ने इस सन्दर्भ में कहा है —“इस श्रेणी में आने वाला साधक अब साधक नहीं रहता, क्योंकि उसके लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता, लेकिन चार अघातीकर्म शेष रहते हैं। इस अवस्था में मानसिक, वाचिक और कायिक-क्रियाएँ होती हैं, जिन्हें योग कहा जाता है। इन योगों के अस्तित्व के कारण ही इस अवस्था का नाम सयोगीकेवली-गुणस्थान कहा जाता है।”<sup>102</sup>

<sup>100</sup> प्रस्तुत संदर्भ —‘गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण — ले. डॉ. सागरमल जैन, पृ. 67

<sup>101</sup> ‘उप्यन्नमि अणंते नद्धमि य छाउमत्थिए नाणे !’ —सटीकाश्चत्वारः प्राचीनः कर्मग्रन्थाः (कर्मस्तव) पृ.5

<sup>102</sup> प्रस्तुत संदर्भ —‘गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण — ले. डॉ.सागरमल जैन, पृ. 69



आध्यात्मिक-विकास की इस भूमिका में अवस्थित साधक को जैनदर्शन में अरिहंत या केवली कहा जाता है, जबकि वेदान्त-दर्शन में इस भूमिका वाले व्यक्ति को जीवन-मुक्ति अथवा सदेह-मुक्ति कहते हैं। सयोगीकेवली त्रिकालज्ञाता होते हैं। भूत-भविष्य-वर्तमान की सभी वस्तुओं, पदार्थों से वे अनभिज्ञ नहीं रहते हैं।<sup>103</sup>

इस सन्दर्भ में विशेषावश्यकभाष्य में भी इसी बात का समर्थन मिलता है।<sup>104</sup> केवलीसमुद्घात की प्रक्रिया भी इसी गुणस्थान में होती है, परन्तु वह तब होती है, जब चारों अघातीकर्मों की स्थिति समान न हो।<sup>105</sup> सूक्ष्म मन-वचन-काय-योग का निरोध करके सर्वज्ञ अन्तिम अध्यात्म-विकास के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। इस अवस्था में शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण होते हैं।

#### 14. अयोगीकेवली-गुणस्थान -

आध्यात्मिक-विकास की इस भूमिका में साधक को आध्यात्मिक-पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है, लेकिन आध्यात्मिक-विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए सूक्ष्म काययोग का निरोध अनिवार्य है।

जो सर्वज्ञ योगों से रहित होते हैं और शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में स्थित हैं, वे अयोगीकेवली कहलाते हैं।<sup>106</sup> यह चारित्र-विकास या आध्यात्म-विकास की चरमावस्था है।

प्रशमरतिप्रकरण<sup>107</sup> और योगशास्त्र<sup>108</sup> में यह कहा गया है कि इस गुणस्थान के अन्तर्गत अ, इ, उ, ऋ, लृ - इन पाँच ह्रस्व स्वरों या पाँच व्यंजनों के

<sup>103</sup> कर्मगन्ध (भा.-6) टीका आचार्य मलयगिरि, उद्धृत- अभिधानराजेन्द्रकोश भाग-3, खगसेदी, पृ.-129-31

<sup>104</sup> सभिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सत्वओ सव्वं ।

तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ - विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1342

<sup>105</sup> प्रज्ञापना, पत्र-601/1

<sup>106</sup> प्रदाह्य घातिकर्माणि शुक्लध्यान कृशानुना ।

अयोगो याति शैलेशो मोक्षलक्ष्मी निरास्रव ॥ - संस्कृत पंचसंग्रह, 1/50

<sup>107</sup> ईषदह्रस्वाक्षरपंचकोग्दिरणमात्रतुल्यकालीयाम् ।

संयमवीर्याप्तबलः शैलेशीमेति गतलेश्यः ॥ - प्रशमरतिप्रकरण, श्लो. 284

उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय में आत्मा सर्वोत्कृष्ट शुक्लध्यान के माध्यम से सुमेरु के समान स्थिति को प्राप्त करके, शरीर का त्याग करके सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है।<sup>109</sup>

दूसरे शब्दों में, पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण जितनी अल्प समयावधि में शैलेशीकरण के माध्यम से चारों अघातीकर्मों का क्षय करके एक समय में ऋजुगति से उर्ध्वगमन कर लोकाग्र में स्थित मोक्ष में चले जाते हैं। सिद्धावस्था को प्राप्त होने पर अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अव्याबाध सुख, अनन्तवीर्य, क्षायिक-सम्यक्त्व, अक्षयस्थिति, अरूपी और अगुरुलघुत्व – इन आठ गुणों से युक्त होकर सदा-सदा के लिए कृतकृत्य बन जाते हैं। ये कर्मबीज रहित होने से पुनः संसार में लौटकर नहीं आते हैं।<sup>110</sup>

जैन विचारकों ने इसे मोक्ष, निर्वाण, शिवपद एवं निर्गुण-ब्रह्म की स्थिति प्राप्त करने वाला बताया है।<sup>111</sup> इसमें शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरण संभव होते हैं।

इस प्रकार, संक्षेप में ध्याता के आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न भूमिकाओं का (चौदह गुणस्थान) का वर्णन समाप्त होता है।

<sup>108</sup> केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।। – योगशास्त्र, 10/9

<sup>109</sup> क) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 3082-89

ख) जैनधर्मदर्शन, पृ. 50

<sup>110</sup> क) अनुयोगद्वार, क्षायिकभाव, सूत्र 126, पृ. 117

ख) समवायांगसूत्र, समवाय-31

ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. 1593/94

<sup>111</sup> ज्ञानसार, त्यागाष्टक (दर्शन और चिन्तन) भा.-2, पृ. 275 से उद्धृत

## आर्त्तध्यान के स्वामी की विभिन्न भूमिकाएँ

पूर्व में हमने ध्याता के आध्यात्मिक-विकास की विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा की और यह पाया कि जैन-परम्परा में ध्याता के आध्यात्मिक-विकास की चौदह भूमिकाएँ मानी गई हैं, जिन्हें गुणस्थान के नाम से जाना जाता है। इन चौदह गुणस्थानों में आर्त्तध्यान की संभावना किस गुणस्थान से लेकर किस गुणस्थान तक पायी जाती है – इस तथ्य के संबंध में यहाँ विवेचन करेंगे।

सामान्यतया, ध्यान-संबंधी ग्रन्थों में यह कहा गया है कि आर्त्तध्यान के स्वामी, अर्थात् आर्त्तध्यान करने वाले व्यक्ति पहले गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक पाए जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठम गुणस्थान के धारक आर्त्तध्यान में जीते हैं।

यद्यपि इन छह गुणस्थानों में द्वितीय और तृतीय गुणस्थान की कालावधि अधिक लम्बी नहीं होती है, फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि इन छह गुणस्थानों में आर्त्तध्यान की संभावना है। जैसा कि हमने पूर्व में विवेचित किया है कि जब तक व्यक्ति में इच्छाएँ, आकांक्षाएँ या अपेक्षाएँ बनी रहती हैं, तब तक आर्त्तध्यान की संभावना बनी रहती है। पहले गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक प्रमाद की सत्ता बनी रहती है, अर्थात् इन गुणस्थानों में व्यक्ति इच्छाओं, आकांक्षाओं या अपेक्षाओं से जुड़ा रहता है। किसी प्रकार की चाह या अपेक्षा होना ही आर्त्तध्यान है और जब तक प्रमाद की सत्ता बनी हुई है, तब तक इच्छाएँ, आकांक्षाएँ या अपेक्षाएँ समाप्त नहीं हो सकती। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि प्रथम गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक के जीवों में आर्त्तध्यान की संभावना बनी हुई है, फिर भी स्पष्ट रूप से यह जान लेना चाहिए कि इन छह गुणस्थानों के जीवों में आर्त्तध्यान की तरतमता तो रहती ही है। मिथ्यात्व-गुणस्थान में आर्त्तध्यान जितना तीव्र होता है, उसकी अपेक्षा षष्ठ गुणस्थान में रहने वाले मुनिवृंद के आर्त्तध्यान की स्थिति पर्याप्त रूप से कम होती है। प्रथम गुणस्थान में

आर्त्तध्यान सबसे तीव्र रहता है। द्वितीय और तृतीय गुणस्थान की कालावधि कम होने से इन दोनों गुणस्थानों में चाहे सत्ता में तीव्रतम आर्त्तध्यान रहे, फिर भी प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा इन दोनों गुणस्थानों में आर्त्तध्यान की तीव्रता और समयावधि—दोनों ही कम होते हैं, क्योंकि द्वितीय गुणस्थान का अधिकतम काल छह आवलिका और तृतीय गुणस्थान का काल मात्र एक अन्तर्मुहूर्त्त माना गया है। चतुर्थ गुणस्थान की कालावधि पर्याप्त रूप से दीर्घ हो सकती है, किन्तु सम्यग्दर्शन की उपस्थिति होने से इस गुणस्थान में आर्त्तध्यान की अवस्था उतनी तीव्र नहीं होती, जितनी कि प्रथम गुणस्थान में होती है। पंचम देशविरतसम्यग्दृष्टि—गुणस्थान और छठवें प्रमत्तसर्वविरति—गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की सत्ता होने से आर्त्तध्यान की उतनी तीव्रता नहीं रहती है। छठवां जो सर्वविरत प्रमत्तसंयत गुणस्थान है, उसमें प्रमाद की सत्ता तो है, किन्तु सर्वविरति होने के कारण उनकी आकाक्षाएँ, इच्छाएँ आदि अतितीव्र नहीं होती, अतः इस गुणस्थान में आर्त्तध्यान उतना सघन नहीं होता, जितना कि प्रथम गुणस्थान में होता है।

### रौद्रध्यान के स्वामी की विभिन्न भूमिकाएँ —

पूर्व में हमने जिस गुणस्थान—सिद्धान्त या आध्यात्मिक—विकास की अवस्थाओं की चर्चा की है, उसमें रौद्रध्यान के स्वामी किस भूमिका तक होते हैं, यह यहाँ एक विचारणीय प्रश्न है।

आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान—दोनों ही संसारी जीवों को होते हैं, फिर भी यह माना गया है कि रौद्रध्यान चतुर्थ गुणस्थान या पंचम गुणस्थान तक ही संभव है, क्योंकि मुनि को रौद्रध्यान नहीं होता है और यदि होता है, तो वह मुनित्व से गिर जाता है। इसका कारण यह है कि रौद्रध्यान अनंतानुबन्धी—कषायचतुष्क तथा अप्रत्याख्यानी—कषायचतुष्क की उपस्थिति में ही संभव है। यदि कहना हो, तो हम यह कह सकते हैं कि जहाँ आर्त्तध्यान में मात्र स्वार्थवृत्ति होती है, वहाँ रौद्रध्यान में स्वार्थ के साथ—साथ पर के अपकार या अहित की वृत्ति भी होती है, इसलिए

रौद्रध्यान के स्वामी की भूमिका प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान और पंचम गुणस्थान तक हो सकती है। पहले गुणस्थान में अनंतानुबन्धी-कषाय का उदय रहता है, इसलिए रौद्रध्यान करने वाले प्राणी मुख्यतया तो प्रथम गुणस्थान में ही होते हैं, क्योंकि उसमें अनंतानुबन्धी क्रोधादि की उपस्थिति बनी हुई है। द्वितीय गुणस्थान तो अतिअल्पकालिक है, लेकिन फिर भी सत्ता की अपेक्षा से, या अनाभिव्यक्त अवस्था की अपेक्षा से द्वितीय गुणस्थान में भी रौद्रध्यान संभव हो सकता है। तृतीय मिश्र-गुणस्थान है और इसमें जीव जब भी मिथ्यात्व की ओर अभिमुख होता है, उसमें रौद्रध्यान संभव हो सकता है। चतुर्थ गुणस्थान अविरत-सम्यग्दृष्टि का है। इस गुणस्थान में चाहे व्यक्ति की समझ ठीक हो, किंतु उसका अपने पर ही अंकुश नहीं होता, अर्थात् उसमें अप्रत्याख्यानी-कषायचतुष्क तो रहते हैं और उनकी उपस्थिति के कारण उसमें दूसरे के प्रति आक्रोश और अहित की भावना हो सकती है, अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों में या प्राणियों में रौद्रध्यान की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार, पंचम गुणस्थान में रहने वाले जीव भी कभी-कभी रौद्रध्यान से प्रभावित हो सकते हैं, क्योंकि इस गुणस्थान में भी अप्रत्याख्यानी-कषाय की संभावना रहती है। इस गुणस्थान के अन्त में ही व्यक्ति अप्रत्याख्यानी-कषाय का त्याग कर पाता है। पंचम गुणस्थान देशविरतसम्यग्दृष्टि का माना गया है। देशविरत का मतलब है—आंशिक रूप से कषायों के बन्धन में रहने वाला और आंशिक रूप से कषायों की अभिव्यक्ति की विरति में रहने वाला होता है। अतः पंचम गुणस्थानवर्ती प्राणी भी जब-जब कषायों के बन्धन में आता है, या अंशतः अविरत-दशा को प्राप्त होता है, तब-तब उसमें रौद्रध्यान की सम्भावना मानी जाती है, अतः हम यह कह सकते हैं कि सामान्यतया तो रौद्रध्यान के स्वामी मिथ्यादृष्टि-जीव ही होते हैं, किन्तु मिश्रगुणस्थानवर्ती-जीव या अविरतसम्यग्दृष्टि-जीव या देशविरतसम्यग्दृष्टि-जीव में भी रौद्रध्यान की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, रौद्रध्यान के स्वामी वे व्यक्ति होते हैं, जिनमें स्वहित—साधन के साथ—साथ पर के अनर्थ करने की वृत्ति भी होती है। रौद्रध्यान वस्तुतः वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए भी दूसरों का बड़े—से—बड़ा अहित कर सकता है। क्रोध एक आवेगात्मक—अवस्था है, जो रौद्रध्यान की सहवर्ती होती है। इसमें व्यक्ति अपना विवेक भूल बैठता है और विरोधी के प्रति आक्रोश के भाव से ग्रस्त हो जाता है।

**धर्मध्यान के स्वामी की भूमिका के सम्बन्ध में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर—परम्परा का मतभेद —**

आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान के स्वामी कौन होते हैं, इस पर मैंने अपनी दृष्टि से तो विचार किया है, किन्तु जैन—धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर—सम्प्रदायों में इस प्रश्न को लेकर मतभेद पाया जाता है।

मुख्य रूप से इन चारों ध्यानों में धर्मध्यान को लेकर ही यह मतभेद देखा जाता है। इस सम्बन्ध में जहाँ दिगम्बर—परम्परा चतुर्थ गुणस्थान से धर्मध्यान की संभावना को स्वीकार करती है, वहाँ श्वेताम्बर—परम्परा धर्मध्यान की संभावना को सातवें गुणस्थान से मानती है, क्योंकि जब तक आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान रहे हुए हैं, तब तक धर्मध्यान की संभावना नहीं है। इसके विपरीत दिगम्बर—परम्परा का कहना यह है कि धर्मध्यान की संभावना चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही हो सकती है। सातवें गुणस्थान के पश्चात् श्रेणी आरोहण करने वाले जीवों में मात्र शुक्लध्यान रहता है, अतः दिगम्बर—परम्परा के अनुसार धर्मध्यान की संभावना चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही मानी गई है, जबकि इसके विपरीत, श्वेताम्बर—मान्यता के अनुसार धर्मध्यान की संभावना सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थान तक भी सम्भव है। धर्मध्यान में दूसरे के हित का विचार है और इस कारण से दिगम्बर—परम्परा का यह कहना है कि जो व्यक्ति

श्रेणी-आरोहण करता है, वह 'स्व' में ही निमग्न रहता है, अतः उसमें पर के हित का कोई विचार ही नहीं हो सकता है।

परहित की भावना चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही संभव होती है, इसलिए दिगम्बर-परम्परा का यह आग्रह है कि धर्मध्यान की संभावना चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक ही मानी जा सकती है।

इस प्रकार, दिगम्बर-परम्परा चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के चार गुणस्थानों में ही धर्मध्यान की संभावना को मानती है, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार धर्मध्यान की संभावना सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक अर्थात् उपर्युक्त छह गुणस्थानों में पाई जाती है।

आर्त्त, रौद्र और शुक्ल-ध्यान के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में विशेष मतभेद नहीं है। जो मतभेद देखा जाता है, वह धर्मध्यान के सन्दर्भ में ही है।

इस संबंध में तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के छत्तीसवें सूत्र की व्याख्या करते हुए दिगम्बर-विद्वान् पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं—“धर्मध्यान के चार भेद हैं। ये अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत-जीवों के संभव हैं। तात्पर्य यह है कि श्रेणी-आरोहण के पहले-पहले धर्मध्यान होता है और श्रेणी-आरोहण के समय से शुक्लध्यान होता है।<sup>112</sup>”

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ दिगम्बर-परम्परा नौवें अध्याय के छत्तीसवें सूत्र को “आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्”<sup>113</sup> तक सीमित करती है, वहाँ श्वेताम्बर-परम्परा में यह सूत्र अधिक विस्तार से पाया जाता है। उसमें “आज्ञाऽपायविपाक संस्थान विचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य” तक कह दिया गया है। इसके बाद श्वेताम्बर-परम्परा में अड़तीसवें सूत्र के रूप में “उपशांतक्षीणकषाय-योश्च” का सूत्र भी मिलता है। इसकी व्याख्या में पण्डित सुखलालजी लिखते हैं—1. वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की आज्ञा क्या है और वह कैसी होनी चाहिए?

<sup>112</sup> तत्त्वार्थसूत्र - विवेचनकर्ता सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्द्र शास्त्री सूत्र 9/36 की व्याख्या पृ.301

<sup>113</sup> श्वेताम्बर-परम्परा में धर्म्यम् के स्थान पर “धर्ममप्रमत्तसंयतस्य” सूत्रपाठ है।

इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग लगाना आज्ञाविचय-धर्मध्यान है। 2. दोषों के स्वरूप और उनसे छुटकारा पाने के विचारार्थ मनोयोग लगाना अपायविचय-धर्मध्यान है। 3. अनुभव में आने वाले विपाकों में से कौन-कौनसा विपाक किस-किस कर्म का आभारी है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक सम्भव है -इसके विचारार्थ मनोयोग लगाना विपाकविचय-धर्मध्यान है। 4. लोकस्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना संस्थानविचय-धर्मध्यान है। धर्मध्यान के स्वामियों के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार, उक्त दो सूत्रों में निर्दिष्ट सातवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में, तथा इस कथन से सूचित आठवें आदि बीच के तीन गुणस्थानों में अर्थात् सातवें से बारहवें तक के छहों गुणस्थानों में धर्मध्यान संभव है। दिगम्बर-परम्परा में चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानों में ही धर्मध्यान की सम्भावना मान्य है। उसका तर्क यह है कि श्रेणी के आरंभ के पूर्व तक ही सम्यग्दृष्टि में धर्मध्यान संभव है और श्रेणी का आरम्भ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह ध्यान किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।<sup>114</sup>

इस प्रकार, उपसंहार-रूप से हम यह कह सकते हैं कि जहाँ आर्त, रौद्र और शुक्लध्यान के सन्दर्भ में श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में मतैक्य है, वहाँ धर्मध्यान को लेकर दोनों परम्पराओं में मतभेद भी है। सामान्य रूप से चारों ध्यानों के स्वामियों की चर्चा को हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। आर्तध्यान पहले गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक पाया जाता है। रौद्रध्यान पहले गुणस्थान से पांचवें गुणस्थान तक के जीवों में पाया जाता है। धर्मध्यान श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है, जबकि दिगम्बर-परम्परा के अनुसार धर्मध्यान चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर सातवें गुणस्थान तक ही पाया जाता है। शुक्लध्यान तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि शुक्लध्यान के चार चरणों में से प्रथम

<sup>114</sup> 'तत्त्वार्थसूत्र' विवेचक पं. सुखलाल सिंघवी, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 227



दो चरण तेरहवें गुणस्थान में और अंतिम दो चरण चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों में पाए जाते हैं। इस प्रकार, चारों ध्यानों के स्वामियों की चर्चा समाप्त होती है।

### धर्मध्यान में पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का स्वरूप -

आगमेतर ग्रन्थ-साहित्य में अर्थात् योगशास्त्र<sup>115</sup>, योगसार<sup>116</sup>, द्रव्यसंग्रह (टीका)<sup>117</sup>, ज्ञानार्णव<sup>118</sup>, ध्यानस्तव<sup>119</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>120</sup>, ध्यानदीपिका<sup>121</sup>, ध्यानविचार<sup>122</sup>, गुणस्थानक्रमारोह<sup>123</sup>, ध्यानसार<sup>124</sup>, स्वाध्यायसूत्र<sup>125</sup> आदि ग्रन्थों के प्रणेताओं ने ध्येय की दृष्टि से धर्मध्यान को चार भागों में विभाजित किया है -

1. पिण्डस्थध्यान, 2 पदस्थध्यान, 3 रूपस्थध्यान और 4. रूपातीतध्यान।

‘स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा’ में हमें उपर्युक्त चार ध्यानों के क्रम में अन्तर दृष्टिगोचर होता है।<sup>126</sup>

<sup>115</sup> पिण्डस्थं च पदस्थं, रूपस्थं रूपवर्जितम्। चतुर्धा ध्येयमाप्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः। -योगशास्त्र-7/8

<sup>116</sup> जो पिण्डस्थं पदस्थं बुह रूपस्थं वि जिणउत्त।  
रूपातीतु मुणेहि लहु जिमि परू होहि पवित्तु।। - योगसार, 98

<sup>117</sup> पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।  
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीत निरंजनम्।। - द्रव्यसंग्रह (टीका) 48

<sup>118</sup> पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।  
चतुर्धा ध्यानमाप्नातं भव्यराजीवभास्करैः।। - ज्ञानार्णव-34/1

<sup>119</sup> पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। - ध्यानस्तव, श्लोक-24

<sup>120</sup> कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. 226

<sup>121</sup> पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।  
इत्यन्यच्चापि सदध्यानं ते ध्यायन्ति चतुर्विधम्।। - ध्यानदीपिका, श्लोक-137, पृ.8

<sup>122</sup> पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितम्।  
तत्तं परमिद्विमयं गुरुवद्दुष्टं शुणिससामि।। - ध्यानविचार-सविवेचन, पृ. 147

<sup>123</sup> पिण्डस्थादि चतुर्धा या धर्मध्यान प्रकीर्तितम्।। - गुणस्थानक्रमारोहण, 35

<sup>124</sup> पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।  
ध्येयचतुर्विधं प्रोक्तं धर्मध्यानपथाध्वगैः।। - ध्यानसार, 116

<sup>125</sup> पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीत-लक्ष्यानुरूपमपि पुनश्चतुर्विधम्।। -स्वाध्यायसूत्र, अ.10/12

<sup>126</sup> पदस्थं मन्त्रवाक्यस्य.....।। -स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, पृ. 370

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत पदस्थ-ध्यान को प्रथम एवं पिण्डस्थ-ध्यान को द्वितीय श्रेणी में रखा गया है।

'ज्ञानसार' में रूपातीत-ध्यान के अतिरिक्त पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान का वर्णन मिलता है।<sup>127</sup>

'सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति' के अन्तर्गत प्रणिधान के संबंध में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत आदि चार भेदों का उल्लेख मिलता है।<sup>128</sup> इन चारों भेदों का विस्तार से विवेचन इस प्रकार है :-

1. पिण्डस्थ-ध्यान का स्वरूप - पिण्ड, अर्थात् देह या शरीर। स्थ, अर्थात् उसमें स्थित या उसमें रहने वाली, अतः पिण्डस्थ का सीधा अर्थ होता है -शरीर में विद्यमान आत्मा।

सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सशरीर आत्मा का ध्यान ही पिण्डस्थध्यान कहा जाता है। शरीर का सहारा अथवा आलम्बन लेकर चित्त को स्थिर किया जाने वाला ध्यान ही पिण्डस्थ ध्यान है।<sup>129</sup>

'श्रावकाचारसंग्रह' के अनुसार, स्वच्छ स्फटिक के समान निर्मल, पवित्र देह, ज्ञान-दर्शन-परमसुख तथा वीर्ययुक्त, अशोकवृक्ष, सुरपुष्पवृष्टि आदि अष्ट-महाप्रातिहार्य से सुशोभित, सुर-नर से पूजित, चार घातीकर्मों के नष्ट हो जाने से उत्पन्न अनंत-ज्ञान, अनन्त-दर्शन के स्वामी चौत्तीस अतिशय एवं पैंतीस वाणी के गुणों से युक्त अरिहंत-परमात्मा का जिसमें ध्यान किया जाता है वह पिण्डस्थ-ध्यान कहलाता है।<sup>130</sup>

<sup>127</sup> ज्ञानसार - पद्मसिंहमुनि विरचित, 18/28 प्रस्तुत प्रमाण 'जैन एवं बौद्ध योग'-डॉ. सुधा जैन पुस्तक से उद्धृत, पृ.200

<sup>128</sup> प्रस्तुत संदर्भ - 'ध्यानविचार-सविवेचन' पुस्तक से उद्धृत, पृ. 155

<sup>129</sup> ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ - योगशास्त्र, श्लोक-8, पृ.7

<sup>130</sup> शुद्धस्फटिकसंकाशं प्रातिहार्यष्टकान्वितम्।

यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद् ध्यानं पिण्ड संज्ञकम् ॥ - श्रावकाचार संग्रह, भा.-2, पृ.457

इसमें एक अन्य रूप से भी स्पष्ट किया गया है कि पुरुषाकृति रूप चौदह राजलोक का चिन्तन, अर्थात् अपने शरीर में तीन लोक के आकार का चिन्तन-मनन करना पिण्डस्थ-ध्यान है।<sup>131</sup>

‘सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति’ के अनुसार, अरिहंत-परमात्मा के स्वरूप का ध्यान पिण्डस्थ-प्रणिधान है।<sup>132</sup>

‘ध्यानस्तव’<sup>133</sup> में लिखा गया है –“स्वच्छ स्फटिक के सदृश निर्मल, आदित्य के समान भास्वर, दूरस्थ आकाश-प्रदेश के लोकाग्र भाग में संस्थित, समस्त अतिशययुक्त, अष्टप्रातिहार्य समन्वित, भव्यजनों के लिए आनंदप्रद, विश्वज्ञ, सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, नित्यानन्दस्वरूप, अनन्त आत्मगुणों से युक्त परमात्मा को अपने देहस्थ आत्मा से अभिन्न मानते हुए तथा शुद्ध ध्यानरूप अग्नि द्वारा समस्त कर्मों का दहन करते हुए परमात्मा का ध्यान पिण्डस्थ-ध्यान के रूप में समादृत है।<sup>134</sup>

ध्यानसार<sup>135</sup> के अनुसार अर्हन्त आदि अक्षरों से युक्त नाभिकमल आदि के रूप में देह स्थानों में योगियों के ध्यान करने को पिण्डस्थ-ध्येय कहा है। स्वाध्यायसूत्रानुसार, जो पृथिव्यादि तत्त्वों, स्वयं के शरीर तथा आत्मप्रतीक आदि पिण्डों पर आधारित होता है, वह पिण्डस्थ है।<sup>136</sup>

पिण्डस्थ-ध्यान से साधक निर्लिप्त-निर्मुक्त हो जाता है, अर्थात् वह संसार के जाल से मुक्त हो जाता है।<sup>137</sup> ध्यानामृत<sup>138</sup> में लिखा है कि आत्मस्वरूप का चिन्तन करना पिण्डस्थ-ध्यान है।

<sup>131</sup> अधो भागमधोलोकं मध्यांशं मध्यमं जगत् ...।। – श्रावकाचार-संग्रह, भाग-2, गां.121-123, पृ. 457

<sup>132</sup> ‘शरीरस्थस्य’-सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति।। – प्रस्तुत संदर्भ ध्यानविचार-सद्विवेचन पुस्तक से उद्धृत, पृ. 156

<sup>133</sup> स्वच्छस्फटिकसंकाशव्यक्तादित्यादि तेजसम्। दूराकाशप्रदेशस्थं संपूर्णोदग्रविग्रहम्।।  
सर्वातिशयसंपूर्ण ..... पिण्डस्थध्यानमीडितम्।। – ध्यानस्तव, 25,26,27,28

<sup>134</sup> प्रस्तुत संदर्भ ‘जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकासक्रम’ पुस्तक से उद्धृत, पृ. 59

<sup>135</sup> नाभिपद्मादिरूपेषु देहस्थानेषु योगिनाम्।

अर्हमाद्यक्षरन्यासैः पिण्डस्थं ध्येयमुच्यते।। – ध्यानसार, श्लोक-117

<sup>136</sup> पृथिव्यादि-भूत-स्वशरीरात्म प्रतीकादि-पिण्डाश्रितं पिण्डस्थम्।। – स्वाध्यायसूत्र, अधि.10, सू.13

<sup>137</sup> प्रस्तुत संदर्भ ‘बातचीत :ध्यान/योग’ पुस्तक से उद्धृत, पृ. 10

<sup>138</sup> ‘पिण्डस्थ स्वात्म चिन्तनम्’ – ध्यानामृत, धर्मालंकार से उद्धृत, पृ.189

इस ध्यान की सिद्धि के लिए पांच धारणाओं का चिन्तन किया जाता है।<sup>139</sup>

1. पार्थिवी-धारणा, 2. आग्नेयी-धारणा, 3. श्वासना-धारणा, 4. वारुणी-धारणा, 5. तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू)-धारणा। इनका विस्तार से वर्णन आगे किया जाएगा।

### पदस्थ-ध्यान का स्वरूप --

पदस्थ, अर्थात् पदों अथवा अक्षरों पर चित्त को एकाग्र करना पदस्थ ध्यान है। इस ध्यान में नानाविध विधाओं, मंत्रों, पदों आदि का आलम्बन लिया जाता है।

'ज्ञानार्णव' में इसके स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि निर्मल-पवित्र पदों, शब्दों या स्वर-व्यंजनों अथवा बीजाक्षरों के अवलम्बन द्वारा जो चिन्तन-मनन रूप ध्यान किया जाता है, वह ध्यान पदस्थ-ध्यान कहलाता है।<sup>140</sup>

'वसुनन्दि श्रावकाचार' में भी इसी बात का समर्थन मिलता है कि एक अक्षर से लेकर विविध रूप के पंच-परमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्रपदों का उच्चारण जिस ध्यान में किया जाता है, वह ध्यान ही पदस्थ कहा जाता है।<sup>141</sup>

'योगशास्त्र' में भी इसी बात की पुष्टि की गई है कि महाप्रभावशाली मन्त्राक्षर आदि पवित्र पदों का अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुषों ने पदस्थध्यान के रूप में स्वीकार किया है।<sup>142</sup>

<sup>139</sup> क) पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा। तत्त्वभूः पंचमी चेति पिण्डस्थे पंचधारणा ॥ - योगशास्त्र, 7/9

ख) पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनावाय वारुणी। तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥ - ज्ञानार्णव, 37/3

<sup>140</sup> पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।

तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ - ज्ञानार्णव, 35/1

<sup>141</sup> जं झाइज्जइ उच्चारिरुण परमेष्ठिमंतपयममलं।

एयक्खरादि विविहं पयत्थज्ञाणं मुणेयव्वं ॥ - वसुनन्दिश्रावकाचार, 464

<sup>142</sup> यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।

तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्त पारगैः ॥ - योगशास्त्र, पृ.8, श्लो.-1

‘ध्यानस्तव’<sup>143</sup> के अनुसार –“प्रभो! तुम्हारे अनुगृहीत स्वरूप, अर्थात् तुम्हारे प्रमाद से मानसिक-विकल्पता से रहित होकर, एकाग्रता को पाकर जिसमें आपके नाम-पद का, नाम के अक्षर या मंत्रों का जो जाप होता है, उसको पदस्थ-ध्यान कहा जाता है।”<sup>144</sup>

### अक्षरध्यान –

अक्षरों के द्वारा ध्याता शरीर के तीन भागों की कल्पना करता है, अर्थात् नाभिकमल, हृदयकमल तथा मुखकमल की मानसिक-कमलाकृति का चिन्तन करता है, जैसे- मेरे नाभिकमल में सोलह दलवाला एक कमल स्थित है, जिसकी एक-एक पंखुड़ी पर ‘अ’ ‘आ’ ‘इ’ ‘ई’ आदि ऐसे सोलह अक्षरों का अंकन है।<sup>145</sup> ध्याता इन वर्णों पर अध्यवसायों को स्थिर करता है।

हृदयकमल में साधक चौबीस पंखुड़ियों से युक्त एक कमल की परिकल्पना करता है, जिसके एकदम बीच में एक कर्णिका भी होती है। इन चौबीस पंखुड़ियों तथा कर्णिका पर ‘क’, ‘ख’, ‘ग’ से लेकर ‘प’, ‘फ’, ‘ब’, ‘भ’, ‘म’ तक पच्चीस वर्ण लिखे हुए रहते हैं।<sup>146</sup> मुखकमल पर आठ पत्रवाला एक कमल बना हुआ है, जिसके प्रत्येक पत्र पर य, र, ल, व, श, ष, स, ह आदि आठ वर्ण अंकित हैं।

इस प्रकार, अपने-अपने मण्डलों में विद्यमान अकार से लेकर हकार तक के परमशक्तिसम्पन्न मंत्रों के ध्यान से प्रज्ञा जाग्रत होती है। यह ध्यान इसलोक एवं परलोक में फल प्रदान करने वाला होता है।<sup>147</sup>

<sup>143</sup> तव नामपदं देव मंत्रमैकाग्रयमीर्यतः ।

जपतो ध्यानमात्मातं पदस्थं त्वत्प्रसादतः ॥ – ध्यानस्तव, श्लो. 29

<sup>144</sup> प्रस्तुत संदर्भ ‘ध्यानशतक एवं ध्यानस्तव’ –बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री पुस्तक से उद्धृत, पृ.10-11

<sup>145</sup> क) द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि ..... ॥ –ज्ञानार्णव 35/3

ख) तत्र षोडशपत्राढ्ये नाभिकन्दगतेऽम्बुजे ..... ॥ –योगशास्त्र 8/2

<sup>146</sup> क) चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदिकंजं .....पंचविंशतिम् ॥ – ज्ञानार्णव, 35/4

ख) चतुर्विंशतिपत्रं च हृदि पद्मं.....पंचविंशतिम् ॥ – योगशास्त्र 8/3

<sup>147</sup> क) तत्त्वानुशासन-107 ख) वक्त्रब्जेऽष्टदले ..... ॥ योगशास्त्र-8/4

## मन्त्र और वर्णों का ध्यान —

इस ध्यान के अन्तर्गत 'अर्ह' को समस्त मंत्रों, वर्णों और पदों का स्वामी माना गया है, जो रेफ ( ' ) युक्त कला एवं बिन्दु से आक्रान्त अनाहत सहित मंत्रराज कहलाता है।<sup>148</sup>

'ज्ञानार्णव' के अन्तर्गत आचार्य शुभचन्द्र और 'योगशास्त्र' के अन्तर्गत आचार्य हेमचन्द्र ने अनाहत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अर्ह महामन्त्र 'अनाहतदेव' से युक्त है।<sup>149</sup>

ज्ञानार्णव<sup>150</sup> एवं योगशास्त्र<sup>151</sup> में इस महामन्त्र की ध्यान-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। विस्तार के भय से इसका वर्णन यहाँ न करते हुए मात्र इतना ही समझना है कि दूज के चांद की रेखा के सदृश एवं बाल के अग्रभाग के सदृश सूक्ष्म रूप से अनाहत 'ह' का धातव्य है।<sup>152</sup>

इस ध्यान के अन्तर्गत पहले लक्ष्य का आलंबन तत्पश्चात् अनुक्रम से लक्ष्य का अभाव बताया गया है।

लक्ष्य से अलक्ष्य की ओर आगे बढ़ना यह इस ध्यान का विधान है। जिस साधक का मन अलक्ष्य में स्थित हो जाता है, उसको मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है।<sup>153</sup>

<sup>148</sup> अथ मन्त्रपदाधीशं सर्वतत्त्वैकनायकम्। आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यंजन सम्भवम्।

ऊर्ध्वाधारेफसंरुद्धं सकलं बिन्दुलाच्छित्तम्। अनाहतयुतं तत्त्वं मंत्रराजं प्रचक्षते।। - ज्ञानार्णव- 35/7-8

<sup>149</sup> क) अनाहताभिधं देवं दिव्यरूपं विचिन्तयेत्।। - वही- 35/25

ख) अनाहताभिधं देवं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत्।। - योगशास्त्र- 8/25

<sup>150</sup> ज्ञानार्णव- 35/10, 16-19, 24

<sup>151</sup> योगशास्त्र- 8/ 18-22, 25-26

<sup>152</sup> क) चन्द्रलेखासमं सूक्ष्मं स्फुरन्तं भानुभास्वरम्।। -ज्ञानार्णव- 35/25

ख) निशाकर-कलाकरं सूक्ष्म भास्कर भास्वरम्।। - योगशास्त्र- 8/25

<sup>153</sup> क) ध्यायेदेकाग्रतां प्राप्य कर्तुं चेतः सुनिश्चलम्।। - ज्ञानार्णव- 35/27

ख) निषण्णमनसस्तत्र सिध्यत्यभिमतं मुनेः।। - योगशास्त्र- 8/28

## प्रणवध्यान —

इस ध्यान के अन्तर्गत 'ऊँ' पद का ध्यान किया जाता है। प्रायः सभी मोक्षवादी-परम्पराएँ इसे एकमत से स्वीकार करती हैं। जैन-दर्शन अर्थात् जैन-वाङ्मय में ऊँ को पंचपरमेष्ठी के वाचक के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार अरहंत, अशरीरी-सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि—इन पांच पदों के प्रथम वर्ण को लेकर संधि करने से ऊँ शब्द निष्पन्न होता है, अर्थात् अ+अ+आ+उ+म= अ+अ+आ+=आ। आ+उ=ओ और ओ+म=ओम या ऊँ ऐसा माना गया है।<sup>154</sup> इस महामंत्र 'ऊँ' को कुम्भक के माध्यम से ध्याया जाता है।<sup>155</sup>

## पंचपरमेष्ठी ध्यान —

इस ध्यान के अंतर्गत सर्वप्रथम हृदय में आठ पंखुड़ियों से युक्त कमल को स्थित करके कर्णिका पर अंकित 'सप्ताक्षर अरहंताणं' पद का स्मरण, तत्पश्चात् चारों दिशाओं में चार पंखुड़ियों पर 'णमो सिद्धाणं', 'णमो आयरियाणं', 'णमो उवज्झायाणं', 'णमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान किया जाता है, फिर चारों विदिशाओं के पत्रों में क्रमशः एसो पंचनमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं इन पदों का ध्यान होता है,<sup>156</sup> परन्तु ज्ञानार्णव में विदिशाओं में क्रम की भिन्नता नजर आती है।<sup>157</sup> इनके अतिरिक्त, जैन-ग्रन्थों में बहुत से मंत्र हैं, जिनका निरंतर एवं शुद्ध-अध्यवसायों से जप करने पर साधक को परमशान्ति मिलती है तथा कर्मों का नाश होता है।<sup>158</sup>

<sup>154</sup> अरहता-असरीरा-आयरिय-उवज्झाय-मुणिणो। पंचत्तरनिष्णणो ओंकारो पंच परमिद्धो॥

छत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिषमन्ति प्रदक्षिणम्। अ-स-आ-उ साप्तराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम्॥ -तत्वानुशासन 10

<sup>155</sup> कुम्भकेन महामंत्र प्रणव परिचिन्तयेत् — योगशास्त्र-8/30

<sup>156</sup> अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकायां कृतस्थितिम्। आद्य सप्ताक्षरं मन्त्रं पवित्रं चिन्तयेत्ततः॥

सिद्धादिक-चतुष्कं च दिक्पत्रेषु यथाक्रमम्। चूलापाद-चतुष्कं च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत्॥ - योगशास्त्र, 8/33-34

<sup>157</sup> स्फुरद्विमलचन्द्राभे .....दृष्टिबोधादिकं तथा॥ - ज्ञानार्णव- 35/41-42

<sup>158</sup> 'अण्णं च गुरुवएसेण' - बृहद्द्रव्यसंग्रह, 49

‘**ध्यानसार**’ के अनुसार परमेष्ठी आदि के वाचक ओंकार आदि अक्षरों की पंक्ति को उच्चारण के द्वारा दुहराना ध्याता का पदस्थ-ध्येय कहलाता है।<sup>159</sup>

‘**स्वाध्यायसूत्रानुसार**’, पवित्र-निर्मल अक्षर आदि पर आश्रित ध्यान को पदस्थ कहा जाता है। जिस प्रकार पिण्डस्थ-ध्यान में पिण्डरूप प्रतीक को केन्द्र मानकर उस पर ध्यान का अभ्यास किया जाता है, उसी प्रकार पदस्थ-ध्यान में अक्षरों को केन्द्र मानकर अभ्यास किया जाता है। पिण्डस्थ-ध्यान की अपेक्षा पदस्थ-ध्यान सूक्ष्म होता है। पिण्डस्थ-ध्यान के अन्तर्गत पृथ्वी, वायु आदि स्थूल प्रतीक केन्द्र बनते हैं, वहीं पदस्थ-ध्यान में उनका स्थान अक्षर ले लेते हैं। इस तरह, साधक सूक्ष्म केन्द्र के माध्यम से आत्मोन्मुखता पाने में विशेष विकास की दिशा में गतिशील बनता है।<sup>160</sup>

### रूपस्थ-ध्यान का स्वरूप —

अरिहंत भगवान् के स्वरूप का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान रूपस्थ-ध्यान कहलाता है।<sup>161</sup> दूसरे शब्दों में, तीर्थकर आदि महापुरुषों के सद्गुणों एवं आदर्शों को अपने सामने उपस्थित कर, उनका आश्रय लेकर साधक के द्वारा जो ध्यान किया जाता है, वही ध्यान रूपस्थध्यान है।

‘**ज्ञानार्णव**’ में पैंतीस सर्ग के ‘रूपस्थध्यान’ के अन्तर्गत श्लोक क्रमांक-1 से लेकर 46 तक रूपस्थ ध्यान का वर्णन है। उसमें लिखा है कि जिस अरहंत देव के द्वारा अनन्तज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, लोभ, उपभोग, वीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, चारित्र आदि जो इन नौ लब्धिसम्पन्न आभ्यन्तर लक्ष्मीयुक्त हैं, जो समस्त विश्व के ज्ञाता, दाता, सर्वहितैषी, प्रवर्धमान, निरामय, नित्य, अव्यय, अव्यक्त एवं पुरातन हैं, ऐसे

<sup>159</sup> प्रवणाद्यक्षरश्रेणी परमेष्ठ्यादिवाचिकाम् । ध्वनिना वर्तनं तस्य पदस्थं ध्ययेमुच्यते ॥ - ध्यानसार, 118

<sup>160</sup> ‘पवित्राक्षराद्याश्रितं पदस्थम्’ । - स्वाध्यायसूत्र, डॉ. छगनलाल शास्त्री, सूत्र 15, पृ. 267

<sup>161</sup> अर्हतो रूपामालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥ - योगशास्त्र- 9/7



महापुरुष को याद करके जो ध्यान किया जाता है, वह ध्यान ही रूपस्थ-ध्यान है।<sup>162</sup>

‘ध्यानस्तव’ के अनुसार जो योगीराज आपके नाम मात्र का तथा भिन्न श्वेत प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है, उसको रूपस्थ-ध्यान कहा जाता है।<sup>163</sup> इसका और स्पष्टीकरण करते हुए भास्करनन्दी लिखते हैं कि जो शुद्धस्वरूप स्थित प्रातिहार्य से युक्त अरहन्त जैसे अपने शरीर का ध्यान करता है, उसे भी रूपस्थध्यान कहते हैं।<sup>164</sup>

‘ध्यानसार’ में रूपस्थ-ध्यान का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि शुद्ध स्फटिक के समान देदीप्यमान भामण्डलादि अष्टप्रातिहार्ययुक्त जिन-रूप का चिन्तन करना रूपस्थ-ध्येय कहलाता है।<sup>165</sup>

‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’ ज्ञान-दर्शनादि गुणों से युक्त, अर्हत्-परमात्मा के स्वरूप को आश्रय बनाकर किया जाने वाला ध्यान रूपस्थ है।<sup>166</sup> दूसरे शब्दों में, समस्त अरहन्त-परमात्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का भी चिन्तन-मनन करना, वे केवली हैं; सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे ज्ञानावरणीयादि चार घातीकर्मों का क्षय कर चुके हैं। ऐसे शुद्ध अरिहन्त-परमात्मा को केन्द्र में रखकर ध्यान करना ही रूपस्थ-ध्यान है।<sup>167</sup>

‘सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति’ में लिखा है कि अरिहन्त की प्रतिमा का ध्यान रूपस्थ-प्रणिधान है।<sup>168</sup>

<sup>162</sup> नवकेवललक्ष्मिश्रीसंभवं स्वात्मसंभवम् । तुर्यध्यानमहावहनौ हुतकर्मन्धनोत्करम् ॥

रत्नत्रय सुधास्यन्दमन्दीकृतभव भ्रमम् । वीतसंगं जिताद्वैतं शिवं शान्तं च शाश्वतम् ॥

सर्वज्ञं सर्वदं सार्वं वर्धमानं निरामयम् । नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम् ॥ -ज्ञानार्णव, 36/24,25,26,30

<sup>163</sup> नामाक्षरं शुभ्रं प्रतिबिम्बं च योगिनः । ध्यायतो भिन्नमीशेदं ध्यानं रूपस्थमीडितम् ॥ -ध्यानस्तव, श्लो.30

<sup>164</sup> शुद्धं शुभ्रं स्वतो भिन्नं प्रातिहार्यदिभूषितम् । देव स्वदेहमर्हन्तं रूपस्थं ध्यानं तोऽथवा ॥ -वही,श्लोक 31

<sup>165</sup> भामण्डलादिशुक्तस्य शुद्धस्फटिकभासिनः । चिन्तनं जिनरूपस्य रूपस्थं ध्येयमुच्यते ॥ -ध्यानसार, 119

<sup>166</sup> ज्ञानादिगुणान्विताऽर्हत्स्वरूपाश्रितं रूपस्थम् ॥ -स्वाध्यायसूत्र, अधि.10, सूत्र 16

<sup>167</sup> प्रस्तुत संदर्भ ‘बातचीतःध्यान योग’ -डॉ.नेमीचंद जैन, पुस्तक से उद्धृत, पृ.11

<sup>168</sup> प्रतिमास्थस्य (सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति), प्रस्तुत संदर्भ ‘ध्यानविचार-सविवेचन’ पुस्तक से उद्धृत, पृ. 156

‘स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा’ की टीका में एक बात और स्पष्ट की है कि रूपस्थ— ध्यान को साधक दो प्रकार से ध्या सकता है— 1. स्वगत और 2. परगत। स्वयं की आत्मा का ध्यान है—स्वगत और अरहन्त आदि का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, वह परगत है।<sup>169</sup>

प्रवचनसारोद्धार<sup>170</sup>, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा<sup>171</sup>, श्रावकाचारसंग्रह<sup>172</sup> आदि ग्रन्थों में लिखा है कि समवसरण में विराजमान अरिहंत परमात्मा का जिसमें ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थध्यान कहलाता है।

‘योगशास्त्र’ में रूपस्थध्यानवर्ती के लक्षण का निरूपण करते हुए लिखा है कि रूपस्थध्यान को ध्याने वाला ध्याता राग—द्वेषादि कषायप्रवृत्ति से परे होता है, योगमुद्रा से युक्त होने के कारण नेत्रों से असीम आनंद एवं करुणा का झरना प्रवाहित होता है। विशेष गुणों से युक्त जिनेन्द्र के प्रतिबिम्ब के शान्तचित्तवृत्ति से ध्यान में निमग्न रहता है।<sup>173</sup>

सारांश यह है कि प्रस्तुत ध्यान का ध्याता राग—द्वेषादि कषायभावों से रहित वीतराग का ही ध्यान करता है, क्योंकि रागी के ध्यान से रागी एवं वीतरागी के ध्यान से साधक वीतरागी बनता है।<sup>174</sup> इसका मूल कारण यह है कि जीव जिन—जिन अध्यवसायों के अधीन होता है, उन—उन अध्यवसायों में एकाग्र हो जाता है।<sup>175</sup>

<sup>169</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ. 377

<sup>170</sup> प्रवचनसारोद्धार, गा. 441—450

<sup>171</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, शुभचन्द्र टीका, पृ. 377

<sup>172</sup> श्रावकाचार संग्रह, भाग—2, पृ. 459

<sup>173</sup> राग—द्वेष—महामोह—विकारैकलंकितम्। शान्तं कान्तं मनोहारि सर्वलक्षणलक्षितम्॥ तीर्थिकैर परिज्ञात—योगमुद्रा मनोरमम्। अक्षणोरमन्दमानन्दनिःस्यन्दं ददददभुतम्॥ जिनेन्द्रप्रतिमारूपम् अपि निर्मल मानसः। निर्निषेधदशां ध्यायन् रूपस्थध्यानवान् भवेत्॥ — योगशास्त्र, प्र.9, श्लो. 8,9,10

<sup>174</sup> वीतरागो विमुच्यते वीतरागं विचिन्तयन्। शमिणं तु समालम्ब्य रागीस्यात् क्षोमणादिकृत॥ — योगशास्त्र— 9/13

<sup>175</sup> येनयेन हि भावेन युज्यते यन्त्रवाहकः। तेन तनमयतां यति विश्वरूपो मणिर्यथा॥ — वही— 9/14

## रूपातीत—ध्यान का स्वरूप —

रूप से अतीत का अर्थ होता है कि रंग—रूप से रहित, निरंजन, ज्ञानयुक्त शरीर, आनंदस्वरूप के स्मरण करने को रूपातीत—ध्यान कहते हैं। शुद्ध—पवित्र, कर्ममल से रहित परमात्मा का ध्यान ही रूपातीत—ध्यान है।<sup>176</sup> जिसमें ध्याता अपनी आत्मा को परमात्मा समझकर स्मरण करता है और उसी में लीन बन जाता है तथा अपने कर्मों का क्षय करके प्रत्यक्ष रूप परमेष्ठी बन जाता है।<sup>177</sup>

‘योगशास्त्र’ में लिखा है कि इन्द्रियों के विषयों से परे, अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित, आकार—रहित, अनंतज्ञान, अनंत—दर्शन, अनंत—चारित्र्य आदि गुणों से अलंकृत, चिदानन्दमय, निरंजन, अष्ट—कर्मों को क्षय करके जो सिद्ध, बुद्ध हो चुके—ऐसे सिद्ध—परमात्मा का ध्यान रूपातीत—ध्यान कहलाता है।<sup>178</sup>

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका<sup>179</sup> और श्रावकाचार—संग्रह<sup>180</sup> में भी इसी बात का समर्थन मिलता है कि इस ध्यान में अवस्थित साधक प्रथम तो अपने गुणों को स्मृतिपटल पर लाकर उनका स्मरण करता है, तत्पश्चात् सिद्धों के गुणों का चिन्तन—मनन करता है। उन सिद्ध—बुद्ध, निरंजन—निराकार, सिद्ध—परमात्मा के चरणों का आश्रय लेकर उनका निरंतर ध्यान करता रहता है। उस समय साधक (योगी) की ध्याता और ध्यान—इन दोनों से परे ध्येयरूप सिद्ध—परमात्मा के साथ एकरूपता हो जाती है।<sup>181</sup>

<sup>176</sup> चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं ज्ञानविग्रहम्।

स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ॥ — ज्ञानार्णव, 37/16

<sup>177</sup> तद्गुणग्रामसंपूर्णं तत्स्वभावैकभाषितम्।

कृत्वात्मानं ततो ध्यानी योजयेत्परमात्मनि ॥ — वही— 37/19

<sup>178</sup> अमूर्तस्य चिदानन्द—रूपस्थ परमात्मनः।

निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम् ॥ — योगशास्त्र— 10/1

<sup>179</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ. 378

<sup>180</sup> श्रावकाचार—संग्रह, भाग—2, पृष्ठ 459

<sup>181</sup> क) इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः। तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥ —योगशास्त्र, 10/2

ख) आकर्षण वशीकारः .....ततःसमरसीभाव—सफलत्वान्न दिग्भ्रमः ॥ —तत्त्वानुशासन नामक ध्यानशास्त्र, 211—212

रूपातीत योगी के अध्यवसाय सिद्ध—परमात्मा के साथ एकीकृत हो जाना ही समरसीभाव कहलाते हैं।<sup>182</sup> आत्मा अभेद रूप से परमात्मा में सदा—सदा के लिए लीन हो जाती है। दूसरे शब्दों में, रूपातीत—ध्यान धरकर परमात्मा के समान निजस्वरूप में लीन होना है।<sup>183</sup>

‘सिद्धहेमशब्दानुशासन—बृहत्वृत्ति’ के अनुसार, अरिहन्त भगवान् के रूपातीत स्वरूप का ध्यान, जो योगीगम्य है, वह रूपातीत—प्रणिधान है।<sup>184</sup>

‘ध्यानस्तव’ में लिखा है —“मलरहित स्वच्छ स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित जिनेन्द्रतुल्य, सर्वकर्मा तथा देहातीत सिद्ध—स्वरूप अपनी आत्मा का जो चिन्तन किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान कहा जाता है।”<sup>185</sup>

‘ध्यानसार’ में कहा गया है कि रत्नत्रय से सुशोभित, अतीन्द्रिय शुद्ध सिद्ध परमात्मा का चिन्तन—मनन रूपातीत ध्येय माना गया है।<sup>186</sup>

‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’, सिद्ध—परमेश्वर के स्वरूप का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।<sup>187</sup>

संक्षेप में, “अपने शरीर का तथा लोक का चिन्तन करना पिण्डस्थ—ध्यान है। पंच नमस्कार—मन्त्र या एक, दो, तीन, चार आदि अक्षरों के मन्त्रों को वाचिक, उपांशु या मानसिक—भेदों से जप करना पदस्थ—ध्यान है। अपनी आत्मा को शरीर के समान अथवा समुद्घात के द्वारा लोकाकाश के समान चिन्तन—मनन करना, या फिर महागुणों से युक्त केवली भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना रूपस्थ—ध्यान है तथा शुद्ध आत्मा का स्वरूप, कर्मकलंकरहित, रूपादिकरहित, शुद्धज्ञान, दर्शनमय

<sup>182</sup> अनन्यशरणीभूयसतस्मिन् लीयते..... परमात्मनि ॥ —योगशास्त्र— 10/3, 4

<sup>183</sup> ‘रूपातीत ध्यान धरके बनू तुम समान’, प्रस्तुत पंक्ति ‘सुधारस’ पुस्तक, मणिप्रभासागर, के महावीरस्वामी के स्तवन से उद्धृत

<sup>184</sup> योगीगम्यमर्हतोऽध्यान (सिद्धहेमशब्दानुशासन—बृहत्वृत्ति) प्रस्तुत संदर्भ ध्यानविचार—सविवेचन, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 156

<sup>185</sup> रूपातीतं भवेत्तस्य यस्तां ध्यायति शुद्धधीः। आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं विदात्मकम् ॥ —ध्यानस्तव, श्लोक 32

<sup>186</sup> अतीन्द्रियस्य शुद्धस्य रत्नत्रितयशालिनः। रूपातीतं मतं ध्येयं चिन्तनं परमात्मनः ॥ —ध्यानसार, श्लो.120

<sup>187</sup> ‘सिद्धस्वरूपावलम्बनं रूपातीतम्। — स्वाध्यायसूत्र, अधि.10, सूत्र 17

सिद्धों के समान चिन्तन--मनन करना रूपातीत--ध्यान है।<sup>188</sup> सामान्यतया पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत--ध्यान के प्रकार धर्मध्यान में ही सम्मिलित हैं किन्तु ये भेद ध्येय की अपेक्षा से किए गए हैं, इसलिए इनका अलग से वर्णन किया गया है।

---

<sup>188</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'चर्चासागर' चर्चा दौ सौ सैंतालीसवीं से उद्धृत, पृ. 534

## पार्थिवादि पाँच प्रकार की धारणाओं का स्वरूप एवं जैन-परम्परा में विकास

### पार्थिवादि प्रकार की धारणाओं का स्वरूप -

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, आगमेतर कुछ परवर्ती ग्रन्थों में ग्रन्थकारों ने ध्येय की दृष्टि से ध्यान को चार भागों में विभाजित किया है -

1. पिण्डस्थध्यान, 2. पदस्थध्यान, 3. रूपस्थध्यान और 4.रूपातीतध्यान।<sup>189</sup>

'पिण्ड' का अर्थ होता है -शरीर, मतलब स्पष्ट है कि शरीर के आलंबन द्वारा किया जाने वाला ध्यान पिण्डस्थ-ध्यान है। पवित्र-निर्मल पदों के आलंबन से किया जाने वाला ध्यान पदस्थ-ध्यान है। सर्वचिद्रूप के आलंबन से किया जाने वाला ध्यान रूपस्थध्यान है और सिद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार-स्वरूप सिद्धों के अवलम्बन से किया जाने वाला ध्यान रूपातीत-ध्यान कहलाता है।<sup>190</sup>

पिण्ड शब्द में किसी भी एक तत्त्व (वस्तु) की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ भी समाहित हैं, उदाहरणस्वरूप -अलग-अलग रूपों में सभी जगह व्याप्त पृथ्वी-तत्त्व को समवेत रूप से लिया जाए, तो वह पृथ्वी-पिण्ड-संज्ञा से अभिहित होता है। पृथ्वी के समान ही अग्नि, वायु, जल को भी पिण्डरूप माना गया है।

<sup>189</sup> क) पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्। चतुर्धा ध्येयमानातं ध्यानस्यालम्बनबुधैः ॥ -योगशास्त्र -7/8

ख) पिण्डस्थं च पदस्थं.....भव्यराजीवभास्करैः ॥ - ज्ञानार्णव - 34/1

ग) पिण्डस्थं च .....रूपवर्जितम् ॥ - ध्यानस्तव, श्लोक - 24

घ) पिण्डस्थं.....ध्येय चतुर्विधं प्रोक्तं धर्म्यध्यानपथाध्वगैः ॥ - ध्यानसार, श्रीयशकीर्ति, श्लो.116

ङ) पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीत-लक्ष्यानुरूपमपि पुनश्चतुर्विधम् ॥ -स्वाध्यायसूत्र, 10/12

<sup>190</sup> पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं।

रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनं ॥ - स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा, टीका, पृ. 226

योगशास्त्र<sup>191</sup>, ज्ञानार्णव<sup>192</sup> और स्वाध्यायसूत्र<sup>193</sup> में पिण्डस्थ-ध्येय की पांच धारणाओं का वर्णन किया गया है, वे निम्नांकित हैं -

1. पार्थिवी-धारणा, 2. आग्नेयी-धारणा, 3. श्वासना-धारणा, 4. वारुणी-धारणा और 5. तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती)-धारणा।

धारणा, अर्थात् ग्रहण या धारण करने योग्य, या फिर ग्रहण किए जाने के स्थान। एक-एक धारणा का वर्णन इस प्रकार है -

### 1. पार्थिवी-धारणा -

इस सम्पूर्ण लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है - 1. उर्ध्वलोक, 2. मध्यलोक एवं 3. अधोलोक। एक रज्जु के बराबर परिमाण वाला यह मध्यलोक है और मध्यलोक को नरलोक, तिर्यग्लोक अथवा मृत्युलोक आदि नामों से भी जाना जाता है। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसको ही मध्यलोक कहते हैं। मध्यलोक के समान ही लम्बाई एवं चौड़ाई वाला क्षीरसागर जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन वाला, स्वर्णकान्तियुक्त सहस्रदल कमल है। साधक को मन-मस्तिष्क में ऐसा चलचित्र अंकित करना है कि उस कमल के बीचोंबीच एक श्वेत, उज्ज्वल सिंहासन है, फिर उस पर बैठकर ऐसी कल्पना करना है कि मेरे समस्त कर्मों (कषायों) का नाश हो रहा है - ऐसा चिन्तन-मनन करना पार्थिवी-धारणा कहलाती है।<sup>194</sup>

योगशास्त्र<sup>195</sup>, ज्ञानार्णव<sup>196</sup> में भी पार्थिवी धारणा के संबंध में इसी बात का समर्थन मिलता है।

<sup>191</sup> पार्थिवी स्यादथग्नेयी मारुती वारुणी तथा। तत्त्वभू पंचमी चेति पिण्डस्थे पंच धारणाः॥ - योगशास्त्र, प्र.7/9

<sup>192</sup> पार्थिवी स्यात्तथग्नेयी श्वासनाख्याथवारुणी। तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥ - ज्ञानार्णव- 34/3

<sup>193</sup> पार्थिव्याग्नेयी-मारुती-वारुणी-तत्त्वभ्वाख्याः पंचधारणाः पिण्डस्थस्य। - स्वाध्यायसूत्र, 10/14

<sup>194</sup> तिर्यग्लोकं समं ध्यायेत् क्षीराब्धिं तत्र चाम्बुजम्। सहस्रपत्रं स्वर्णाभं जम्बूद्वीपसमं स्मरेत्। तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिङ्गप्रभाचिताम्। स्वर्णाचलप्रमाणां च कर्णिका परिचिन्तयेत्॥ श्वेतसिंहासनासीनं कर्म निर्मूलनोद्यत्म्। आत्मानं चिन्तयेत् तत्र पार्थिवीधारणेत्यसौ॥

<sup>195</sup> तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत्.....पार्थिवीधारणेत्यसौ॥ - योगशास्त्र- 7/10,11,12

<sup>196</sup> तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति.....भवोद्भूतकर्मसंतानशातने॥ - ज्ञानार्णव- 34/4-9

‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’, साधक एकाग्रगामिनी चिंतन-धारा से सोचता है— जिस पृथ्वी पर मैं रहता हूँ, वह मध्यलोक है। एक रज्जु परिमितियुक्त क्षीरसागर में जम्बूद्वीप के समान लाख योजन विस्तीर्ण हजार पत्रों वाला कमल, ज्योतियुक्त उज्ज्वल सिंहासन है, उस पर समासीन होकर कर्मों का मूलोच्छेदन करने में समुद्यत हूँ। यह चिंतन-पद्धति पार्थिवी-धारणा है।<sup>197</sup>

यह इस पृथ्वी अर्थात् धरती को आधार-रूप मानकर की गई धारणा है। यह चिन्तनानुचिन्तन प्रक्रिया साधक के ध्यान को अन्य पदार्थों से विमुख कर मात्र एक ही पिण्डस्थ-कल्पित वस्तु अथवा पदार्थ पर स्थिर करती है। यह एकाग्रता की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

## 2. आग्नेयी-धारणा —

इस धारणा में साधक थोड़ा आगे बढ़कर एक अन्य विधा की परिकल्पना करता है। उसकी चिन्तन-धारा में एक सोलह पंखुड़ियों वाला कमल नाभि के अन्दर विद्यमान है और उसकी एक-एक पंखुड़ियों पर क्रमशः ‘अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-ऋ-ॠ-लृ-लृ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः’ — ये सोलह स्वर स्थापित हैं। तत्पश्चात् रेफ, बिन्दु और कला सहित महामन्त्र ‘अर्ह’ अक्षर है। ‘अर्ह’ के रेफ से शनैः-शनैः धूमशिखा निकल रही है, फिर चिनगारियों का निकलना, आग की प्रज्वलता का चिन्तन करना, स्थिर अध्यवसायों द्वारा ऐसा अहसास करना कि हृदय-स्थल पर आठ पंखुड़ियों सहित एक कमल स्थित है, जो अष्टकर्मों का प्रतीक रूप है। वह उस अग्नि से जलकर भस्म हो गया है ..... अग्निज्वालाएं शान्त हो गई हैं —ऐसा चिन्तन-मनन आग्नेयी-धारणा में होता है।<sup>198</sup>

<sup>197</sup> पार्थिव्या ..... ।। — स्वाध्यायसूत्र, अध्याय-10, सूत्र -12, पृ.265

<sup>198</sup> क) विचिन्तयेत्तथा नाभी कमलं षोडशच्छदम् । कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपत्रं स्वरावलीम् ।।  
रेफबिन्दुकलाक्रान्तं.....स्यादाग्नेयीति धारणा ।। — योगशास्त्र, श्लो.13-18, पृ. 7  
ख) ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात् कमलं नाभिमण्डले । स्मरत्यति मनोहारिं षोडशोन्नतपत्रकम् ।।  
प्रतिपत्रसमासीन.....शान्तिं याति वह्निं शनैः-शनैः ।। — ज्ञानार्णव, सर्ग-34, श्लो.10-19



‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’ आग्नेयीधारणा में साधक यों चिन्तन करता है— उसकी नाभि में सोलह पत्रवाला, कर्णिका के मध्य ‘अर्ह’ अंकनवाला और प्रत्येक पत्र में ‘अ’ से ‘अः’ स्वर अंकितवाला कमल स्थापित है। हृदय में अष्टकर्मदलस्वरूप आठ पंखुड़ियों वाला अधोमुख कमल है। कर्णिका में स्थित ‘अर्ह’ महामंत्र के ( ‘ ) से धीरे—धीरे चिनगारियों से युक्त अग्नि निकल रही है। परिकल्पना इस प्रकार होती है कि उस आग में अष्टकर्मरूप कमल जलकर भस्म हो जाता है, फिर अग्नि शांत हो जाती है।<sup>199</sup> प्रस्तुत धारणा के माध्यम से कर्मों के आवरण को भस्मीभूत करने का यह एक सरस एवं सुन्दर उपाय है। इस उपाय के कारण साधक कर्मक्षय की प्रक्रिया में इतना लीन हो जाता है कि उसके चित्त की चंचलवृत्ति दूसरी ओर न भटककर उसी में एकाग्र बनी रहती है।

### 3. वायवी—धारणा —

कर्मदहन के पश्चात् साधक को अपने भीतर की चित्त—परिणति को एक नए मोड़ की कल्पना में कल्पित करना होता है। साधक को यह चिन्तन करना है कि प्रचण्ड वायु समग्र विश्व को अपनी प्रचण्डता से प्रभावित करता हुआ, पर्वतों को चलायमान करता हुआ और समुद्रों को क्षुब्ध करता हुआ, अर्थात् घोर पवन इन सबको अपने प्रभाव से प्रभावित करता हुआ, साथ ही आग्नेयी—धारणा में शरीर तथा अष्टकर्मरूपी कमल को दहन करने के बाद बची हुई राख को उड़ा रहा है, राख का ढेर बिखर गया और इधर—उधर उड़कर वह स्थान साफ हो गया है, इस प्रकार दृढ़ अभ्यास के साथ वायु धीरे—धीरे शान्त हो रही है, ऐसी चिन्तन—धारा को वायवीधारणा कहते हैं। इसे मारुती—धारणा के नाम से भी जाना जाता है।<sup>200</sup>

<sup>199</sup> स्वाध्यायसूत्र, अ.10, सू.12, पृ.266

<sup>200</sup> क) ततस्त्रिभुवनाभोगं पूरयन्तं समीरणम्। चलायन्तं गिरीनब्धीन् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत्।  
तच्च भस्मरजस्तेन शीघ्रमुद्धूयवायुना। दृढाभ्यासः प्रक्षान्तिं तमानयेदिति मारुती॥ —योगशास्त्र— 7/19-20  
ख) विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्। स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम्॥  
चालयन्तं सुरानीकं.....समीरं शान्तिमानयेत्॥ — ज्ञानार्णव— 34/20,21,22,23  
ग) स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ. 376  
घ) श्रावकाचार संग्रह, भा.3, पृ.516

‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’, इस धारणा की चिन्तन-प्रक्रिया वायु पर आधारित है। तीनों लोकों को आपूरित, पर्वतों, समुद्रों को अपने प्रभाव से प्रभावित करती हुई वायु आग्नेयी-धारणा में देह और आठों कर्मों के जल जाने से जो भस्म बनी थी, उसे गगनमण्डल में यत्र-तत्र विकीर्ण करके शान्त हो गई -ऐसा सोचना वायवी धारणा है।<sup>201</sup>

#### 4. वारुणी-धारणा -

वायवी-धारणा के पश्चात् साधक वारुणी-धारणा को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस धारणा का संबंध जल-तत्त्व से है। ध्यानी-साधक ऐसी परिकल्पना अथवा चिन्तन करे -“इन्द्रधनुष, बिजली एवं गर्जनादि से रहित अमृततुल्य जलयुक्त मेघमाला से आकाश व्याप्त है। तदनन्तर मेघों के एकदम बीच में अर्द्धचन्द्राकार बिन्दुयुक्त वरुण-बीज ‘वँ’ पर अपना ध्यान केन्द्रित करे। वरुण-बीज से निरन्तर उत्पन्न अमृत सम वर्षा हो रही है। उस जल द्वारा पूर्व में शरीर तथा कर्मों के दहन से उड़ने वाली एवं शान्त राख की ढेरी प्रक्षालित हो रही है।

पौद्गलिक-देह तथा अष्टकर्मों की राख बरसात के पानी से धुलकर साफ हो रही है।<sup>202</sup>

इस धारणा द्वारा शरीर और कर्मों की भस्मीरूप में बचा हुआ अवशेष भी नहीं रहा है, वह सम्पूर्ण रूप से विलीन हो गया है। यह आत्मविशुद्धि का एक सुन्दर काल्पनिक प्रयोग है।

<sup>201</sup> स्वाध्यायसूत्र, 10/12, पृ. 266

<sup>202</sup> क) स्मरेद वर्षत्सुधासारैः धनमालाकुलं नभः।  
ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं मण्डलं वरुणांकितम्॥  
नभस्तलं सुधाम्भोभिः प्लावयेत्तत्पुरं ततः।

तद्रजः कायसम्भूतं क्षालयेदिति वारुणी॥ - योगशास्त्र- 7/21-22

ख) वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनव्रातचितं नभः। इन्द्रायुघतडिदगर्जिं चमत्काराकुलं स्मरेत्  
सुधाम्बुप्रभवैः.....प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसम्भवम्॥ - ज्ञानार्णव- 34/24-27

ज्ञानार्णव, स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका<sup>203</sup>, श्रावकाचार-संग्रह<sup>204</sup> आदि ग्रन्थों में भी इसी बात का समर्थन मिलता है।

‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’ में वारुणी धारणा जल तत्त्व से संबंधित है। साधक की चिन्तन-धारा इस प्रकार होती है - गगन में अमृततुल्य बरसात करनेवाले घनघोर बादल आच्छादित हैं। उनमें चन्द्रबिन्दुयुक्त वरुण बीज ‘वँ’ अंकित है। उसमें से निरन्तर निकलते अमृततुल्य जल से सम्पूर्ण गगन परिपूरित हो गया है और पूर्व धारणा में पवन के द्वारा जले हुए शरीर और कर्मों की जो भस्म उड़ा दी गई थी, वह इस जल से धुलकर साफ हो रही है।<sup>205</sup>

## 5. तत्त्वभू (तत्त्वरूपवती) -

उपर्युक्त चारों धारणाओं के चिन्तन-मनन के पश्चात् साधक यह कल्पना करे कि मेरी आत्मा भी शुद्ध स्वरूप वाली है, अतिशय-सम्पन्न है। विशुद्ध आत्मस्वरूप ही मेरा निजस्वरूप है। यह अनंत ज्ञान-दर्शनयुक्त है।

योगशास्त्र<sup>206</sup>, ज्ञानार्णव<sup>207</sup>, श्रावकाचार-संग्रह<sup>208</sup> आदि ग्रन्थों में लिखा है कि साधक का चिन्तन ऐसा होना चाहिए - मेरी देहातीत-अवस्था, अर्थात् मेरा आत्मतत्त्व सर्वज्ञ के समान सात धातु से रहित है और पूर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, धवल, निर्मल तथा पवित्र है। मेरी आत्मा निरंजन-निराकार है। समस्त

<sup>203</sup> स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, पृ. 370-371

<sup>204</sup> श्रावकाचारसंग्रह, भा.5, पृ. 520

<sup>205</sup> स्वाध्यायसूत्र - 10/12, पृ. 266-267

<sup>206</sup> सातधातु-विनाभूतं पूर्णन्दु विशदद्युतिम्। सर्वज्ञकल्पमात्मानं शुद्धबुद्धिः स्मरेत् ततः॥  
ततः सिंहासनारूढं सर्वातिशयभासुरम्.....कल्याणमहिमान्वितम्॥ - योगशास्त्र - 7/23-24

<sup>207</sup> सातधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्। सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधीः॥  
मृगेन्द्रविष्टरारूढं.....जिनसमयमहाम्भोधिपारं प्रयातैः॥ - ज्ञानार्णव - 34/28-32

<sup>208</sup> श्रावकाचार-संग्रह, भाग-5, पृ. 519

कर्मों से रहित, देवों से पूजित अपने शरीरस्थ शुद्ध आत्मा का स्मरण करना ही तत्त्वभू नामक पाँचवी धारणा है।

‘स्वाध्यायसूत्रानुसार’ के अन्तर्गत लिखा है कि तत्त्वभू-धारणा आत्मतत्त्व के चिन्तन पर आधारित है। जो साधक आध्यात्मयोगी पिण्डस्थ-ध्यान को स्वायत्त कर लेता है, वह शिवसुख-मोक्ष के परम आनंद को प्राप्त करता है। पिण्डस्थ-ध्यान से व्यक्तित्व में ऐसा दिव्य ओज प्रादुर्भूत होता है कि वह बाहर से आने वाली विघ्न-बाधाओं से विमुक्त हो जाता है।<sup>209</sup>

इस प्रकार, पिण्डस्थ-ध्यान का अभ्यास हो जाने पर साधक शिवसुख या मोक्षरूप अनंत सुखों को प्राप्त करता है।<sup>210</sup> इस तरह प्रथम धारणा में ध्याता मन को एकाग्र करता है, द्वितीय धारणा में शरीर तथा अष्टकर्मों को नष्ट करता है, तृतीय धारणा में आत्मा को देह तथा कर्मों के संबंध को भिन्न देखता है। चतुर्थ धारणा में कर्मों को नष्ट होता हुआ देखता है और पाँचवी धारणा के अन्तर्गत कर्म और देह से परे शुद्ध आत्मस्वरूप का अवलोकन करता है। फलतः, साधक को शुक्लध्यान तक पहुंचने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

### जैन-परम्परा में पिण्डस्थादि ध्यान का विकास —

जहाँ तक धर्मध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत-भेदों का प्रश्न है तथा पिण्डस्थ ध्यान की पार्थिवी आदि पाँच धारणाओं का प्रश्न है, वस्तुतः वे आगमिक नहीं हैं। यह तो हमें स्वीकार करना होगा कि आगमों और प्राचीन स्तर की आगमिक-व्याख्याओं में इनका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। “यद्यपि ध्यान के ये चार प्रकार तथा पार्थिवी आदि पाँच धारणाएँ कब और कैसे जैन-परम्परा में विकसित हुए, इनका स्रोत कहाँ है और वे उत्तरोत्तर किस प्रकार से विकास को प्राप्त हुए —यह विचारणीय सन्दर्भ है; क्योंकि स्थानांग, समवायांग,

<sup>209</sup> पार्थिव्याग्नेयी-मारूती-वारूणी-तत्त्वभ्वाख्याः पंचधारणाः पिण्डस्थस्य ॥ —स्वाध्यायसूत्र — 10/10

<sup>210</sup> साभ्यास इति पिण्डेस्थे योगी शिवसुखं भजेत् ॥ — योगशास्त्र — 7/25

भगवती, ध्यानशतक, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि ग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं में इन भेदों का निर्देश नहीं किया गया है। शास्त्रों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि पिण्डस्थ, पदस्थ आदि भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य योगीन्दुविरचित योगाचार (जिसका काल ईसा की छठवीं शताब्दी माना जाता है) में मिलता है। तत्पश्चात्, इन भेदों का उल्लेख आचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णव (ग्यारहवीं शती) तथा आचार्य हेमचन्द्रसूरिविरचित योगशास्त्र (12वीं-13वीं) में मिलता है।<sup>211</sup> डॉ. सागरमल जैन आदि विद्वानों ने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि धर्मध्यान के पिण्डस्थ आदि चार अवस्थाएँ तथा पार्थिवी आदि पाँच धारणाएँ आगमकालीन नहीं हैं। ये मुख्यतः हिन्दू तान्त्रिक-परम्परा के प्रभाव से जैन-परम्परा में अवतरित की गई हैं। इनका सर्वप्रथम उल्लेख हमें घेरण्डसंहिता में मिलता है, वहीं से दिगम्बर जैनाचार्य शुभचन्द्र ने उन्हें ग्रहण किया है और आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में या तो सीधे घेरण्डसंहिता से, या फिर शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से उन्हें उद्धृत किया है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि पिण्डस्थादि धर्मध्यान के चार भेद और पिण्डस्थ-ध्यान की पार्थिवी आदि पाँच धारणाएँ जैन-परम्परा में विकसित न होकर हिन्दू-परम्परा में ही विकसित हुई हैं।

डॉ. सागरमल जैन ने यह भी सूचित किया है कि पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत - ये चारों प्रकार के ध्यान बौद्धों की तान्त्रिक-परम्परा में भी रहे हैं, अतः इनका विकास हिन्दू या बौद्ध-तान्त्रिक परम्परा में ही हुआ है, वहीं से वे जैन परम्परा में प्रविष्ट हुए हैं।

-----000-----

<sup>211</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन' पुस्तक से उद्धृत, पृ.201

जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका :  
एक तुलनात्मक अध्ययन

**पंचम अध्याय**

1. ध्यानशतक और स्थानांग, भगवती, औपपातिक, तत्त्वार्थ, मूलाचार, भगवती- आराधना, धवला, आदिपुराण का तुलनात्मक अध्ययन
2. ध्यान-साधना और लब्धि
3. साधक को लब्धियों की प्राप्ति से बचना चाहिए
4. जैन-परम्परा में लब्धियों की गौणता
5. ध्यान और कायोत्सर्ग
6. कायोत्सर्ग और समाधि

## अध्यय-5

### ध्यानशतक का स्थानांग, भगवती, औपपातिक, तत्त्वार्थ, मूलाचार, भगवती-आराधना, धवलाटीका तथा आदिपुराण से तुलनात्मक अध्ययन

जहाँ तक ध्यानशतक का विभिन्न श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रन्थों से तुलनात्मक-अध्ययन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रयास पं. बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने अपने द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित 'ध्यानशतक' की भूमिका में किया था। उसे आचार्य कीर्तियशसूरीश्वरजी ने अपने ध्यानशतक (हरिभद्रीयटीका सहित) के प्रारम्भ में यथावत् रूप से दिया है। मैंने प्रस्तुत तुलनात्मक-अध्ययन में उसे आधार बनाया है, किन्तु विवेचन संक्षिप्त रूप से अपनी भाषा एवं शैली में किया है। यद्यपि सन्दर्भ उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर देने का प्रयत्न किया गया है।

दूसरे, प्रस्तुत अध्ययन में मैंने अपनी परम्परा और कालक्रम के आधार पर प्रथम श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों को, तत्पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र को तदुपरान्त दिगम्बर-आगमतुल्य ग्रन्थों को तथा धवला आदि टीका को आधार बनाकर यह विवेचन किया है। पं. बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने कुछ दिगम्बर-पुराणों के आधार पर भी तुलनात्मक-अध्ययन को प्रस्तुत किया था, उसको मैंने सबसे अंत में स्थान दिया है।

इस प्रकार, इस तुलनात्मक-अध्ययन का प्रारम्भ श्वेताम्बर-मान्य आगम-साहित्य से करके, फिर अन्त में दिगम्बर-ग्रन्थों को दिया गया है। चूंकि 'ध्यानशतक' के रचनाकार जिनभद्रगणिकामाश्रमण श्वेताम्बर-परम्परा के रहे हैं, अतः प्रथम श्वेताम्बर-आगम से तुलना करना ही मुझे उचित लगा, क्योंकि उन्होंने 'ध्यानशतक' में श्वेताम्बर-आगमों का ही आधार लिया है। उसके पश्चात् मैंने 'तत्त्वार्थसूत्र' को स्थान दिया है, क्योंकि 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी श्वेताम्बर-आगमों से ध्यानसंबंधी काफी समरूपता प्राप्त होती है।

ध्यानशतक के रचनाकार जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के सामने तत्त्वार्थसूत्र की रचना भी हो चुकी थी। जहाँ तक दिगम्बर—आगमतुल्य ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें 'मूलाचार' और 'भगवती—आराधना' ये दोनों ग्रन्थ जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण के 'ध्यानशतक' से कुछ पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं, किन्तु जहाँ तक धवलाटीका और आदिपुराण का प्रश्न है, ये दोनों ग्रन्थ 'ध्यानशतक' के बाद के ही हैं। क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ लगभग आठवीं—नौवीं शताब्दी के बाद ही आते हैं, जबकि 'ध्यानशतक' लगभग छठवीं—सातवीं शताब्दी में ही रचा गया है।

### ध्यानशतक और स्थानांगसूत्र का तुलनात्मक—अध्ययन —

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है कि जिन ग्रन्थों को आज हम आगम के नाम से जानते हैं, वे ही प्राचीनकाल में श्रुत, या सम्यक्—श्रुत<sup>1</sup> अथवा 'गणिपिटक' के नाम से भी जाने जाते थे। 'गणिपिटक' में समस्त द्वादशांगी समाहित हो जाती है।<sup>2</sup> 'विशेषावश्यकभाष्य' की गाथा में यह स्पष्ट है कि अर्थ के प्रणेता तीर्थकर और सूत्र के प्रणेता गणधर होते हैं।<sup>3</sup>

'प्रमाणनयतत्त्वालोक' में भी इसी बात का समर्थन मिलता है कि द्वादशांगी के कर्त्ता गणधर है।<sup>4</sup> वे तीर्थकरों के वचनों के आधार पर ही इन ग्रन्थों की रचना करते हैं।

द्वादशांगी का तीसरा अंग 'स्थानांगसूत्र' है। अभी जिस रूप में यह आगम—ग्रन्थ उपलब्ध है। उसका संकलन एवं सम्पादन वीर—निर्वाण के करीब 980 वर्ष पश्चात् 'वल्लभीनगर में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में हुआ था। देवर्द्धिगणि ने

<sup>1</sup> सम्मसुयं जं इमं अरहंतेहि भगवंतेहि । नंदी— ।सं.आ.महाप्रज्ञ लाडनू॥, सूत्र 65, पृ. 122

<sup>2</sup> ..... सर्वज्ञैः सर्वदर्शिमिः प्रणीतं द्वादशांग गणिपिटकं तद्यथा—आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायः व्याख्या—प्रज्ञप्ति ज्ञातधर्मकथाः उपासकदशाः अन्तकृतदशाः अनुत्तरोपपातिदशाः प्रश्नव्याकरणानि विपाक श्रुतदृष्टिवादः । — नंदीसूत्र/प्रकरण 4/सूत्र 65

<sup>3</sup> अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं॥ — विशेषावश्यकभाष्य, गाथा 1119

<sup>4</sup> आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ।।

— प्रमाणनयतत्त्वालोक 4/1



अपनी कुशाग्रबुद्धि—बल द्वारा आगम—ग्रन्थों को व्यवस्थित करके पुस्तकारूढ़ किया था।<sup>5</sup> स्थानांगसूत्र के दस अध्ययन हैं। दस अध्ययनों में दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवा — ये चार अध्ययन उद्देशकों में विभाजित हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्ययन के चार—चार एवं पाँचवे के तीन उद्देशक हैं, शेष छह अध्ययनों में एक—एक उद्देशक हैं। इस प्रकार, उद्देशकों की कुल संख्या इक्कीस है। 'नंदीसूत्र' के अनुसार, स्थानांगसूत्र के बहत्तर हजार पद माने गए हैं।<sup>6</sup> परन्तु वर्तमान में यह ग्रन्थ 3770 श्लोक—परिमाण ही है। इसकी विषय—वस्तु का विवेचन संख्याओं के क्रमानुसार स्थानों के रूप में किया गया है।<sup>7</sup> जिसमें एक—एक पदार्थों की विवेचना है, वह 'प्रथम स्थान' है, जैसे — आत्मा एक है, दण्ड एक है, क्रिया एक है, लोक एक है, इत्यादि।<sup>8</sup> जिसमें दो—दो पदार्थों का वर्णन है, वह 'द्वितीय स्थान' है, जैसे — जीव—अजीव, त्रस—स्थावर, जीवक्रिया—अजीवक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया—मिथ्यात्वक्रिया; इत्यादि।<sup>9</sup> इस तरह, अन्तिम दस स्थान तक क्रमशः उत्तरोत्तर संख्या के क्रम से विषय—वस्तुओं का उल्लेख हुआ है। इसी 'स्थानांगसूत्र' के चतुर्थ—स्थान के अन्तर्गत प्रथम उद्देश्य में चार ध्यानो का सुन्दर विवेचन मिलता है। इसमें प्रत्येक ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा का वर्णन किया गया है।<sup>10</sup> उपर्युक्त सभी प्रकारों, उपप्रकारों आदि का उल्लेख 'ध्यानशतक' में भी मिलता है। हम यहाँ उसे कुछ विस्तार से स्पष्ट करेंगे।

<sup>5</sup> वलहीपुरमि नयरे, देवद्विद्वपमुहेण समणसंघेण। पुत्थइ आगमु लिहियो, नवसय असीआओ विराओ।।  
—प्रस्तुत गाथा स्थानांगसूत्र।। सं.—मुनिमधुकर।। पुस्तक की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 26

<sup>6</sup> नंदीसूत्र, 83

<sup>7</sup> 'स्थानांगसूत्र' —।।सं.—मुनि मधुकर।। की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 30

<sup>8</sup> एगे आया। एगे दंडे। एगा किरिया। एगे लोए। —स्थानांगसूत्र, सं.मुनिमधुकर, स्था.1, पृ.2-3

<sup>9</sup> जयत्थि णं लोगे तं सव्वं—दुपओवआरं, तं जहा—जीवच्चेव—अजीवच्चेव। तसे चेव—थावरे चेव। दो किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जीवकिरिया चेव—अजीवकिरियाचेव। जीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सम्मत्तकिरियाचेव—मिच्छत्तकिरियाचेव। —वही, स्था.1, उद्दे.1, सूत्र 1-3, पृ. 24-25

<sup>10</sup> स्थानांगसूत्र, सं.—मुनिमधुकर, चतु.स्था, प्र.उद्देशक, सू. 60-72, पृ. 222-226

## 1. आर्त्तध्यान :-

स्थानांगसूत्र में आर्त्तध्यान के प्रथम प्रकार को परिभाषित करते हुए यह कहा गया है कि अनभीष्ट वस्तु का संयोग होने पर उसको दूर करने का बार-बार चिन्तन करना 'अमनोज्ञ आर्त्तध्यान' है।<sup>11</sup> इसका और ज्यादा स्पष्टीकरण करते हुए ध्यानशतक में लिखा है कि द्वेषवशात् अशुभ परिणति वाले जीव को जब अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शादि इन्द्रिय के विषयों का संयोग प्राप्त होता है, तब इन सभी विषयों का विरह अथवा वियोग कैसे हो ? किस तरह ये सभी भुङ्गसे पृथक् होंगे ? और वियोग हो जाने के बाद भविष्य में पुनः संयोग न हो, सतत उसका अनुचिन्तन करना आर्त्तध्यान का प्रथम प्रकार है।<sup>12</sup> इसी प्रकार, स्थानांग में मनोज्ञ और आतंक नामक आर्त्तध्यान के दूसरे एवं तीसरे प्रकार को निर्दिष्ट किया है।<sup>13</sup> ध्यानशतक में भी इन दोनों प्रकारों का स्पष्ट उल्लेख है, अन्तर केवल इतना है कि स्थानांग में जिसे दूसरा आर्त्तध्यान कहा गया है, ध्यानशतक में उसका क्रम तीसरे स्थान पर है और स्थानांग में जिसे आर्त्तध्यान का तीसरा प्रकार कहा है, उसका ध्यानशतक में दूसरा क्रम है।<sup>14</sup> स्थानांगसूत्र में आर्त्तध्यान के चौथे प्रकार का निरूपण करते हुए कहा गया है कि काम-भोग का संयोग होने पर उसका संयोग बना रहे —ऐसा बार-बार चिन्तन करना प्रीतिकारक आर्त्तध्यान है,<sup>15</sup> परन्तु ध्यानशतक में देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के रूप, ऋद्धि आदि की याचना करना —ऐसा निदानरूप आर्त्तध्यान का चौथा प्रकार है।<sup>16</sup> स्थानांगसूत्र के टीकाकार अभयसूरि ने अपनी टीका में इसे स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि द्वितीय आर्त्तध्यान अभीष्ट

<sup>11</sup> अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विष्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति । - स्थानांगसूत्रवृत्ति, सूत्र-6, पृ.28

<sup>12</sup> अमणुण्णाणं सद्दाइ ..... ।। - ध्यानशतक गाथा गाथा 6,

<sup>13</sup> मणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स अविष्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति 2, आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्सविष्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति - स्थानांगसूत्र-4 स्था., 2 उद्दे., 6सू. 222 पृ.

<sup>14</sup> इट्ठण विसयाईण ..... । तह सूल-सीसरोगाइवेयणाइ ... । - ध्यानशतक गाथा 7 और 8

<sup>15</sup> परिजुसितकामभोगसंपओगसंपउत्ते तस्स अविष्पओगसतिसमण्णागते यावि भवति ।। - स्थानांग, स्था. 4, प्र.उद्दे. सू. 61 पृ. 222

<sup>16</sup> देविंद-चक्कवट्टित्ताण्णं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं ..... ।। - ध्यानशतक, गाथा 9

धनादि से जहाँ सम्बद्ध है, वहीं चतुर्थ आर्त्तध्यान उस धनादि से प्राप्त होने वाले भोगों से सम्बद्ध है। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में कुछ अंतर है।

शास्त्रान्तर में द्वितीय और चतुर्थ के एक जैसे होने से या उनमें भेद न रहने से उन्हें तीसरा आर्त्तध्यान माना गया है तथा चतुर्थ आर्त्तध्यान को निदान के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>17</sup> यह कहते हुए उन्होंने आगे ध्यानशतक की आर्त्तध्यान से सम्बद्ध चारों गाथाओं (6—9) को भी उद्धृत कर दिया है। इस प्रकार, शास्त्रान्तर से उनका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र<sup>18</sup> और ध्यानशतक का ही रहा हुआ प्रतीत होता है।<sup>19</sup> आर्त्तध्यान के क्रन्दनता, शोचनता और परिदेवनता ये तीन लक्षण स्थानांग तथा ध्यानशतक में प्रायः एक समान है। परन्तु स्थानांग में जहाँ 'तेपनता'<sup>20</sup> का वर्णन है, वहाँ ध्यानशतक में 'ताडन'<sup>21</sup> शब्द को ग्रहण किया है। स्थानांगसूत्र की टीका में अभयदेवसूरि ने 'तिपि' धातु को क्षरणार्थक मानकर तेपनता शब्द का अर्थ अश्रु बहाना अथवा अश्रु-विमोचन किया है।<sup>22</sup>

## 2. रौद्रध्यान :-

स्थानांगसूत्र में आर्त्तध्यान की तरह ही रौद्रध्यान के भी चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है — 1. हिंसानुबन्धी, 2. मृषानुबन्धी, 3. स्तेयानुबन्धी और 4. विषयसंरक्षणानुबन्धी।<sup>23</sup> ध्यानशतक में उनके नामोल्लेख का अभाव है, परन्तु स्वरूप-चर्चा से इनके नामों का बोध जरूर हो जाता है।<sup>24</sup> स्थानांग में जो रौद्रध्यान के लक्षण बताए गए हैं वे इस प्रकार हैं —1. उत्सन्नदोष, 2: बहुदोष,

<sup>17</sup> द्वितीयं वल्लभधनादिविषयम् चतुर्थं तत्संपाद्यशब्दादिभोगविषयमिति भेदोऽनयोर्भावनीयः। शास्त्रान्तरे तु द्वितीय-चतुर्थयोरैकत्वेन तृतीयत्वम्, चतुर्थं तु तत्र निदानं मुक्तम्। उक्तं च — (ध्या.श.6-9) स्थानांगवृत्ति, ध्यान श. सन्मार्ग प्र., पृ. 29 से उद्धृत

<sup>18</sup> निदानं च। — तत्त्वार्थसूत्र 9/33

<sup>19</sup> प्रस्तुत संदर्भ ध्यानशतकं, सन्मार्ग प्रकाशन अहमदाबाद, पुस्तक के ध्यानशतक के तुलनात्मक अध्ययन के पृ. 104-105 से उद्धृत

<sup>20</sup> अट्टस्स णं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पं तं जहा-कंदणता, सोयणता, तिप्पणता, परिदेवणता —स्थान 4, उ.1, सू.62, पृ. 222

<sup>21</sup> तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाईं..... ॥ — ध्यानशतक, गाथा 15

<sup>22</sup> तेपनता-तिपे: क्षरणार्थत्वादुश्रुविमोचनम्। — स्थानांगटीका

<sup>23</sup> रोदे ज्ञाणे चउक्खिहे पं तं- हिंसाणुबन्धि, मोसाणुबन्धि, तेणाणुबन्धि, सारक्खणाणुबन्धि — स्थानांगसूत्र, उद्दे 1, सूत्र 63, पृ. 223

<sup>24</sup> सत्तवह-वेह-बंधण-उहणं...सव्वाभिसंकणपरोवघायकलुसाउलं चित्तं — ध्यानशतक, गाथा 19-22

3. अज्ञानदोष और 4. आमरणान्तदोष।<sup>25</sup> ध्यानशतक में इन लक्षणों के नामोल्लेख इस प्रकार हैं — 1. उत्सन्नदोष, 2. बहुलदोष, 3. नानाविधदोष और 4. आमरणदोष।<sup>26</sup> 'नानाविध' नामक लक्षण में कुछ भेद जरूर दिखाई देता है, लेकिन शेष तीन लक्षणों में कोई मतभेद नहीं है। इसके बावजूद भी दोनों ग्रन्थों के टीकाकार, क्रम से, अभयदेवसूरि और हरिभद्रसूरि ने उनका जो अभिप्राय व्यक्त किया है, वह प्रायः समान ही है।<sup>27</sup>

### 3. धर्मध्यान :—

आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय — ये चार धर्मध्यान के प्रकार हैं। स्थानांगसूत्र में उनका निरूपण बहुत सरल तथा स्पष्ट रूप से हुआ है,<sup>28</sup> लेकिन ध्यानशतक में नामोल्लेख की अनुपस्थिति के बाद भी भावनादि बारह द्वारों की चर्चा में ध्यात्व्यद्वार के अन्तर्गत आज्ञा, अपाय आदि की जो चर्चा मिलती है, वह इन चारों प्रकारों की उपस्थिति का संकेत है।<sup>29</sup>

स्थानांग में जहाँ धर्मध्यान के आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढरुचि<sup>30</sup> — इन चार प्रकार के लक्षणों के संदर्भ में वर्णन मिलता है, वहीं ध्यानशतक में आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग, यानी जिनकथित तत्त्वों पर श्रद्धा<sup>31</sup> रूप चार लक्षणों का वर्णन मिलता है। श्रद्धा या रुचि शब्द के अभिप्राय में

<sup>25</sup> रुहस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पं तं, ओसण्णदोसे, बहुदोसे, अन्राणदोसे, आमरणदोसे — स्थानांगसूत्र, 4.स्था, 1उ.64सू. 223 पृ.

<sup>26</sup> लिंगाई तस्स उस्सण्ण—बहुल—नाणाविहाऽऽमरणदोसा । —ध्यानशतक, गाथा—26

<sup>27</sup> अज्ञानात्—कुशास्त्रसंस्कारात् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्धयाऽभ्युदयार्थं वा प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः ।  
— स्थानांगसूत्र की टीका ध्यानशतक, सन्मार्ग प्रकाशन, पुस्तक से उद्धृत पृ. 52

नानाविधेषुत्वक्त्वक्षण—नयनोत्खननादिषु हिंसाद्युपायेष्वसकृदप्येवं प्रवर्तते इति नानाविध— ध्यानशतक टीका पृ. 105

<sup>28</sup> धमे ज्ञाणे चउच्चिहे चउप्पडोयारे पं तं आणाविजते, अवायविजते, विवागविजते संटाणविजते।— स्था.4/1/65

<sup>29</sup> आज्ञा, गाथा 45—49, अपाय गाथा 50, विपाक गाथा 51, संस्थान गाथा 52—62 —ध्यानशतक, पृ.224

<sup>30</sup> धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पं.तं आणारुई, णिसर्गरुई, सुत्तरुई, ओगाढरुती।— स्थानांग, स्थान चतुर्थ उद्दे.1, सू.66, पृ.224

<sup>31</sup> आगम—उवएसऽऽणा—णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं। भावणा सहहणं धम्मज्जाणस्स तं लिंगं। —ध्यानशतक, 67

कोई अन्तर नहीं है। आज्ञा-निसर्ग दोनों ग्रन्थों में समान है। स्थानांग में जहाँ सूत्र शब्द का प्रयोग हुआ है, वहीं ध्यानशतक में आगम शब्द का प्रयोग हुआ है। दोनों शब्दों के अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। जहाँ स्थानांग में अवगाढरुचि लक्षण बताया गया है, वहाँ ध्यानशतक में 'अवगाढरुचि' की जगह 'उपदेश' शब्द का उपयोग किया गया है। दोनों ही शब्दों का अर्थ समान है। स्थानांगसूत्र तथा ध्यानशतक—दोनों ग्रन्थों में वाचना, प्रतिपृच्छना और परिवर्तना—धर्मध्यान के इन तीनों आलम्बनों में समानता है। स्थानांगसूत्र में धर्मध्यान का चौथा आलम्बन अनुप्रेक्षा<sup>32</sup> को कहा है, परन्तु ध्यानशतक में अनुचिन्ता को चौथा आलम्बन स्वीकार किया है,<sup>33</sup> वह अनुप्रेक्षा का ही समानार्थक है। दोनों का ही अर्थ सूत्रार्थ का अनुस्मरण है।

स्थानांगसूत्र में धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख है— 1. एकानुप्रेक्षा, 2. अनित्यानुप्रेक्षा, 3. अशरणानुप्रेक्षा और 4. संसारानुप्रेक्षा।<sup>34</sup> ध्यानशतक में तो धर्मस्थान के बारह द्वारों में से अनुप्रेक्षा नामक एक स्वतंत्र द्वार है और उसके संबंध में मात्र इतना कहा गया है कि मुनि को सतत अनित्यादि भावनाओं में रत रहना चाहिए। अनित्यादि भावनाएं कितनी हैं— इसका निर्देश अनुपलब्ध है।<sup>35</sup> आचार्य हरिभद्रसूरि ने ध्यानशतक की वृत्ति में लिखा है कि 'अनित्यादि' में जो आदि शब्द है, उससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अशरण, एकत्व और संसार-भावनाएं उसमें समाहित हैं, साथ ही आगे उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि श्रमण को 'इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदः' इत्यादि ग्रन्थ के आश्रय से बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन-मनन करना चाहिए।<sup>36</sup> स्थानांगसूत्र में चार अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख है, किन्तु ध्यानशतक में ऐसा कुछ भी नहीं है। यदि ध्यानशतककार जिनभद्रगणि को

<sup>32</sup> धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि आलंबणा पं तं वायणा, पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुपेहा। - स्थानांग, स्था. 1, उदे. 1 पृ. 67

<sup>33</sup> आलंबणाइ वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिन्ताओ। - ध्यानशतक, गाथा 42

<sup>34</sup> धम्मस्सणं ज्ञाणस्सचत्तारि अणुपेहाओ पं तं—एगाणुपेहा, अणिच्चाणुपेहा, असराणुपेहा, संसारणुपेहा।

—स्था., स्था.4, उदे. 2, सू. 68 पृ. 224

<sup>35</sup> णिच्चमणिच्चाइ चिन्तणा परमो।। - ध्यानशतक, 65

<sup>36</sup> हरिभद्रसूरि ने इस प्रारम्भिक वाक्य के द्वारा प्रशमरतिप्रकरण नामक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है, वहाँ इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिगुणसम्पदः इत्यादि 12 श्लोकों में बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त चारों अनुप्रेक्षाओं को बताना होता, तो वे गाथा क्र. आठ में अनित्यादि के साथ चार की संख्या का उल्लेख अवश्य करते,<sup>37</sup> परंतु वहां वैसा कुछ भी नहीं है।

#### 4. शुक्लध्यान :-

स्थानांगसूत्र में शुक्लध्यान के चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है। उनके नाम अधोलिखित हैं -

1. पृथक्त्ववितर्क—सविचार, 2. एकत्ववितर्क—अविचार, 3. सूक्ष्मक्रिया—अनिवर्ती और 4. समुच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाती।<sup>38</sup>

ध्यानशतक में इन चारों प्रकारों का उल्लेख शुक्लध्यान के ध्यातव्यद्वार में किया गया है।<sup>39</sup> शुक्लध्यान के चार लक्षणों के सन्दर्भ में इतना ही समझना है कि स्थानांग<sup>40</sup> तथा ध्यानशतक<sup>41</sup>—दोनों में लक्षणों का वर्णन है और उनमें किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं, परन्तु इतना जरूर है कि ध्यानशतक ग्रन्थ के गाथा क्रमांक 91-92 में उन लक्षणों के स्वरूप की भी चर्चा की गई है,<sup>42</sup> साथ ही शुक्लध्यान के चार आलम्बनों का वर्णन स्थानांगसूत्र<sup>43</sup> तथा ध्यानशतक में समान रूप से किया गया है।<sup>44</sup>

अनंतवृत्तितानुप्रेक्षा, विपरिणामानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा तथा अपायानुप्रेक्षा—इन चारों शुक्लध्यानों की अनुप्रेक्षाओं का वर्णन हमें स्थानांग<sup>45</sup> और ध्यानशतक<sup>46</sup> में

<sup>37</sup> जैसा कि शुक्लध्यान के प्रसंग में "णियपमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपण्णो" वाक्य के द्वारा चार संख्या का निर्देश किया गया है। — ध्यानशतक, 87

<sup>38</sup> स्थानांगसूत्र, 4 स्था., 1 उद्दे., 69सूत्र, 225 पृ. मुनिमधुकर प्रकाशन ब्यावर।

<sup>39</sup> ध्यानशतक, गाथा 77-78, 79-80, 81, 82

<sup>40</sup> स्थानांगसूत्र, स्था.4, उद्दे.1, सूत्र 70, पृ. 226

<sup>41</sup> ध्यानशतक -90

<sup>42</sup> ध्यानशतक - 91-92

<sup>43</sup> स्थानांगसूत्र, स्था.4, उद्दे.1, सूत्र 71, पृ. 226

<sup>44</sup> ध्यानशतक - 69

<sup>45</sup> स्थानांगसूत्र, स्था.4, उद्दे. 1, सूत्र 72, पृ. 226

समान रूप से दृष्टिगोचर होता है, असमान-रूप स्थिति तो मात्र इतनी है कि क्रमभेद स्पष्टतया दिखाई देता है।

उपर्युक्त विषय-वस्तु की विवेचना के बाद हमें यह प्रतीत होता है कि स्थानांगसूत्र में रही हुई ध्यानविषयक समग्र विषय-वस्तु ध्यानशतक में भी यथावत ली गई है, लेकिन ध्यानशतक के अन्तर्गत ध्यान के सामान्य लक्षण, काल, आर्त्त-रौद्र आदि चार ध्यान किस-किस गुणस्थान में संभव है, किस ध्यान का अधिकारी कौन है, कौन से ध्यान से जीव को किस गति की प्राप्ति होती है, कौनसे-कौनसे ध्यान के स्वामी को कौनसी-कौनसी एवं कितनी-कितनी लेश्या होती है; इत्यादि सभी तथ्यों का विचार किया गया है, किन्तु ये सभी विचार स्थानांगसूत्र में नहीं मिलते हैं। इससे यह समझना होगा कि ध्यानशतक की रचना का मुख्य आधार तो स्थानांगसूत्र ही रहा है, परन्तु साथ ही साथ उसमें तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों का भी आधार लिया गया है।

### ध्यानशतक और भगवती तथा औपपातिकसूत्र का तुलनात्मक अध्ययन -

स्थानांगसूत्र की ध्यानसम्बन्धी विषय-वस्तु प्रायः शब्दतः भगवतीसूत्र<sup>47</sup> और औपपातिकसूत्र<sup>48</sup> में मिलती है। सामान्य रूप से शब्द में तथा क्रम में जो अन्तर है, वह इस प्रकार है - 1. आर्त्तध्यान के लक्षणों में जहाँ स्थानांग और भगवतीसूत्र में चौथा 'परिदेवनता' है,<sup>49</sup> वहाँ औपपातिकसूत्र में परिदेवनता के स्थान पर 'विलपनता' है, साथ ही ध्यानशतकगत परिदेवन को आर्त्तध्यान का तीसरा लक्षण माना गया है,<sup>50</sup> लेकिन अभिप्राय की दृष्टि से मतभेद नहीं है। 2. जहाँ स्थानांगसूत्र और

<sup>46</sup> ध्यानशतक 87-88

<sup>47</sup> से किं तं ज्ञाणे? ज्ञाणे चउच्चिहे पण्णत्ते, तं जहा- अट्टे ज्ञाणे, रोद्वे ज्ञाणे, धम्मे ज्ञाणे, सुक्के ज्ञाणे।

- भगवतीसूत्र, शतक 25, उदे 7, सूत्र 600-612

<sup>48</sup> औपपातिक - तपविवेचनान्तर्गत, सूत्र-3., पृ. 49-50, संपा.-मधुकरमुनि, प्र.आगम समिति, ब्यावर

<sup>49</sup> अट्टस्सणंज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता, तं जहा - कंदणया, सोयणता, तिप्पणया, परिदेवणया।

- भगवतीसूत्र, श 25, उदे 7, सू. 602 पृ. 974

<sup>50</sup> तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं ।। - ध्यानशतक, गाथा 15

भगवतीसूत्र में धर्मध्यान के चार लक्षणों में तीसरा 'सूत्ररुचि' और चौथा 'अवगाढरुचि'<sup>51</sup> है, वहाँ औपपातिकसूत्र में तीसरा 'उपदेशरुचि' और चौथा 'अवगाढरुचि'—इस प्रकार क्रम भेद मिलता है।<sup>52</sup> ध्यानशतक के अन्तर्गत भी दूसरा लक्षण उपदेशश्रद्धान कहा गया है।<sup>53</sup> 3. स्थानांगसूत्र और भगवतीसूत्र में धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं का क्रम जहां प्रथमतः एकत्वानुप्रेक्षा है,<sup>54</sup> वहां औपपातिकसूत्र में इसका क्रम अलग है। एकत्वानुप्रेक्षा का स्थान तीसरा एवं अनित्यानुप्रेक्षा का स्थान प्रथम है।<sup>55</sup> ध्यानशतक के अन्तर्गत 'अनित्यादिभावना' का संकेत तो अवश्य है, परन्तु संख्या की क्रमता या सूचना वहाँ उपलब्ध नहीं है।<sup>56</sup> 4. शुक्लध्यान के चारों प्रकारों में सूक्ष्मक्रिया—निवृत्ति और समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती क्रमशः तीसरा और चौथा प्रकार है — यह क्रम स्थानांग और भगवतीसूत्र में पाया जाता है,<sup>57</sup> जबकि औपपातिकसूत्र में अनिवृत्ति और अप्रतिपाती में क्रमव्यत्यय होकर वे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तीसरा प्रकार और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति, चौथा प्रकार के रूप में निर्दिष्ट हुए हैं।<sup>58</sup>

इस तरह, औपपातिकसूत्र में शुक्लध्यान के लक्षणों, आलम्बनों और अनुप्रेक्षाओं में थोड़ा—सा शब्द तथा क्रम में भेद पाया जाता है।

इस प्रकार, ध्यानशतक तथा उपर्युक्त आगमग्रन्थों की समानता और असमानता की तुलना का वर्णन समाप्त होता है।

<sup>51</sup> धम्मस्सण ज्ञा.च.ल.प. तं जहा—आणारुयी, निसग्गरुयी, सुत्तरुयी, ओगाढरुयी।—भ.सू., श.25, उदे 7, सू. 606

<sup>52</sup> धम्मस्सण ज्ञा.च.ल.प. तं जहा— आणारुई, णिसग्गरुई, उवएसरुई, सुत्तरुई।— औपपातिक, सूत्र30, पृ.50

<sup>53</sup> आगम—उवएससाSSणा—णिसग्गओ.....।— ध्यानशतक, गाथा 67

<sup>54</sup> धम्म.ज्ञा.च.अणुप्पेहाओ, पण्णत्ताओ, तं जहा—एगताणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा  
— भगवतीसूत्र, श.25, उदे.7, सू. 608, पृ. 974

<sup>55</sup> धम्म.ज्ञा.च.अणुप्पेहाओ, पण्णत्ताओ तं जहा—अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, एगताणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा— औपपातिक, 30

<sup>56</sup> णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो.....।— ध्यानशतक, गाथा 65

<sup>57</sup> सुक्के ज्ञाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते, तं जहा— पुहत्तेवितक्केसवियारी, एगत्तवितक्के अवियारी, सुहुमकिरिए—अणियट्ठी, समोच्छिण्णकिरिए अप्पडिवायी।  
— भगवतीसूत्र, प्र.लाडनू, सं. महाप्रज्ञ, 25श, 7उदे, 609सू. 974 पृ.

<sup>58</sup> सुक्कज्झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते तं जहा— पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अप्पडिवाई, समुच्छिन्नकिरिए अणियट्ठी।।  
औपपातिक, सं.—मुनि मधुकर, सूत्र 30, पृ. 50



## ध्यानशतक और तत्त्वार्थसूत्र का तुलनात्मक-अध्ययन -

आचार्य उमास्वाति ने लगभग द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी में तत्त्वार्थसूत्र की रचना की थी।

डॉ. सागरमल जैन ने कहा -“वाचक उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र तथा तत्त्वार्थाधिगम जैन-दर्शन की अमर एवं अद्वितीय कृति है। इसमें तत्त्व, ज्ञान, आचार, कर्म, भूगोल, खगोल आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ जैनदर्शन की सर्वप्रथम संस्कृत कृति है। इसकी भाषा सरल एवं शैली प्रवाहशील है।”<sup>59</sup>

तत्त्वार्थसूत्र दस अध्यायों में विभक्त है। किसी भी तरह भव्य जीवमुक्ति को प्राप्त हो, इस हेतु जीव-अजीवादि सात तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन किया है। नौवें अध्याय में तप के विवेचन के अन्तर्गत संक्षेप में ध्यान का आख्यान किया गया है। ध्यानशतक में उसका प्रभाव विशेष रूप से प्रतीत होता है। तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए लिखा है - चित्त की चंचलता का निरोध ही ध्यान है। स्वामी और काल के सन्दर्भ में तो यह समझना है कि उत्तम संहननवाला साधक अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्यान करता है।<sup>60</sup>

ध्यानशतक में स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा है, जिसका अभिप्राय तत्त्वार्थसूत्र के समान ही है। तत्पश्चात् और स्पष्ट रूप से यह कहा है कि एक वस्तु में चित्त की स्थिरता ध्यान है, वह मात्र अन्तर्मुहूर्त तक ही एकाग्र रहता है। ध्यान के स्वामी के संबंध में तत्त्वार्थसूत्र में तो यह कहा है कि उत्तम संहनन वाला साधक ध्यान का अधिकारी होता है, जबकि ध्यानशतक में थोड़ा और स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस प्रकार का ध्यान अल्पज्ञ-छद्मस्थ जीवों में ही होता है। केवलियों का ध्यान तो योगों के निरोध-रूप होता है, क्योंकि वहाँ मन अमन हो

<sup>59</sup> 'तत्त्वार्थसूत्र' - पं. सुखलालजी संघवी, पुस्तक के प्रकाशकीय से उद्धृत

<sup>60</sup> उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। - तत्त्वार्थसूत्र- 9/27

जाता है।<sup>61</sup> ध्यानशतक में उत्तम संहनन का प्रसंग शुक्लध्यान के अन्तर्गत किया गया है।<sup>62</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में धर्म और शुक्ल — इन दोनों ध्यानों को मोक्ष का हेतु कहा है, इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व के आर्त्त एवं रौद्रध्यान मोक्ष के नहीं, अपितु संसार—परिभ्रमण के हेतु हैं।<sup>63</sup> ध्यानशतक की गाथा में तो इसकी स्पष्ट व्याख्या है।<sup>64</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में आर्त्तध्यान के प्रथम भेद का निरूपण करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उससे मुक्त होने के लिए सोचना, चिन्तन करना आर्त्तध्यान का पहला भेद है। ध्यानशतक में उसे थोड़ा और स्पष्ट करते हुए कहा है — अमनोज्ञ शब्दादि विषयों और उनसे संबंधित पदार्थों के वियोग—विषयक तथा आगामी काल में उनका फिर से संयोग न होना —ऐसा चिन्तन—मनन या चिन्ता, यह प्रथम आर्त्तध्यान का लक्षण है,<sup>65</sup> शेष तीन आर्त्तध्यान के लक्षण भी इसी प्रकार विकसित हैं।<sup>66</sup>

तत्त्वार्थसूत्र में, सर्वार्थसिद्धिसम्मत सूत्रपाठ के अन्तर्गत मनोज्ञ विषयों का असंयोग होने पर पुनः उसको कैसे प्राप्त करना —इस चिन्तन—धारा को तथा वेदनाजन्य चिन्तन—धारा को क्रमशः दूसरा एवं तीसरा आर्त्तध्यान निर्देशित किया है,<sup>67</sup> जबकि ध्यानशतक के अन्तर्गत शूल—रोगादि वेदनाजन्य चिन्तन—धारा को तथा इष्ट—विषयादि के संयोग की चिन्तन—धारा को क्रमशः दूसरा एवं तीसरा आर्त्तध्यान

<sup>61</sup> जं थिरमज्जवसाणं ..... जोगनिरोहो जिणाणुं तु । — ध्यानशतक, गाथा 2—3

<sup>62</sup> एतेच्चिय पुव्वाणं ..... पराण केवलिणो । — वही. गाथा 64

<sup>63</sup> तत्त्वार्थसूत्र, 9/29 (परे मोक्षहेतु इति वचनात् पूर्वं आर्त्त—रौद्रे संसारहेतु इत्युक्तं भवति—सर्वार्थसिद्धि)

<sup>64</sup> अहुं रदं धम्मं सुक्कं ज्ञाणाइ तत्थ अंताइ । निव्वाणसाहणाइ भवकारणमहु—रुद्धाइं — ध्यानशतक, गाथा 5

<sup>65</sup> क) तत्त्वार्थसूत्र 9/30 ख) अमणुण्णाणं ..... । — ध्यानशतक, गाथा 6

<sup>66</sup> क) आर्त्तममनोज्ञानां.....वेदनायाश्च । विपरीतं मनोज्ञानाम् । निदानं च —तत्त्वार्थसूत्र, 9/31,32,33,34,  
ख) तह सूल—सीस.... । ध्यानशतक 7—9

<sup>67</sup> विपरीत मनोज्ञस्य । वेदनायाश्च । — तत्त्वार्थसूत्र— 9/31—32

निर्देशित किया गया है।<sup>68</sup> तत्त्वार्थाधिगमसम्मत सूत्रपाठ में भी इसी कथन की सहमति है।<sup>69</sup>

आर्त्तध्यान किन-किन गुणस्थानों में होता है -इस कथन को लेकर तत्त्वार्थसूत्र तथा ध्यानशतक -दोनों एकमत हैं कि अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत-गुणस्थानों में ही आर्त्तध्यान संभव है।<sup>70</sup> इसके अतिरिक्त, ध्यानशतक में आर्त्तध्यानी के लक्षण, उनकी गति का कारण, आर्त्तध्यान संसार-परिभ्रमण का कारण क्यों है, आर्त्तध्यानी किस लेश्या का अधिकारी होता है, इत्यादि,<sup>71</sup> कुछ अन्य चर्चा भी की गई है, जबकि तत्त्वार्थसूत्र में ये सब चर्चा नहीं है।

जहाँ तत्त्वार्थसूत्र में रौद्रध्यान के भेदों एवं स्वामी का निरूपण मात्र एक ही सूत्र में किया गया है,<sup>72</sup> वहाँ ध्यानशतक में गाथा क्रमांक-19 से 27 तक में रौद्रध्यान के सन्दर्भ में चर्चा की गई है।

तत्त्वार्थसूत्र के समान भेदों एवं स्वामी के निर्देश के अतिरिक्त रौद्रध्यानी के फल, लेश्या, लक्षण आदि की चर्चा भी उपलब्ध है।<sup>73</sup> तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के चार भेदों को मात्र एक ही सूत्र में निर्देश करके धर्मध्यान के निरूपण को ही समाप्त कर दिया,<sup>74</sup> जबकि ध्यानशतक की गाथा क्रमांक-28 से 68 में भावना, देश, काल, आसन-विशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या और फल -इन धर्मध्यान के बारह द्वारों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।<sup>75</sup> तत्त्वार्थसूत्रोक्त उसके चार भेदों की सूचना यहाँ ध्यातव्यद्वार में करके उनके अलग-अलग स्वरूप

<sup>68</sup> तह सूल-सीसरोगाइवेयणाइ.....नियानचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चवंतं । - ध्यानशतक, गाथा7-9

<sup>69</sup> वेदनायाश्च । विपरीतं मनोज्ञानाम ।। - तत्त्वार्थसूत्र, 9/32-33

<sup>70</sup> तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।। -तत्त्वार्थसूत्र 9/35; तदविरय-देसविरया-पमारं।- ध्यानशतक-18

<sup>71</sup> एयं चउव्विहं राग-दोस ..... वड्डइ अड्डमि ज्ञाणमि । - ध्यानशतक, गाथा 10-17

<sup>72</sup> हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः । - तत्त्वार्थसूत्र, 9/36

<sup>73</sup> सत्तवह-वेह-बंधण-डहणऽकण ....रोदज्झाणोवगयचित्तो । - ध्यानशतक, गाथा 19-27

<sup>74</sup> आज्ञाऽपाय विपाकसंस्थान विचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य । - तत्त्वार्थसूत्र, 9/37

<sup>75</sup> ज्ञाणस्स भावणाओ .....धम्मज्ञाणी मुणेयव्वो । - ध्यानशतक, गाथा 28-68

को भी स्पष्ट किया गया है।<sup>76</sup> तत्त्वार्थसूत्र में धर्मध्यान के सिर्फ चार भेदों का ही उल्लेख किया गया है, उसके स्वामी के सन्दर्भ में कुछ भी निर्देश नहीं है, जबकि उस पर लिखी गई टीका 'सर्वार्थसिद्धि' के अन्तर्गत धर्मध्यान के स्वामी के संबंध में यह कहा गया है कि वे अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत के अधिकारी होते हैं।<sup>77</sup>

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यभूत, तत्त्वार्थवार्तिक<sup>78</sup> में अलग से स्वामी के विषय में वर्णन तो नहीं किया, परन्तु शंका-समाधान में सर्वार्थसिद्धि के समान धर्मध्यान के स्वामी अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत बताए गए हैं।

तत्त्वार्थसूत्र पर रचे गए तत्त्वार्थाधिगमसम्मत सूत्रपाठ में लिखा है कि धर्मध्यान के चार प्रकार अप्रमत्तसंयत में तो हैं ही, साथ ही उपशान्तकषाय तथा क्षीणकषाय में भी होते हैं।<sup>79</sup>

ध्यानशतक की गाथा क्रमांक-63 के अनुसार, सभी प्रमादों से रहित श्रमण ही धर्मध्यान का स्वामी है।<sup>80</sup> आचार्य हरिभद्रसूरि ने ध्यानशतक की टीका में उपशान्तमोह अर्थात् उपशामक -निर्ग्रन्थ और क्षीणमोह अर्थात् क्षपक-निर्ग्रन्थ का अर्थ प्रकट किया है।<sup>81</sup> तत्त्वार्थसूत्र में शुक्लध्यान का निरूपण करते हुए कहा है कि शुक्लध्यान के चार भेदों में से प्रथम दो भेद सद्भाव-श्रुतकेवली के और चरम के दो भेद सद्भाव के कहे गए हैं।

आगे, योग के आधार पर उनके स्वामित्व को दिखाते हुए कहा गया है कि प्रथम शुक्लध्यान तीनों योगों वाले साधक को, दूसरा शुक्लध्यान तीनों योगों में से

<sup>76</sup> आज्ञाविचय 45-49, अपायविचय 50, विपाकविचय 51, संस्थानविचय 52-62। - वही, गाथा 45-62

<sup>77</sup> तदविरत-देशविरत-प्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति।।- सर्वार्थसिद्धि, 9/36

<sup>78</sup> तत्त्वार्थवार्तिक, 9/36, 14-16

<sup>79</sup> आज्ञापाय-विपाक-संस्थान विचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य। उपशान्त-कषाययोश्च। - तत्त्वार्थसूत्र, अ.9, सू. 37-38

<sup>80</sup> सव्यपमायरहिया मुणो खीणोवसंतमोहाय। ज्ञायरो नाण-धणा धम्मज्जाणस्स निदिद्धा - 'निदिद्धा' पद से यह प्रकट है कि ग्रन्थकार के समक्ष उक्त प्रकार के धर्मध्यान के स्वामियों का प्ररूपक तत्त्वार्थसूत्र जैसा कोई ग्रन्थ रहा है। - ध्यानशतक गाथा 63

<sup>81</sup> ...मुनयः साधवः 'क्षीणोपशान्तमोहाश्च' इति क्षीणमोहः :-क्षपक निर्ग्रन्था उपशान्त मोहा उपशामकनिर्ग्रन्थाः  
- ध्यानशतक की हरिभद्रीय-टीका

किसी एक ही योगवाले साधक को, तीसरा शुक्लध्यानकाययोगी साधक को और चौथा शुक्लध्यान योग से रहित हुए अयोगी को होता है।<sup>82</sup> तदुपरान्त, यह भी कहा गया है कि श्रुतकेवली के जो पहले के दो शुक्लध्यान होते हैं, उनमें प्रथम वितर्क व विचारसहित होता है और द्वितीय वितर्कसहित किन्तु विचाररहित होता है। आगे प्रसंगानुसार प्राप्त वितर्क का और विचार का लक्षण भी स्पष्ट प्रकट किया गया है।

प्रसंगानुसार, शुक्लध्यान से सम्बन्धित उपर्युक्त सम्पूर्ण विषय-वस्तु ध्यानशतक के अन्तर्गत उपलब्ध है। इससे सम्बन्धित तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र और ध्यानशतक की गाथाएँ इस प्रकार हैं —

तत्त्वार्थसूत्र/अ.9/सू. 37-38, 40, 41-42

ध्यानशतक/गा. 64, 83, 77-80

**ध्यानशतक और मूलाचार का तुलनात्मक अध्ययन —**

‘मूलाचार’, जिसके रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं, सम्भवतः उसका रचनाकाल प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी है। यह मुनिचर्या पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें मूलगुणाधिकार, बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तरस्त्वाधिकार, संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार, समाचाराधिकार, पंचाचाराधिकार, पिण्डशुद्धि-अधिकार, षडावश्यक-अधिकार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, अनगारभावनाधिकार, समयसाराधिकार, शीलगुणाधिकार और पर्याप्त्याधिकार — ये बारह अधिकार हैं। “मूलाचार पर अनेक टीकाएँ तो लिखी गईं, साथ ही इसको आधार बनाकर जिन ग्रन्थों की स्वतंत्र रचना हुई उनमें अनगार-धर्माभूत, आचारसार, चारित्रसार, मूलाचारप्रदीप आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं, जिन पर मूलाचार का स्पष्ट प्रभाव है।”<sup>83</sup> इसके पंचाचार नामक पांचवें अधिकार में तप का वर्णन करते हुए तप के छह आभ्यन्तर भेदों का निर्देश किया गया है। उन छह

<sup>82</sup> प्रस्तुत संदर्भ—ध्यानशतक, सन्मार्ग प्रकाशन, आ. कीर्तियशसूरि, पुस्तक से उद्धृत है, यानी ध्यानशतक का तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग से लिया, पृ. 103

<sup>83</sup> प्रस्तुत वाक्यांश मूलाचार — प.भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत परिषद, पुस्तक के सम्पादकीय से उद्धृत, पृ. 9

भेदों के अन्तर्गत पांचवा भेद ध्यान है, जिसकी प्ररूपणा गाथा क्रमांक—197 से 208 में की गई है, अर्थात् संक्षेप में, ध्यान के महत्त्व, भेद, फलादि का उल्लेख किया है।

सर्वप्रथम ध्यान को चार भागों आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल में विभक्त करते हुए आर्त्त और रौद्र—ध्यान को अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल ध्यान को प्रशस्त कहा गया है।<sup>84</sup>

आर्त्तध्यान के चार भेद—अमनोज्ञ के संयोग, मनोज्ञ के वियोग, परीषह अर्थात् वेदना और निदान के विषय में कहा है कि जो सकषाय ध्यान (चिन्तन) है, वह आर्त्तध्यान कहलाता है।<sup>85</sup>

चोरी, असत्य, धनादि का संरक्षण तथा छह प्रकार के आरम्भ के सन्दर्भ में जो सकषाय चिन्तन—मनन होता है, उसे रौद्रध्यान कहते हैं।<sup>86</sup>

उपर्युक्त दोनों ध्यानों को मुक्ति में बाधक मानकर उन्हें छोड़ने की तथा धर्म और शुक्ल—ध्यान में मन के अध्यवसायों की एकाग्रतापूर्वक रमण करने की प्रेरणा दी गई है।<sup>87</sup> तत्पश्चात्, आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान—विचय, जो धर्मध्यान के चार भेद हैं, उनके स्वरूप का निरूपण किया गया है और चरम संस्थानविचय के प्रसंग में धर्मध्यानी अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन—मनन करता है, साथ ही बारह अनुप्रेक्षाओं के नामोल्लेख की चर्चा की गई है।<sup>88</sup>

शुक्लध्यान के संबंध में तो केवल इतना ही कहा गया है कि उपशान्त कषाय में पृथक्त्ववितर्कविचार, क्षीणकषाय में एकत्ववितर्कविचार, सयोगी—केवली में

<sup>84</sup> अष्टं च रुददसहियं दोण्णिवि ज्ञाणाणि ..... । — मूलाचार, अ. 5, गाथा 197

<sup>85</sup> अमणुण्णजोगइड्वविओगपरीसहणिदाणकरणेसु .... । — वही, अ. 5, गाथा 198

<sup>86</sup> तेणिककमोससारकखणेषु तध केव छव्विहारंभे ... । — वही, अ.5, गाथा199

<sup>87</sup> अवहट्टु अट्टरुद्दे महाभार ..... साहि । — वही, अ.5, गाथा 200—201

<sup>88</sup> आणापायविवायविचओ संठाणविचयं चं .....चित्तिज्जो । — मूलाचार, अ.5, गाथा 201—206

सूक्ष्मक्रिया रूप और अयोगी-केवली में समुच्छिन्नक्रिया रूप होता है, जो शुक्लध्यान के ही चार भेद हैं।<sup>89</sup>

मूलाचार में ध्यान का स्वतंत्र अधिकार न होने से ध्यान का वर्णन संक्षेप में किया गया है, जबकि ध्यानशतक एक स्वतन्त्र ग्रंथ है, इसलिए उसमें विस्तार से वर्णन किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों की कुछ समानताओं-असमानताओं की तुलना इस प्रकार है -

- ❖ जिस प्रकार मूलाचार में चार ध्यानों के नामों का उल्लेख करते हुए आर्त्त और रौद्र-ध्यान को अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्लध्यान को प्रशस्त माना गया है, उसी प्रकार ध्यानशतक में भी चारों के नामोल्लेख सहित आर्त्त व रौद्र का संसारवर्द्धक तथा धर्म-शुक्लध्यान को संसार-तारक माना गया है, अर्थात् दो अप्रशस्त तथा दो प्रशस्त ध्यान हैं। यह प्रशस्तता और अप्रशस्तता ही दोनों ग्रन्थों की समानता है।<sup>90</sup>
- ❖ मूलाचार में आर्त्तध्यान के स्वतंत्र चार भेदों का उल्लेख नहीं है, परन्तु सामान्य तौर पर उनके स्वरूप मात्र का निरूपण किया गया है। वह स्वरूप-निरूपण ही ध्यानशतक के आर्त्तध्यान के चार भेदों से समानता को दर्शाता है।<sup>91</sup>
- ❖ मूलाचार में रौद्रध्यान के भी स्वरूप का सामान्य रूप से वर्णन किया गया है, स्वतंत्र नामोल्लेख नहीं है, फिर भी विषयक्रम के निर्देश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चार भेदों का संकेत किया गया है। ध्यानशतक में भी अलग से रौद्रध्यान के भेदों का नामोल्लेख तो नहीं है, पर गाथा क्रमांक-19-23 में

<sup>89</sup> उवसंतो दु पुहुत्तं ज्ञायदि .....ज्ञाणं समुच्छिण्णं। - वही, अ.5, गाथा 207-208

<sup>90</sup> क) मूलाचार - 5/197 ख) ध्यानशतक, गाथा-5

<sup>91</sup> क) मूलाचार - 5/198 ख) ध्यानशतक, गाथा 6 से 9

उनके लक्षणों का भिन्न-भिन्न रूपों से निर्देश है, ये उनके भेदों का संकेत करता है।<sup>92</sup>

❖ मूलाचार तथा ध्यानशतक में धर्मध्यान के चार भेदों आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय—इन नामों का उल्लेख समान रूप से स्पष्ट परिलक्षित होता है।<sup>93</sup> इसमें विषमता मात्र यह है कि मूलाचार में बारह भावनाओं के नामों का निर्देश है, जबकि ध्यानशतक में धर्मध्यान के बारह द्वारों में अनुप्रेक्षा एक पृथक् द्वार है, जहाँ यह कहा गया है कि ध्यान से पतित होने पर मुनि अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में उद्धत होता है,<sup>94</sup> वहाँ उन अनित्यादि भावनाओं का नामोल्लेख एवं संख्या का कहीं कोई वर्णन नहीं मिलता है।<sup>95</sup>

❖ मूलाचार में शुक्लध्यान के प्रसंग में मात्र यह बताया गया है कि उपशान्त-कषाय में पृथक्त्ववितर्कविचार, क्षीणकषाय में एकत्ववितर्कविचार, सयोगी-केवली में सूक्ष्मक्रिया तथा अयोगी-केवली में समुच्छिन्नक्रिया-ध्यान को ध्याया जाता है,<sup>96</sup> जो चार भेदों को प्रकट करता है, जबकि ध्यानशतक में शुक्लध्यान के ध्यातव्य द्वार के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से शुक्लध्यान के चारों भेदों का उल्लेख उपलब्ध है।<sup>97</sup>

<sup>92</sup> ध्यानशतक, गाथा 19-23

<sup>93</sup> मूलाचार, 5/201-205

<sup>94</sup> ध्यानशतक, गाथा 65

<sup>95</sup> टीकाकार हरिभद्रसूरि ने उसके स्पष्टीकरण में अनित्य, अशरण, एकत्व और संसार—इन चार भावनाओं का निर्देश किया है। [इसका आधार स्थानांग का ध्यान प्रकरण रहा है—सूत्र 68 पृ.224, इसी प्रसंग में आगे हरिभद्रसूरि ने प्रशमरतिप्रकरण से बारह भावनाओं के प्ररूपक पद्यों को भी उद्धृत किया है।]

<sup>96</sup> उवसंतो दु पुहुत्तं ज्ञायदि ज्ञाणं .....समुच्छिण्णं।

<sup>97</sup> ध्यानशतक, गाथा 77-82



❖ मूलाचार में मात्र शुक्लध्यान के स्वामी का निर्देश है, जबकि ध्यानशतक में शुक्लध्यान के साथ-साथ आर्त्त, रौद्र तथा धर्मस्थान के स्वामी का भी उल्लेख है।<sup>98</sup>

गहराई से चिन्तन करने पर तात्पर्य यह निकलता है कि दोनों ग्रन्थों में ध्यान के वर्णन में जहाँ कुछ समानताएँ प्राप्त होती हैं, वहीं कुछ मौलिकताएँ भी मिलती हैं। इसको देखते हुए भी एक ग्रन्थ का दूसरे ग्रन्थ की रचना में कुछ प्रभाव रहा है—ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

### ध्यानशतक और भगवती—आराधना का तुलनात्मक अध्ययन —

भगवती—आराधना के रचयिता आचार्य शिवार्य हैं। सम्भवतः यह दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में रची गई रचना है। आराधक को केन्द्रबिन्दु में रखकर इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप—इन चार आराधनाओं की चर्चा की गई है। इसके अन्तर्गत समाधिमरण को भी मुख्यता दी गई है। क्षपक के आधार से मरण के सत्रह प्रकारों में पण्डित—पण्डित—मरण, पण्डित—मरण, बाल—पण्डित—मरण, बाल—मरण और बाल—बाल—मरण इन पाँच मरण प्रकारों के सन्दर्भ में प्ररूपणा की गई है।

प्रसंगानुसार, भक्तप्रत्याख्यान में यह कहा गया है कि जो संसार के जन्म—मरण के दुःखों से पीड़ित है, वह संक्लेशहर्त्ता धर्मध्यान के चार भेदों तथा शुक्लध्यान के चार भेदों का चिन्तन—मनन करता है और इस प्रकार के चिन्तन—मनन के दौरान कभी आधि—व्याधि—उपाधि के प्रसंग आ भी गए तब भी आर्त्त और रौद्र ध्यान का विचार नहीं करता है।<sup>99</sup>

<sup>98</sup> वही, गाथा 18, 23, 63 व 64

<sup>99</sup> सल्लेहणा विसुद्धाकेई .....णासेइ ॥ — भगवतीआराधना, विजयोदय टीका गाथा 1669—70

इसी प्रसंग में, मात्र दो गाथाओं में आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान के चार-चार प्रकारों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। साथ ही इसमें यह भी लिखा है कि आर्त्त एवं रौद्र-ध्यान अधमगति रूप हैं तथा धर्म और शुक्ल-ध्यान उत्तमगति-रूप हैं, इसलिए भव्यजनों को धर्म एवं शुक्लध्यान में रमण करना चाहिए।<sup>100</sup> तदनन्तर, गाथा क्रमांक 1705-14 में धर्मध्यान के लक्षण, प्रकार, आलंबन आदि का उल्लेख किया गया है। मूलाचार के समान ही इसमें भी धर्मस्थान के चौथे प्रकार संस्थानविचय में बारह अनुप्रेक्षाओं का नाम सहित विस्तार से वर्णन किया गया है।<sup>101</sup> आगे की गाथाओं में यह कहा गया है कि बारह अनुप्रेक्षाएं धर्मध्यान के लिए आलम्बनरूप हैं, जो इनका आलम्बन लेकर ध्यान करता है, उसकी ध्यान में एकाग्रता अखण्ड रहती है। इस सन्दर्भ में तो यहाँ तक कहा गया है कि क्षपक मन से ध्याता जिस ओर देखता है, वही उसका धर्मध्यान का आलंबन हो जाता है। साधक धर्मध्यान से भी आगे अतिशय विशुद्ध लेश्यावाला होकर शुक्लध्यान को ध्याता है और इस शुक्लध्यान के चार प्रकारों का वर्णन गाथा क्रमांक 1873-1884 में किया गया है। तत्पश्चात् कहा गया है कि साधक जैसे-जैसे ध्यान में एकाग्र होता है, वैसे-वैसे कर्म-निर्जरा करता है। अन्त में, ध्यान के महत्त्व को बताते हुए इस प्रकरण को समाप्त किया गया है।<sup>102</sup> भगवती-आराधना में धर्मस्थान के लक्षण आर्जव, लघुता, मार्दव और उपदेश हैं जो स्वाभाविक रूप से धर्मध्यानी में पाए जाते हैं। उसकी आगम-विषयक उपदेश में स्वभावतः रुचि हुआ करती है।<sup>103</sup>

ध्यानशतक में भी धर्मध्यान के लक्षणों का उल्लेख गाथा क्रमांक 67 में मिलता है।<sup>104</sup> सामान्य तौर से दोनों ग्रन्थों की गाथाओं में शब्द और अर्थ की अपेक्षा से कुछ समानता जरूर दिखती है, फिर भी ध्यानशतक में भगवती-आराधना की

<sup>100</sup> पच्चाहरित्त विसयेहि .....रुचीओ दे।। भगवती-आराधना, विजयोदया टीका, गाथा1702-4

<sup>101</sup> अद्धुवमसरणंमेगतमण्णसंसारलोयमसुइत्तं .....आलंबणे हिं मुणी। - वही, 1710-1867

<sup>102</sup> आलंबन च वायण ..... सुणमो जिणवराणं। - भगवती-आराधना, 1869-2164

<sup>103</sup> धम्मस्स लक्खणं से अज्जव-लहुगत्त-मदवोवसमा।

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रूयीओ दे।। - वही, गाथा 1709

<sup>104</sup> आगम-उवएसाऽऽणा-णिसग्गओ ....। - ध्यानशतक, गाथा 67

अपेक्षा स्थानांगसूत्र से समानता अधिक परिलक्षित होती है<sup>105</sup> और धर्मध्यान के आलम्बनों का वर्णन भी भगवती-आराधना<sup>106</sup> से न करके स्थानांगसूत्र से किया गया है।<sup>107</sup>

मूलाचार तथा भगवती-आराधना की विषय-वस्तु में समानता है, मात्र इतना ही नहीं समझना, इससे आगे यह भी जानना है कि कुछ गाथाएँ भी दोनों ग्रन्थों में समान रूप से उपलब्ध हैं, जैसे -

मूलाचार की 5, 198-200 गाथाएँ - भगवती-आराधना की 1702-04 गाथाएँ समान हैं।

मूलाचार की 202-206 गाथाएँ भगवती - आराधना की 1711-15 गाथाएँ समान हैं।

### ध्यानशतक और धवलाटीका का तुलनात्मक-अध्ययन -

आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा 9वीं शताब्दी में रचित 'धवलाटीका' भी बहुत ही विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, मूल में यह टीका आचार्य भूतबलि-पुष्पदंत (प्रायः ईसा की प्रथम शताब्दी) द्वारा विरचित 'षट्खण्डागम' पर आधारित है। षट्खण्डागम के वर्गणा नामक पांचवें खण्ड में एक कर्म-अनुयोगद्वार है, उसमें दस कर्मभेदों के अन्तर्गत आठवें तपः-कर्म का निर्देश करते हुए तप के बारह प्रकार कहे गए हैं,<sup>108</sup> जिनको दो विभागों में विभक्त किया गया है - 1. छह आभ्यन्तर तप और 2. छह बाह्य-तप।

आभ्यन्तर-तप के पांचवें भेद भूत-ध्यान का निरूपण करते हुए आचार्य वीरसेन ने प्रस्तुत टीका में 1. ध्याता, 2. ध्येय, 3. ध्यान और 4. ध्यानफल के रूप में चार अधिकारों का वर्णन किया है। उसी के अनुरूप, वहाँ पहले ध्याता का विचार

<sup>105</sup> धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि लक्खणां पं तं आणारुई, णिसग्गुरुई, सुत्तरुई, ओगाढरूती।

- स्थानांगसूत्र, स्था.चतु., उद्दे.प्रथम, सूत्र 66, पृ.224

<sup>106</sup> आलंबणं च वायण पुच्छण परियट्टणाणुपेहाओ। धम्मस्स तेण-अविरुद्धाओ सबाणुपेहाओ। - भगवती आराधना 1710 व 1875

<sup>107</sup> धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि आलंबणा पं तं वायणा पडिपुच्छणापरियट्टणा अणुपेहा। -

- स्थानांगसूत्र, स्था.चतु., उद्दे.प्र., सू.67, पृ.224 सं. मुनि मधुकर

<sup>108</sup> षट्खण्डागम- 5, 4, 25-26, पु.-13, पृ. 54

करते हुए उसमें कैसी-कैसी एवं क्या-क्या विशेषताएँ होना चाहिए, इसके लिए अनेक महत्त्वपूर्ण विशेषणों का उपयोग किया गया है। इस संदर्भ में उन्होंने 'एत्थ गाहा या गाहाओ' कहकर ध्यानशतक की निम्नांकित गाथाओं को लिया है - 2, 30-34, 35-36, 37, 38, 39-40 41-43<sup>109</sup> साथ ही साथ कुछ गाथाएँ भगवती-आराधना से भी ली गई हैं।

तत्पश्चात्, क्रमशः ध्येय के उल्लेख में ध्येय-ध्यान के योग्य अनेक विशेषणों से अलंकृत अरहन्त एवं सिद्ध द्वारा प्ररूपित नौ पदार्थों के संबंध में चर्चा की गई है।<sup>110</sup> आगे, ध्यान की प्ररूपणा में धर्म और शुक्ल -इन दो भेदों का ही वर्णन है, क्योंकि तपःकर्म-प्रकरण के कारण शायद आर्त्त और रौद्र को स्वीकार नहीं किया है।<sup>111</sup> 'धवलाटीका' में धर्मध्यान को ध्येयरूप मानते हुए चार प्रकार भी कहे गए हैं - आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानविचय। ग्रन्थों में आज्ञा, आगम, सिद्धान्त, जिनवचन, जिनवाणी -इन सभी शब्दों का अर्थ एक है और इस प्रकार आज्ञानुसार प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणों के विषयभूत पदार्थों का जो चिन्तन-मनन किया जाता है, उसको आज्ञाविचय कहते हैं, इस प्रसंग में यहाँ 'एत्थ गाहाओ' कहकर ध्यानशतक की 45-49 गाथाएं उद्धृत की गई हैं।<sup>112</sup> आगे की एक गाथा 38 है जो मूलाचार 5-202 में भी मिलती है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग द्वारा जन्म, जरा और मृत्यु की वेदना का अनुभव करते-करते तदजन्य अपाय का चिन्तन-मनन अपायविचय-धर्मध्यान कहा गया है। इस सन्दर्भ में यहाँ ध्यानशतक की पचासवीं गाथा ली गई है।<sup>113</sup> साथ ही पाठ-भेद को लिए हुए 'मूलाचार' की भी एक गाथा सम्मिलित है, जिसका

<sup>109</sup> धवला में इनकी क्रमिक संख्या इस प्रकार है -12, 14-15, 16-17-18,-19, 20-21 और 23-27

-पृ. 13, पृ. 1. 64-68

<sup>110</sup> धवला, पु. 13, पृ. 67-70

<sup>111</sup> हेमचन्द्रसूरि विरचित 'योगशास्त्र' में भी इन दो दुर्घ्यानों को ध्यान में सम्मिलित नहीं किया गया है। - योगशास्त्र 4/115

<sup>112</sup> धवला में इनकी क्रमिक संख्या 33-37 है -पृ. 71

<sup>113</sup> धवला, में इनकी क्रमिक संख्या 39 है -पृ. 72'

अभिप्राय है कि जीवों के शुभाशुभ कर्म के विनाश का चिन्तन—मनन करना है।<sup>114</sup> प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश — इन चार भेदों से शुभ—अशुभ कर्मों के विपाक को स्मृतिपटल पर ला—लाकर याद करना विपाकविचय है और इस प्रसंग के लिए ध्यानशतक की इक्यावनवीं गाथा इसमें ली गई है,<sup>115</sup> साथ ही मूलाचार की एक गाथा भी उद्धृत है।<sup>116</sup> तीनों लोकों के आकार, प्रकार, प्रमाण तथा वर्तमानकालीन जीवों के आयुष्य का विचार संस्थानविचय है और इस सन्दर्भ की पुष्टि के लिए ध्यानशतक की गाथा क्रमांक 52 से 56 तक की गाथाएँ उद्धृत की गई हैं।<sup>117</sup> इसके अतिरिक्त भी, इसी प्रसंग को सरस बनाने के लिए ध्यानशतक की कई गाथाएँ उद्धृत की गई हैं।<sup>118</sup> अन्त में, इस 'धवलाटीका' में शुक्लध्यान का वर्णन किया गया है।<sup>119</sup> वह वर्णन प्रायः तत्त्वार्थसूत्र और ध्यानशतक के समान ही है और शुक्लध्यान के प्रसंग में ध्यानशतक की लगभग 10—11 गाथाएँ ली गई हैं। गाथा क्रमांक इस प्रकार हैं — 69, 71—72, 75, 90—92, 100, 101, 103, 104 (पू.)<sup>120</sup> इसी सन्दर्भ के अन्तर्गत भगवती—आराधना की भी लगभग नौ गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, गाथा क्रमांक इस प्रकार है — 18, 80, 81, 82, 83, 84, 85, 86, 87, 88<sup>121</sup>

### दोनों में कुछ पाठ—भेद —

“इस प्रकार धवला (पु.13) में जो ध्यानशतक की लगभग 46—47 गाथाएँ उद्धृत की गई हैं, उनमें ऐसे कुछ पाठ—भेद भी हैं, जिनके कारण वहाँ कुछ

<sup>114</sup> मूलाचार 5—203 (यह गाथा भगवती आराधना 1711 में उपलब्ध है); धवला में उसकी क्रमिक संख्या 40, पृष्ठ 72

<sup>115</sup> धवला में उसकी क्रमिक संख्या 41 है, पृष्ठ 72

<sup>116</sup> मूलाचार की 5—204 —यह गाथा भगवती—आराधना 1713 में भी पाई जाती है।

<sup>117</sup> धवला में इनकी क्रमिक संख्या 43—47 है —पृ. 73

<sup>118</sup> धवला में उसकी क्रमिक संख्या 48 (पृ. 73) और 49,50, 51—52, 53—55, 56, 57 (पृ. 76—77) है।

<sup>119</sup> धवला, पु. 13, पृ. 77—78

<sup>120</sup> धवला में उनकी क्रमिक संख्या इस प्रकार है — 64, 65, 66, 67—69, 70, 71, 74, 75—76

<sup>121</sup> धवला में उनकी क्रमिक संख्या इस प्रकार है — 58—63, 72—74

गाथाओं का अनुवाद भी असंगत हो गया है।<sup>122</sup> यहाँ हम होइ-होज्ज, भूदोव-भूओव, द्वियो-ठिओ, लाहं-लामं—ऐसे कुछ पाठभेदों को छोड़कर उनमें अन्य जो महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं, उनका तुलनात्मक विवेचन करेंगे।

## ध्यानशतक और आदिपुराण का तुलनात्मक अध्ययन —

वीरसेन स्वामी के शिष्य जिनसेनाचार्य ने नौवीं शती में महापुराण की रचना की थी। यह एक पौराणिक ग्रन्थ है। यह महापुराण दो भागों में विभक्त है — 1. आदिपुराण और 2. उत्तरपुराण। 'जैनेन्द्र-सिद्धान्तकोश' के अनुसार आदिपुराण में भगवान् ऋषभदेव तथा भरत एवं बाहुबली का चरित्र चित्रित किया गया है। इसमें सैतालीस पर्व तथा पन्द्रह हजार श्लोक हैं। उत्तरपुराण में शेष तेईस तीर्थकरों का उल्लेख है। इसमें उन्तीस पर्व और आठ हजार एक सौ श्लोक हैं। ये दोनों मिलकर महापुराण भी कहलाते हैं।<sup>123</sup>

सैतालीस पर्व वाले आदिपुराण के प्रथम बयालीस पर्व तथा तैतालीसवें पर्व के मात्र तीन श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं, शेष पर्वों के 1620 श्लोक-परिमाण भाग की रचना उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने की थी।<sup>124</sup>

आदिपुराण के इक्कीसवें पर्व के अन्तर्गत श्रेणिक द्वारा पूछे जाने पर गौतमस्वामी के द्वारा ध्यान का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जो 'ध्यानशतक' की विषय-वस्तु से काफी प्रभावित प्रतीत होता है। इन दोनों ग्रन्थों

<sup>122</sup> जैसे पृ. 67 गाथा 21 एवं 22; पृ 68, गाथा 24 एवं 27; पृ.71 गाथा 35-37 पृ. 73, गाथा 48 का पाठभेद सम्भवतः प्रतिलेखक की असावधानी से हुआ है — ध्यानशतक की गाथा 58 और 57 के क्रमशः उत्तरार्धों के मेल से यह गाथा बनी है। इस अवस्था में वह प्रकरण से सर्वथा असम्बद्ध हो गई है। ध्यानशतक के अन्तर्गत गाथा 56-57 में संसार-समुद्र का स्वरूप दिखलाया गया है तथा आगे वहाँ गाथा 58-59 में उक्त संसार-समुद्र से पार करा देने वाली नौका का स्वरूप प्रगट किया गया है। वहाँ गाथा 58 के उत्तरार्ध में उपयुक्त णाणमयकण्णधारं (ज्ञानरूप कर्णधार से संचालित); यह विशेषण वहाँ चारित्ररूप महती नौका का रहा है, वह धवला में हुए इस पाठभेद के कारण संसार-समुद्र का विशेषण बन गया है। यह वहाँ सोचनीय असंगति हो गई है।

<sup>123</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश' भाग-33, पृ. 290

<sup>124</sup> आदिपुराण, सं.डॉ. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, न्यूदिल्ली, भाग-1, पुस्तक की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 39

की विवेचन-शैली एक समान है। इतना ही नहीं, 'आदिपुराण' में ऐसे कितने ही श्लोक भी उपलब्ध होते हैं, जो ध्यानशतक की प्राकृत-गाथाओं के संस्कृत छायानुवाद जैसे दिखाई देते हैं,<sup>125</sup> इसका विवेचन इस प्रकार है, यथा - ध्यानशतक में मंगल के पश्चात् कहा गया है कि स्थिर अध्यवसाय ध्यान है तथा अनवस्थित चित्त को एकाग्र बनाने में भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ता - ये तीनों सहायकभूत हैं। छद्मस्थों का ध्यान अन्तर्मुहूर्त काल का होता है तथा केवली का ध्यान योगनिरोधरूप होता है। अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त ध्यान के समाप्त हो जाने के बाद ध्यानान्तर में अनुप्रेक्षा या भावनारूप चिन्तन होता है। बहुत सी वस्तुओं में संक्रमण के बावजूद भी ध्यान भंग नहीं होता है।<sup>126</sup> आदिपुराण में भी यह स्पष्ट लिखा है कि एक वस्तु में जो एकाग्ररूप से चिन्ता का निरोध होता है, वह ध्यान है। प्रथम संहनन वाला व्यक्ति इसका अधिकारी है, तथा इस ध्यान की अवधि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त है। अनुप्रेक्षा, चिन्ता और भावना - ये तीनों चित्त की अवस्थाएँ हैं। उपर्युक्त लक्षणों वाला ध्यान छद्मस्थों का होता है और सर्वज्ञों का ध्यान तो योगनिरोधरूप होता है।

ध्यानशतक तथा आदिपुराण की अधोलिखित पद्यों में समानता दिखाई देती है -

जं स्थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं ।  
 तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिन्ता ॥ - ध्यानशतक-2  
 स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं यच्चलाचलम् ।  
 सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥ - आदिपुराण-21/6

<sup>125</sup> 'ध्यानशतक' सं. विजयकीर्तियशसूरि, सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद, पुस्तक के ध्यानशतक के तुलनात्मक अध्ययन से, पृ. 114

<sup>126</sup> एकाग्रेयण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानं वज्रकं यस्य भवेदान्तमुहूर्ततः स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं यच्चलाचलम् । सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा । छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदृश्वनाम् । योगास्रवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥ - आदिपुराण, 21/8-10

## ध्यान के भेद —

आगे, ध्यानशतक में लिखा है कि आर्त्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल —ये ध्यान के चार प्रकार हैं। इनमें प्रथम के दो ध्यान संसारवर्द्धक तथा चरम दो ध्यान निर्वाण के हेतु हैं।<sup>127</sup> आदिपुराण में कहा गया है कि ध्यान प्रशस्त (शुभ) और अप्रशस्त (अशुभ) रूप से दो-दो प्रकार के हैं। आर्त्त और रौद्र—ध्यान अप्रशस्त तथा धर्म और शुक्ल—ध्यान प्रशस्त हैं। इस प्रकार ध्यान के चार भेद हैं। अप्रशस्त ध्यान भवभ्रमणा—रूप तथा प्रशस्तध्यान भव—भ्रमणा निवारण—रूप माना गया है।<sup>128</sup>

### 1. आर्त्तध्यान —

ध्यानशतक में आर्त्तध्यान के चार प्रकारों के निरूपण के साथ-साथ उनके फल, लेश्या, लक्षण, लिंग, स्वामियों की चर्चा भी की गई है।<sup>129</sup> इसी प्रकार, आदिपुराण में भी प्रस्तुत ध्यान के काल, फल, आलंबन, लक्षण, भाव आदि की चर्चा की गई है।<sup>130</sup>

### 2. रौद्रध्यान —

ध्यानशतक में आर्त्तध्यान के समान ही रौद्रध्यान के भी चार प्रकारों का निरूपण करते हुए उसके अधिकारी, फल, लेश्या, लिंगादि की चर्चा की गई है।<sup>131</sup>

आदिपुराण में जिनसेनाचार्य सर्वप्रथम रुद्र के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं, “प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः तत्र भवं रौद्रम्”। तत्पश्चात्, उसके हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द —इस प्रकार चार भेदों के नामनिर्देशन के साथ-साथ

<sup>127</sup> धीबलायत्तवृत्तित्वाद् ध्यानं...उत्तरं द्वितयं ध्यानमुपादेयं तु योगिनाम् —आदिपुराण— 21/11-29

<sup>128</sup> जं. धिरमज्झवसाणं .....बहुवत्थुसंकमे ज्ञाणसंताणो ।। — ध्यानशतक, गाथा 2,3,4

<sup>129</sup> अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूणं .....वज्जेयव्वं जइजणेणं । — ध्यानशतक, गाथा 6-18

<sup>130</sup> ऋते भवभयार्त्तं स्याद् ध्यानमाद्यं.....साश्रुतान्यच्च तादृशम् ।।। — आदिपुराण, 21/31-41

<sup>131</sup> सत्तवह—वेह—बंधण.....रोदज्झाणोवगयचित्तो ।। —ध्यानशतक, गाथा 19-27



उसके लेश्या, काल, लिंग, फल आदि का वर्णन किया गया है। हिंसानन्द के प्रसंग में तन्दुलमत्स्य और अरविंद विद्याधर का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।<sup>132</sup>

### आदिपुराण में कुछ विशेष कथन –

आदिपुराण में कहा गया है कि मुनिजनों को आर्त तथा रौद्रध्यान का त्याग करना चाहिए, क्योंकि दोनों ध्यानों के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रहती; कारण यह है कि अनादिकाल की वासना से ये स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं।<sup>133</sup> उत्कृष्ट ध्यानसिद्धि हेतु कुछ परिकर्म देश,<sup>134</sup> काल व आसन आदि विशेष प्रकार के साधन अभीष्ट बताए गए हैं।<sup>135</sup> परिकर्म का वर्णन ध्यानशतक के धर्मध्यान के अन्तर्गत द्वारों की चर्चा में उपलब्ध है। उदाहरण के लिए, दोनों ग्रन्थों के निम्नलिखित पद्यों का मिलान किया जा सकता है –

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो ।

ठाणं वियणं भणियं विसेसओ ज्ञाणकालंमि ।। – ध्यानशतक-35

स्त्री-पशु-क्लीब-संसक्तरहितं विजनं मुनेः ।

सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ।। – आदिपुराण- 21/77

00—00—00—00—00

जच्चिय देहावत्था जिया ण ज्ञाणोवरोहिणी होइ ।

झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ।। – ध्यानशतक-39

देहावस्था पुनर्येव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी ।

तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्यवा ।। –आदिपुराण 21/75

00—00—00—00—00

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्टासु ।

वरकेवलाइलामं पत्ता बहुसो समिय पावा ।। – ध्यानशतक, 40

यद्देस-काल-चेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः ।

सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति नात्र तन्नियमोऽस्त्यत ।। –आदिपुराण, 21/82

<sup>132</sup> प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूर .....नेत्रयोश्चातिताम्रताम् ।। – आदिपुराण, 21/42-53

<sup>133</sup> प्रयत्नेन विनैवैतदसद्ध्या.....फलमत्र द्वयात्कम् ।। – वही, 21/54-56

<sup>134</sup> ध्यान के परिकर्म का विचार –तत्त्वार्थ वार्तिक, 9/44; तथा भगवती-आराधना 1706-07

<sup>135</sup> शून्यालये श्मशाने वा.....वाच्यमेतच्चतुष्टयम् ।। – आदिपुराण, 21/57-84

आदिपुराणगत उक्त तीनों श्लोकों में ध्यानशतक की गाथाओं का भाव तो पूर्णतया निहित है, साथ ही उनके प्राकृत शब्दों के संस्कृत रूपान्तर भी ज्यों के त्यों लिए गए हैं।<sup>136</sup>

आदिपुराण में आगे ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल की चर्चा<sup>137</sup> के साथ-साथ प्रशस्त-ध्यान संसार-परिभ्रमण का निवारण हेतु आदि की भी चर्चा की गई है।<sup>138</sup> ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वैराग्य –इन चारों भावनाओं का अलग-अलग रूप से निर्देश किया गया है।<sup>139</sup> इन्हीं चार भावनाओं का उल्लेख ध्यानशतक में धर्मध्यान के भावनाद्वार के अन्तर्गत किया गया है, इस सन्दर्भ में अधोलिखित गाथा तथा श्लोक में समानता नजर आती है –

पुव्वकयब्बासो भावणाहि ज्ञाणस्स जोग्गयमुवेइ ।

ताओ य णाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गजणियाओ ॥ – ध्यानशतक, 30

भावनाभिरसंमूढो मुनिर्ध्यानस्थिरीभवेत् ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्योपगताश्च ताः ॥ – आदिपुराण, 21/95

इस सन्दर्भ में आदिपुराण के कर्ता जिनसेनाचार्य ने वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और सद्धर्मदेशना को ज्ञानभावना का रूप माना है,<sup>140</sup> जबकि ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इन्हें धर्मध्यान के आलंबनरूप माना है।<sup>141</sup>

### 3. धर्मध्यान –

ध्यानशतककार ने धर्मध्यान के प्रसंग में ध्यानारूढ मुनि को उन सब बातों से अवगत करवाना आवश्यक समझा, जो ध्यान-साधना के लिए आवश्यक थीं।

<sup>136</sup> प्रस्तुत संदर्भ-ध्यानशतक, प्र.सन्मार्ग अहमदाबाद, पुस्तक के ध्यानशतक का तुलनात्मक अध्ययन से उद्धृत पृ. 116

<sup>137</sup> वज्रसंहनन कायमुद्धहन् .....धर्मध्यानस्थ सुश्रुत ॥ – आदिपुराण, 21/85-103

<sup>138</sup> प्रशस्तप्रणिधानं यत् स्थिरमेकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानं मुक्तं भुक्त्यंगा धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥ –वही, 21/132

<sup>139</sup> समुत्सृज्य चिराभ्यस्तान् भावान् .....वैराग्यस्थैर्यभावनाः ॥ – आदिपुराण, 21/94-99

<sup>140</sup> वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम् । सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावनाः ॥ –वही, 21/96

<sup>141</sup> आलंबणाइं वायण-पुच्छण-परियट्ठणाऽणुचिंताओ । सामाइयायाइं सद्धम्मावस्सयाइ च ॥ –ध्यानशतक, गाथा 42

ध्यानशतक में भावना, देश, काल, आसन—विशेष, आलम्बन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल के रूप में इनकी चर्चा बारह द्वारों में की गई है।<sup>142</sup> आदिपुराण में भी ध्यान सामान्य से सम्बद्ध परिकर्म के सन्दर्भ में देश<sup>143</sup>, काल<sup>144</sup>, आसनविशेष<sup>145</sup>, तथा आलम्बन<sup>146</sup> की चर्चा हुई है, जो ध्यानशतक के समरूप है। ध्यानशतक के ध्यातव्य—द्वार में आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानविचय की चर्चा की गई है।<sup>147</sup> आदिपुराण में भी इन चारों प्रकारों की चर्चा है,<sup>148</sup> साथ ही ध्याता या ध्यान के अधिकारी आदि के सन्दर्भ में भी इनका उल्लेख उपलब्ध है।

#### 4. शुक्लध्यान —

आदिपुराण के अनुसार, शुक्ल और परमशुक्ल — इस प्रकार शुक्लध्यान के दो भेद माने हैं। उनमें छद्मस्थों तथा केवलियों का ध्यान क्रमशः शुक्ल तथा परमशुक्ल माना गया है।<sup>149</sup> यही बात ध्यानशतक में भी मिलती है, अन्तर मात्र इतना है कि वहाँ परमशुक्ल को समुच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाती नामक चौथे शुक्लध्यान के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>150</sup>

<sup>142</sup> ज्ञानस्य भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविससं । आलंबणं कमं ज्ञाइयव्ययं जे य ज्ञायारो ॥

ततोऽणुपेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं । धम्मं ज्ञाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ॥ — ध्यानशतक 28,29

<sup>143</sup> शून्यालये श्मशाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा । सरित्पुलिनगिर्यग्रहवरे द्रुमकोटरे ॥

शुचावन्यतमे देशे ..... ॥ देशादिनियमोऽप्येव..... सोढाशेषपरीषहः ॥ — आदिपुराण, 21/57-58, व 76-80

<sup>144</sup> न चाहोरात्रसंध्यादिलक्षण कालपर्ययः.....स कालः स च देशः स्याद् ध्यानावस्था च सामता ॥ आदिपुराण, 21/81-83

<sup>145</sup> शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातके .....स्थित्वा सित्वाधिशय्य वा । — वही, 21/58-75

<sup>146</sup> प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्धीबलान्वितः । सूत्रार्थलम्बनो धीरः सोढाशेषपरीषहः ॥ — वही, 21/87

<sup>147</sup> ध्यानशतक, आज्ञा—45-49, अपाय—50, विपाक—51, संस्थान—52-60

<sup>148</sup> आदिपुराण, आज्ञा—21/135-141, अपाय—21/141-142, विपाक—21/143-147, संस्थान—21/148-154

<sup>149</sup> तदप्रमत्ततालम्बं स्थितिमान्तर्मुहूर्तिकीम् । दधानमप्रमत्तेषु परां कोटिमधिष्ठितम् ॥

सदृष्टिषु यथाम्नायं शेषेष्वपि कृतस्थितिः । प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोदबल वृंहितम् ॥ — आदिपुराण, 21/55'56

<sup>150</sup> तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंयस्स । वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्जानं परमसुक्कं ॥ — ध्यानशतक, 82

जहाँ तक ध्यान के स्वरूप का प्रश्न है, आदिपुराण और ध्यानशतक —दोनों ही ग्रन्थ ध्यान के संबंध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। ध्यानशतक के अनुवादक एवं भूमिका के लेखक पं. बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री का स्पष्टतः यह मंतव्य है कि आदिपुराण का ध्यान—संबंधी विवेचन ध्यानशतक से प्रभावित है। उनकी दृष्टि में यह मानना है कि आदिपुराण का ही प्रभाव ध्यानशतक पर आया है, लेकिन यह मानना उचित नहीं है, क्योंकि ध्यानशतक की रचना हरिभद्र के पूर्व हो चुकी थी और हरिभद्र निश्चित ही जिनसेन के पूर्ववर्ती हैं, अतः यही मानना होगा कि जिनसेन के समक्ष ध्यानशतक रहा होगा और उन्होंने उसका उपयोग आदिपुराण में ध्यान संबंधी विवरण देते समय किया होगा।

### ध्यानसाधना और लब्धि —

आत्मा अनंत शक्तिमान है। इस शक्ति का प्रकटीकरण ध्यान एवं साधना से होता है। ध्यान 'लब्धि' को प्रदान करता है। सामान्यतया, विशिष्ट शक्तियों की उपलब्धि को लब्धि कहा जाता है। भगवतीसूत्र की वृत्ति<sup>151</sup> में लिखा है — "जिससे आत्मा के ज्ञान—दर्शन—चारित्र—वीर्य आदि गुणों से उन—उन कर्मावरणों के क्षय व क्षयोपशम से स्वतः आत्मा में जो शक्ति प्रकट होती है, उसे लब्धि कहते हैं। लब्धि, अर्थात् लाभ।<sup>152</sup>

'प्रवचनसारोद्धार' के अनुसार, लब्धि का अधिकार उस साधक को मिलता है, जिसका अन्तःकरण विशुद्ध अध्यवसाय वाला हो, जो निर्दोष चारित्र—पालन करने वाला हो और उत्कृष्ट तथा शुद्ध तपस्वी हो।<sup>153</sup> इसी कारण से तो शुद्ध आत्म—शक्ति का प्रकटीकरण ही लब्धि है। बौद्ध—दर्शन में लब्धि को अभिज्ञा तथा

<sup>151</sup> आत्मनो ज्ञानादि गुणानां तत्कर्म क्षयादितो लाभः। — भगवतीसूत्रवृत्ति 8/2, प्रस्तुत संदर्भ जैनधर्म में तप —सं. मिश्रीमल म.सा. पृ.68 से उद्धृत

<sup>152</sup> प्रस्तुत वाक्य 'जैनसाधना का स्वरूप और उसमें ध्यान का महत्त्व' पुस्तक से उद्धृत, पृ.470

<sup>153</sup> परिणाम तववसेण इमाइं हुंति लब्धीओ — प्रवचनसारोद्धार, द्वार 270, गाथा 1495

वैदिक-दर्शन में विभूति कहते हैं। जैन-परम्परा में अन्तराय-कर्म के क्षय या क्षयोपशम से प्राप्त शक्तियों को लब्धि कहा गया है। इसमें दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—ऐसी पांच लब्धियाँ होती हैं, जो अन्तराय-कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती हैं।<sup>154</sup>

जैनधर्म में और विशेष रूप से 'ध्यानशतक' नामक इस प्रस्तुत ग्रन्थ में हमें लब्धियों की कोई चर्चा उपलब्ध नहीं है, किन्तु धर्मध्यान और शुक्लध्यान के फलों की चर्चा करते हुए उनसे कर्ममल की विशुद्धि और कर्मक्षय की बात कही गई है।

कर्मक्षय की इस प्रक्रिया में घातीकर्मों का क्षय प्रमुख होता है। अन्तराय-कर्म भी एक घातीकर्म है, अतः उसके क्षय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य-रूप विशिष्ट शक्तियों की प्राप्ति होती है।

वैसे, जैन-परम्परा में प्रारंभ में तो कर्म-क्षय या क्षयोपशमजन्य लब्धियों की चर्चा मिलती है, किन्तु कालान्तर में योग-परम्परा के 'विभूतिपद' के समान ही अन्य लब्धियों की चर्चा भी मिलने लगती है।

जैन-आगम-साहित्यों में सर्वप्रथम 'भगवतीसूत्र' में लब्धियों की चर्चा मिलती है। उसके अष्टम शतक के द्वितीय उद्देशक में लब्धियों का वर्णन हुआ। वहाँ सर्वप्रथम दस लब्धियों की चर्चा मिलती है, उनमें से पाँच लब्धियाँ तो वही हैं, जो अन्तराय-कर्म के क्षय अथवा उपशम से प्राप्त होती हैं, शेष पाँच लब्धियों में दर्शनलब्धि, ज्ञानलब्धि, चारित्रलब्धि, चारित्राचरित्रलब्धि और इन्द्रियलब्धि की चर्चा हुई है।<sup>155</sup> वहाँ इनके भेद-प्रभेदों की भी विस्तार से विवेचना हुई है जैसे—ज्ञानलब्धि के पहले दो विभाग किए हैं और फिर ज्ञानलब्धि के पाँच और अज्ञानलब्धि के तीन-ऐसे आठ विभाग किए गए हैं। इसमें पाँचों ज्ञानों की प्राप्ति

<sup>154</sup> दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च (तत्त्वार्थसूत्र, 2/4) अन्तरायकर्म के क्षय से दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।। तत्त्वार्थसूत्र।। पं. सुखलालजी संघवी। पृ. 49

<sup>155</sup> कतिविहाणं भन्ते! लद्धी पण्णत्ता ? गोयमा। दसविहा लद्धी पण्णत्ता, तं जहा -

1. नाणलद्धी, 2. दंसणलद्धी, 3. चरित्तलद्धी, 4. चरित्ताचरित्तलद्धी, 5. दाणलद्धी, 6. लाभलद्धी, 7. भोगलद्धी, 8. उपभोगलद्धी, 9. वीरियलद्धी, 10. इंदियलद्धी - भगवतीसूत्र, प्रका. लाङ्गू, आ.महाप्रज्ञ, 8 शतक, 2 उद्दे., 139 सूत्र, 47-48 पृष्ठ

को भी लब्धि रूप ही माना गया है। इसी प्रकार, ज्ञान के साधनरूप इन्द्रिय को भी लब्धि के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>156</sup>

इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा दान—लाभादि पांच लब्धियाँ ही प्रारंभ में जैन—दर्शन में लब्धि के रूप में मान्य रहीं, किन्तु कालान्तर में विशिष्ट प्रकार की शक्तियों को भी लब्धि के रूप में मान लिया गया है।

आगमों में 'भगवतीसूत्र' में एवं 'औपपातिकसूत्र' में इन दस लब्धियों के अतिरिक्त अनेक प्रकार की लब्धियों का वर्णन हुआ है। औपपातिकसूत्र का वर्णन इस प्रकार है — भगवान् महावीर के शिष्यों में से कई मनोबली, कई वचनबली, एवं कई कायबली थे। कई खेलौषधि प्राप्त, कई कोष्ठबुद्धि, कई संभिन्नश्रोता और कई क्षीरास्रव—लब्धियों या ऋद्धियों से युक्त थे।<sup>157</sup> इसके पश्चात्, तत्त्वार्थसूत्र के 'स्वोपज्ञभाष्य' में भी इन लब्धियों की चर्चा मिलती है। इसमें अधिकांश लब्धियाँ औपपातिक एवं पातंजल—योगसूत्र के 'विभूतिपद' के आधार पर ही वर्णित हैं। 'स्वोपज्ञभाष्य' में इन लब्धियों का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है — ग्रन्थकार उमास्वाति ऋद्धियों के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहते हैं कि धर्मध्यान तथा समाधि में लीन बना साधक शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों का अधिकारी बनता है और जहाँ तक परिनिर्वाण को प्राप्त न हो जाता, वहाँ तक अनेकानेक लब्धियों अथवा ऋद्धियों का स्वामी बना रहता है।

वे ऋद्धियाँ कौन—कौनसी एवं कितनी हैं, उनका स्वरूप क्या है ? इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार कहते हैं — आमशौषधित्व, विप्रुडौषधित्व, सर्वौषधित्व, शाप और अनुग्रह की सामर्थ्य उत्पन्न करने वाली वचनसिद्धि, ईशित्व, वशित्व, अवधिज्ञान, शारीरविकरण, अंगप्राप्तिता, अणिमा, लघिमा, और महिमा आदि ऋद्धियाँ हैं।

<sup>156</sup> नाणलद्धी णं भंते! कतिविहा पण्णत्ता! गोयमा! पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा — आभिणिबोहिय नाणलद्धी जाव केवलनाणलद्धी।।  
अण्णाणलद्धीणं भंते! कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा! तिंविहा पण्णत्ता, तं जहा मइअण्णाणलद्धी, सुयअण्णाणलद्धी, विभंगनाणलद्धी।।

— भगवतीसूत्र, 8 शतक, 2 उद्दे, 140-141 सूत्र, पृ. 48

<sup>157</sup> अप्पेगइया मणबलिया, वयबलिया, कायबलिया। अप्पेगइया खेलोसहिपता।

अप्पेगइया कोट्टबुद्धी। अप्पेगइया संभिन्नसोया। अप्पेगइया खीरा सवा.....।। — औपपातिक-24, सं. मुनिमधुकर, पृ. 24

मोक्षमार्ग में उद्यमशील साधक को ये लब्धियाँ या ऋद्धियाँ सहज ही प्राप्त होती हैं। वह इनके लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है।

**इन लब्धियों का स्वरूप इस प्रकार है —**

**अणिमा** अर्थात् अणुरूप, छोटा शरीर बना लेना। इस ऋद्धि के प्रभाव से अपनी देह को इतना सूक्ष्म यानी छोटा बनाया जा सकता है कि वह सरलता से कमल-तन्तु के छिद्र में प्रवेश कर सकता है। **लघिमा**, अर्थात् लघुरूप, हल्कापन। इसके बल से देह को हवा (वायु) से भी अधिक हल्का-फुल्का बनाया जा सकता है। **महिमा**, अर्थात् महत्त्व, इसका दूसरा अर्थ है —भारीपन या बड़ापन। इस लब्धि के संयोग से शरीर को मेरुपर्वत के समान या उससे भी ज्यादा बड़ा बनाया जा सकता है। **प्राकाम्यऋद्धि** के प्रभाव से इच्छानुसार जमीन या जल पर चला जा सकता है। **जंघाचारणऋद्धि** के सामर्थ्य से चन्द्र-सूर्यादि के विमानों की किरणों तथा वायुवेग की चपेट से युक्त किसी भी पदार्थ का सहारा लेकर गगन में उड़ने अथवा चलने की शक्ति प्राप्त होती है। जिस तरह जमीन पर चलते हैं, उसी तरह आकाश में भी चलने की जो शक्ति है, उसको **आकाशगतिचारणऋद्धि** कहते हैं।

आकाश-गमन के समय पर्वतों के बीच अप्रतिबन्धता से गमन करने का सामर्थ्य **अप्रतिघातीऋद्धि** से मिलता है। **अन्तर्धानऋद्धि** के प्रभाव से अदृश्य होने की शक्ति प्राप्त होती है। जिसके सामर्थ्य से नानाविध रूप धारण करने की शक्ति मिलती है, उसे **कमरूपिताऋद्धि** कहा जाता है। जिस ऋद्धि से दूरस्थ इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण कर लिया जाता है, उस ऋद्धि का नाम **दूरश्रावीऋद्धि** है। एक साथ अलग-अलग बहुत-से विषयों को जान लेने की ऋद्धि का नाम **संभिन्नज्ञानऋद्धि** है। **कोष्ठबुद्धित्व**, **बीजबुद्धित्व** आदि ज्ञान की ऋद्धियाँ मानी जाती हैं और **क्षीरास्रवित्व**, **मध्वास्रवित्व**, **वादित्व** आदि वाचिक-ऋद्धियाँ

कहलाती हैं। इन सबके अतिरिक्त, साधक को **विद्याधरत्व, आशीविषत्व, मित्राक्षर** और **अमित्राक्षर** आदि सभी ऋद्धियाँ भी प्राप्त हुआ करती हैं।<sup>158</sup>

लब्धियों की यह चर्चा हमें 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' के वर्तमान संस्करण में भी उपलब्ध होती है। प्रेक्षा : एक परिचय नामक पुस्तक में लिखा है कि "लब्धिधारी साधु आनापान लब्धि से अन्तमुहूर्त में पूर्वी का प्रत्यावर्तन कर लेते हैं।"<sup>159</sup> यहाँ यह ज्ञातव्य है कि डॉ. सागरमल जैन ने प्रश्नव्याकरणसूत्र के वर्तमान संस्करण को और उसके लब्धि-सम्बन्धी विवरण को परवर्ती ही माना है<sup>160</sup> और इस पर तत्त्वार्थ-भाष्य एवं पातंजलयोगसूत्र का प्रभाव माना है।

लब्धि पदों का उल्लेख दिगम्बर-परम्परा में **षट्खण्डागम** में भी मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परा में ये लब्धि-पद सूरिमंत्र का आधार बने हैं। सूरिमंत्र में अनेक लब्धिधारियों को नमस्कार किया गया है।

वर्तमान में **वर्धमान-विद्या** और **सूरिमंत्र** आदि में भी इन्हीं लब्धि-पदों का उल्लेख है, साथ ही इन लब्धि-पदों के धारकों को वंदन किया गया है। यह स्पष्ट है कि इन लब्धियों की प्राप्ति को साधनाजन्य माना गया है और इसलिए हम यह कह सकते हैं कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान की साधना से इन लब्धियों की प्राप्ति होती है।

आगे भाष्यकार उमास्वाति कहते हैं कि उपर्युक्त ऋद्धियों के प्राप्त हो जाने पर भी तृष्णारहित होने के कारण जीव उन ऋद्धियों में आसक्ति या मूर्छा से सर्वथा

<sup>158</sup> आमशौषधित्वं विप्रुडौषधित्वं सर्वौषधित्वं शापानुग्रहसामर्थ्यजननीमभिव्याहारसिद्धिमीशित्वं वशित्वमवधिज्ञानं शारीरविकरणांग-प्राप्तितामणिमानं लघिमानं महिमानमणुत्वं अणिमा विसच्छिद्रमपि प्रविश्यासीतां। लघुत्वं नाम लघिमा वायोरपि लघुतरः स्यात्। महत्त्वं महिमा भेरोरपि महतरं शरीरं विकुर्वित। प्राप्तिभूमिष्ठोऽंगत्यग्रेण मेरुशिखर भास्करादीनपि स्पृशेत्। प्राकाम्यमप्सु भूमामिव गच्छेत् भूमावप्सिव निमज्जेदुन्मज्जेच्च। जंघाचारणत्वं येनाग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारा मर्कट तन्तुज्योतिष्कर-रश्मिवायूनामन्यतममप्सुदाय वियति गच्छेत्। वियदगतिचारणत्वं येन वियति भूमाविव गच्छेत्। शकुनिवच्चं प्रदीनावडीनगमनानि कुर्यात्। अप्रतिघातित्वं पर्वत मध्येन वियतीव गच्छेत्। अन्तर्धानमदृश्यो भवेत्। कामरूपित्वं नानाश्रयानकरूपधारणं युगपदपि कुर्यात् तेजोनिर्गमं सामर्थ्यं मित्येतदादि। इति इन्द्रियेषु मतिज्ञानविशुद्धिविशेषादूरत्स्पर्शनास्वादनघ्राणदर्शनश्रवणानि विषयाणां कुर्यात्। संभिन्नज्ञानत्वं युगपदनेकविषयपरिज्ञान मित्येतदादि। मानसं कोष्ठबुद्धित्वं बीजबुद्धित्वं .....

- सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्-10, खूबचंद्र सिद्धान्तशास्त्री, पृ. 461

<sup>159</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'प्रेक्षा : एक परिचय' पुस्तक से उद्धृत, पृ.8

<sup>160</sup> जैनधर्म और तान्त्रिक साधना, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 120



रहित रहता है, तथा मोहनीय—कर्म के समस्त अट्टाईस भेदरूप कर्मों का, सम्पूर्ण मोहनीयकर्म का सामस्त्येन अभाव हो जाता है। मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर उस जीव को जीव की छद्मस्थ—वीतराग अवस्था प्राप्त हुआ करती है, जिससे उस जीव के एक अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय —ये तीनों ही घातीकर्म पूर्णरूप से एक साथ नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार, चार कर्मों के नष्ट हो जाने पर यह जीव संसार के बीजरूप कर्मबन्ध से सर्वथा रहित हो जाता है, किन्तु जिसका फल भोगना बाकी है —ऐसे बन्धन—अघातीकर्मों के मोक्ष—छूटने की अपेक्षा रखने वाला और यथाख्यात संयत से युक्त वह जीव स्नातक कहा जाता है। उसको जिन—केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शुद्ध—बुद्ध और कृतकृत्य कहते हैं। अन्य में, भाष्यकार ने कहा है — ऋद्धियों की तृष्णा भी मोह ही है और मोह का जब तक पूर्णतया अभाव नहीं होता, तब तक वह जीव निर्वाण से बहुत दूर है, क्योंकि निर्वाण—अवस्था मोह के सर्वथा नष्ट हो जाने पर घातीत्रय का घात कर अघातीचतुष्टय के भी नष्ट हो जाने पर ही प्राप्त हुआ करती है।

### साधक को लब्धियों की प्राप्ति से बचना चाहिए —

पूर्वोक्त आगमिक एवं प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि जैन—धर्म में भी ध्यान एवं अन्य साधनाओं के माध्यम से साधकों को लब्धियों की प्राप्ति होती थी, फिर भी यह समझना आवश्यक है कि जैन—साधना मूलतः एक निवृत्तिमूलक—आध्यात्मिक—साधना है, इसलिए जैनाचार्यों ने अपनी कृतियों में यह स्पष्ट किया है कि साधक को लब्धियों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि वे सहज उपलब्ध भी हो जाएं, तो भी उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

जैनाचार्यों की दृष्टि में लब्धियाँ वैसी ही हैं, जैसे गेहूँ की खेती में भूसा सहज ही उत्पन्न हो जाता है। जैसे खेती भूसे के लिए नहीं, गेहूँ के लिए की जाती है, उसी प्रकार साधना आध्यात्मिक—विकास और मुक्ति के लिए होती है, न कि

लब्धियों की प्राप्ति के लिए, अतः जैनाचार्यों का यह मंतव्य रहा है कि साधक को लब्धियों के पीछे नहीं भागना चाहिए और न प्राप्त लब्धियों का प्रदर्शन या प्रयोग करना चाहिए।

जैन-परम्परा में इस सन्दर्भ में सनत्कुमार चक्रवर्ती का कथानक प्रसिद्ध है। सनत्कुमार चक्रवर्ती को अपनी साधना के बल पर अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त थीं, फिर भी उन्होंने अपने शरीर को बीमारियों से मुक्त करने के लिए उन लब्धियों का प्रयोग नहीं किया था।

जैन-परम्परा में ऐसे अनेक कथानक हैं, जो यह बताते हैं कि अनेक साधक मुनियों को अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त थीं, किन्तु उनमें से किसी ने भी प्राप्त लब्धियों का उपयोग नहीं किया। लब्धियों का उपयोग करना साधना को कौड़ियों के मोल बेच देने के समान है। जिस प्रकार अज्ञानी व्यक्ति हीरा मिलने पर भी उसे सुन्दर पत्थर समझकर अत्यल्प कीमत में बेच देता है, उसी प्रकार जो साधक लब्धियों के पीछे अपनी साधना को कौड़ियों के भाव बेच देता है, वह मूर्ख ही माना जाता है।

जैन-साधना-पद्धति का यह स्पष्ट निर्देश है कि साधक को न तो लब्धियों की प्राप्ति के लिए साधना करना चाहिए और न ही प्राप्त लब्धियों का उपयोग भी करना चाहिए।

### जैन-परम्परा में लब्धियों की गौणता —

हम चाहे इसे सत्य मान लें कि साधना से विविध प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त होती हैं, किन्तु साधना का लक्ष्य लब्धियों की प्राप्ति नहीं है। जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है, जैन-परम्परा में लब्धियों को गौण माना गया है। चाहे वे साधना से उपलब्ध हों, लेकिन वे साधना का लक्ष्य नहीं होती हैं।

सामान्यतया, तन्त्र-मन्त्र आदि की साधना को लब्धियों की प्राप्ति से जोड़ा जाता है, किन्तु अध्यात्म-प्रधान और निवृत्ति-मार्गी जैन-धर्म मूलतः मन्त्र-तन्त्र की साधना को आध्यात्मिक-दृष्टि से उचित नहीं मानता है। यह सत्य है कि जैन-धर्म में भी मान्त्रिक-साधना के द्वारा लब्धियाँ प्राप्त होती थीं, ऐसे उल्लेख मिलते हैं, किन्तु जैन-धर्म कभी भी उसे साधना का लक्ष्य नहीं मानता है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित 'रयणसार' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि 'जो मुनि तन्त्र-मन्त्र-विद्या आदि की साधना करता है, वह श्रमणों के लिए दूषित-रूप है।'<sup>161</sup>

इसी प्रकार, ज्ञानार्णव<sup>162</sup> में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है —“वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन आदि की साधना करना; जल, अग्नि, विष आदि का स्तम्भन करना, रसकर्म या रसायन बनाना, नगर में क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजाल अर्थात् जादू करना, सेना का स्तम्भन करना, जीत-हार का विधान बताना, विद्याओं की सिद्धि की साधना करना, ज्योतिष, वैद्यक एवं अन्य विद्याओं की साधना करना, यक्षिणीमंत्र, पातालसिद्धि के विधान आदि का अभ्यास करना, कालवंचना अर्थात् मृत्यु को जीतने की मंत्रसाधना करना, पादुका-साधना से अदृश्य होने तथा गढ़े धन देखने के लिए अंजन की साधना करना, शस्त्रादि की साधना करना, भूतसाधन, सर्पसाधन इत्यादि विक्रिया-रूप कार्यों में अनुरक्त होकर जो दुष्ट चेष्टा करने वाले हैं, उन्होंने आत्मज्ञान से भी हाथ धोया और अपने दोनों लोक का कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषों को ध्यान की सिद्धि होना भी कठिन है।”

<sup>161</sup> जोइस-वेज्जा-मंतोव-जीवणं वायवस्स ववहारं। धण-धण्ण-परिग्गहणं समणाणं दूसणं होई - रयणसार, 103

<sup>162</sup> कौतुकमात्रफलोऽयं पुरप्रवेशो महाप्रयासेन। सिध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन।।  
स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुः स्थैर्यम्।  
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः।।  
जन्मशतजनितमुग्रं प्राणायामाद्विलीयते पापम्।  
नाडीयुगलस्यान्ते यतेर्जिताक्षस्य धीरस्य।।  
जलबिन्दु कुशाग्रेण मासे मासे तु यः पिबेत्।  
संवत्सरशतं साग्र प्राणायामश्च तत्सम।। - ज्ञानार्णव

## ध्यान और कायोत्सर्ग —

सामान्यतया, आज ध्यान और कायोत्सर्ग को एक ही माना जा रहा है। जैन-परम्परा के अनेक अर्वाचीन ग्रन्थों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में हो रहा है, किन्तु इस सम्बन्ध में मेरे निर्देशक डॉ. सागरमल जैन ने एक लेख लिखा है, जिसमें वे लिखते हैं — 'यदि हम आगमिक-प्रमाणों के आधार पर इस विषय में गंभीरता से विश्लेषण करें, तो यह ज्ञात हो जाता है कि ध्यान और कायोत्सर्ग —दोनों भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं।'

सबसे पहले उत्तराध्ययन के तीसवें 'तपमार्ग-अध्ययन' में तप को दो भागों में विभाजित किया है — 1. बाह्य तप और 2. आभ्यन्तरतप।<sup>163</sup> पुनः, आभ्यन्तर-तप के छः भेदों की चर्चा से यह जानने को भी मिलता है कि ध्यान और कायोत्सर्ग—दोनों अलग-अलग हैं।

इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा डॉ. सागरमल जैन ने पं. कन्हैयालालजी लोढ़ा की पुस्तक 'कायोत्सर्ग' की भूमिका में की है। प्रस्तुत विवेचन में हमारा उपजीव्य वही भूमिका रही है।<sup>164</sup>

## ध्यान का स्वरूप —

भारतीय अध्यात्मवादी परम्परा में ध्यान-साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से रहा है। मानव का मन स्वभावतः चंचल माना गया है। जैन-शास्त्रों में अध्यवसायों अर्थात् मनोभावों की एकाग्रता को ध्यान कहा गया है,<sup>165</sup> किन्तु ध्यान का अन्तिम लक्ष्य तो मन की चंचलता को समाप्त करना है।

<sup>163</sup> उत्तराध्ययनसूत्र, 30वाँ अध्ययन

<sup>164</sup> देखें —कायोत्सर्ग, कन्हैयालाल जी लोढ़ा, प्राकृतभारती जयपुर, सन् 2007

<sup>165</sup> तत्त्वार्थसूत्र — 9/27

जब अध्यवसाय एकाग्र बन जाता है, तो चित्त की चपलता या अस्थिरता स्वतः ही समाप्त हो जाती है। योगदर्शन में भी 'योग' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि चित्त की निर्विकल्पता या चित्तवृत्ति की समाप्ति से ही ध्यान संभव होता है, अतः साधना के क्षेत्र में ध्यान की परमावश्यकता है। गीता के अन्तर्गत मन के संकल्प-विकल्पों के निरोध को वायु को रोकने के समान कठिन माना गया है,<sup>166</sup> फिर भी मन की चंचलता को समाप्त करने का उपाय बताते हुए कहा गया है कि अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा उसकी चंचलता का निरोध हो सकता है।

उत्तराध्ययनसूत्र<sup>167</sup> में कहा गया है—चारों ओर दौड़ते हुए इस साहसिक और दुष्ट मन-रूपी अश्व को कोई नहीं पकड़ पाता है, लेकिन इस मन-रूपी अश्व (घोड़े) को आगमरूपी लगाम लगा दी जाए, तो यह उन्मार्ग पर नहीं, अपितु सन्मार्ग पर चलने लगेगा।<sup>168</sup> संक्षिप्त में, हम यह कह सकते हैं कि चित्त की संकल्प-विकल्पात्मक गतिशीलता को निष्क्रिय बनाना ही ध्यान है।

## ध्यान के प्रकार —

ध्यान का सामान्य अर्थ है — चेतना का किसी एक विषय, वस्तु या बिन्दु पर केन्द्रित होना।<sup>169</sup> केन्द्रित विषय, प्रशस्त या अप्रशस्त —दोनों प्रकार का हो सकता है, अतः ध्यान के भी दो भेद किए गए हैं — 1. प्रशस्त और 2. अप्रशस्त। अप्रशस्त-ध्यान पुनः दो प्रकार का माना गया है —1. आर्त्त और 2. रौद्र।<sup>170</sup> जब

<sup>166</sup> गीता, 6/34

<sup>167</sup> उत्तराध्ययनसूत्र, 23/56

<sup>168</sup> वही, 23/56

<sup>169</sup> तत्त्वार्थसूत्र, 9/27

<sup>170</sup> स्थानांगसूत्र, च.स्था., उद्दे 1, सूत्र 60, पृ.222,

चेतना किसी विषय में आसक्त हो जाती है, तब वह उस विषय की प्राप्ति के लिए चिन्तित हो जाती है, यही आर्त्तध्यान कहलाता है।

इसे हम इस प्रकार से भी समझ सकते हैं कि अनुकूल अप्राप्त विषय की प्राप्ति, अथवा उपलब्ध अनुकूल विषय या संयोग के वियोग की संभावना के चिन्तन में चेतना का डूबा रहना ही आर्त्तध्यान है।<sup>171</sup> यह आर्त्तध्यान चित्त के विषाद अथवा अवसाद की अवस्था है।

उपलब्ध अनुकूल वस्तु के चोरी हो जाने में, अथवा अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति में अवरोध आने की स्थिति में जो आवेश तथा आक्रोश प्रगट होता है, वह ही रौद्रध्यान है।<sup>172</sup> इस प्रकार, हताशा या निराशा की स्थिति आर्त्तध्यान तथा आवेगात्मक-अवस्था रौद्रध्यान की स्थिति है,<sup>173</sup> अतः आर्त्तध्यान रागमूलक तथा रौद्रध्यान द्वेषमूलक प्रतीत होता है। छठवें गुणस्थान तक आर्त्तध्यान तथा पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान सम्भव होते हैं। ये दोनों प्रकार के ध्यान राग-द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण संसार के जनक तथा संसारवृद्धि के कारणभूत हैं।<sup>174</sup> सारांश यह है कि ये दोनों दुर्ध्यान हैं, इसलिए त्याज्य हैं।<sup>175</sup>

इसी प्रकार, प्रशस्त-ध्यान भी दो तरह का माना है –

1. धर्मध्यान और
2. शुक्लध्यान।

शुभ-ध्यान के साधक को भावना, देश, काल, आलंबन, ध्येय, लिंग तथा फलादि को जानकर या समझकर ही धर्मध्यान में प्रवृत्त होना चाहिए।<sup>176</sup> स्व-पर कल्याण के हेतुभूत विषयों पर चित्तवृत्ति का स्थिर होना ही धर्मध्यान है। यह

<sup>171</sup> तत्त्वार्थसूत्र, 9/31

<sup>172</sup> तत्त्वार्थसूत्र, 9/37

<sup>173</sup> स्थानांगसूत्र, उद्दे. 1, स्थान 4, 63-64

<sup>174</sup> अद्वज्ज्ञाणं संसार वद्धण तिरिगइमूलं । – ध्यानशतक, श्लो.10

<sup>175</sup> आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं ..... । – ध्यानदीपिका, प्र.5, श्लो. 69

<sup>176</sup> ज्ञाणस्स भावणाओ देसं कालं ..... । – ध्यानशतक, श्लो. 28

लोक-मंगल के साथ-साथ आत्मविशुद्धि का भी साधन है। जब चित्त की वृत्ति न तो कर्त्ताभाव और न ही भोक्ताभाव में, अपितु साक्षीभाव अर्थात् ज्ञाता-दृष्टाभाव में अवस्थित होती है, तब साक्षीभाव की अवस्था ही शुक्लध्यान कहलाती है।

इसको इस प्रकार समझना है कि सुच्छिन्नक्रियारूप चतुर्थ शुक्लध्यान, जो समस्त आत्मप्रदेशों की स्थिरता से युक्त अयोगी-केवली की अवस्था है, वह परमशुक्लध्यान कहलाता है।<sup>177</sup> इस ध्यान को उपलब्ध साधक सिद्ध के रूप में लोकाग्र में संस्थित हो जाता है।<sup>178</sup> इसमें चित्त की परिणति शुभ और अशुभ -दोनों से परे होती है। धर्म एवं शुक्ल -ये दोनों ध्यान संसार-परिभ्रमण के निवारणार्थ एवं मोक्ष के कारणभूत हैं।<sup>179</sup>

इन प्रशस्त-ध्यानों के माध्यम से जीवात्मा अमरता, पूर्णता, वीतरागता तथा चिन्मयता को प्राप्त कर लेती है। चित्त को अशुभ परिणामों से विमुक्त करके शुभ अथवा विशुद्ध परिणामों में संलग्न करने के लिए ध्यान के साथ-साथ कायोत्सर्ग की साधना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि समत्व की उपलब्धि के लिए ध्यान और कायोत्सर्ग -इन दोनों की साधना आवश्यक है।

### कायोत्सर्ग का स्वरूप -

कायादि परद्रव्य में स्थिरभाव छोड़कर जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं।<sup>180</sup> शरीर, काया या देह -यह संसार में जन्म-मरण का हेतु होने से संसार का ही अंग है। देह से संबंध स्थापित होते ही संसार से संबंध हो जाता है और यह संबंध ही समस्त बन्धनों का हेतु है।<sup>181</sup>

<sup>177</sup> स्थिर सर्वात्मदेशस्थ समुच्छिन्नक्रियं भवेत् । - ध्यानस्तव, श्लो. 19

<sup>178</sup> क) जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्चइ नीरओ ।

तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥ - दशवैकालिकसूत्र, 4/25

ख) समवायांगसूत्र, सम.-4

ग) औपपातिकसूत्र, (तपविवेचनान्तर्गतध्यान)

<sup>179</sup> परे मोक्ष हेतु - तत्त्वार्थसूत्र, 9/30

<sup>180</sup> कायाईपरदब्बे थिरभावं परिहरतु अप्पाणं । तस्स हवे तणुसग्गं जो ज्ञायइ णिव्वियप्पेण ॥ -नियमसार, गाथा 121

<sup>181</sup> 'कायोत्सर्ग व व्युत्सर्ग' - पं.कन्हैयालाल, पुस्तक से उद्धृत पृ. 25

पंडित कन्हैयालालजी लोढा ने अपनी कायोत्सर्ग नामक पुस्तक में लिखा है —“बन्धनमुक्त होने के लिए सम्बन्ध—मुक्त होना आवश्यक है और सम्बन्ध—मुक्त होने के लिए देह से सम्बन्ध—विच्छेद की परमावश्यकता है।”<sup>182</sup> आशय यह है कि कायोत्सर्ग की साधना के माध्यम से देहाभिमान क्षीण होते ही जीव शरीर, संसार तथा कषायादि बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ‘कायोत्सर्ग’ शब्द की निर्मिति मूलतः दो शब्दों के संयोग से हुई है — काय+उत्सर्ग। काय, अर्थात् शरीर तथा उत्सर्ग यानी छोड़ना या त्याग करना।

सम्पूर्णतया काया का त्याग असंभव है। वस्तुतः, काया के प्रति जो आसक्ति या ममत्ववृत्ति है, उसका त्याग ही कायोत्सर्ग है। काया के ग्यारह पर्यायवाची शब्द हैं — काया, शरीर, देह, बोधि, उपचय, उच्छय, कलेवर, समुच्छय, भस्त्रा, तनु और प्राण।<sup>183</sup> इसी प्रकार उत्सर्ग के भी ग्यारह पर्यायवाची हैं — उत्सर्ग, व्युत्सर्ग, अवकिरणादि।<sup>184</sup>

### कायोत्सर्ग के भेद —

जैनागमों में ‘व्युत्सर्ग’ शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। व्युत्सर्ग के यहाँ दो भेद बताए गए हैं — 1. द्रव्य—व्युत्सर्ग और 2. भाव—व्युत्सर्ग।<sup>185</sup>

बाह्य—वस्तुओं का त्याग द्रव्य—व्युत्सर्ग तथा मनोवृत्तियों अथवा चित्तवृत्तियों का त्याग भाव—व्युत्सर्ग कहलाता है।

प्राचीनाचार्यों ने द्रव्य—व्युत्सर्ग को भी चार भेदों में विभाजित किया है —

<sup>182</sup> ‘कायोत्सर्ग व व्युत्सर्ग’— पुस्तक से उद्धृत, पृ. 26

<sup>183</sup> आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा. 1460

<sup>184</sup> वही, गाथा 1465

<sup>185</sup> विवाहप्रज्ञप्ति सूत्र, शतक 25, उद्दे. 7



1. शरीर—व्युत्सर्ग, 2. गण—व्युत्सर्ग, 3. उपाधि—व्युत्सर्ग और 4. भक्त—पान—व्युत्सर्ग। ये सभी व्युत्सर्ग बाह्य—पदार्थों के प्रति ममत्व और आसक्ति के त्यागरूप हैं, क्योंकि बाह्यपदार्थों के पीछे ममत्व का तत्त्व छुपा हुआ रहता है।

भाव—व्युत्सर्ग के भी तीन भेद हैं —1. कषाय—व्युत्सर्ग, 2. संसार—व्युत्सर्ग और 3. कर्म—व्युत्सर्ग।

कषाय—व्युत्सर्ग का अर्थ है — क्रोध, मान, माया एवं लोभ का परित्याग करना। इसी तरह, संसार—व्युत्सर्ग का कारण है — नरक, देव, तिर्यच तथा मनुष्य—योनि के प्रति किसी भी प्रकार का निदान या ममत्ववृत्ति का त्याग। यहाँ कर्म—व्युत्सर्ग को निम्न दो भागों में विभक्त किया गया है — 1. कर्मबन्धन के हेतुओं का त्याग। 2. पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का पुरुषार्थ।

कर्म—व्युत्सर्ग द्रव्य—कर्मों की निर्जरा के रूप है, वहीं वह राग—द्वेषादि की वृत्तियों के त्यागरूप भी है। इसे भाव—व्युत्सर्ग कहते हैं।

इस प्रकार, व्युत्सर्ग साधक की राग—द्वेषादि प्रवृत्तियों का निवारण करके उसको वीतरागता की उपलब्धि को उपलब्ध करने का पुरुषार्थ है। वस्तुतः, कायोत्सर्ग देह में रहते हुए भी विदेह होने की साधना है। कायोत्सर्ग की साधना से साधक देहातीत—अवस्था की ओर अग्रसर होता है। अभिनव कायोत्सर्ग का काल कम से कम अड़तालीस मिनट और ज्यादा से ज्यादा एक वर्ष का है। बाहुबली<sup>186</sup> ने एक वर्ष तक कायोत्सर्ग किया था। कायोत्सर्ग की साधना के तीन प्रकार हैं — खड़े होकर, बैठकर और लेटकर।<sup>187</sup> जैसे प्रतिदिन पौद्गलिक—देह के लिए भोजन अपेक्षित है, वैसे ही आध्यात्मिक—जीवन के लिए कायोत्सर्ग भी आवश्यक है।<sup>188</sup>

<sup>186</sup> योगशास्त्र— 3, पत्र—25

<sup>187</sup> आवश्यकनिर्युक्ति — 1475

<sup>188</sup> आवश्यकचूर्ण, पृ. 271

## ध्यान और कायोत्सर्ग का सहसम्बन्ध --

ध्यान की स्थिरता तभी संभव है, जब साधक देहासक्ति से परे हो, क्योंकि देह का ममत्व ही ध्यान के विचलन का प्रमुख कारण है, इसीलिए आभ्यन्तर-चर्चा में ध्यान के बाद कायोत्सर्ग की गणना की गई है। ध्यान में आत्म-स्थिरता के अभाव से यदि चित्त शुभ अथवा अशुभ परिणमन करता है, तब आस्रव एवं बन्ध की स्थिति होती है, जबकि कायोत्सर्ग सदैव संवर तथा निर्जरा का कारण है। ध्यान की उच्चतम अवस्था में साधक का मात्र अप्रमत्त ज्ञाता-दृष्टाभाव में रहना संवर का कारण है, किन्तु निर्जरा की स्थिति तो तभी उत्पन्न होती है, जब ध्यान कायोत्सर्गपूर्वक होता है।

जैनकर्म-सिद्धान्तानुसार, अप्रमत्त-संयत गुणस्थानक से आगे आध्यात्मिक-विकास की ओर अग्रसर साधक जैसे-जैसे प्रगति करता है, वैसे-वैसे उसके नवीन आस्रव रुकते हैं। अन्ततः, ग्यारहवें गुणस्थानक में सिर्फ साता-वेदनीय-कर्म का ही आस्रव रह जाता है। मुक्ति-मार्ग की साधना में संवर जरूरी है। सत्ता में स्थित पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा के अभाव में अवनति की संभावना बनी रहती है।

वस्तुतः, ध्यान से अप्रमत्त साधक संवर में सफल हो जाता है, किन्तु अतीतबद्ध कर्मों की सत्ता समाप्त नहीं होती है। कर्मों की सत्ता का घात ध्यान के साथ कायोत्सर्ग करने से ही संभव होता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में --"कायोत्सर्ग भेद-विज्ञान का अभ्यास है। शारीरिक और मानसिक-तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत उपयोगी है।"<sup>189</sup>

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग की निर्मलता, पवित्रता एवं विशुद्धि में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही स्थान है। कायोत्सर्ग में स्वदोषों की क्रमशः

<sup>189</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'प्रेक्षाध्यान : सिद्धान्त और प्रयोग' से उद्धृत, पृ. 16

आलोचना की जाती है और यह विधान है कि जब तक गुरु कायोत्सर्ग सम्पन्न न करे, तब तक श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म कर धर्म-शुक्ल-ध्यान किया जाता है।<sup>190</sup>

ध्यान से चित्तवृत्ति का संयम होता है और चित्तवृत्ति के संयम से आत्मसजगता, आत्मजाग्रति में वृद्धि होती है। जैसे-जैसे अध्यवसायों में सावधानी बढ़ती है, वैसे-वैसे मन निष्क्रिय होता जाता है। मन की निष्क्रियता द्वारा अन्य योगों अर्थात् प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण हो जाता है, अतः ध्यान से जैसे-जैसे ज्ञाता-दृष्टाभाव पुष्ट होता है, वैसे-वैसे ध्यान कायोत्सर्ग में परिवर्तित होता जाता है, जिससे बाह्यजगत के विषयों के प्रति अनासक्ति का तथा देह के प्रति निर्ममत्व का प्रकटीकरण होने लगता है। सत्ता में स्थित कर्म-पुद्गलों की निर्जरा की गति बढ़ जाती है, प्रतिसमय अनंतगुना कर्मदलिक क्षीण होते जाते हैं। ध्यान की चरमस्थिति कायोत्सर्ग है। इसकी साधना से विभाव समाप्त होता है तथा स्वभाव प्रकट होता है।

### ध्यान एवं कायोत्सर्ग में महत्त्वपूर्ण अन्तर —

यहाँ ध्यान और कायोत्सर्ग में जो महत्त्वपूर्ण अन्तर है, उसे संक्षिप्त रूप में समझ लेना जरूरी है।

- ध्यान में चित्तवृत्ति या अध्यवसाय स्थिर रहते हैं,<sup>191</sup> जबकि कायोत्सर्ग में चित्त अध्यवसाय-रहित या निर्विकल्प हो जाता है।
- ध्यान चित्तवृत्तियों की एकाग्रता, एकलयता की साधना है, जबकि कायोत्सर्ग देह के प्रति निर्ममत्व की साधना है,<sup>192</sup> अथवा काया के प्रति असंग होना ही कायोत्सर्ग है।

<sup>190</sup> आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1514

<sup>191</sup> क) जं थिरमज्झवसाणं। — ध्यानशतक, गाथा 2; धवलाटीका, पुस्तक 13, गाथा 12  
ख) स्थिरमध्यवसानं यत् तद्ध्यानं। — आदिपुराण— 21/9

- ध्यान से विरक्ति होती है। कायोत्सर्ग से वीतरागता प्रकट होती है।
- ध्यान चित्तवृत्ति की एकाग्रता है और कायोत्सर्ग चित्तवृत्तियों के विलय की अवस्था है।
- ध्यान कारण है, कायोत्सर्ग उसका कार्य है।
- ध्यान में निज के अविनाशी-स्वरूप का चिन्तन होता है, जबकि कायोत्सर्ग में निज-स्वरूप का अनुभव होता है।

अतः, ध्यान के बिना कायोत्सर्ग और कायोत्सर्ग के बिना ध्यान संभव नहीं है। इस प्रकार, ध्यान और कायोत्सर्ग –दो अलग-अलग स्थितियाँ होने पर भी वे एक दूसरे से अभिन्न ही हैं। यही कारण है कि वर्तमान में जैन-परम्परा में कायोत्सर्ग को ही ध्यान कहा जाता है।<sup>193</sup>

### कायोत्सर्ग एवं समाधि –

देह के प्रति निर्ममत्व तथा आत्मा की ओर अभिमुख होने की निर्मल-पवित्र प्रक्रिया का नाम है –कायोत्सर्ग। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि आत्मजगत् के अवलोकन की एक विशिष्ट प्रक्रिया का सूचक है –कायोत्सर्ग।

‘षडावश्यक’ में कायोत्सर्ग का अपना एक स्वतंत्र एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है, साथ ही ‘उत्तराध्ययनसूत्र’ के तीसवें अध्ययन के तीसवें सूत्र में तप के वर्गीकरण में आभ्यन्तर तप के छह भेद बताए गए हैं। उसमें ध्यान और कायोत्सर्ग का भिन्न-भिन्न रूप से उल्लेख किया गया है।<sup>194</sup>

<sup>192</sup> ताव कायं टाणेणं, मोणेणं, ज्ञाणेणं अप्पाणं वोसिरामि। – आवश्यकसूत्र

<sup>193</sup> देखें –कायोत्सर्ग, कन्हैयालालजी लोढ़ा, प्राकृत भारती, जयपुर, 2007, भूमिका–डॉ. सागरमल जैन

<sup>194</sup> ज्ञाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो। – उत्तराध्ययन– 30/30

‘आवश्यकनिर्युक्ति’ में कहा गया है कि ध्यानसिद्धि के लिए कायोत्सर्ग एक अनिवार्य अंग है, बिना कायोत्सर्ग के ध्यान सिद्ध हो ही नहीं सकता<sup>195</sup>, क्योंकि चित्त की स्थिरता ही ध्यान है। प्रवृत्ति-निवृत्ति का सन्तुलन, स्वयं की भूलों को देखना, कर्मक्षय, कषाय-विजय आदि कायोत्सर्ग के माध्यम से ही संभव हैं।<sup>196</sup> इस प्रकार, आवश्यकनिर्युक्ति के गाथा क्रमांक 1432 से लेकर 1568 तक करीब 136 गाथाओं में कायोत्सर्ग का विशद-विवेचन किया गया है।

‘अनुयोगद्वार’ के अन्तर्गत कायोत्सर्ग को व्रण-चिकित्सा कहा गया है।<sup>197</sup> प्रतिपल-प्रतिक्षण सतर्कता के बावजूद भी अज्ञानवश अथवा प्रमादवश साधक की साधना में दोष या अतिचार लगने पर, या फिर भूल हो जाने पर, इन भूलों-रूपी जख्मों, घावों को भरने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है, जो शीघ्र ही दोषरूपी घावों को ठीक कर देता है।

‘आवश्यकसूत्र-तस्सउत्तरी’ में कहा गया है —“मेरे द्वारा जो पाप हुए हैं, उनके विशेष शुद्धिकरण हेतु प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मपरिणामों की विशुद्धता के लिए, शल्यरहित करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।”<sup>198</sup> मेरे शोधकार्य के निर्देशक डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —“शाब्दिक-दृष्टि से कायोत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है —‘काया’ का उत्सर्ग, अर्थात् देह-त्याग, लेकिन जब तक जीवन है, तब तक शरीर का त्याग तो संभव नहीं है, अतः कायोत्सर्ग का मतलब है —देह के प्रति ममत्व का त्याग, दूसरे शब्दों में, शारीरिक-गतिविधियों का कर्ता न बनकर द्रष्टा बन जाना। वह शरीर की मात्र ऐच्छिक-गतिविधियों का नियन्त्रण है। शारीरिक-गतिविधियां भी दो प्रकार की होती हैं —एक, स्वचालित और दूसरी, ऐच्छिक। कायोत्सर्ग में स्वचालित-गतिविधियों का नहीं, अपितु ऐच्छिक-

<sup>195</sup> भावे पसत्थमियरं जेण व भावेण .....। आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा-1463,

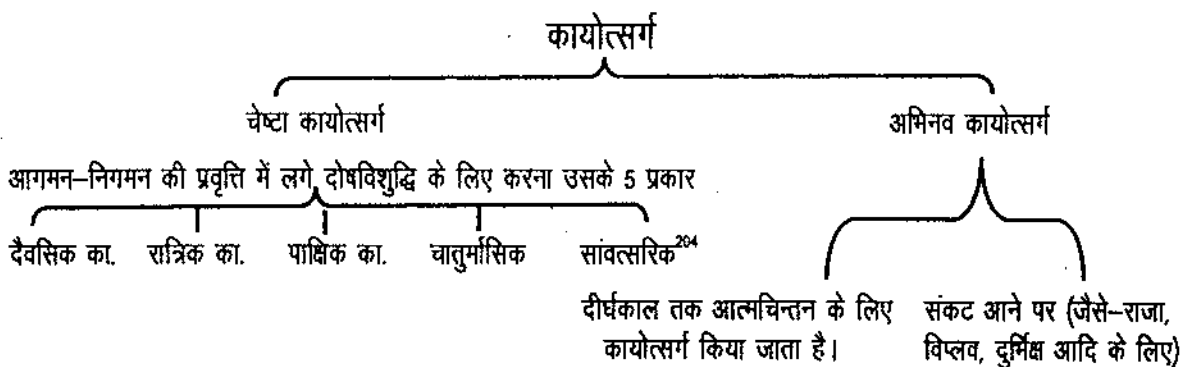
<sup>196</sup> वही, 1466, 1511, 1568, 1471

<sup>197</sup> वण-तिगिच्छ —अनुयोगद्वारसुत्त —सुत्तागमे, पृ. 1156

<sup>198</sup> तस्स उत्तरी-करणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोही-करणेणं, विसल्ली-करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणद्वाए ठामि काउत्सर्गं।। — आवश्यकसूत्र, आगारसूत्र, पृ. 15

गतिविधियों का नियन्त्रण किया जाता है। कायोत्सर्ग करने से पूर्व जो आगारसूत्र का पाठ बोला जाता है, उसमें श्वसन-प्रक्रिया, छींक-जम्माई का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>199</sup> अतः, कायोत्सर्ग-ऐच्छिक-शारीरिक गतिविधियों के निरोध का प्रयत्न है।<sup>200</sup>

'आवश्यकनिर्युक्ति' के कर्त्ता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने कहा है कि कायोत्सर्ग दो शब्दों के संयोग से बना है -काया+उत्सर्ग, अर्थात् देह के प्रति आसक्ति का त्याग। आगे लिखा है कि काया शब्द के अपरनाम ग्यारह हैं- काया, शरीर, देह आदि।<sup>201</sup> उसी प्रकार, उत्सर्ग के पर्यायवाची शब्दों की संख्या भी ग्यारह है - उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झन, अवकिरण आदि।<sup>202</sup> इसी में कायोत्सर्ग के दो प्रकारों की चर्चा का वर्णन है।<sup>203</sup>



<sup>199</sup> अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वाय-निसग्गेणं भमलीए पितमुच्छाए....। एवमाइएहिं आगारेहिं।। - आवश्यकसूत्र-आगारसूत्र

<sup>200</sup> जैनसाधना पद्धति में ध्यान - डॉ. सागरमल जैन, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 13-14

<sup>201</sup> काए सरीर देहे बुंदी य चय उवचए य संघाए। उस्सय समुस्सए वा कलेवरे भत्थ तण पाणू।। -आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1460

<sup>202</sup> उत्सग्ग विउस्सरणुज्झणाय अवगिरण छड्डण विवेगा। वज्जण चयणुमुअणा परिसाण साण्णा चेव।। -वही, गाथा 1465

<sup>203</sup> सो उस्सग्गो दुब्बिहो जिट्ठाए अभिभवे व नायव्वो। भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे विइओ। - वही, गाथा 1466

<sup>204</sup> देसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे तहेव वरिसेय।। - आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1515

आचार्य भद्रबाहु का कहना है कि कायोत्सर्ग तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में किया जा सकता है - 1. खड़े होकर, 2. बैठकर और 3. सोकर।<sup>205</sup> शारीरिक अवस्था तथा मानसिक-विचारवृत्ति की अपेक्षा से कायोत्सर्ग के नौ भेद किए गए हैं,<sup>206</sup> वे निम्नांकित हैं -

शारीरिक-अवस्था		मानसिक-विचारवृत्ति	
1.	उत्सृत-उत्सृत	खड़ा	धर्म-शुक्लध्यान
2.	उत्सृत	खड़ा	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र किन्तु चिन्तनशून्य दशा
3.	उत्सृत-निषण्ण	खड़ा	आर्त्त-रौद्रध्यान
4.	निषण्ण-उत्सृत	बैठा	धर्म-शुक्लध्यान
5.	निषण्ण	बैठा	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र, किन्तु चिन्तनशून्य दशा
6.	निषण्ण-निषण्ण	बैठा	आर्त्त-रौद्रध्यान
7.	निपन्न-उत्सृत	लेटकर	धर्म-शुक्लध्यान
8.	निषपन्न	लेटकर	न धर्म-शुक्ल, न आर्त्त-रौद्र, किन्तु चिन्तनशून्य दशा
9.	निपन्न-निपन्न	लेटकर	आर्त्त-रौद्रध्यान

उपर्युक्त कायोत्सर्ग के भेदों में जिस-जिस रूप में ध्यान का समावेश हुआ है, उससे यह स्पष्ट होता है कि वह कायोत्सर्ग का प्रवेशद्वार है। यहाँ यह ज्ञातव्य

<sup>205</sup> उस्सिअनिसन्नगो निवन्नगो य इक्किक्कगमिउ पर्यमि।। - आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 1475

<sup>206</sup> उस्सिउस्सिओ अ तह उस्सिओ अ उस्सियनिसन्नओ चेव।  
निसनुस्सिओ निसन्नो निसन्नगनिसन्नओ चेव।।  
निवणुस्सिओ निवन्नो निवन्ननिवन्नगो य नायव्वो एएसिं।।

- आवश्यक निर्युक्ति, निर्युक्तिसंग्रह, गाथा 1473-1474, पृ. 164

है कि कायोत्सर्ग की पवित्रता एवं विशुद्धता में धर्म और शुक्ल-ध्यान का ही स्थान है।

कायोत्सर्ग का मूल उद्देश्य समाधि है। यदि समाधि में व्यवधान होता है, आर्त्त और रौद्र-ध्यान में चित्तवृत्ति परिणत होती है, तो फिर वह कायोत्सर्ग नहीं है। कायोत्सर्ग करते समय समाधि प्रवर्धमान हो, तो यह समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग हितावह है। कायोत्सर्ग के द्वारा होने वाली समाधि आत्मानुभूति का विषय है। योगांगों का अन्तिम अंग समाधि है। समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित चित्तवृत्ति की जो निर्विकल्पता है, वही समाधि कहलाती है।

जब ध्यान में चित्त एकरूपता या तन्मयता प्राप्त कर ध्येय के स्वरूप में लीन हो जाता है, वही समाधि है। इसमें आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में निमग्न रहती है और निजानन्द का अनुभव करती है। 'पातंजल योगसूत्र'<sup>207</sup> के माध्यम से यह बात सामने आती है कि जब ध्याता ध्येय वस्तु के स्वरूप से एकाकार होकर उस स्वरूप में लीन हो जाता है, तब वह समाधि को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में, ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय भिन्न-भिन्न अवस्था में दिखते हैं। परन्तु समाधि दशा में तीनों एक ही प्रतीत होते हैं। इसी बात का समर्थन किया गया है— योगसार संग्रह<sup>208</sup> में।

'तत्त्वार्थराजवार्तिक'<sup>209</sup> में समाधि तथा ध्यान—इन दोनों को योग शब्द के अर्थ में अंतर्निहित किया है।

'सर्वार्थसिद्धि' में समाधि को परिभाषित करते हुए लिखा है कि यदि काष्ठागार में आग लग जाए तो उसे शान्त करना अनिवार्य है, वैसे ही श्रमण-जीवन के शीलव्रतों में लगी हुई विषय-वासना, तृष्णा, इच्छा, आकांक्षा रूपी अग्नि

<sup>207</sup> क) 'तदेवार्थनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः' - योगसूत्र 3/3

ख) 'ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्यात्मके स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति, ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।' - व्यासभाष्य

<sup>208</sup> तदेव ध्यान यदा ध्येयवेशवशाद् ध्यान-ध्येय-धातृभाव दृष्टि शून्यं सद्भेदपेयमाप्राकारं भवति तदासमाधिरुच्यते। - योगसार संग्रह, अंश 2, पृ.46

<sup>209</sup> युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।। - राजवार्तिक, 6/1/12/505/27



का शान्त करना जरूरी है। यही समाधि कही जाती है।<sup>210</sup> नियमसार के नौवें अधिकार में समाधि की चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के ग्रन्थकार ने गाथा क्रमांक 122 और 123 में कहा है कि वचन के उच्चारण की प्रवृत्ति को छोड़कर, वीतराग भाव से संयम, नियम, तप और धर्म, शुक्ल-ध्यान से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि कहते हैं।<sup>211</sup>

‘धवला’ में समाधि के स्वरूप का निरूपण करते हुए आचार्य जिनसेन ने कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् प्रकारेण स्थित रहना ही समाधि है।<sup>212</sup>

वास्तविकता यह है कि चित्तवृत्ति की चंचल वृत्तियाँ विकल्पात्मक-प्रवृत्ति असमाधि का मुख्य कारण है और चित्त की चंचलता शान्त हो जाए, तनावरहित हो जाए, निर्विकल्प हो जाए तो समाधि का प्रगटीकरण हो जाता है। डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में – “जब वायु के संयोग से जल तरंगायित होता है, तो उस तरंगित जल में रही हुई वस्तुओं का बोध नहीं होता, उसी प्रकार तनावयुक्त उद्विग्न चित्त में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार संभव नहीं है, अतः चित्त की इस उद्विग्नता का या तनावयुक्त स्थिति का समाप्त होना ही समाधि है।”<sup>213</sup>

शीलाकाचार्य के अनुसार, आचारांग की टीका एवं सूत्रकृतांग की टीका में समाधि शब्द की परिभाषा तीन अलग-अलग रूपों से निर्दिष्ट की है –

1. इन्द्रिय-विषयों का समाप्त होना और आवेगों का संवेग, निर्वेद में रूपान्तरण समाधि का प्रथम चरण है।<sup>214</sup>
2. सम्यक् अनुष्ठान या सम्यक् आचरण समाधि माना जाता है।<sup>215</sup>

<sup>210</sup> सर्वार्थसिद्धि – 6/24

<sup>211</sup> वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण। जो ज्ञायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।।

संजमणियतवेणदु धम्मज्ञाणेण सुक्कज्ञाणेण। जो ज्ञायइ अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स।। –नियमसार, 122–123

<sup>212</sup> ‘दंसण-णाण-चरित्तसु सम्ममवद्धानं समाही।’ – धवला, पु.8, पृ.88

<sup>213</sup> ‘जैनसाधना-पद्धति में ध्यान’ – डॉ. सागरमल जैन, पृ. 12

<sup>214</sup> समाधि इन्द्रिय प्राणिधानम्। – आचारांग, श्रु., ज.6, उ.4, सू. 185 की टीका

3. धर्मध्यान से समाधि, समाधि से अन्तिम ध्येय—मोक्ष की प्राप्ति है।<sup>216</sup>

‘ललित—विस्तरा’ में आचार्य हरिभद्रसूरि ने समाधि को द्रव्य और भाव दोनों रूपों में स्वीकार किया है।<sup>217</sup>

‘योगदृष्टिसमुच्चय’ के अनुसार, ‘परादृष्टि’ से युक्त साधक समाधिनिष्ठ हो जाता है।<sup>218</sup>

नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि ने समवायांगसूत्र की टीका एवं स्थानांगसूत्र की टीका में समाधि के स्वरूप को तीन प्रकार से प्रयुक्त किया है—

1. सम्यक् मोक्षमार्ग की स्थिरता<sup>219</sup>
2. चित्त की प्रशमवाहिता<sup>220</sup> तथा
3. श्रुत और चारित्र की विशुद्धता।<sup>221</sup>

आचार्य मलयगिरि ने आवश्यकसूत्र की टीका में समाधि को परिभाषित करते हुए लिखा है कि चित्त की स्वस्थता समाधि कही जाती है।<sup>222</sup> उपाध्याय यशोविजयजी ने द्वात्रिंशिका में एकाग्र और निरुद्ध चित्त को समाधि कहा है।<sup>223</sup> ‘नियमसार’ के अनुसार, वीतरागभाव में भावित आत्मा परमसमाधि को प्राप्त करता है।<sup>224</sup>

<sup>215</sup> समाधि सन्मार्गनिष्ठानरूपम्। — सूत्रकृतांग, श्रु.1, अ.14 की टीका, पृ. 197

<sup>216</sup> मोक्षं तन्मार्गं वा प्राप्तिं येनात्मा धर्मध्यानात् सा समाधिः। —सूत्रकृतांग टीका, अ. 10

<sup>217</sup> ‘सामाधानं समाधिः’ — ललित विस्तरा, पृ. 355

<sup>218</sup> योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक 176

<sup>219</sup> ‘सम्यग्मोक्षमार्गावस्थाने’ — समवायांगसूत्र, सम.20 की टीका

<sup>220</sup> ‘प्रशमवाहितायामज्ञानादौ च’ — स्थानांगसूत्र, स्था.4, उद्दे.1 की टीका

<sup>221</sup> समाधिः श्रुतं चारित्रं च — वही, उद्दे.1 टीका

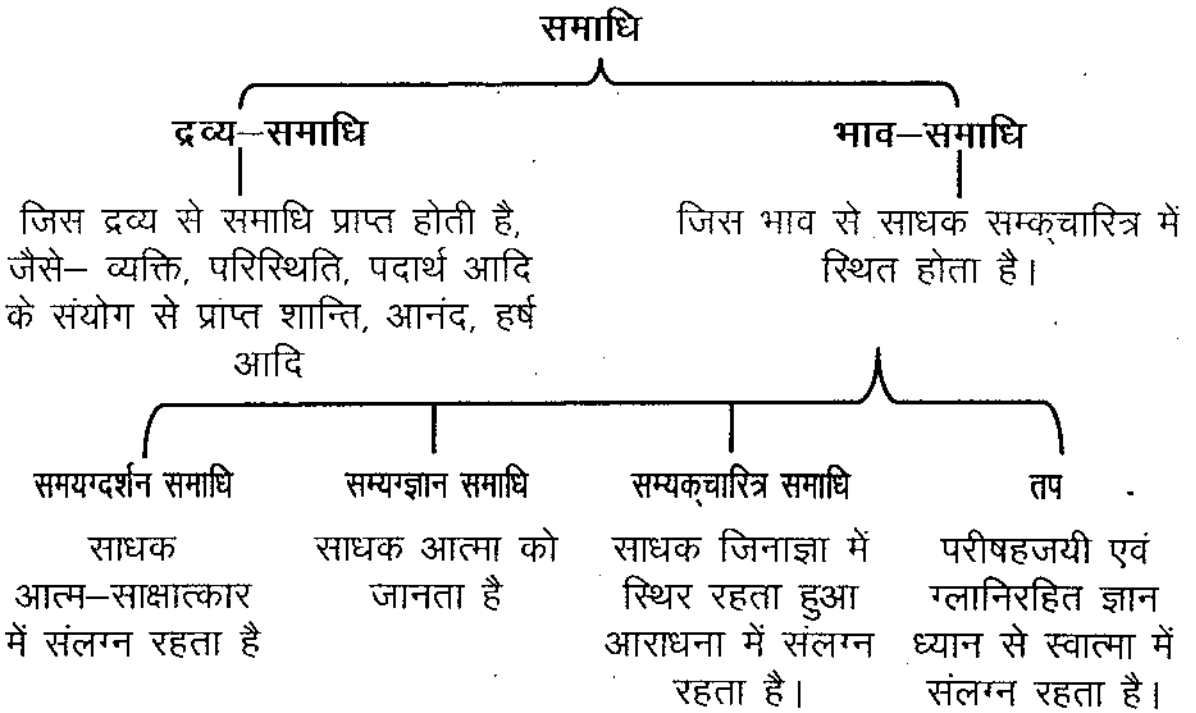
<sup>222</sup> आवश्यकसूत्र मलयगिरि टीका, अ. 2

<sup>223</sup> एकाग्र निरुद्धे चित्ते समाधिरति — द्वा. 11

<sup>224</sup> नियमसार, गाथा 122

'परमात्मप्रकाश' में लिखा है कि संकल्प-विकल्पों से मुक्ति परमसमाधि है।<sup>225</sup> 'महापुराण' में लिखा है कि विशुद्ध अध्यवसाय से यथार्थ समाधान ही समाधि है।<sup>226</sup> 'तत्त्वानुशासन' में लिखा है कि शुद्ध स्वरूप में अवस्थित रहना ही समाधि है।<sup>227</sup> 'विसुद्धिमग्गो' में लिखा है कि कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है।<sup>228</sup> "उपशमन समाधि का है। जिस प्रकार वायु के प्रवेग से रहित स्थान में दीपक की शिखा अपने स्थिर स्वभाव को प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार समाधि में चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त कर लेता है।"<sup>229</sup>

समाधि के प्रकार -



<sup>225</sup> परमात्मप्रकाश - 2/1

<sup>226</sup> महापुराण सर्ग -21, श्लोक-226

<sup>227</sup> समाधितंत्र, गाथा 17 की टीका पृ. 32

<sup>228</sup> कुशलचित्तेग्गता समाधि। - विसुद्धिमग्गो, खण्ड-1

<sup>229</sup> प्रस्तुत संदर्भ - "जैन एवं बौद्ध योग" पुस्तक से उद्धृत, पृ.52

दूसरी अपेक्षा से समाधि के दो प्रकार हैं —

समाधि

सविकल्पसमाधि

साधक मन को विशिष्ट ध्येयतत्त्व पर एवं मन्त्र पर स्थिर करता हुआ शुभ संकल्प करता है, जैसे—  
गतिदुःख मुक्ति, अष्टकर्मक्षय, बोधिलाभ,  
समाधिमरणादि।

निर्विकल्पसमाधि

समस्त संकल्प-विकल्पों का विलीन हो जाना,  
ज्ञाता-दृष्टारूप स्वात्मा में स्थित रहना, अनंतज्ञान,  
दर्शनादि का आस्वादन करना, गुणश्रेणी  
आरूढ़, योगनिरोध, शैलेशी अवस्था में स्थित रहता  
है।<sup>230</sup>

परम-समाधि —

तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीव दीर्घकाल तक परमसमाधि में स्थित रहता है। अजर, अमर, अविनाशी, निराबाध, निरंजन, निराकार, परम चैतन्य-स्वरूप में रमणता ही समाधि है।

‘महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र’ के अनुसार, योगांगरूप जिस समाधि का वर्णन है, वह जैन-सिद्धान्तानुसार, शुक्लध्यान के प्रारंभिक-स्तर में ही समाहित हो जाती है। दूसरे शब्दों में, शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में महर्षि पतंजलि की संप्रज्ञात-समाधि का तथा शुक्लध्यान के अंतिम दो चरणों में असंप्रज्ञात-समाधि का अन्तर्भाव हो जाता है।

ध्यानशतक के अनुसार ध्यान चित्त की एकाग्रता का सूचक है। शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरणों को छोड़कर शेष अवस्थाओं में जैनदर्शन के अनुसार विकल्प रहता है। ध्यान में चाहे विकल्पों की चंचलता समाप्त हो जाए किन्तु निर्विकल्प-अवस्था तो मात्र शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरणों में ही है, अतः धर्मध्यान के चरण और शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण चित्तवृत्ति की एकाग्रता के होते हुए भी निर्विकल्प चेतना के प्रतिपादक नहीं हैं। ध्यान के बाद जब हम कायोत्सर्ग की बात करते हैं, तो उसमें मन-वचन-काया के प्रति ममत्वभाव का त्याग होता है। अतः

<sup>230</sup> वही, पृ. 52-53

इतना तो कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग निर्विकल्पता की ओर ले जाता है, किन्तु जहाँ तक समाधि का प्रश्न है, समाधि मूलतः निर्विकल्प-चेतना की अवस्था है। जहाँ ध्यान में चित्तवृत्ति की एकाग्रता साधी जाती है, वहाँ कायोत्सर्ग में ममत्व के त्याग के माध्यम से निर्विकल्पता की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न होता है, किन्तु निर्विकल्प-दशा में स्थिरता —यह समाधि है, अतः हम कह सकते हैं कि ध्यान और कायोत्सर्ग निर्विकल्प समाधि के साधक हैं।

‘समाधि’ शब्द का तात्पर्य यह है कि जिसमें पूर्णरूप से समस्त पर अधिकार हो, वह समाधि है, क्योंकि जैन-दर्शन में साधना का सार समत्व की उपलब्धि ही है। समाधि पूर्ण समत्व की अवस्था है, इसलिए वह साध्य है, ध्यान और कायोत्सर्ग उसके साधन हैं। ध्यान से एकाग्रता आती है और कायोत्सर्ग से निर्ममत्व जागता है और इस प्रकार ध्यान और कायोत्सर्ग समाधि की उपलब्धि के अपरिहार्य तत्त्व हैं।

-----000-----

जिनभद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका :  
एक तुलनात्मक अध्ययन

**षष्ठम अध्याय -**

1. ध्यान का ऐतिहासिक-विकासक्रम
2. (क) आगम एवं आगमिक-व्याख्या-युग  
(ख) हरिभद्र-युग  
(ग) ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का युग  
(घ) तान्त्रिक-युग  
(ङ.) यशोविजय-युग  
(च) आधुनिक-युग
3. जैन ध्यान-साधना और बौद्ध ध्यान-साधना : एक तुलनात्मक अध्ययन
4. पातंजल-ध्यान की योग-साधना तथा जैन ध्यान-साधना : एक तुलनात्मक अध्ययन
5. तान्त्रिक-साधना और जैन ध्यान-साधना

## षष्ठ अध्याय

### ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम —

शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति के लिए ध्यान-साधना आवश्यक मानी गई है। मानव-संस्कृति के विकास के प्रारंभिक युग से ही हमें ध्यानसाधना का इतिहास प्राप्त होने लगता है। ध्यान-साधना के ऐतिहासिक-क्रम को समझने के लिए हमारे सामने मुख्य रूप से दो ही आधार हैं — 1. साहित्यिक और 2. पुरातात्विक।

साहित्यिक-दृष्टि से वेदों के पश्चात् मुख्य रूप से उपनिषदों, बौद्ध-त्रिपिटक के ग्रन्थों तथा जैन आगम-ग्रन्थों में हमें किसी-न-किसी रूप में ध्यान-साधना के उल्लेख मिलते हैं।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में महावीर की ध्यान-साधना का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार, बौद्ध-त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध द्वारा की गई ध्यान-साधना का उल्लेख भी प्राप्त है। बौद्ध-त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध के गुरु-तुल्य रहे रामपुत्र का वर्णन उपलब्ध है।

जैन-आगम सूत्रकृतांग व इसिभासियाइं में भी रामपुत्र का उल्लेख है। साहित्यिक-दृष्टि से हमें आज जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामपुत्र विधिवत् रूप से ध्यान-साधना करवाते थे। यद्यपि उनकी ध्यान-साधना का स्वरूप क्या था, यह बता पाना कठिन है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि रामपुत्र की ध्यान-साधना बौद्ध-त्रिपिटक की विषयना और जैन-आगमों की प्रेक्षा का ही कोई पूर्व रूप रही होगी।

डॉ. सागरमल जैन ने कहा है —“जिस रामपुत्र का निर्देश भगवान् बुद्ध के ध्यान के शिक्षक के रूप में मिलता है, उनका उल्लेख जैन-परम्परा के प्राचीन

आगमों में जैसे —सूत्रकृतांग<sup>1</sup>, अन्तकृत्दशा<sup>2</sup>, औपपातिक<sup>3</sup>, ऋषिभाषित<sup>4</sup> में विद्यमान है, जो इस बात का प्रमाण है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा रामपुत्र की ध्यान-साधना की पद्धति से प्रभावित थी। बौद्ध-परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रन्थ-परम्परा की आचारांग में वर्णित ध्यान-साधना में जो कुछ निकटता प्रतीत होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवतः दोनों का मूल स्रोत रामपुत्र की ध्यान-पद्धति रही होगी।<sup>5</sup>

जहाँ तक पुरातात्विक-प्रमाणों का प्रश्न है, हमें मोहनजोदड़ो हड़प्पा से जो सीलें प्राप्त हुई हैं,<sup>6</sup> उनमें ध्यान-साधना करते हुए व्यक्तियों का अंकन है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व भी मानव ध्यान-साधना करता था।

जैन-तीर्थकरों की जो पुराकालीन मूर्तियाँ लोहानीपुर-पटना एवं मथुरा से प्राप्त हुई हैं, उनमें भी तीर्थकरों को ध्यानमुद्रा में ही दिखाया गया है। भारत की निवृत्तिपरक-परम्परा की जो जैन, बौद्ध और औपनिषदिक-धाराएँ हैं, उनके पूर्व-पुरुष भी ध्यान-साधनाएँ करते थे —ऐसे पुरातात्विक-प्रमाण उपलब्ध होते हैं। शिव और बुद्ध की भी अनेक मूर्तियाँ ध्यानमुद्रा में मिली हैं। जैन-तीर्थकरों की प्रतिमाएँ शत-प्रतिशत ध्यानमुद्रा के रूप में ही मिलती हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ध्यान-साधना का इतिहास अतिप्राचीन है। वह महावीर और बुद्ध के पूर्व तक जाता है।

संक्षेप में कहा जाए, तो ध्यान-साधना की प्राथमिक-अवस्था के लिए श्रमण-परम्परा में तीन तत्त्वों को अनिवार्य माना गया है —

<sup>1</sup> सूत्रकृतांग, प्रथम श्रुतस्कंध, अध्ययन 3, उद्देशक 4, गाथा 2-3, पृ. 224

<sup>2</sup> स्थानांग, स्थान 10, 133 (इसमें अन्तकृत्दशा की प्राचीन विषयवस्तु का उल्लेख है।)

<sup>3</sup> औपपातिकदशा

<sup>4</sup> इंसिभासियाई — अध्याय 2 3

<sup>5</sup> 'जैन साधना-पद्धति में ध्यान', डॉ. सागरमल जैन, पुस्तक से उद्धृत —33, 34

<sup>6</sup> MOHENJODARO AND INDUS CIVILIZATION - JOHN MARSHALL, VOL. I, Page - 52



1. शरीर की स्थिरता, 2. वचन का मौन और 3. चित्त की निर्विकल्पता।

चित्त की संकल्प-विकल्प की प्रवृत्ति की स्थिरता के लिए, अथवा चित्त की एकाग्रता के विकास के हेतु ध्यान की विभिन्न पद्धतियाँ खोजी गई हैं। किसी बिन्दु-विशेष पर चेतना के स्थिरीकरण से त्राटकध्यानविधि विकसित हुई। आचारांगसूत्र के अनुसार, महावीर किसी दीवार पर दृष्टि को स्थिर कर ध्यान करते थे।<sup>7</sup> श्वास पर चित्तवृत्तियों के केन्द्रीकरण करने की विधि भी मिलती है। प्राचीन जैन-ग्रन्थों में श्वासोश्वास पर चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने का निर्देश मिलता है। इसी के आधार पर, बौद्ध-परम्परा के अन्तर्गत आनापानसति के रूप में ध्यानविधि बताई गई है। वर्तमान-काल में भी विपश्यना की शुरुआत को आनापानसति से माना जाता है। इस प्रकार, त्राटक-साधना के अलावा श्वास-प्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा, विचारप्रेक्षा आदि के संकेत प्राचीन जैन तथा बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। जैन ध्यान-परम्परा के ऐतिहासिक विकासक्रम को समझने के लिए हमें उसे अनेक भागों में बाँटकर देखना होगा कि उनमें ध्यान-साधना की परम्पराएँ विभिन्न युगों में किस प्रकार रही हुई हैं।

सुविधा की दृष्टि से, जैन ध्यान-साधना को हम निम्न छह भागों में बाँट सकते हैं -

1. क) आगम-युग - (ईसा पूर्व पांचवी शती से ईसा की पांचवीं शती तक)
- ख) आगमिक व्याख्या युग - (ईसा की पांचवी से सातवीं शती तक)
2. हरिभद्र-युग (ईसा की आठवीं शती से दसवीं शती तक)
3. ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का युग (ईसा की 11-12 वीं शती)
4. तान्त्रिक-युग (ईसा की 11 वीं शती से 19 वीं शती तक)
5. यशोविजय-युग (ईसा की 17 वीं शती से 19 वीं शती तक)
6. आधुनिक युग (ईसा की 20 वीं शती से 21 वीं शती तक)

<sup>7</sup>आचारांग- 1/9/45

आगमिक—युग ईसा की पांचवीं शताब्दी तक, उसके बाद जिनभद्र और हरिभद्र का युग ईसा की छठवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक, शुभचन्द्र और हेमचन्द्र का युग ग्यारहवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक और तान्त्रिक—युग तेरहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक माना जाता है। यद्यपि क्रम की दृष्टि से तान्त्रिक—युग का काल तेरहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक माना जाता है, किन्तु तान्त्रिक—साधना के कुछ प्रमाण उसके पूर्व हरिभद्र के काल के बाद से भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि ज्ञानार्णव और हेमचन्द्र के योगशास्त्र में प्राणायाम, मंत्र—साधना आदि के उल्लेख मिलते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि तान्त्रिक—साधना पूर्व में भी अस्तित्व में थी। उसके पश्चात् यशोविजय का युग आता है, जो मुख्यतः सत्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। इसके पश्चात्, सबसे अन्त में हम आधुनिक युग में आते हैं, जिसे प्रेक्षा—ध्यान के रूप में आचार्य महाप्रज्ञजी ने नई दिशा दी। आगे हम इन युगों और उनकी विशेषताओं की संक्षिप्त में चर्चा करेंगे।

**आगम—युग एवं आगमिक व्याख्या—युग (ई.पू. पांचवी शती से सातवीं शती तक) —**

‘मुक्ति की प्राप्ति’ जैन—साधना का प्रमुख उद्देश्य है। मुक्ति अर्थात् जन्म—मरण के चक्र से सदा—सदा के लिए छुटकारा पाना। जब तक संसार है, तब तक कर्मबंधन है और जब तक कर्मबंधन है, तब तक जन्म—मरण का चक्र चलता रहेगा। इससे मुक्त होने का माध्यम है —ध्यान। ध्यान ही ‘स्व’ की अनुभूति की स्थिति है, विभाव से स्वभाव की ओर उन्मुख होने की स्थिति है, निज स्वरूप में अवस्थित होने की स्थिति है। प्रागैतिहासिक—काल से जैनवाङ्मय में ध्यान—साधना की श्रृंखला अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आगमयुग का वर्णन ‘जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक—विकासक्रम’ साध्वी उदितप्रभा के शोध—प्रबन्ध के आधार पर किया गया है।

## 1. आचारांगसूत्र में ध्यान —

ऐतिहासिक—दृष्टि से सर्वप्रथम हमें द्वादशांगी के प्रथम ग्रन्थ 'आचारांग' में भगवान् महावीर की ध्यान—साधना के संबंध में अनेक संकेत मिलते हैं। महावीर को 'ध्यानयोगी' की उपमा से विभूषित किया गया है। आचारांग से यह ज्ञात होता है कि महावीर के जीवन के साधनाकाल का अधिकतम समय ध्यान—साधना में ही व्यतीत हुआ था।<sup>8</sup>

स्थान—स्थान पर कायोत्सर्ग तथा ध्यान में निमग्न होकर वे स्व—स्वरूप का चिन्तन करते रहते थे। उन्होंने चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के साथ—साथ दृष्टि के स्थिरीकरण का अभ्यास भी किया था। इसके परिणामस्वरूप वे अनिमिष होकर भीतों पर ध्यान केन्द्रित करते थे। इस प्रक्रिया के दौरान उनके नेत्र रक्तवर्णी होकर बाहर निकल आते थे, जिन्हें देखकर लोग डर जाते थे। भय से आक्रान्त होकर बच्चों का समूह हंत! हंत! कहकर जोर—जोर से चिल्लाता और दूसरे बच्चों को भी अपने पास बुला लेता था।<sup>9</sup> दूसरे शब्दों में, वे उत्कृष्ट आसनों में अवस्थित होने के साथ ही तिर्यक् देखते हुए समाधि में अनाकांक्ष होकर रहते थे।<sup>10</sup>

महावीर कभी घरों में, कभी वनों में, कभी कुम्भकार—शाला या लोहकार—शाला में, कभी सभाओं, प्याऊओं, दुकानों में, तो कभी—कभी आरामगृहों, गांवों, नगरों, श्मशानों आदि में, कभी—कभी तो वे वृक्ष के नीचे ही ध्यानमग्न हो जाते थे।<sup>11</sup> उन्होंने अपने साधनाकाल में अनेक अनुकूल—प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहा।<sup>12</sup>

<sup>8</sup> क) एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पतेरसवासे ।  
राइं दिवंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए ज्ञाति ।। —आयारो, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्याय—9, उद्दे. 2 गा. 4, पृष्ठ 328

ख) अयमंतरंसि को एत्थ अहमंसित्ति भिक्खु आहट्टु ।  
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए स कसाइए ज्ञाति ।। — वही, प्र.श्रुतस्कंध, अ.9, उ.2, गा.12, पृ. 330

<sup>9</sup> अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं, चक्खुभासज्ज अंतसो ज्ञाइं ।

अह चक्खु—भीया सहिया, तं 'हंता हंता' बहवे कंदिसुं —आयारो, प्रथमश्रुतस्कंध, अध्याय—9, उद्दे. 1 गा. 5, पृष्ठ 320

<sup>10</sup> अवि ज्ञाइं से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुएज्जाणं । उड्ढ अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे । — वही? 1/9/4/14

<sup>11</sup> आवेसण सभा—पवासु पणियसालासु एगदा वासो । अदुवा पत्थिद्विण्णेषु पलालपुंजेसु एगदावासो ।

आंगतारे आरामागारे गामे णगरेवि एगदा वासो । सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूलेवि एगदा वासो ।। — वही, 1/9/2/2-3

आचारांग के उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट होता है कि महावीर की ध्यान-साधना बाह्य तथा आभ्यन्तर -दोनों प्रकारों से थी। वे कषायरहित, आसक्तिरहित आत्मसमाधि में अभिरत होकर ध्यान करते थे।

## 2. सूत्रकृतांग में ध्यान -

द्वादशांगी के द्वितीय ग्रंथ सूत्रकृतांगसूत्र में वीरत्थवो (वीर-स्तुति) नामक छठवें अध्ययन के अन्तर्गत विविध उपमाओं से भगवान् की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है, उसी में भगवान् महावीर के ध्यान का बहुत ही सुन्दर उल्लेख हुआ है। महावीर धर्मध्यान से भी ऊपर उठकर शुक्लध्यान की रमणता में लीन थे।

सूत्रकृतांग के छठवें अध्ययन के गाथा क्रमांक-16 में कहा गया है कि भगवान् का सर्वोत्तम ध्यान शुक्लध्यान है, जो शंख, चन्द्र आदि अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं के समान विशुद्ध और सर्वथा निर्मल था।<sup>13</sup> वे अनुत्तरध्यान के स्वामी कहे गए हैं। अनुत्तर, अर्थात् जिससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। शुक्लध्यान, ध्यान की सर्वोच्च अवस्था का प्रतीक है।

इसी सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध में 'वीर्य' नामक आठवें अध्ययन के अन्त में पण्डितवीर्य-साधना के आदर्श के संबंध में जो गाथाएँ हैं, वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी गाथा के प्रथम दो चरणों में लिखा है कि साधु ध्यानयोग को सम्यक् प्रकारेण ग्रहण करे, फिर काया का व्युत्सर्ग करे।<sup>14</sup> ध्यान का सम्यक् ग्रहण से यहाँ अभिप्राय यह है कि लम्बे समय के अभ्यास से ध्यान में एकाग्रता, दृढ़ता, स्थिरता प्राप्त करना है। ऐसी स्थिरता से देहातीत-अवस्था की प्राप्ति होती है।

<sup>12</sup> सयणेहिं, तस्सुवसग्गा, भीमा आसी अणेगरूवाय.....। - वही- 1/9/2/7-9, पृ. 328

<sup>13</sup> अणुत्तरं धम्ममुईरइता अणुत्तरं ज्ञाणवरं ज्ञियाई।

सुसुक्कसुक्कं अपाणंसुक्कं संखेदु वेगंतवदातसुक्कं।। - सूत्रकृतांगसूत्र/1श्रुतस्कंध/6 अध्ययन/16 गाथा/पृ. 323

<sup>14</sup> ज्ञाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सब्वसो।। - वही, 1/8/26/पृ. 354

### 3. स्थानांगसूत्र में ध्यान —

द्वादशांगी का तीसरा अंग 'स्थानांगसूत्र' है। इसकी विषयवस्तु का संख्या के क्रमानुसार स्थानों के रूप में विषयों का वर्णन किया गया है। इसी स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान के अन्तर्गत प्रथम उद्देश्य में चार ध्यानों की सुन्दर विवचेना की गई है। सूत्र में प्रत्येक ध्यान के प्रकारों, उपप्रकारों, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

ध्यान के चार प्रकार माने गए हैं — 1. आर्त्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान और 4. शुक्लध्यान। इसमें क्रमशः प्रथम तथा द्वितीय दो ध्यान अप्रशस्त (अशुभ) तथा शेष दो ध्यान प्रशस्त (शुभ) माने गए हैं। अप्रशस्त ध्यान साधना के लिए अनुपयोगी तथा व्यवधानात्मक हैं, क्योंकि ये संसारवृद्धि का कारण हैं। जबकि प्रशस्त-ध्यान मुक्ति के हेतु हैं।

मानसिक-दुःख को उत्पन्न करने वाला ध्यान 'आर्त्तध्यान' है। इसके अमनोज्ञ, मनोज्ञ, आतंक और प्रीतिकारक —ऐसे चार उपप्रकार हैं। क्रन्दनता, शोचनता, तेपनता और परिदेवनता —ये आर्त्तध्यान के लक्षण हैं। हिंसादि क्रूर प्रवृत्तियों में निरंतर मानसिक-परिणति रूप एकाग्रता रौद्रध्यान है। इसके हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और संरक्षणानुबन्धी —ऐसे चार उपप्रकार हैं। उत्सन्न, बहुदोष, अज्ञान, आमरणान्त —ये रौद्रध्यान के लक्षण हैं। तीर्थकरों द्वारा प्रणीत श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म के चिन्तन-मनन में एकाग्रता धर्मध्यान है। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान-विचय ये धर्मध्यान के उपप्रकार हैं तथा आज्ञा, निसर्ग, सूत्र और अवगाढरुचि —ये उसके लक्षण हैं। वाचना, प्रतिप्रच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा —ये धर्मध्यान के आलम्बन तथा एकत्व, अनित्य, अशरण और संसार —ये धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं। कर्मक्षय के कारणभूत शुद्धोपयोग में लीन रहना शुक्लध्यान कहलाता है। पृथक्त्ववितर्कविचार, एकत्ववितर्कविचार, सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति और समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती —ये शुक्लध्यान के उपप्रकार हैं।

अव्यथ, असम्मोह, विवेक तथा व्युत्सर्ग-लक्षण तथा क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव —ये शुक्लध्यान के आलम्बन कहलाते हैं। जैसे धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं, वैसे ही शुक्लध्यान की भी अनुप्रेक्षाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं — अनंतवृत्तिता, विपरिणामता, अशुभता और अपाय। इन सबका विस्तृत रूप से वर्णन पूर्व में किया गया है।

#### 4. समवायांगसूत्र में ध्यान —

‘समवाय’—यह द्वादशांगी का चौथा अंग है। इसके चौथे समवाय में ध्यान के चारों भेदों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है।<sup>15</sup> धर्मध्यान के चार भेदों में से संस्थानविचय का बहुत ही विस्तार से उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत सूत्र के बत्तीसवें समवाय में योगसंग्रहों की विवेचना की गई है, जो साधक-जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। इसमें ‘ध्यान-संवरयोग’ नामक अष्टादशवें योग का भी उल्लेख है। इसका आशय यह है कि धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की दिशा में विकास करने के लिए साधक को आस्रव-द्वारों का संवरण करना आवश्यक है।<sup>16</sup>

#### 5. भगवतीसूत्र में ध्यान —

‘भगवतीसूत्र’ को व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के नाम से भी जाना जाता है। यह द्वादशांगी का पांचवा अंग है। इसमें गौतम गणधर द्वारा पूछे गए प्रश्नों के जो उत्तर भगवान् महावीर ने दिए थे, उनका संकलन है। यह विशालकाय आगमग्रंथ है। यह ग्रन्थ 15000 श्लोक-परिमाण है और इसमें 36,000 प्रश्नोत्तर संकलित हैं। इसमें तप के अन्तर्गत आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान का विस्तार से वर्णन प्राप्त है।<sup>17</sup>

<sup>15</sup> समवायांगसूत्र, समवाय 4.20, पृ. 11

<sup>16</sup> वही, समवाय 32, पृ. 93

<sup>17</sup> ज्ञाणे चउक्खिं पन्नते, तं जहा — अट्टे ज्ञाणे, रोदे ज्ञाणे, धम्मे ज्ञाणे, सुक्के ज्ञाणे। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, 25 श. 7 उदे. 237 सूत्र, पृ. 506

इस आगमग्रन्थ में भी स्थानांगसूत्र के समान ही ध्यान के चार प्रकार, स्वरूप, लक्षण आदि की विस्तृत रूप से चर्चा की गई है, अन्तर मात्र इतना है कि इसमें ध्यान को तप का ही एक अंग बताया गया है।<sup>18</sup>

भगवान् महावीर अपने साधनामय जीवन की ध्यानात्मक—प्रक्रिया और अनुभव का वर्णन करते हुए उनके शिष्य गौतम को बताते हैं कि साढ़े बारह वर्ष घोर तपस्याकाल के अन्तर्गत तप और संयम का सम्यक्—प्रकारेण परिपालन करता हुआ, तप द्वारा आत्मा को निर्मल तथा पवित्र बनाता हुआ, ग्रामानुग्राम विहार करता—करता सुंसुभार नगरी में जा पहुंचा। वहाँ अशोक नामक उद्यान के अशोकवृक्ष के नीचे मन, वचन और काया की गतिविधियों को विराम देते हुए उसने एक पदार्थ पर दृष्टि केन्द्रित की। चक्षु को निर्निमेष उद्घाटित करते हुए, इन्द्रियों का संयम रखते हुए उसने एक रात की महाप्रतिमा अंगीकार की।<sup>19</sup> यह क्रम आगे भी कई बार चलता रहा। इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि वे ध्यान—साधना में निरत रहते थे। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि उस समय उनके ध्यान की कोई विशेष प्रक्रिया रही होगी। ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा तथा अनुत्तरौपपातिकदशा इन आगमों में धर्मकथानुयोग के माध्यम से ध्यान का वर्णन किया गया है, जैसे— ज्ञाता—धर्मकथा में प्रथम श्रुतस्कंध के 'मेघकुमार' नामक प्रथम अध्ययन में और तेतलीपुत्र नामक चतुर्थ अध्ययन में दोनों की कथा द्वारा सबसे पहले आर्तध्यान का स्वरूप बताया गया, फिर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के स्वरूप को स्पष्ट किया। दूसरे अध्ययन में विजयचोर की कथा द्वारा रौद्रध्यान एवं उसके फल का वर्णन है। इस प्रकार आठवें तथा तेरहवें अध्ययन में भी ध्यान का वर्णन है।

<sup>18</sup> वही, 25/7/238-249/पृ. 507-508

<sup>19</sup> व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

उपासकदशा में दस श्रावकों द्वारा ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना के अन्तर्गत कायोत्सर्ग प्रतिमा का उल्लेख है। ध्यान की प्राथमिक अवस्थारूप कायोत्सर्ग के माध्यम से ध्यान का वर्णन मिलता है।

अन्तकृतदशा में तप को ध्यान का प्रतीक माना है और संकेत किया गया है कि ध्यानप्रक्रिया से ही सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर दिया जाता है। अनुत्तरौपपातिक सूत्र में ध्यान के अंग तप का उल्लेख है। ध्यानाग्नि द्वारा समस्त कर्मरूपी ईंधन को जलाकर आत्मा का निज स्वरूप प्रकट किया जाता है।

## 6. प्रश्नव्याकरणसूत्र में ध्यान —

द्वादशांगी का दसवां अंग प्रश्नव्याकरण है। यह आस्रव तथा संवरद्वार के रूप में दो भागों में विभक्त है। संवरद्वार के अन्तर्गत निर्ग्रन्थों की इकतीस उपमाएँ मिलती हैं। उसमें बावीसवीं (22 वी) 'खाणुं चैव उड्डुकाए'<sup>20</sup> तथा तेईसवीं (23 वी) 'सुण्णागारा वणस्संतो णिवाय सरणप्पदीपज्झाणमिवणिप्प कंप्पे'<sup>21</sup> तथा 'जहा खुरो चैव एगधारे'<sup>22</sup> उपमाओं का वर्णन है, जो क्रमशः कायोत्सर्ग तथा ध्यान को सूचित करती हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दो उपमाएं श्रमण साधकों के ध्यानाभ्यासी होने का संकेत करती हैं। प्रस्तुत सूत्र के तीसरे संवरद्वार की अस्तेय व्रत की तृतीय भावना में साधु को सतत आत्मध्यान में रमण करने का निर्देश किया गया है।

## 7. औपपातिकसूत्र में ध्यान —

औपपातिकसूत्र प्रथम उपांग है। इसमें तप के बारह प्रकारों को दो भागों में बांटा है — 1. छह बाह्य और 2. छह आभ्यन्तर। आभ्यन्तर तप के अन्तर्गत ध्यान के

<sup>20</sup> प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/5/163

<sup>21</sup> वही, 2/5/250

<sup>22</sup> वही, 2/3 सू. 137, पृ. 209; सययं सज्झप्पज्झाणजुत्ते (अस्तेय व्रत की पांच भावनाएं से उद्धृत)



प्रकार, उपप्रकार, लक्षण, आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि का उल्लेख मिलता है।<sup>23</sup> जैसे स्थानांग में उपर्युक्त सभी का वर्णन हुआ है, वैसे ही इस सूत्र में भी उन सबका वर्णन किया गया है। ध्यान की प्रधानता को ध्यान में रखते हुए भगवान महावीर ने एक जगह श्रमणों की उच्च धर्माराधना का वर्णन करते हुए कहा है कि कुछ श्रमण घुटनों को ऊपर एवं मस्तक को नीचा कर, एक विशिष्ट आसन में अवस्थित होकर ध्यानरूपी कोष्ठ में प्रवेश करते थे, अर्थात् ध्यानमग्न रहते थे।<sup>24</sup>

## 8. उत्तराध्ययन में ध्यान —

उत्तराध्ययनसूत्र भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का अंश है। इसके प्रथम अध्ययन विनयसूत्र के गाथा क्रमांक दस में —साधक यथासमय अपने स्वाध्याय में उसके बाद एकाकी ध्यानभ्यास करें।<sup>25</sup>

इसी सूत्र के अठारहवां अध्ययन 'संजयीय' में, राजा संजय शिकार हेतु वन में गया, वहाँ केसर नामक उद्यान में एक तपोधन अनगार स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न तथा धर्मध्यान में एकतान थे।<sup>26</sup> राजा संजय ने उनके समीप स्थित मृग को बाणों से मार दिया।<sup>27</sup> लेकिन ध्यानस्थ मुनि को देखते ही क्षमायाचना की। मौनपूर्वक ध्यान (धर्मध्यान) की साधना में मग्न होने से राजा को कोई उत्तर नहीं मिला।<sup>28</sup> तत्पश्चात् राजा ने धर्म—श्रवण किया, वैराग्य को प्राप्त होकर संयम ग्रहण किया। यह ध्यान के प्रभाव से ही हुआ था।

<sup>23</sup> औपपातिकसूत्र, 30 पृ. 9-50

<sup>24</sup> वही, 31, पृ. 80

<sup>25</sup> तओ झाएज्ज एगगो ..... — उत्तराध्ययनसूत्र, 1 अध्ययन, गाथा-10, पृ. 10

<sup>26</sup> अह केसरम्मि उज्जाणे अणगारे तवोधणे । सज्जाय—ज्जाणसंजुत्ते धम्मज्जाणं झियायई ॥ वही, 18/4

<sup>27</sup> ....झायइं झवियासवे तस्सागए मिए पासं वहेई से नराहिवे ॥ — वही, 18/9

<sup>28</sup> अह मोणेण सो भगवं अणगारे ज्ञाणमस्सिए । रायाणं न पडिमन्तेइ ..... ॥ — वही 18/9

प्रस्तुत सूत्र के छब्बीसवें अध्ययन में श्रमणजीवन की दिनचर्या का वर्णन करते हुए भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि श्रमण दिवस<sup>29</sup> तथा रात्रि<sup>30</sup> के दूसरे प्रहर में ध्यानसाधना करे। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल में ध्यान—साधना श्रमणजीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। इसी सूत्र के उनतीसवें अध्ययन का नाम सम्यक् पराक्रम है। एक स्थान पर भगवान् महावीर गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं कि मन की एकाग्रता से चित्तवृत्ति का निरोध होता है।<sup>31</sup> उत्तराध्ययन के तीसवें अध्ययन का नाम 'तवमग्गई' है। यहाँ तप के बाह्य और आभ्यन्तर—ये दो भेद किए हैं। आभ्यन्तर—तप के अन्तर्गत ध्यान और कायोत्सर्ग की विवेचना की गई है। साथ ही यह कहा गया है कि आर्त्त और रौद्र अशुभ ध्यान है। इन दोनों को त्यागकर साधक को धर्म और शुक्लध्यान की आराधना करनी चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो उसका यह ध्यान आन्तरिक तप है।<sup>32</sup> ध्यान अन्तःकरण का संशोधनात्मक तत्त्व है, इसलिए ध्यान भी आभ्यन्तर तप की कोटि में गिना जाता है। इसी सूत्र में लेश्याओं का भी बहुत ही विस्तार से उल्लेख किया गया है। शुक्ललेश्या का प्रगटीकरण कैसे होता है ? उसका वर्णन करते हुए लिखा है — आर्त्त—रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान को ध्याता हुआ शुक्ल— ध्यान को प्राप्त कर लेता है। कषायरहित होकर समितियों, गुप्तियों का पालन करते हुए जितेन्द्रिय योगों से युक्त साधक शुक्ललेश्या का अधिकारी बन जाता है।<sup>33</sup> इस प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भी ध्यान का वर्णन मिलता है।

<sup>29</sup> दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो। तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसुवि।

पढमं पोरिसिं सज्जाय वीयं ज्ञाणं ज्ञियायई। तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्जाय॥ —वही, 26/11-12

<sup>30</sup> रत्तिं पि चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो। तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसुवि॥

पढमं पोरिसिं सज्जायं वीयं ज्ञाणं ज्ञियायई। तइयाए निदमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्जायं॥ — वही, 26/17-18

<sup>31</sup> एगग्गमणसंनिवेशणायाए णं चित्तनिरोहं करेइ॥

— वही, 29/25, पृ. 501

<sup>32</sup> अट्ठरूददाणि वज्जिता ज्ञाएज्जा सुसमाहिए।

धम्मसुक्काइं ज्ञाणाइं ज्ञाणं तं तु बुहा वए॥

— वही 30/35

<sup>33</sup> अट्ठरूद्धाणि वज्जिता धम्मसुक्काणि ज्ञायए।

पसन्तचित्ते दन्तप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिहिं॥

सरारे वीयरारे वा उवसन्ते जिइन्दिए।

एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे॥

— वही —34/31-32

## हरिभद्रयुग : (ईसा की आठवीं शती से दसवीं शती तक) :-

विद्वत्वर्य आचार्य हरिभद्र का व्यक्तित्व बहुत ही ओजस्वी, तेजस्वी था। उन्होंने न केवल जैन-धर्म के क्षेत्र में अपितु सम्पूर्ण भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अपनी लेखनी से प्रचुर मात्रा में साहित्य की रचना की। टीका-ग्रन्थों के साथ-साथ उन्होंने दर्शन, धर्म, योग, आचार, उपदेश, व्यंग्य तथा चरित-काव्य आदि अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। अनुश्रुति तो यह है कि उन्होंने 1444 ग्रन्थों का सर्जन किया था, किन्तु यह परम्परागत मान्यता है। यथार्थ स्थिति क्या है ? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य हरिभद्र अपने व्यक्तिगत संबंधों की जानकारी देने के सन्दर्भ में प्रायः अनुदार ही रहे। पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के समान उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा, मात्र अपनी गुरुमाता के सन्दर्भ में अपने को याकिनीसूनु कहकर विनयभाव को प्रदर्शित किया।

उनके गृहस्थ-जीवन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम संकेत हमें 'भद्रेश्वर की कहावली' में प्राप्त होते हैं। उसके अनुसार सम्भवतः चित्तौड़ के ब्रह्मपुरी नामक कोई कस्बा या उपनगर में उनका जन्म हुआ था, यद्यपि उनके जन्म-स्थल को लेकर मतैक्य नहीं है।<sup>34</sup> उनके पिता का नाम शंकर भट्ट तथा माता का नाम गंगा कहा जाता है।<sup>35</sup> पिता के नाम के पीछे जो 'भट्ट' शब्द है, वह ब्राह्मण-जाति का सूचक है। 'गणधर-सार्धशतक' की सुमतिगणिकृत वृत्ति में तो हरिभद्र का ब्राह्मण के रूप में स्पष्ट निर्देश मिलता है।<sup>36</sup> हरिभद्र का विद्याध्ययन कहाँ, कैसे हुआ, किसके सानिध्य में हुआ ? यह निर्णय करना तो कठिन है, पर हाँ, धर्म और दर्शन की

<sup>34</sup> क) "पिवंगुईए बंभपुणीए" -पाटन संघदी के बाडे के जैन भण्डार की वि.सं. 1497 में लिखित ताड़पत्रीय पोथी, खण्ड-2, पत्र-300

ख) अधोलिखित प्राचीन ग्रन्थों में जन्मस्थान के रूप में चित्तौड़-चित्रकूट का उल्लेख मिलता है  
 - हरिभद्रसूरिकृत 'उपदेशपद' की श्री मुनिचन्द्रसूरिकृतटीका (वि.सं. 1174)  
 - प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित्र नवम शृंग। (वि.सं. 1334)  
 - राजशेखरसूरिकृत 'प्रबन्धकोष' अपर नाम 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' (वि.सं. 1405)

<sup>35</sup> संकरो नाम भटो, तस्स गंगा नाम भट्टिणी। - कहावली, पत्र 300

<sup>36</sup> 'एव सो पंडितगव्वमुब्बहमाणो हरिभदो नाम माहणो।' - धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ.5 वि.सं. 1295

दूसरी परम्पराओं के संबंध में उनके ज्ञान गाम्भीर्य से भी यह स्पष्ट होता है कि उनका जन्म और शिक्षा-दीक्षा ब्राह्मण-कुल में ही हुई होगी।

वे राजपुरोहित के पद पर आसीन थे। उन्हें अपने पाण्डित्य पर गर्व था और पाण्डित्य के गर्व से गर्वित होकर उन्होंने यह संकल्प किया कि जिस किसी का पढ़ा हुआ, कहा हुआ मैं नहीं समझ सका, तो उसके शिष्यत्व को स्वीकार कर लूंगा। किसी एक समय जैन साध्वी के मुख से निकली निम्न गाथा की ध्वनि उनके कानों से टकराई -

**चक्कीदुगं हरिपणगं पणगं चक्की केसवो चक्की।**

**केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ।।<sup>37</sup>**

लाख कोशिश के बावजूद भी वे गाथा का अर्थ नहीं समझ सके, अर्थ समझने के लिए उन्होंने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की। संयम-जीवन की चर्या में कोई दोष न लग जाए, इस हेतु उन्होंने सूक्ष्मता से जैन-ग्रन्थों का अध्ययन किया और अल्प समय में आगम-ग्रन्थों के ज्ञाता बने।

हरिभद्र के युग में जैन-परम्परा के श्रमण एवं त्यागी-वर्ग में शिथिलाचार आ चुका था, इसलिए सम्बोधप्रकरण में हरिभद्र ने अपने युग में फैले इस शिथिलाचार का खंडन किया।

**पंचाशक-प्रकरणम्** नामक पुस्तक की भूमिका में डॉ. सागरमल जैन ने कहा है - "प्रतिभाशाली और विद्वान होना वस्तुतः तभी सार्थक होता है, जब व्यक्ति में सत्यनिष्ठा और सहिष्णुता हो। आचार्य हरिभद्र उस युग के विचारक हैं जब भारतीय-चिन्तन में और विशेषकर दर्शन के क्षेत्र में वाक्-छल और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति बलवती बन गयी थी। प्रत्येक दार्शनिक स्वपक्ष के मण्डन एवं परपक्ष के खण्डन में ही अपना बुद्धि-कौशल मान रहा था। मात्र यही नहीं, दर्शन के साथ-साथ धर्म के क्षेत्र में भी पारस्परिक-विद्वेष और घृणा अपनी चरमसीमा तक पहुंच चुकी थी। स्वयं आचार्य हरिभद्र को भी इस विद्वेष-भावना के कारण अपने दो

<sup>37</sup> आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा- 421

शिष्यों का वियोग सहना पड़ा था। हरिभद्र की महानता और धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उनके अवदान का सम्यक् मूल्यांकन तो उनके युग की इन विषम परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। आचार्य हरिभद्र की महानता तो इसी में निहित है कि उन्होंने शुष्क वाग्जाल तथा घृणा एवं विद्वेष की उन विषम परिस्थितियों में भी समभाव, सत्यनिष्ठा, उदारता, समन्वयशीलता और सहिष्णुता का परिचय दिया। यहाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि समन्वयशीलता और उदारता के ये गुण उन्हें जैन-दर्शन की अनेकान्तदृष्टि के माध्यम से विरासत में मिले थे, फिर भी उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार और साहित्य-सृजन में इन गुणों को जिस शालीनता के साथ आत्मसात् किया था, वैसे उदाहरण स्वयं जैन-परम्परा में भी विरल ही हैं।<sup>38</sup>

हम पूर्व में आचार्य हरिभद्र के जीवन-वृत्तान्त और उनके द्वारा लिखे गए ग्रन्थों का तथा उसमें भी विशेष रूप से उनके ध्यान तथा योग-सम्बन्धी ग्रन्थों का वर्णन कर चुके हैं, फिर भी यहाँ हरिभद्रयुग के प्रसंग में हम पं.सुखलालजी की 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' डॉ. सागरमल जैन 'पंचाशक-प्रकरण की भूमिका' एवं 'आचार्य हरिभद्र का अवदान' साध्वी प्रियदर्शनाजी की 'जैन-साधना पद्धति में ध्यानयोग' और साध्वी उदितप्रभाजी की 'जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकास क्रम' आदि पुस्तकों को आधार बनाकर संक्षिप्त में उनके ध्यान तथा योग संबंधी ग्रन्थों को प्रस्तुत करेंगे।

आचार्य हरिभद्र ने जैन आगमों पर अनेक टीकाएँ, वृत्तियाँ आदि लिखीं और साथ ही साथ उन्होंने जैनयोग पर स्वतन्त्र साहित्य की रचना भी की थी, जैसे — योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, योगशतक आदि।

### 1. योगदृष्टिसमुच्चय —

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में लिखा हुआ है। इसके 227 पद्य हैं। इसमें सबसे पहले योग-साधना में विकास हेतु तीन अलग-अलग स्तरों पर योगसाधना

<sup>38</sup> पंचाशक प्रकरण — डॉ. दीनानाथ शर्मा, पुस्तक की भूमिका (डॉ. सागरमल जैन) से उद्धृत, पृ. 8

पर प्रकाश डाला गया है—1. इच्छायोग, 2. शास्त्रयोग और 3. सामर्थ्ययोग<sup>39</sup>

1. इच्छायोग — इच्छायोग, अर्थात् जो साधक अपने निजस्वरूप की प्रतीति की इच्छा रखनेवाला होता है, जिन-आगमों का श्रवण करता है, परिणाम-स्वरूप योगमार्ग पर प्रवृत्त तो हो जाता है, परन्तु आलस्य, प्रमाद के कारण योगोपलब्धि से वंचित रहता है, यह योगसाधना का पहला स्तर है। 2. शास्त्रयोग — शास्त्रयोग, अर्थात् श्रद्धा-भाव से युक्त, प्रमाद से रहित, आगमों में उल्लेखित विधि के अनुसार जो साधक आराधना-साधना करता है, उसका योग अविकल अखण्डता के कारण निरन्तर गतिमान रहता है, वह शास्त्रयोग है। यह योगसाधना का दूसरा स्तर है। 3. सामर्थ्ययोग — सामर्थ्ययोग, अर्थात् शक्ति के उद्रेक-जागरण प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त है, उत्कृष्ट है, वह उत्तमोत्तम योग सामर्थ्ययोग कहा जाता है। यह योग साधना का अन्तिम स्तर है। सामर्थ्ययोग ही साधक को सर्वज्ञता या आत्मानुभूति को प्राप्त करवाता है। सामर्थ्ययोग भी दो भागों में विभक्त है —1. धर्मसन्यासयोग और 2. योगसन्यास।<sup>40</sup> यह धर्मसन्यासयोग अपूर्वकरण अर्थात् ग्रन्थिभेद के समय श्रेणी चढ़ाते समय सिद्ध होता है और दूसरा योगसन्यास आयोज्य कर्म के बाद घटित होता है। इसके बाद आचार्य हरिभद्र ने आत्म-विकास के तरतम भावों से युक्त आठ प्रकार की योगदृष्टियों का वर्णन किया है।

इन आठ योगदृष्टियों के नाम इस प्रकार हैं — 1. मित्रा, 2. तारा, 3. बला, 4. दीप्रा, 5. स्थिरा, 6. कान्ता, 7. प्रभा और 8. परा। आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टियों के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है —“सदृष्टा पुरुष की दृष्टि बोध-ज्योति की विशदता के विकास की अपेक्षा से घास, कण्डे तथा काष्ठ के अग्निकण दीपक की प्रभा, रत्न, तारे, सूर्य और चन्द्र की आभा के सदृश क्रमशः मित्रा, तारा, बला, दीप्रा,

<sup>39</sup> कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः। विकलोधर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते॥  
शास्त्रयोगस्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः। श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा॥  
शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः। शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः॥ —योगदृष्टिसमुच्चय 3-5

<sup>40</sup> द्विधाऽयं धर्मसन्यास-योगसन्याससंज्ञितः ....॥ — योगदृष्टिसमुच्चय, 9

स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा—रूप में आठ प्रकार की हैं।<sup>41</sup> इन योगदृष्टियों की विस्तार से चर्चा करने के बाद ग्रन्थ के अन्त में योग के अधिकारी का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि साधक यम—नियम आदि योगांगों के अभ्यासी तथा खेद, उद्वेग आदि दोषों से रहित<sup>42</sup> समभाव, गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी, सिद्धयोगी ही योगाधिकार को प्राप्त करते हैं। आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रन्थ पर वृत्ति भी लिखी है, जो 1175 श्लोक—परिमाण है।

## 2. योगबिन्दु —

संस्कृत—भाषा में लिखा गया यह योगबिन्दु ग्रन्थ आचार्य हरिभद्रसूरि की दूसरी कृति है। यह 527 पद्य से युक्त तथा अनुष्टुप छन्द में निबद्ध है। आचार्य हरिभद्र ने योग को मोक्ष का हेतु बताते हुए कहा है—योग ही मोक्ष का कारण है और वह शुद्ध ज्ञान और अनुभव आश्रित है।<sup>43</sup> योग के स्वामी दो प्रकार के होते हैं—1. चरमावर्तवर्ती और 2. अचरमावर्तवर्ती। इसमें मोक्ष का अधिकारी तो चरमावर्तवर्ती ही है, क्योंकि वह उसी आवर्त मोक्ष प्राप्त करता है। संसार का अधिकारी भवाभिनन्दी कहलाता है। चारित्र—गुरु से युक्त साधक योग का अधिकारी माना जाता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ में योग का प्रभाव, अध्यात्म, लोक, प्रकृति, योग की भूमिका के रूप में पूर्वसेना, विषानुष्ठान, गरानुष्ठान, अनानुष्ठान, तद्धेतु—अनुष्ठान, अमृतानुष्ठान आदि असद् तथा सद्—अनुष्ठानों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में हरिभद्र ने सम्यक्त्व उपलब्धि, विरति, जप, षडावश्यक, सिद्धगति, निजस्वरूप की विवेचना, कार्यसिद्धि में समभाव, कालादि पाँच कारणों का बलाबल, महेश्वरवादी और पुरुषाद्वैतवादी के मतभेदों का खण्डन आदि का विस्तार से वर्णन किया है, साथ ही साथ 'जैनेत्तर—परम्परागत योगों का तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक विवेचन भी बहुत ही मार्मिक रूप से किया है। 'सद्योगचिन्तामणि' नामक वृत्ति

<sup>41</sup> तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा । रत्नतारार्कचन्द्राभा सददृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥ — वही, 15

प्रस्तुत श्लोकार्थ 'जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय' —सं. डॉ. छगनलाल शास्त्री, से उद्धृत प्र. 5

<sup>42</sup> यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः ॥ — वही, 16 पृ. 5

<sup>43</sup> मोक्षहेतुत्वमेवास्य किंतु यत्नेन धीधनै ..... ॥ — योगबिन्दु, श्लोक—4

3620 श्लोक—परिमाण वाली है जो योगबिन्दु ग्रन्थ के विषयों के अधिक स्पष्टीकरण के लिए अत्यन्त उपयोगी है।<sup>44</sup>

### 3. योगविंशिका —

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा विरचित मात्र बीस गाथाओं का यह अल्पकायी ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें योग को एक नई दिशा मिली है। यह प्राकृत—भाषीय ग्रन्थ है तथा इस ग्रन्थ के अन्तर्गत योग के अस्सी भेदों का वर्णन है।

इसमें मन—वचन—काय की प्रवृत्ति योगरूप है, इस परम्परागत परिभाषा के स्थान पर आचार्यश्री ने मोक्ष से जोड़ने में सहायक विशुद्ध धर्म—व्यापार को योग कहा है,<sup>45</sup> तत्पश्चात् स्थान (आसन), ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन —इन पाँच भेदों की चर्चा की है। यह उनकी अपनी मौलिक देन है। इससे पहले इनका किसी भी जैन ग्रन्थ में उल्लेख नहीं मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान और ऊर्ण को कर्मयोग तथा अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन को ज्ञानयोग कहा गया है।<sup>46</sup> आगे, इच्छासंज्ञक, प्रवृत्तिसंज्ञक, स्थिरता और सिद्धियोग<sup>47</sup> —इन चार योग अंगों का तथा चैत्यवंदन—सूत्र के पदों का वास्तविक ज्ञान कब, किसको, कैसे प्राप्त होता है, उसका विश्लेषण किया गया है।<sup>48</sup> तदनन्तर; प्रीति, भक्ति, आगम और असंग —इन चार अनुष्ठानों का विवेचन किया गया है।<sup>49</sup> प्रस्तुत कृति की अन्तिम दो गाथाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि ध्यान आलम्बन तथा अनालम्बन रूप से दो भेद वाला है। आलम्बन योग स्थूल ध्यानवाला तथा अनालम्बन—योग सूक्ष्मध्यान वाला है और अनालम्बनयोग की उपलब्धि के बिना मोक्ष संभव नहीं है।

<sup>44</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'पंचाशक—प्रकरण' पुस्तक की भूमिका से उद्धृत

<sup>45</sup> मोक्षेण जोगयाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो। परिसुद्धो वित्रेओ ठाणाइगओ विसेसेणं।। — योगविंशिका-1

<sup>46</sup> ठाणुत्तथालंबण—रहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो। दुगमित्थ कम्म योगो तहा तियं नाणजोगोउ।। — वही-2

<sup>47</sup> तज्जुत्तहापीईह संगया विपरिणाभिणीइच्छा। सव्वत्थुसमसारं तप्पालणमो पवतीउ।।  
तह चेव एयबाहग—चिन्तारहियं थिरत्तणं नेयं। सव्वं परत्थ साहग—रुवं पुण होइ सिद्धि ति।। —योगविंशिका, 5-6

<sup>48</sup> अरिहंतचेइयाणं करेमि ..... चिंतियव्वमिणं।। — वही, 10-13

<sup>49</sup> एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं। नेयं चउक्खि खलु एसो चरमो हवइ जोगो।। — वही, 18



#### 4. योगशतक —

‘योगशतक’ आचार्य हरिभद्रसूरिकृत योग-सम्बन्धी एक अन्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का गाथा परिमाण 101 है। यह प्राकृत भाषा में निबद्ध है। योग सम्बन्धी इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में सर्वप्रथम ग्रन्थकार ने चरमतीर्थपति भगवान् महावीर को नमन कर योग के स्वरूप को निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से प्रतिपादित किया।<sup>50</sup>

तत्पश्चात्, गाथा क्रमांक-8 से 32 तक योग के अधिकारी, अपुनर्बन्धक आदि की पहचान, सामायिक, शुद्धि-अशुद्धि और अधिकारी भेद (तीन श्रेणी तथा गृही-साधक) का वर्णन किया गया है।<sup>51</sup> तदनन्तर, आचार्यश्री ने साधु-सामाचारी, उपदेश, अरति-निवारण, नूतन-अभ्यासी की मुख्य-चर्या, कर्मप्रसंग, दोष-चिन्तन, सच्चिन्तन, आहार, यौगिक-लब्धियाँ, मनोभाव का वैशिष्ट्य, विकासकाल-ज्ञान तथा अनशन-शुद्धि में आत्मपराक्रम आदि विषयों का उल्लेख किया है।<sup>52</sup>

चरमगाथा के अन्तिम दो चरणों में ‘भवविरहो’ शब्द द्वारा दो बातों की सूचना मिलती है। एक तो भव, अर्थात् संसार-चक्र से विरह और दूसरे ग्रन्थकार के अभिधान की सूचना।<sup>53</sup> ज्ञातव्य है कि समदर्शीयाकिनीसूनो हरिभद्र अपने ग्रन्थ की पूर्णता पर अन्तिम गाथा में ‘भवविरह’ शब्द का प्रयोग अवश्य करते थे। पं. सुखलालजी द्वारा लिखित ‘समदर्शी आचार्य हरिभद्र’ पुस्तक में योगशतक के परिचय में लिखा गया है कि —“योगशतक में जैनों का धार्मिक-जीवन ही केन्द्रित-विषय रहा है। जिस प्रकार वैदिक-परम्परा में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास — ये चार आश्रम हैं, उसी प्रकार जैन-जीवनशैली में भी आध्यात्मिक विकास की चार क्रमिक भूमिकाएँ रही हैं। जब किसी व्यक्ति की दृष्टि मोक्षाभिमुख होती है, तब वह मोक्ष-मार्ग में प्रवेश का अधिकारी होगा — यह जैनत्व की प्रथम

<sup>50</sup> निच्छओ इह जोगो ..... विहिपडिसेहेसु जह सती।। — योगशतक, 2 से 5

<sup>51</sup> अहिगारिणो उपाएण .....।।योगशतक, 8 से 32

<sup>52</sup> योगशतक, गाथा 33 से 100 तक

<sup>53</sup> एसो च्चिय भवविरहो, सिद्धीए सया अविरहोय।। — वही, 101

भूमिका है। इसका पारिभाषिक नाम अपुनर्बन्धक है। मोक्ष के प्रति सहज-रुचि, उसकी यथाशक्ति समझ — यह सम्यग्दृष्टि नाम की दूसरी भूमिका है।

जब तक रुचि-समझ आंशिक रूप से जीवन में उतरती है तब देशविरति नाम की तीसरी भूमिका है और इससे आगे जब सम्पूर्ण रूप से त्याग की कला विकसित होने लगती है, तब सर्वविरति नाम की चौथी भूमिका आती है।<sup>54</sup> जिसने अभी धर्म की सच्ची भूमिका का स्पर्श नहीं किया, उनके लिए अलग विधान भी इस ग्रन्थ में बताए गए हैं।

‘धर्मबिन्दु’, ‘शास्त्रवार्तासमुच्चय’ आदि ग्रन्थों में भी योग का वर्णन मिलता है। ‘ध्यानशतकवृत्ति’ में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल-ध्यान का गम्भीर एवं विस्तारपूर्वक विवेचन है। ध्यान का यह गम्भीर विवेचन ही मेरे शोधकार्य का विषय बना है।

### ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का युग (ईसा की 11 वीं एवं 12 वीं शती)

ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का काल ईसा की ग्यारहवीं शती से बारहवीं शती तक माना जाता है।

ध्यान और योग के सन्दर्भ में आचार्य शुभचन्द्र और कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य का नाम योग के महान लेखकों के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है।

शुभचन्द्राचार्य का ज्ञानार्णव और हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र ध्यान एवं योग विषय की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं, जो जैनवाङ्मय की अमूल्य-निधि मानी जा सकती हैं।

<sup>54</sup> समदर्शी हरिभद्रसूरि ॥ सं. जिनविजयमुनि ॥ पुस्तक से संदर्भ उद्धृत है। पृ. 73

## शुभचन्द्राचार्य का जीवन—परिचय :-

आचार्य शुभचन्द्र जन्म से ही महान प्रतिभासम्पन्न कवि थे। जैन इतिहास में शुभचन्द्र के नाम वाले बहुत से विद्वान—आचार्य हुए हैं, लेकिन यहाँ हम उन शुभचन्द्र की चर्चा कर रहे हैं, जो ज्ञानार्णव के रूप में ध्यान एवं योग के क्षेत्र में विशिष्ट ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

आचार्यश्री का जन्म कब और कहाँ हुआ ? उन्होंने संयम कहाँ, कैसे लिया? संयम—जीवन का अधिकांश समय कहाँ व्यतीत किया और कौन—कौनसे क्षेत्रों में विचरण रहा ? साथ ही उनकी गुरु—परम्परा क्या थी ? उनके माता—पिता कौन थे? इन सब तथ्यों के संदर्भ में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। ज्ञानार्णव जैसे विशालकाय ग्रन्थ में भी उन्होंने अपने बारे में कहीं कोई संकेत नहीं दिया।

आचार्य शुभचन्द्र के जीवन—वृत्त के सन्दर्भ में अनेक विद्वानों की भिन्न—भिन्न विचार—धाराएँ हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये धारानगरी के राजा भोज के काल में हुए होंगे, क्योंकि महान् कविराज भर्तृहरि के साथ उनका कोई न कोई संबंध जरूर रहा होगा, क्योंकि भर्तृहरि द्वारा विरचित 'वैराग्यशतक' तथा शुभचन्द्र द्वारा विरचित ज्ञानार्णव के पद्यों में पर्याप्त समानता दिखाई देती है।<sup>55</sup>

कुछ विद्वानों का मत है कि विश्वभूषण—भट्टारक द्वारा रचित "भक्तामर चरित उत्थानिका" के अन्तर्गत आचार्य शुभचन्द्र के जीवन के संबंध में कुछ संकेत जरूर मिलते हैं; परन्तु वे भी प्रामाणिक नहीं हैं।<sup>56</sup>

कुछ विद्वानों का यह मत है कि आचार्य शुभचन्द्र के जीवन—प्रसंगों का उल्लेख शिलालेखों में, ग्रन्थों की प्रशस्तियों में भी अनुपलब्ध है। यहाँ तक कि हमने पूर्व में सूचित किया कि ज्ञानार्णव जैसे महनीय कृति में भी उनके जीवन—परिचय का अभाव है।

<sup>55</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकासक्रम' -डॉ. उदितप्रभा, पुस्तक से खंड-6, पृ.3

<sup>56</sup> 'जैनधर्म के प्रभावक आचार्य' पुस्तक से उद्धृत, पृ. 676

**ज्ञानार्णव** (पीठिका) के प्रथम सर्ग के सोलहवें श्लोक में शुभचन्द्राचार्य, जिनसेन आचार्य को सम्मानपूर्वक स्मरण करते हुए कहते हैं कि —सिद्धान्त, न्याय और व्याकरण के पारंगत विद्वान भी जिनसेनाचार्य के सान्निध्य को पाना अपना अहोभाग्य समझते तथा उनके वचनामृत को आदरपूर्वक स्वीकार करते हैं।<sup>57</sup> इसका अभिप्राय यह है कि शुभचन्द्र जिनसेन के परवर्ती थे। अतः इनका काल ईसा की 11 वीं 12 वीं शताब्दी ही प्रामाणिक लगता है।

### ज्ञानार्णव में ध्यान—योग —

यथा नाम तथा गुण के अनुरूप प्रस्तुत ग्रन्थ में, पाठकों को अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त हो —इस अपेक्षा से ज्ञानार्णव ज्ञान का समुद्र ही प्रतीत होता है।<sup>58</sup> ग्रन्थकार स्वयं ने इसे 'ध्यानशास्त्र' के नाम से भी सम्बोधित किया।<sup>59</sup> यह नाम भी संगत लगता है, क्योंकि इसका मुख्य विषय ध्यान ही है और इसमें ध्यान के अन्तर्गत ही विभिन्न विषयों का वर्णन मिलता है। इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में पुष्पिका के रूप में 'योगप्रदीपाधिकार' नाम मिलता है। योग और ध्यान समान अर्थ वाले शब्द हैं। ज्ञानार्णव ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्पष्ट रूप से कहा गया है —प्रस्तुत ग्रन्थ ध्यानयोग के संदर्भ में दीपक दिखलाने का काम करता है, अतः इसे 'योगप्रदीपाधिकार' कहने से भी उसकी सार्थकता प्रगट होती है।<sup>60</sup> ध्यान की विशिष्टता से युक्त यह ज्ञानार्णव 39 सर्गों में बंटा हुआ है। यह ग्रन्थ अनुष्टुप, मालिनी, स्त्रग्धरा, शिखरिणी, मंदाक्रान्ता, इन्द्रब्रजा, शार्दूलविक्रीडित आदि विभिन्न छन्दों में प्रणीत है। प्रस्तुत ग्रन्थ सरसता, प्रौढ़ता, गंभीरता और अद्भुत

<sup>57</sup> जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः। योगिभिर्वाः समासाद्य स्थलितं नात्मनिश्चये।।

— ज्ञानार्णव, 1/16

<sup>58</sup> ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सत्तामानन्दमन्दिरम्।। ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं धिते ....।।

— ज्ञानार्णव, श्लोक 1 और 2230

<sup>59</sup> इति जिनपति सूत्रात्सारमुद्धृत्य किञ्चित्, स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीत। — वही 2229

<sup>60</sup> प्रस्तुत सन्दर्भ "ज्ञानार्णव" प्र. जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 17

समन्वयशीलता का द्योतक है। इसमें पद्यों के साथ-साथ कहीं-कहीं गद्यात्मक शैली का भी सम्मिश्रण दिखाई देता है।

ग्रन्थ की विषय-वस्तु का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

सर्वप्रथम पीठिका में मंगलाचरण के रूप में आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ और वर्धमान परमात्मा का स्मरण एवं स्तुति करके उसके पश्चात् ध्यान-सिद्धि हेतु इन्द्रभूति को नमन किया गया है। आगे समन्तभद्र, देवनन्दी, जिनसेन, अकलंकभट्ट, आदि के कीर्तन एवं अभिवादन के साथ ही ग्रन्थ-सृजन हेतु को प्रकट किया गया है। ग्रन्थ की भूमिका में ग्रन्थ-सृजन के गुणावगुणों पर विचार-विमर्श किया गया है।<sup>61</sup>

दूसरे सर्ग का विषय 'द्वादश-भावना' है। यह सर्ग 193 श्लोक-परिमाण वाला है। इस सर्ग के अन्तर्गत द्वादश भावनाओं का महत्त्व, आस्रव, संवर, निर्जरा का स्वरूप, उनके भेद, प्रभेद और उनके फल का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात्, धर्म की श्रेष्ठता, लोक तथा रत्नत्रय का वर्णन करके अन्त में मोक्ष की दुर्लभता और द्वादश भावनाओं की व्याख्या की गई है।<sup>62</sup>

प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे सर्ग की विषय-वस्तु 'ध्यानलक्षण' है। यह सर्ग मात्र छत्तीस श्लोक-परिमाण है। इसमें मनुष्य पर्याय की दुर्लभता तथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों का वर्णन है, साथ ही मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय, ध्यान की सामग्री, ध्यान के तीन प्रकार तथा उनके फल का वर्णन किया गया है।<sup>63</sup> चौथे सर्ग का नाम 'ध्यानगुणदोष' है। इस सर्ग का साठ श्लोक-परिमाण है। इसमें ध्यान के भेद एवं ध्याता के गुणों का उल्लेख है, साथ ही यह बताया गया है कि साधक घर में रहकर ध्यानसिद्धि नहीं कर सकता। मिथ्यात्व से युक्त साधक भी ध्यानसिद्धि नहीं कर सकता है। उसके बाद,

<sup>61</sup> ज्ञानलक्ष्मीघनाश्लेष ..... इह सुकृती मुहयति जनः ॥ - ज्ञानार्णव, 1सर्ग, श्लोक 1 और 49, पृ. 4-22

<sup>62</sup> संगैः किं न विषाद्यते वपुरिदं ..... योगीश्वराणां मुदे ॥ - वही, 2सर्ग, श्लोक 50-246, पृ. 23-85

<sup>63</sup> अस्मिन्ननादिसंसारे दुरन्तेसारवर्जिते ..... शिवपदमयानन्दनिलयम् । - वही, 3सर्ग, श्लोक 247-283 पृ. 86-96

मिथ्यादर्शन के भेद ध्याता के शंकादि दोष बतलाए हैं और कहा है कि मिथ्यादृष्टि साधक न तो ध्यान, न ही स्व-पर विवेक और न कोई तप कर सकता है।<sup>64</sup>

पाँचवां सर्ग 'योगिप्रशंसा' नाम वाला है। जिसमें योगियों के स्वरूप जैसे — मन की स्थिरता, तप, निःसंगता, पवित्र-आचरण आदि गुणों का निरूपण किया गया है। साथ ही ऐसे योगियों की प्रशंसा भी की गई है। इस सर्ग में उनतीस श्लोक हैं।<sup>65</sup>

'दर्शनविशुद्धि' नामक छठवां सर्ग अद्वावन श्लोक-परिमाण वाला है। इसके अन्तर्गत कहा है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही मोक्ष संभव है। तदनन्तर, सम्यग्दर्शन का स्वरूप, उसके भेद एवं दोषों की चर्चा की गई है, साथ ही इसमें जीव, अजीवादि सात तत्त्वों में से जीव, अजीव और बन्ध का वर्णन है।<sup>66</sup>

सातवें सर्ग में सम्यग्ज्ञान का लक्षण, भेद, केवलज्ञान का स्वरूप तथा उसकी महत्ता का वर्णन है।<sup>67</sup> 'अहिंसाव्रत' नामक आठवां सर्ग है, इसमें सम्यक्चारित्र का स्वरूप एवं उसके भेद, अहिंसादि व्रतों का स्वरूप, उनका फल, हिंसा के भेद, अहिंसा की स्तवना, हिंसा के विकराल स्वरूप तथा अहिंसा के फल की व्याख्या की गई है। इस सर्ग के सत्तावन श्लोक हैं।<sup>68</sup>

नौवें सर्ग से बाईसवें सर्ग तक क्रमशः सत्यव्रत, चौर्यपरिहार, कामप्रकोप, स्त्रीस्वरूप, मैथुनसंसर्ग, वृद्धसेवा, परिग्रहदोष, आशापिशाचिनी, अक्षयविषयनिरोध, त्रितत्त्व, मनो- व्यापारप्रतिपादन, रागादिनिवारण और साम्यवैभव आदि विषयों का वर्णन किया गया है।

<sup>64</sup> यच्चतुर्धा मतं तज्ज्ञैः .....न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः ।। - वही, 4 सर्ग, श्लोक 284-353, पृ. 97-122

<sup>65</sup> अर्थ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः .....पुरुषाः । धन्यास्तु ते दुर्लभाः ।। - वही, 5 सर्ग, श्लोक 354-382, पृ. 123-133

<sup>66</sup> सुप्रयुक्तैः स्वयं साक्षात् .....दर्शनाख्यं सुधाम्बुं ।। - वही, 6 सर्ग, श्लोक 383-448, पृ. 133-158

<sup>67</sup> त्रिकाल गोचरानन्तगुण .....नोच्छिन्नन्त्यन्धकारम ।। - वही, 7 सर्ग, श्लोक 449-471, पृ. 158-168

<sup>68</sup> यद्विशुद्धेः परधाम .....विद्वयहिंसा प्रधानम् ।। - वही, 8 सर्ग, श्लोक 472-530, पृ. 168-187

तेईसवें सर्ग का नाम 'आर्त्तध्यान' है। इस सर्ग में ध्यानसमता का हेतु, शुभ- ध्यान का फल, अशुभ-ध्यान के परिणाम, ध्यान के भेद, आर्त्तध्यान के भेद तथा उसके स्वरूप और परिणाम का उल्लेख किया गया है। यह सर्ग इकतालीस श्लोक-परिमाण वाला है।<sup>69</sup>

चौबीसवें सर्ग में रौद्रध्यान, उसके स्वरूप, भेद और उसके परिणाम का वर्णन किया गया है। पच्चीसवें सर्ग से लेकर अड़तीसवें सर्ग तक धर्मध्यान के सन्दर्भ में उल्लेख किया गया है। अब आगे कौनसे-कौनसे सर्ग का क्या-क्या नाम है, कितने श्लोक -परिमाण हैं ? उनकी विषय-वस्तु क्या है ? आदि की सूची ज्ञानार्णव ग्रन्थ के आधार पर इस प्रकार है -

सर्ग संख्या	सर्ग का नाम	सर्ग श्लोक परिमाण	विषय-वस्तु	सम्पूर्ण श्लोकांक	पृ.संख्या
25	ध्यानविरुद्धस्थान	35	धर्मध्यान की प्रशंसा, ध्याता के गुण, प्रभावना, फल, ध्यान हेतु स्थान आदि	1267-1301	437-445
26	प्राणायाम	141 1	ध्यान हेतु स्थान, आसन, दिशा, योग्यता, प्राणायाम के स्वरूप, फलादि	1302-1455	447-486
27	प्रत्याहार	14	प्रत्याहार का स्वरूप, प्राणायाम प्रत्याहार से कनिष्ठ	1456-1469	488-492
28	सवीर्यध्यान	38	ध्यानाभिमुख मुनि के विचार, ध्यान, आत्मा ध्येय का स्वरूप फलादि	1470-1512	493-505
29	शुद्धोपयोगविचार	104	आत्मा के 3 प्रकार, परमात्मा का स्वरूप, फल, बंधमोक्ष का कारण, अज्ञानी, आत्मज्ञानी की तुलना	1513-1616	506-535
30	आज्ञाविचय	22	योगी के चित्त की चंचलता का कारण, धर्मध्यान की आवश्यकता, धर्मध्यान के भेद, आज्ञाविचय का स्वरूप, श्रुतज्ञान का स्वरूप	1617-1639	536-542
31	अपायविचय	17	अपायविचय ध्यान का स्वरूप	1640-1657	543-548
32	विपाकविचय	30	विपाकविचय ध्यान का स्वरूप	1658-1688	549-558
33	संस्थानविचय	179	लोक, नरक, मध्यलोक का स्वरूप, नारकी के मनोगत विचार, नरक की भयानकता, देवलोकसुख और संस्थानविचय-ध्यान	1689-1876	559-604
34	पिण्डस्थध्यान	33	ध्यान के 4 भेद, धारणा, पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, तत्त्व रूपवती और ध्यान का फल	1877-1909	605-613
35	पदस्थध्यान	117	पदस्थध्यान का लक्षण, फल, मंत्रराज का स्वरूप, फल, विविध विद्याओं के फल, ध्यानफलादि	1910-2079	614-645
36	रूपस्थध्यान	46	सर्वज्ञ का स्वरूप, उनके ध्यान का फल	2080-2111	646-657
37	रुपातीत	31	रागी के ध्यान का प्रकार, सत् असत् ध्यान के परिणाम, रुपातीत ध्यान का स्वरूप एवं फल	2112-2139	658-666
38	धर्मध्यानफल	25	मनोरोग का उपदेश, शुक्लध्यान और उसके अधिकारी, धर्मध्यान का फल	2140-2230	668-675

<sup>69</sup> साम्यश्रीर्नातिनिःशकं.....श्रुतधरैर्व्यावर्णितानिस्फुटम् ॥ - वही, 23 सर्ग, श्लोक 1180-1222, पृ. 409-422

39 वें सर्ग का नाम 'शुक्लध्यानफल' है। यह बयासी श्लोक—परिमाण है। इसकी विषय —वस्तु शुक्लध्यान से संबंधित है। शुक्लध्यान के स्वरूप का और शुक्लध्यानी का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है —“जो चित्त क्रिया से रहित, इन्द्रियों से अतीत और ध्यान—धारणा से विहीन होकर अन्तर्मुख हो जाता है, समस्त संकल्प—विकल्पों से रहित होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है।”<sup>70</sup>

आगे शुक्लध्यान का अधिकारी कौन हो सकता है, शुक्लध्यान के लक्षण, भेद और फल का वर्णन किया गया है। तदनन्तर समुदघात—प्रक्रिया, शुक्लध्यान का प्रभाव, आत्मिक—सुख की विशेषता के उल्लेख के साथ ही ग्रन्थ—प्रशस्ति में ग्रन्थकार कहते हैं —“इस प्रकार से मैंने कुछ उत्तम वर्णों के द्वारा संक्षेप में ध्यान के फल को बताया है। यदि कोई पूर्ण रूप से इसके कथन में समर्थ है, तो वे वीर प्रभु ही हैं। मैंने जिनागम से कुछ साररूप में उद्धृत करके अपने बुद्धिवैभव के अनुसार इस ध्यानशास्त्र की रचना की है। जो चित्त में, ज्ञानार्णव के माहात्म्य का वेदन करता है, वह दुस्तर भवार्णव से पार हो जाता है।”<sup>71</sup>

### हेमचन्द्राचार्य का जीवन—परिचय —

माता—पिता द्वारा प्रदत्त हेमचन्द्राचार्य का नाम चंगदेव था। इनका जन्मस्थल गुजरात के अन्तर्गत धन्धुका नामक नगर था।

विक्रम संवत् 1145<sup>72</sup> की कार्तिक मास की पूनम की मध्यरात्रि में इनका जन्म हुआ था। इनकी माता का नाम पाहिनी तथा पिता का नाम चाचिग था। यह मोढ़ वंशी वणिक थे। इनके मामा का नाम नेमिनाग था।<sup>73</sup> यह कहा जाता है कि

<sup>70</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'ज्ञानार्णव' पुस्तक की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 34

<sup>71</sup> क) इति जिनपति सूत्रात्सारमुद् धृत्य किंचित् स्वमतिविभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्। विबुधमुनिमनीषाम्मोधि चन्द्रायमणं चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्रचन्द्रान॥ — ज्ञानार्णव...॥ वही. सर्ग 39, श्लोक 181, पृ. 700

ख) वही, सर्ग:39, 181/1, पृ. 700

<sup>72</sup> वर—वेदेश्वर (3145) वर्षे कार्तिके पूर्णिमानिशि। 8501 — प्रभावक चरित पृ. 212

<sup>73</sup> एकदा नेमिनागमामा श्रावकः समुत्थाय श्री देवचन्द्रसुरीन् जगौ भगवन्। अयं मोठजातीयो मदभगिनी पाहिणिकुक्षि भूः ढक्करचाचिगनंदनश्चांगदेव नामाः॥ — प्रबन्धकोश, पृ. 47, पंक्ति 5-6



हेमचन्द्राचार्य के माता—पिता भिन्न—भिन्न धर्मावलम्बी थे। माता जैनधर्मावलम्बी थी, तथा पिता शैवधर्मावलम्बी थे। डॉ. सागरमल जैन ने अपने अभिनन्दन ग्रन्थ के एक आलेख आचार्य :हेमचन्द्र : एक युगपुरुष' में लिखा है —आज भी गुजरात की इस मोढवणिक जाति में वैष्णव और जैन—दोनों धर्मों के अनुयायी पाए जाते हैं, अतः हेमचन्द्र के पिता चाचिग के शैवधर्मावलम्बी और माता पाहिनी के जैनधर्मावलम्बी होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में ऐसे अनेक परिवार रहे हैं, जिनके सदस्य भिन्न—भिन्न धर्मों के अनुयायी होते थे। सम्भवतः पिता के शैवधर्मावलम्बी और माता के जैनधर्मावलम्बी होने के कारण ही हेमचन्द्राचार्य के जीवन में धार्मिक—समन्वयशीलता के बीज अधिक विकसित हो सके।<sup>74</sup> एक दिन देवचन्द्राचार्य की नजर उस तेजस्वी बालक चंगदेव (हेमचन्द्र) पर पड़ी। उन्होंने अपने ज्ञानबल के द्वारा बालक में छिपी महान् प्रतिभा को देखा और बाल्यावस्था में दीक्षित करके आगम—साहित्य आदि का अध्ययन करवाया। हेमचन्द्राचार्य की गुरु—परम्परा को लेकर काफी मतभेद है।

'प्रभावक—चरित्र' नामक ग्रन्थ के आधार पर चन्द्रगच्छ के आचार्य प्रद्युम्नसूरि के शिष्य देवचन्द्रसूरि और देवचन्द्रसूरि के शिष्य हेमचन्द्रसूरि थे।<sup>75</sup>

'प्रबन्धकोश' में यह प्रमाण मिलता है कि हेमचन्द्राचार्य पूर्णतल्लगच्छीय थे।

इनकी गुरु—परम्परा इस प्रकार है —

पूर्णतल्लगच्छीय श्री दत्तसूरि

↓  
यशोभद्र

↓  
प्रद्युम्नसूरि

↓  
गुणसेनसूरि

↓  
देवचन्द्रसूरि तथा उनके शिष्य हेमचन्द्रसूरि थे।<sup>76</sup>

<sup>74</sup> प्रस्तुत वाक्यांश 'डॉ.सागरमल जैन अभिनन्दन ग्रंथ' से उद्धृत खंड-6 (जैनविद्या के आयाम) पृ. 688

<sup>75</sup> चांद्रगच्छसरः पद्य तत्रास्ते मण्डितौ गुणैः। प्रद्युम्नसूरिशिष्यः श्री देवचंदमुनीश्वरः। - प्रभावकचरित्र पृ.183

‘कुमारपालप्रतिबोध’ में भी इस बात का समर्थन किया गया है कि हेमचन्द्राचार्य पूर्णतल्लगच्छ के थे।<sup>76</sup>

‘त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित’ के अन्तर्गत हेमचन्द्र को कोटिक गण की वज्जीयशाखा का आचार्य माना गया है, किन्तु इससे गुरु-परम्परा में कोई अन्तर नहीं आता है।<sup>78</sup> हेमचन्द्राचार्य के प्रचण्ड वैदुष्य की झलक उनके द्वारा विरचित साहित्य काव्य, छन्द, कोश, कथा, योग आदि के अनेक ग्रन्थों में देखने को मिलती है।

‘प्रभावक-चरित’ ग्रन्थ के अन्तर्गत हेमचन्द्राचार्य के लगभग सभी मुख्य-मुख्य ग्रन्थों के नाम उल्लेखित हैं।

विलक्षण प्रतिभा के धनी हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

### 1. सिद्धहेमशब्दानुशासन -

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र का यह ग्रन्थ व्याकरण पर आधारित है। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह के अनुरोध से यह ग्रन्थ रचा गया।

प्रस्तुत व्याकरण-शास्त्र आठ अध्याय से युक्त है। प्रथम सात अध्याय में संस्कृत तथा आठवें अध्याय में प्राकृत-भाषा का व्याकरण है। इस ग्रन्थ के

<sup>76</sup> पूर्णतल्लगच्छे श्रीदत्तसूरिः.....श्रीयशोभदसूरिः इति नाम। तदीयपट्टे प्रद्युम्नसूरिर्ग्रन्थकारः। तत्पदे श्री गुणसेनसूरिः.....गुणसेनपट्टे श्रीदेवचंदसूरयः ..... -प्रबन्धकोश पृ. 46-47

<sup>77</sup> असि भमरहिओ पुत्रतल्ल गुरु-गच्छ-दुम-कुसुम-गुच्छे। समय मयरद-सारी सिरिदत्त गुरु सुरहि सालो।। - कुमारपालप्रतिबोध, प्रस्तावना पृ. 115

<sup>78</sup> त्रिषष्टि शलाका पुरुष प्रशस्ति - 5, 8-15  
व्याकरणं पंचाग प्रमाणशास्त्रं प्रमाण मीमांसा। छंदोऽलंकृति चूडामणी च शास्त्रे विभुर्व्यधित।। 834।।  
एकार्थानेकार्था देश्या निर्घण्टु इति च चत्वारः। विहिताश्च नामकोशाः शुचि कवितानद्युपाध्यायाः।। 835।।  
त्र्युत्तरषष्टिशलाकानरेत्तित्वं गृहिव्रतविचारे। अध्यात्मयोगशास्त्रं विदधे जगदुपकृतिविधित्सुः।। 836।।  
लक्षण-साहित्यगुणं विदधे च द्वयाश्रयं महाकाव्यम्। चक्रे विंशतिमुच्चैः सवीतरागस्तवानां च।। 837।।  
इति तद्विहितग्रन्थसंख्यैव नहि विद्यते। नामापि न विदन्त्येषां मादृशा मन्दमेधसः।। 838।। -प्रभावकचरित पृ.211

संस्कृत- व्याकरण में 4791 सूत्र हैं। प्राकृत भाषा के व्याकरण के सूत्रों की संख्या 1119 है। सूत्रों का निर्माण सरल भाषा में किया गया है।

यह ग्रन्थ शाकटायन-व्याकरण की बहुलता वाला है। इसकी मुख्य विषय-वस्तु पांच प्रकार की है, यथा - उणादिपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन, वृत्ति। संस्कृत-प्राकृत-भाषा के सम्मिश्रण वाला यह व्याकरण अत्यन्त उपयोगी, सरस, सुबोध है।

## 2. कोश -

अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टु और देशीनाममाला - इन चारों कोश के रचयिता हेमचन्द्राचार्य हैं। इनमें से अभिधान-चिन्तामणि कोश विशालकाय है। यह छह काण्डों में विभक्त है। इसका श्लोक-परिमाण 1541 है। यह रचना 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की परवर्ती है। निम्नांकित श्लोक इसका प्रमाण है -

“प्रणिपत्यार्हतः सिद्धहेमशब्दानुशासनम्। रुदयौगिकमिश्राणां नाम्नां माला तनोम्यहम्॥”<sup>79</sup>

अभिधान चिन्तामणि कोश में एक वस्तु के अनेक पर्यायवाची संस्कृतनाम, अनेकार्थसंग्रह का मुख्य विषय एक शब्द के अनेक अर्थ, निघण्टुकोश के अन्तर्गत वनस्पतिशास्त्र के संदर्भ में अनेक नाम और देशीनाममालाकोश के अन्दर संस्कृत-प्राकृत व्याकरण से असिद्ध देशी शब्दों का संग्रह है। इन चारों कोशों में हेमचन्द्राचार्य ने शब्द संसार का अपार वैभव भर दिया है।

## 3. काव्यानुशासन -

यह ग्रन्थ काव्य में रहे गुण-दोषों की नूतन एवं रहस्यमय व्याख्याओं से युक्त है। इसमें ग्रन्थकार ने काव्य-परियोजन की परिभाषा में एक नई पद्धति का प्रयोग किया। इस ग्रन्थ के आधार पर ग्रन्थकार स्वयं ने 'अलंकार-चूड़ामणि' नामक एक लघु टीका की रचना की।

<sup>79</sup> अभिधान-चिन्तामणि, श्लोक-1

#### 4. छन्दानुशासन —

यह 'छन्दशास्त्र' संबंधी मौलिक कृति है, इसमें विविध छन्दों का उल्लेख है। उन छन्दों के अनेक उद्धरण हेमचन्द्राचार्य की स्वयं की कृतियों में देखने को मिलते हैं।

#### 5. द्वात्रिंशिकाएँ —

भारत के विभिन्न दर्शनों की अवधारणा तथा जैन-दर्शन के साथ तुलना संबंधी हेमचन्द्राचार्य की अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका नामक दो कृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों द्वात्रिंशिकाओं में शब्दों की सजावट बहुत सुन्दर है।

#### 6. द्वयाश्रय काव्य —

इस काव्य का अपरनाम 'कुमारपाल-चरित्र' भी है। इस कृति में संस्कृत और प्राकृत—दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ। प्रस्तुत काव्य के 28 सर्गों में से 20 सर्ग संस्कृतभाषीय तथा शेष 8 सर्ग प्राकृतभाषीय हैं। कुमारपालचरित्र का वर्णन सातवें सर्ग में है और इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसमें संस्कृत प्राकृत व्याकरण के नियमों को उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है।

#### 7. प्रमाणमीमांसा —

पांच अध्यायों वाले ग्रन्थ की विषय-वस्तु में प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति, प्रमेता आदि का सविस्तार विवेचन मिलता है। यह पूरा ग्रन्थ अनुपलब्ध है, मात्र अनुमान प्रमाण तक का विवेचन है।

#### 8. परिशिष्ट पर्व —

'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र' के समान ही यह ग्रन्थ भी ऐतिहासिक है। इसमें जैनधर्म के प्रभावक आचार्यों की जीवन-झाँकियों का आख्यान है। इस ग्रन्थ पर डॉ.हर्मन जेकोबी की प्रस्तावना {Parisista Parva Introduction} विशेष पठनीय एवं मननीय है।

## 9. योगशास्त्र –

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित प्रस्तुतशास्त्र का मुख्य विषय योग है। 12 प्रकाश एवं 1012 श्लोक-परिमाण वाले इस ग्रन्थ पर 12750 श्लोक-परिमाण व्याख्या भी है। इस ग्रन्थ में अनुष्टुप छन्द का प्रयोग हुआ है। प्रथम प्रकाश के श्लोक क्रमांक-1 से 56 तक के श्लोकों की विषय-वस्तु में मुख्य मंगलाचरण-योग का माहात्म्य, फल, सनत्कुमार चक्रवर्ती की विविध प्रकार की लब्धियों, दृढ़-प्रहारी, चिलातीपुत्र आदि पर योग-प्रभाव, योग का स्वरूप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र-रूप योग का स्वरूप, नौ तत्त्वों, पंच महाव्रतों, उनकी पच्चीस भावनाओं, समिति, गुप्ति तथा पैतीस मार्गानुसारी के गुणों आदि का उल्लेख किया गया है।<sup>80</sup>

द्वितीय प्रकाश में 115 श्लोकों के अन्तर्गत विविध विषयों का उल्लेख है, जैसे –सम्यक्त्व का स्वरूप, भेद, मिथ्यात्व के प्रकार, देव, संघ, गुरु, धर्म का स्वरूप, इसके विपरीत, कुदेवादि का स्वरूप, लक्षण, अहिंसा का माहात्म्य तथा सूभूम एवं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीवन-चित्रण, कालसौकरिक, दर्दुरांकदेव, दृढ़कालिकाचार्य, वसुराजा, मूलदेव, मण्डिक, रोहिणेय चोर, शील में सुदृढ़ सुदर्शन, धनलोभी सागरचक्री, तिलकसेठ तथा नन्दराजा, अभयकुमार आदि अनेक व्यक्तियों के चरित्र का चित्रण किया गया है, साथ ही पंच स्थूलव्रत –अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह तथा उसके विपरीत, हिंसादि के आधार पर उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है और इस प्रकाश के अन्त में संतोष की महिमा और तृष्णा के दुष्परिणामों को प्रकट किया है।<sup>81</sup>

तृतीय प्रकाश के भी 155 श्लोकों में श्रावक-जीवन से संबंधित गुणव्रतों, शिक्षाव्रतों, बारहव्रतों, तीन मनोरथों, श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं आदि का वर्णन

<sup>80</sup> नमो दुर्वाररागादि ..... गृहिधर्माय कल्पते ।। – योगशास्त्र, 1 प्रकाश, 1-56 श्लोक, पृ. 1-90

<sup>81</sup> सम्यक्त्वमूलानि ..... संतोषो यस्य भूषणम् ।। वही, प्रकाश 2, श्लोक 1-115, पृ. 91-146

किया गया है और अन्तिम श्लोक में पूर्व के तीनों प्रकाशों में कहे हुए विषयों का उपसंहार किया है।<sup>82</sup>

**चतुर्थ प्रकाश** के 136 श्लोक हैं। उसमें आत्मा के परमात्मा से योग के लिए आत्मस्वरूपरमण, कषायों और विषयों पर विजय, चित्तशुद्धि, इन्द्रिय-निग्रह, मनो- विजय, समत्व, ध्यान, बारह अनुप्रेक्षाओं, मैत्री आदि चार भावनाओं तथा आसनों का विवेचन किया गया है।<sup>83</sup>

**पांचवे प्रकाश** का श्लोक-परिमाण 273 है। इसमें निम्नांकित विषयों पर चर्चा की गई है —प्राणायाम का स्वरूप, प्रकार, भेद, लाभ, पंचवायु का वर्णन, चार धारणा, स्वर द्वारा ईडा आदि का ज्ञान, नाडी-परिवर्तन का ज्ञान, परकायप्रवेश विधि का फल आदि की चर्चा की गई है।<sup>84</sup>

योगशास्त्र का **छठवां प्रकाश** मात्र आठ श्लोक-परिमित है। इसमें प्राणायाम को आवश्यक नहीं माना गया है, साथ ही प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा के लक्षण तथा फल का विवेचन है।<sup>85</sup>

**सातवें प्रकाश** तथा **आठवें प्रकाश** में अधोलिखित भिन्न-भिन्न विषयों पर विवेचना की है —ध्यान का क्रम, पिंडस्थ आदि चार ध्येय, पार्थिवी आदि पाँच धारणाएँ तथा उनके लक्षण, पिण्डस्थ तथा पदस्थ-ध्यान के लक्षण, विधि, फल और अन्त में रागरहित पदों का ध्यान ही पदस्थ-ध्यान है।<sup>86</sup>

<sup>82</sup> दशस्वपि कृता दिक्षु .....नासादयति निर्वृत्तिम् ॥ - वही, प्र. 3 श्लोक 1-155, पृ. 147-430

<sup>83</sup> आत्मैवदर्शन-ज्ञान .....ध्याता ध्यानोद्यतो भवेत् ॥ - वही, प्र. 4, श्लोक 1-136, पृ. 431-514

<sup>84</sup> प्राणायामस्ततः कैश्चिद् .....संचरेत्सुधीः ॥ - योगशास्त्र, प्र.5, श्लो. 1-273, पृ. 515-560

<sup>85</sup> इह चायं परपुर .....ब्रह्मः प्रत्ययाः किल ॥ - वही, प्र.6, श्लो.1-8, पृ. 561, 562

<sup>86</sup> क) ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं .....स्तम्भिता इव दूरतः ॥ - वही, प्र.7, श्लो.1-28, पृ. 563-567

ख) यत्पदानि पवित्राणि .....प्रचित्तभवशतोत्थक्लेशनिर्नाश हेतोः ॥ - वही, प्र.8, श्लो. 1-81, पृ. 568-581

नवें प्रकाश के मात्र सोलह श्लोक हैं। इसमें रूपस्थ ध्यान का स्वरूप, विधि, फल और अशुभ-ध्यान के त्याग का वर्णन है।<sup>87</sup>

दसवें प्रकाश का विषय रूपातीत ध्यान तथा धर्मध्यान और उसका फल रहा है।<sup>88</sup> ग्यारहवां प्रकाश इकसठ श्लोक-परिमाण है। इसका मुख्य विषय शुक्लध्यान है। इस प्रकाश के प्रारंभ में ग्रन्थकार ने धर्मध्यान का उपसंहार करके शुक्लध्यान का स्वरूप, भेद, प्रकार, अधिकारी, घातीकर्मों के नाम, तीर्थकर के अतिशय, समुद्घात-प्रक्रिया और अन्त में सिद्धत्व के सन्दर्भ में व्याख्या की।<sup>89</sup>

अन्तिम प्रकाश में पचपन श्लोक तथा दो प्रशस्ति-श्लोक हैं। इसमें प्रारम्भ में चित्त के चार प्रकारों, आत्मा के तीन प्रकारों, ध्यानाभ्यास, गुरुसेवा और तीनों योगों की स्थिरता के लाभ का वर्णन है। तत्पश्चात्, मन स्थिर करने, जितेन्द्रिय बनने तथा प्रसन्नता के उपाय बतलाए गए हैं, अन्त में ग्रन्थकार द्वारा उपसंहार तथा अनुवादक के द्वारा प्रशस्ति का वर्णन है<sup>90</sup>। इस प्रकार, योग के माहात्म्य को तथा योग-साधना की निष्पत्ति को बताने वाला यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

हेमचन्द्र के साहित्य का यह संक्षिप्त परिचय 'जैनधर्म के प्रभावक आचार्य; तथा 'योगशास्त्र'—सं. पद्मविजयश्री नामक पुस्तक के आधार पर किया है।

दोनों ग्रन्थों में ध्यान-योग-विषयक विषय-वस्तु का प्रचुर रूप से प्रयोग हुआ है। अनेक श्लोकों में समानता तथा असमानता होने पर भी अभिप्राय की दृष्टि से ज्यादा मतभेद नहीं है।

'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ की प्रस्तावना में बालचन्द्र शास्त्री ने लिखा है —"आचार्य हेमचन्द्रविरचित योगशास्त्र में भी ज्ञानार्णव के समान अनेक विषयों की चर्चा की गई है तथा उसका भी प्रमुख वर्णनीय विषय योग ही रहा है। इसी से उसका

<sup>87</sup> मोक्ष—श्रीसम्मूखीनस्य.....स्वार्थभ्रंशस्तनिश्चितः ॥ —वही, प्र.9, श्लो. 1-16, पृ. 582-584

<sup>88</sup> अमूर्तस्य चिदानन्द.....प्रयान्ति पदम व्यथम् ॥ — वही, प्र.10, श्लो.1-24, पृ. 585-591

<sup>89</sup> स्वर्गापवर्गहेतु..... मोदते मुक्तः ॥ वही, पृ. 11, श्लोक 1-61

<sup>90</sup> श्रुतसिन्धो.....गिरां श्रीहेमचन्द्रेण सा..... ॥ योगशास्त्र, प्र. 12, श्लो. 1-55

‘योगशास्त्र’—यह नाम भी सार्थक है। इन दोनों ग्रन्थों में इतनी अधिक समानता दृष्टिगोचर होती है कि जिसे देखते हुए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि एक ग्रन्थ को सामने रखकर दूसरे ग्रन्थ की रचना की गई है। दोनों की यह समानता न केवल विषय—विवेचन की दृष्टि से ही उपलब्ध होती है, बल्कि अनेक श्लोक भी ऐसे हैं, जो दोनों में अविकल रूप से पाए जाते हैं। कुछ श्लोकों में यदि पाठ—परिवर्तन हुआ है, तो कुछ में उन्हीं शब्दों का स्थान—परिवर्तन मात्र हुआ है।<sup>91</sup> आगे, हम ध्यान के सन्दर्भ में तन्त्र—युग का विवेचन करेंगे। किन्तु इसके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि इन दोनों ग्रन्थों पर, विशेष रूप से इनके पिण्डस्थ आदि चार ध्यानों, पार्थिवी आदि पांच धारणाओं, प्राणायाम आदि पर हठयोग और तन्त्र का प्रभाव है।

### तान्त्रिक—युग (तेरहवीं शती से सत्रहवीं शती तक)

हमने अपनी पूर्व विवेचना में यह स्पष्ट किया था कि जैनधर्म में तान्त्रिक—साधना का युग तेरहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक रहा, किन्तु हम देखते हैं कि हिन्दू और बौद्ध—तन्त्र का प्रभाव जैन—परम्परा में उसके पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था।

सर्वप्रथम ‘अंगविज्जा’ नामक ग्रन्थ में कुछ मन्त्र और उनकी साधनाओं का उल्लेख मिलने लगता है। ‘अंगविज्जा’ का काल विद्वानों ने ईस्वी सन् चौथी—पांचवी शती के आसपास माना है, परन्तु डॉ. सागरमल जैन द्वारा लिखी गई पुस्तक ‘जैनधर्म और तान्त्रिक साधना’ में लिखा गया है—‘मथुरा के जैन—अंकनों में एक नग्न किन्तु हाथ में कम्बल लिए हुए मुनि को आकाशमार्ग से गमन करते प्रदर्शित किया गया है। जैन—साहित्य में भी जंघाचारी और विद्याचारी मुनियों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन—परम्परा में ईसा की दूसरी शताब्दी से

<sup>91</sup> प्रस्तुत संदर्भ ज्ञानार्णवग्रन्थ की प्रस्तावना से उद्धृत, पृ. 47



मन्त्र-तन्त्र का विकास हो गया था।<sup>92</sup> वस्तुतः, तन्त्र शब्द व्यवस्था या आगमिक-व्यवस्था का वाचक है। आचार्य हरिभद्र द्वारा विरचित **पंचाशक**<sup>93</sup> तथा **ललितविस्तरा** नामक **शक्रस्तव की टीका**<sup>94</sup> में तन्त्र शब्द दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि उन्होंने व्यवस्था या संघीयमर्यादा के अर्थ में ही तन्त्र शब्द का प्रयोग किया है। उनके ग्रन्थों पर तान्त्रिक-साधना का प्रभाव कम ही देखा जाता है। 'श्री तन्त्रालोक' नामक पुस्तक में तन्त्र शब्द का अर्थ शासन किया है।<sup>95</sup> हिन्दूतन्त्र और बौद्धतन्त्र का सर्वप्रथम प्रभाव शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव'<sup>96</sup> और हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र'<sup>97</sup> पर देखा जाता है, जहाँ प्राणायाम आदि की चर्चा विस्तार से हुई है तथा ध्यान के संदर्भ में भी पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत-ध्यानों की और पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी तथा तत्त्वभू आदि धारणाओं के उल्लेख भी वहाँ मिलते हैं, लेकिन विद्वानों ने इसे हिन्दु और बौद्ध-तंत्रों का प्रभाव ही माना है। इसी प्रकार, वर्धमानविद्या और गणिविद्या की साधना मुख्य रूप से नौवीं-दसवीं शती से ही प्रारम्भ हो गई थी -ऐसा लगता है, किन्तु प्रारम्भ में ये साधनाएँ नमस्कारात्मक ही रहीं, यद्यपि इनमें लब्धिधारियों के प्रति वन्दन का ही भाव रहा है।

तान्त्रिक-साधनाओं और विशेष रूप से षडकर्म, अर्थात् मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तंभन, वशीकरण आदि का प्रवेश जैन-परम्परा में बाद में ही हुआ। यद्यपि **जयपायड** (लगभग चौथी शती), **उवसग्गहरंस्तोत्र** (लगभग छठवीं शती), **भक्तामरस्तोत्र** (लगभग सातवीं शती), **विषापहार स्तोत्र** (सातवीं शती) आदि प्राचीनकालीन हैं, किन्तु उनमें भी तान्त्रिक-साधना की दृष्टि से कोई विशेष चर्चा नहीं है।

<sup>92</sup> प्रस्तुत संदर्भ "जैनधर्म और तान्त्रिकसाधना", से उद्धृत, अध्याय-11, पृ. 348

<sup>93</sup> तंतणीतीए .....पंचाशक प्रकरण, 2/44, पृ. 34

<sup>94</sup> एक सम्प्रदाय को तन्त्र के नाम से अभिहित किया; रागादिविषपरमन्त्ररूपाणि...। ललितविस्तरा, पृ. 57-58, 258

<sup>95</sup> 'श्रीतन्त्रालोक' - सं. डॉ. परमहंसमिश्र, प्रथम भाग पृ.7

<sup>96</sup> ज्ञानार्णव, सर्ग 34 और 35

<sup>97</sup> योगशास्त्र, प्रकरण-7 और 8

जैन-परम्परा में तान्त्रिक-साधना सम्बन्धी ग्रन्थों की रचनाओं में — ज्वालामालिनीकल्प (दसवीं शती), निर्वाणकालिका (दसवीं-ग्यारहवीं शती), मन्त्राधिराजकल्प (बारहवीं शती), मन्त्रराजरहस्यम् (तेरहवीं शती), विद्यानुवाद, विद्यानुवाद अंग, विद्यानुशासन, ज्ञानार्णव, योगशास्त्र (बारहवीं शती), एकीभाव स्तोत्र, रिष्टसमुच्चय एवं महाबोधिमन्त्र, भैरव-पद्मावतीकल्प, सरस्वतीकल्प, प्रतिष्ठांतिलकम्, सूरिमन्त्रकल्प, सूरिमन्त्रबृहदकल्पविवरण, देवता अवसर विधि, मायाबीजकल्प, सूरिमुख्यमन्त्रकल्प, लब्धिफलप्रकाशकल्प और ऋषिमंडलमंत्रकल्प आदि ग्रन्थ मिलते हैं। ये लगभग बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य के ही माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त, अनुभवसिद्धमंत्रद्वात्रिंशिका, चिन्तामणिपाठ, चिन्तारणि, संक्षिप्तसूरिमंत्रविचार, सूरिमंत्र-संगृह, कोकशास्त्र, मंत्र-यंत्र-तंत्रसग्रह, मंत्रशास्त्र, सूरिमन्त्र-कल्पसंदोह, नमस्कार स्वाध्याय, लघुविद्यानुवाद, मंत्र चिन्तामणि, मंत्रविद्या, मंत्रशक्ति आदि जैन मंत्र तंत्र और यन्त्रों का एक अच्छा खासा संकलन मिलता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी की मंत्र : एक समाधान<sup>98</sup> नामक पुस्तक में करीब 320 मंत्रों का संकलन और मुनि प्रार्थनासागरजी की कृति 'मंत्र, यंत्र और तंत्र'<sup>99</sup> पुस्तक में लगभग 379 मंत्रों के संकलन के साथ-साथ उसी में 'स्वास्थ्य अधिकार' में करीब 140 नुस्खे उल्लेखित हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि ध्यान-साधना आदि के क्षेत्र में तान्त्रिक-दृष्टि से मन्त्र-साधना का प्रवेश तथा उनके तान्त्रिक प्रभावों की चर्चा और उनके विधिविधान लगभग तेरहवीं शताब्दी से प्रमुख बन गए थे।

यद्यपि इस संदर्भ में डॉ. सागरमल जैन आदि अनेक विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन-परम्परा में ध्यान और योग-साधना में तान्त्रिक-प्रभाव मुख्य रूप से

<sup>98</sup> मंत्र : एक समाधान' —आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनू

<sup>99</sup> 'मंत्र यंत्र और तंत्र' पुस्तक पृ. 13-15

हिन्दू और बौद्ध-परम्परा के प्रभाव से ही आया है और यह स्पष्ट है कि जैन-परम्परा में विविध प्रकार के यंत्र, मंत्र और तंत्र, जो अस्तित्व में आए हैं, वे मूलतः उसकी आध्यात्मिक-परम्परा के प्रतीक न होकर लौकिक-परम्परा के ही प्रतीक हैं और उन पर हिन्दू तथा बौद्ध-तंत्रों का प्रभाव स्पष्टता से देखा जाता है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जैन-धर्म में तान्त्रिक-साधना का प्रभाव मुख्यतः दिगम्बर-सम्प्रदाय में भट्टारकों और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में यतियों के माध्यम से ही आया है और उन्होंने तंत्र-मंत्र की साधना को मुख्य रूप से व्यक्ति के भौतिक-कल्याण को दृष्टि में रखकर ही प्रसारित किया। यद्यपि जैन-परम्परा के अस्तित्व को बचाने में ये तान्त्रिक-साधनाएँ सफल तो रहीं, किन्तु इससे जैन-साधना का जो आध्यात्मिक-पक्ष था, वह विकारग्रस्त हो गया। आत्मविशुद्धि के स्थान पर भौतिक-उपलब्धियाँ ही साधना का मुख्य आधार बन गईं और ध्यानादि साधना के माध्यम से चित्त-विशुद्धि गौण हो गई। इस तान्त्रिक प्रभाव के परिणामस्वरूप जैन देवमंडल में भी अनेक यक्ष, यक्षिणियाँ, विद्यादेवियाँ, भैरव, भौमिया, माणिभद्र, पद्मावती आदि शासनदेवता तीर्थकरों की अपेक्षा भी अधिक पूजनीय बन गए।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जहाँ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) में ध्यान का जो आध्यात्मिक विशुद्ध-स्वरूप था, वह कालान्तर में इन तान्त्रिक-साधना की प्रक्रियाओं में विकारग्रस्त बन गया। हम निःसंदेह यह कह सकते हैं कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का ध्यानाध्ययन (ध्यानशतक) आध्यात्मिक-परम्परा के अनुसार ध्यान-आत्मविशुद्धि का ही साधन है, वहाँ परवर्तीकाल में इस ध्यान-साधना को भौतिक-कल्याण और मंत्र-तंत्र से जोड़कर विकृत ही बनाया गया है।

अन्त में, डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —“उत्तराध्ययनसूत्र”<sup>100</sup> और दशवैकालिकसूत्र<sup>101</sup> में कहा गया है कि जो भिदविद्या, स्वरविद्या, स्वप्नलक्षण,

<sup>100</sup> छिन्नं सरं भोममन्तलिकखं सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं। अंगवियारं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू।। - उत्तराध्ययन 15/7,8

<sup>101</sup> आयार-पत्रति धरं दिट्ठिवाय ..... - दशवैकालिक 8/50-51

अंगविद्या, नक्षत्रविद्या, निमित्तविद्या, मन्त्रविद्या और भैषज्यशास्त्र के अनुसार जीवन जीता है, वह मुनि नहीं है। उनका उपदेश भी गृहस्थों को न करें। इससे स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि वैयक्तिक-वासनाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की विद्याओं की साधना को जैन-आचार्यों ने सदैव ही हेय-दृष्टि से देखा है।<sup>102</sup>

### यशोविजययुग (ईसा की सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती तक) —

ईसा की सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक का युग यशोविजययुग के नाम से जाना जाता है। जिनशासनरूपी आकाशमंडल में अनेकानेक झिलमिल सितारों ने अपनी ज्ञानरूपी आभा से मानव-जगत् को प्रकाशित किया। इनमें आचार्य कुन्दकुन्द जिनभद्र, उमास्वाति, जिनसेन हरिभद्र शुभचन्द्र, हेमचन्द्र और यशोविजय आदि प्रमुख हैं। यशोविजयजी ने आगम-परम्परा को जीवित रखते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा संस्कृत, प्राकृत तथा गुजराती-भाषा में साहित्य का सर्जन किया। उपाध्याय यशोविजयजी विलक्षण प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। उन्होंने करीब 110 ग्रन्थों की रचना की।<sup>103</sup> उनका लेखनकार्य सिर्फ जैनदर्शन तक ही सीमित न रहकर अन्य दर्शनों के ग्रन्थों की टीका के रूप में भी हुआ। उन्होंने प्रत्येक छोटी-छोटी बात को इतनी सरलता से प्रतिपादित किया, जिससे मंदबुद्धि जीव भी उसको आत्मसात् कर सके। आपने आगमों का गहन अध्ययन किया, जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन आध्यात्मिक-पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। जिनशासन में यशोविजयजी बहुश्रुत दार्शनिक, प्रखर न्यायाचार्य काव्य-मीमांसक तथा साहित्य-सर्जक के रूप में प्रसिद्ध हैं। आपकी सूक्ष्म प्रज्ञा के फलस्वरूप ही जैन-परम्परा में आपको 'लघु हरिभद्रसूरि' का विरुद् प्राप्त हुआ था।<sup>104</sup>

<sup>102</sup> जैनधर्म और तान्त्रिक साधना — डॉ. सागरमल जैन, पृ. 4-5

<sup>103</sup> प्रस्तुत वाक्यांश 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रंथ' के संपादकीय से उद्धृत, पृ. 7

<sup>104</sup> वही, पृ.7

पंडित सुखलालजी के शब्दों में —“यह मात्र मेरी मान्यता नहीं, अपितु समस्त विद्वत्-जनों की मान्यता है कि जैसे वैदिक-परम्परा में जगद्गुरु शंकराचार्य का स्थान है, वैसे ही जैन-परम्परा में प्रज्ञापुरुष उपाध्याय यशोविजयजी का स्थान है।”<sup>105</sup>

### यशोविजयजी का जीवन-परिचय —

यशोविजयजी के जीवन-वृत्तान्त के सन्दर्भ में उनके समकालवर्ती श्रमणों के द्वारा जो जानकारी उपलब्ध हुई, उसी के आधार पर उनके जीवन की घटनाओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। उनके जन्म-समय, जन्म-स्थल, माता-पिता के बारे में अतिसंक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है —

**जन्मकाल :** उपाध्याय यशोविजयजी के जन्मकाल के सन्दर्भ में दो भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं, जो महत्त्वपूर्ण प्रमाण के रूप में प्रसिद्ध हैं, यथा—

1. वि.सं. 1663 में वस्त्र पर आलेखित मेरुपर्वत का चित्रपट।
2. यशोविजयजी के समकालवर्ती मुनि कान्तिविजयजी द्वारा प्रणीत 'सुजसवेलीभास' नामक कृति।

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के अनुसार यशोविजयजी का जन्मकाल लगभग विक्रम संवत् 1645 के आसपास रहा होगा। आपश्री का देवलोकगमन वि.सं. 1743-44 में हुआ था, अतः उपाध्यायजी की आयु करीब सौ वर्ष की रही होगी।

**जन्म-स्थल :** जन्म-स्थल के संदर्भ में कोई ठोस प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन 'सुजसवेलीभास' के आधार पर उनका जन्म गुजरात के अन्तर्गत पाटन नगरी के निकट ही धीणोज गांव से थोड़ी दूरी पर स्थित 'कनोड़ा' नामक एक छोटे से गांव में हुआ होगा। उपाध्यायजी के पिता का नाम नारायण और माता का नाम सौभाग्यदेवी था।

<sup>105</sup> उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ से उद्धृत, पृ. 38

आपका नाम जसवंतकुमार था।<sup>106</sup> यही जसवंतकुमार आगे चलकर यशोविजय के रूप में विख्यात हुए। कनोड़ा गांव ही उपाध्यायश्री का जन्मस्थल है, इसका सुस्पष्ट वर्णन तो 'सुजसवेलीभास' में भी नहीं है। वि.सं.1688 में कुणगेर के वर्षावास की पूर्णाहूति के पश्चात् नयविजयजी म.सा. कनोड़ा पधारे और जसवंतकुमार ने अपनी माता के संग प्रथम बार उनके दर्शन का लाभ लिया।<sup>107</sup> इसके आधार पर यह मानने में कोई दिक्कत नहीं है कि यशोविजयजी के माता-पिता कनोड़ा के निवासी थे और उनका जन्म भी यहीं हुआ था।

**दीक्षाग्रहण** — वि.सं. 1688 में नयविजयजी कनोड़ा पधारे और उनकी दीक्षा हुई —ऐसा निर्देश 'सुजसवेलीभास' में मिलता है,<sup>108</sup> परन्तु उस ऐतिहासिक-चित्रपट के उल्लेखी आधार पर सं.1663 में यशोविजय गणि से अलंकृत थे, लेकिन कम-से-कम छः से नौ वर्ष के दीक्षापर्याय के बाद गणि-पद दिया जाता है, तो चित्रपटानुसार यह माना जा सकता है कि यशोविजयजी का जन्म समय करीब 1645, दीक्षा ग्रहण सं. 1653, गणिपदग्रहण सं. 1663 और देवलोकगमन सं. 1743-44 में हुआ था।

अतः, संशय यह है कि दोनों प्रमाणों में से अधिक महत्त्व किसे दिया जाए ? समाधान के रूप में डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —गणिपद का सं. 1663 न होकर 1693 होना चाहिए, कारण, उस समय छह (६) और नौ (९) में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं होता था। इस अपेक्षा से उपाध्यायश्री की दीक्षा 1688 में और गणिपदवी 1993 में हुई होगी, अतः जन्म 1670-1979 के बीच के काल में संभव हो सकता है।<sup>109</sup>

<sup>106</sup> उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ से, उपाध्याय यशोविजयनुं जीवनवृत्तः संशोधनात्मक अभ्यास (जयन्त कोठारी) से उद्धृत, पृ.1

<sup>107</sup> संवत् सोल अट्यासियेजी, रही कुणगेर चौभासी। श्री नयविजय पंडितवरजी, आव्या कन्होडे उल्लासी।।

मात पुत्र स्थुं साधुनाजी वादिचरण सविलास। सुगुरु-धर्म-उपदेशथीजी पामी वयराग प्रकाश।। —सुजसवेलीभास, गा. 1/9-10

<sup>108</sup> विजयदेव गुरु हाथनी जी बडदीक्षा हुई खास। बिहुने सोल अट्यासियेजी करता योग अभ्यास।। —वही, 1/03

<sup>109</sup> डॉ. सागरमल जैन से व्यक्तिगत चर्चा के आधार पर।

माता सौभाग्यदेवी ने जसवंत की अद्भुत प्रज्ञा को देखकर अपने पुत्र को नयविजयजी के चरणों में सौंप दिया। दीक्षा—महोत्सव अणहिलपुर पाटण में हुआ। बालक जसवंत से जशविजय बन गया।<sup>110</sup> कुछ समय पश्चात् उनके भाई पद्मसिंह ने भी संयम अंगीकार किया और वह पद्मविजय के रूप में विख्यात हुए। दोनों की बड़ी—दीक्षा दाता विजयदेवसूरि थे।<sup>111</sup> इस बात की पुष्टि अधोलिखित पद्य से होती है —

पदमविजय बीजो वलीजी, तस बांधव गुणवंत

तेह प्रसंगे प्रेरियोजी ते पणि थयो व्रतवंत ॥ — 12

विजयदेव—गुरु हाथनी जी वली दीक्षा हुई खास।

बिहुने सोल अठयासियेजी करता योग अम्यास ॥— 13

यशोविजयजी के शिक्षा—दीक्षा गुरु नयविजयजी हैं, यह यशोविजयजी स्वयं ने 'जैनतर्कभाषा की प्रशस्ति' में कहा।<sup>112</sup>

**गुरुपरम्परा** — उपाध्यायश्री स्वयं ने अपनी कृति की वृत्ति में, जैसे —**स्वोपज्ञ प्रतिमाशतक** तथा **अध्यात्मोपनिषद** में गुरु—परम्परा का वर्णन किया।<sup>113</sup> 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ', सम्पादक—प्रद्युम्नविजय गणिवर तथा अध्यात्मसार,

<sup>110</sup> अणहिलपुर पाटणि जइजी, ल्यो गुरु पासं चारित्र। यशोविजय अंहवी करीजी थापना नामनी तत्र। —सुजसवेलीभास, गा. 1/4

<sup>111</sup> 'यशोदोहन' में इस दीक्षा का काल वि.सं. 1688 दिया है और यह दीक्षा हीरविजय के प्रशिष्य एवं विजयसेनसूरिज के शिष्य विजयदेवसूरि. ने दी थी, ऐसा वर्णन है। — पृ.7

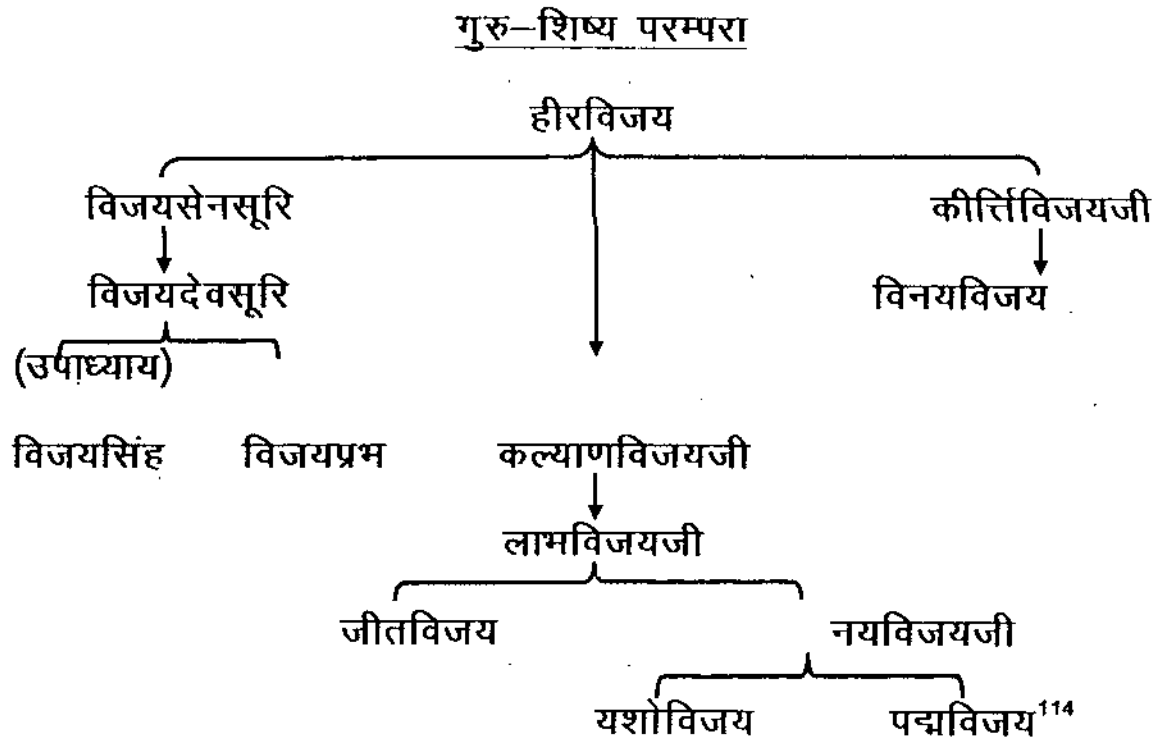
<sup>112</sup> भ्राजन्ते सनया नयादिविजयप्राज्ञाश्च विद्याप्रदा — जैनतर्कभाषा की प्रशस्ति।

<sup>113</sup> क) श्री हीरान्वयदिनकृति प्रकृष्टोपाध्यायास्त्रिभुवनगीतकीर्तिवृन्दाः। षट्कर्कयदृढपरिरंभभाग्यभाजः कल्याणोत्तरविजयाभिधाबभकः तच्छिष्याः प्रतिगुणधाम हेमसूरेः श्री लाभोत्तरविजयभिधा बभूवुः। श्री जीतोत्तरविजयाभिधान श्री नय विजयौ तदीयशिष्यौ॥ तदीय चरणाम्बुजश्रयणाविस्फुरद्भारती प्रसाद सुपरीक्षितप्रवरशास्त्ररत्नोच्चयै॥ जिनागमे विवेचने शिवसुखार्थिनां श्रेयसे यशोविजयवाघकैरयमकारि तत्त्वश्रमः॥ उ.यशोविजयजीकृत 'प्रतिमाशतक' टीकाकर्तु प्रशस्ति, श्लोक14-15-16

ख) इति जगद्गुरुविरुद्धधारि श्री हीरविजयसूरीश्वरशिष्य षट्कर्क विद्याविशारद। महोपाध्याय श्री कल्याणविजयगणिशिष्य शास्त्रज्ञ तिलकपंडित श्रीलाभविजयगणि शिष्य मुख्यपण्डित जीतविजयगणिसतीर्थ्यालंडुकारपण्डित—श्रीनयविजयगणि चरणकणचंचरीक पण्डित पद्मविजयगणि सहोदर न्यायविशारद महोपाध्याय श्री यशोविजयगणि प्रणीतं समाप्तमिदमध्यात्मोपनिषदत्प्रकरणम्

—उ. यशोविजयकृत 'अध्यात्मोपनिषद'

अध्यात्मोपनिषद् एवं ज्ञानसार के संदर्भ में उपाध्याय यशोविजयजी का अध्यात्मवाद नामक साध्वी डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री शोधप्रबन्ध के आधार पर उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी -



यशोविजय ने अपने गुरु तथा गुरुभ्राता की निश्चा में बहुत ही गहराई से, सूक्ष्मता से विद्याध्ययन किया और कुछ ही समय में वे अनेक विद्याओं में पारंगत हो गए। यह बात स्वयं यशोविजयजी ने 'द्रव्यगुणपर्यायनोरास' में लिखी है।<sup>115</sup>

एक बार अहमदाबाद के सुश्रावक धनजी-सूरा के आग्रह पर यशोविजयजी अपने गुरु के साथ काशी की ओर प्रस्थान किया। वहाँ षड्दर्शनों के ज्ञाता तथा नव्यन्याय के एक विद्वान् के पास अध्ययन करके मात्र तीन वर्षों में व्याकरण, तर्क, न्याय, षड्दर्शन आदि अन्य शास्त्रों के ज्ञाता बन गए। कश्मीर से आए एक पण्डित

<sup>114</sup> क) 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रंथ, पृ. 24-25

ख) 'उपाध्याय यशोविजय का अध्यात्मवाद, अध्याय 1, पृ. 5

<sup>115</sup> तास पाटि विजय देवसूरीस्वर महिमावंत निरीहो तास पाटि विजयसिंह सूरीसर सकल सूरीमां लीहो।

ते गुरुना उत्तम उद्यमयी गीतास्थ गुण वाध्यो रे तस हित सीखतणइ अनुसारइ ज्ञानयोग अे साध्यो रे।। - द्रव्यगुणपर्यायनोरास, 17/4



को वाद—विवाद में पराजित करके काशीनगर तथा काशी के पंडितों और अपने विद्यागुरु भट्टाचार्य की यशकीर्ति को आपने चारों दिशाओं में फैला दिया। इस अवसर पर सभी पण्डितों ने मिलकर यशोविजयजी को 'न्याय—विशारद' और 'तार्किक—शिरोमणि' की पदवी से अलंकृत किया,<sup>116</sup> तत्पश्चात् आप आगरा पधारे। वहाँ भी आपश्री ने तर्कसिद्धान्त, प्रमाणशास्त्र आदि का करीब चार वर्ष तक अध्ययन किया। इस प्रसंग का वर्णन मात्र 'सुजसवेलीभास' में है।<sup>117</sup> धीरे—धीरे यशोविजयजी की विद्वत्ता की ख्याति फैलने लगी। महाश्रमणमुदितकुमार द्वारा संपादित 'उपासना' भाग—1 में लिखा गया है —"यहाँ तक सुना जाता है कि 1729 में इन्होंने खम्भात में वर्षावास बिताया। वहाँ जैनेत्तर विद्वानों द्वारा दिए गए विषय पर संस्कृत—भाषा में इतना धाराप्रवाह व्याख्यान दिया जिससे सुनने आए सारे लोग अवाक् थे। भाषण की विशेषता यह थी कि जिसमें न तो अनुस्वार ही था और न ही कोई संयुक्त अक्षर"<sup>118</sup> इस प्रकार जिनशासन की प्रभावना करते—करते एक बार वे अहमदाबाद पधारे। वहाँ संवत् 1718 में विजयप्रभसूरि न उन्हें उपाध्याय पदवी से अलंकृत किया।<sup>119</sup>

यशोविजयजी के हृदय में आनंदघनजी के प्रति विशेष प्रीति थी, इस बात का प्रमाण हमें आनंदघन अष्टपदी में मिलता है।<sup>120</sup>

यशोविजयजी का कहना था कि पारसमणि के समान आनंदघनजी का जैसे ही मैंने स्पर्श किया और मैं लोहे से कंचन के रूप में परिवर्तित हो गया।<sup>121</sup>

<sup>116</sup> पूर्व न्यायविशारदत्त्व विरुद्धं काश्यां प्रदत्तं बुधैः।

न्यायाचार्य पदं ततः कृतं शतग्रन्थस्य यस्यार्पितम् ॥ - उ.यशोविजयजीकृति प्रतिमाशतक ग्रंथ पृ.1

<sup>117</sup> काशीयी बुधराय, त्रिहो वरषांतरे हो लाल तार्किक नाम धराय आब्यापुर आगरे हो लाल। - सुजसवेलीभास, गा. 218

<sup>118</sup> 'उपासना' भाग—1 पुस्तक से उद्धृत, पृ. 253

<sup>119</sup> ओली तप .....श्रीविजयप्रभ दीध ॥ -वही, 3/12 १

<sup>120</sup> कोई आनंदघन छिद्र ही परेवत जसराय संग चडी जाय। आनंदघन आनंदरस झीलत, देखत ही जस गुण गाय ॥ -आनंदघन अष्टपदी

<sup>121</sup> आनंदघन के संग सुजस ही मिले जब तब आनंद सम भयो सुजस।

पारस संग लोहा जो फरसत, कंचन होत ही ताके कस। -आनंदघन अष्टपदी

आनंदघनजी के पद्य में यशोविजयजी के<sup>122</sup> और यशोविजयजी के पद्य में आनंदघनजी के<sup>123</sup> संकेत मिलते हैं। हम यहाँ 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ' के आधार पर यशोविजयजी के समकालवर्ती मुनियों के साथ उनका सम्बन्ध रहा था, इसका उल्लेख कर रहे हैं –

1. उपाध्याय विनयविजयजी, 2. जयसोमगणि, 3. मानविजयगणि, 4. सत्यविजय गणि पन्थास, 5. वृद्धिविजयगणि, 6. ऋद्धिविमलगणि, 7. वीरविजय और 8. मणिचन्द्र आदि।<sup>124</sup>

**देवलोकगमन** – 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ' के आधार पर उपाध्यायजी का स्वर्गवास सं. 1743 में डभोई गांव में हुआ।<sup>125</sup> लेकिन कौन से मास और कौनसी तिथि को हुआ था – यह निर्णय अभी तक भी न हो पाया है। चरण-पादुका में इस प्रकार लेख अंकन है – "संवत् 1745 वर्षे प्रवर्तमाने मागशीर्षमासे शुक्लपक्षे एकादशी तिथौ श्री जसविजयगणिनां पादुका कारापिता प्रतिष्ठितऽत्रेयं, तच्चरणसेवक .....विजयगणिना राजनगरे।"<sup>126</sup> पहले इस लेख के आधार पर उपाध्यायश्री के देहावसान की तिथि भी यही मानी जाती थी, परन्तु यह भ्रम है, क्योंकि यह चरण-युगल के स्थापना की तिथि है। **सुजसवेलीभास** के अन्तर्गत लिखा है कि सं. 1743 में उपाध्यायश्री का वर्षावास डभाई गांव में था और सं. 1744 में उसी क्षेत्र में आपश्री का देह पंचभूत में विलीन हो गया।<sup>127</sup>

<sup>122</sup> आनंदघन कहे जस सुनो भ्रात यही मिले तो मेरा फेरा टले .....

<sup>123</sup> जशविजय कहे सुनो हो आनंदघन हम तुम मिले हजुर।

ओ री आज आनंद भयो मेरे तेरो मुख नीरख नीरख ॥ – आनंदघन अष्टपदी

<sup>124</sup> 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ' संपादक प्रद्युम्नविजयजी, जयंत कोठारी, कान्तिभाई बी शाह, पृ. 18 से

<sup>125</sup> वही, पृ. 29

<sup>126</sup> वही, पृ. 29

<sup>127</sup> सतर त्रयाली चोमासु .....धोई रे.....। – सुजसवेली, गा. 4/5

## विशिष्ट गुणों के सागर —

आपश्री के ओजस्वी व्यक्तित्व में अनेकानेक गुण निहित हैं, उसमें मुख्य रूप से गुरुभक्ति, श्रुतभक्ति, संघभक्ति, शासन—प्रभावना, अध्यात्मरस—निमग्नता, धैर्यता—गंभीरता, विनयशीलता, सरलता, त्याग—तपस्या—वैराग्य, लघुता और गुणानुरागता आदि हैं। अध्यात्मसार के अन्तिम अधिकार के पन्द्रहवें श्लोक में आपने मनोहर कल्पना द्वारा गुरु की महिमा का गुणगान किया।<sup>128</sup> गुणानुरागता, विनयशीलता, लघुता का उदाहरण हमें उपाध्यायश्री द्वारा विरचित 'आनंदघन—अष्टापदी' में मिलता है।<sup>129</sup> उनकी उदारवृत्ति के दर्शन हमें समन्तभद्रकृत अष्टसहस्री पर, पतंजलिकृत योगसूत्र पर, काव्यप्रकाश पर, एवं न्यायसिद्धान्त—मंजरी पर उनके द्वारा लिखी गई वृत्तियों में होता है। उनमें आपने योगवासिष्ठ, उपनिषद्, गीता से भी कुछ उद्धरण दिए हैं। श्रुतभक्ति के रूप में आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उपाध्यायश्री बचपन से ही त्याग—वैराग्य—तपस्या में लीन थे —इस बात की पुष्टि 'सुजसवेलीभास' से होती है।<sup>130</sup> अध्यात्मरस—निमग्नता के संदर्भ में तो हम निःशंक होकर यह कह सकते हैं कि अनुभूति के बिना 'अध्यात्मसार' अध्यात्मोपनिषद् जैसे गूढ़ रहस्यमय ग्रन्थों का प्रणयन शक्य नहीं था।<sup>131</sup>

## साहित्य—परिचय —

प्रायः प्राचीन विद्वान यशकीर्ति की प्राप्ति से अनाकांक्ष होकर स्व—पर कल्याण के उद्देश्य से ग्रन्थों की रचना करते थे। उन्हीं विद्वानों में एक हैं —उपाध्याय यशोविजयजी। उन्होंने अपने जीवन—काल में शताधिक ग्रन्थों का सर्जन किया। दुर्भाग्य से वर्तमान में उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं,

<sup>128</sup> यत्कीर्तिस्फूर्तिगानाबहितसुखधूवृन्दकोलाहलेन। प्रक्षुब्धस्वर्गसिंधोः पतितजलभरैः क्षालितः शैत्यमेति।।

अश्रान्तभ्रान्तकान्तग्रहगण किरणैस्तापवान् स्वर्णशैलो। भ्राजन्ते ते मुनीन्द्रा नयविजयबुधाः सज्जनव्रातधुर्याः।। — अध्यात्मसार, 21/15

<sup>129</sup> जसविजय कहे सुनो आनंदघन हम तुम मिले हजुर। जस कहे सोहि आनंदघन पावत अंतरज्योत जगावे।

आनंद की गत आनंदघन जाने ऐसीदशा जब प्रगटे, चित्त अंतर सो ही आनंदघन पिछाने ऐ ही आज आनंद भयो मेरे

तेरो मुख नीरख रोम—रोम शीतल भया अंगो अंग।'

— उ. यशोविजयकृत आनंदघन अष्टपदी

<sup>130</sup> सुजसवेलीभास— 1/8

<sup>131</sup> माहरे तो गुरुचरणपसाये अनुभव दिलमांही पेटो। ऋद्धिवृद्धि प्रगटी घरमांहे आतमरति हुई बैठो रे ....श्रीपालरास

हम उनका प्रद्युम्नविजयगणि द्वारा संपादित 'उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ' और डॉ. प्रीतिदर्शना के शोधप्रबन्ध 'यशोविजयजी का अध्यात्मवाद' के आधार पर संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

**1. अध्यात्ममत परीक्षा** — प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृतभाषा में है। इसमें 184 गाथाएँ हैं। इस पर करीब चार हजार श्लोक-परिमाण टीका उपलब्ध है। इस ग्रंथ में ग्रंथकर्ता ने केवली-कवलाहार तथा स्त्री-मुक्ति की समीक्षा और निश्चय तथा व्यवहारनय के यथार्थ स्वरूप का स्पष्टीकरण भी किया है।

**2. अध्यात्मोपनिषद्** — प्रस्तुत ग्रन्थ जैन-अध्यात्म की एक अमूल्य निधि है। यह संस्कृत भाषा में है। इसमें 231 श्लोक हैं। इसको चार विभागों में विभाजित किया गया है — 1. शास्त्रयोगशुद्धि, 2. ज्ञानयोगशुद्धि, 3. क्रियायोगशुद्धि और 4. साम्ययोगशुद्धि।

शास्त्रयोगशुद्धि में निश्चय और व्यवहारनय के आधार पर अध्यात्म के भिन्न-भिन्न रूपों का आख्यान किया है। ज्ञानयोगशुद्धि के अन्तर्गत आत्मतत्त्व की उपलब्धि का वर्णन किया गया है। क्रियायोगशुद्धि में क्रिया के महत्त्व का उल्लेख करते हुए यह बताया है — क्रिया बिना का ज्ञान निरर्थक अथवा बोझरूप है। साम्ययोगशुद्धि नामक विभाग में समतायोग में निमग्न साधक की अवस्था का तलस्पर्शी वर्णन है।

**3. ज्ञानसार** — उपाध्याय यशोविजयजी की प्रस्तुत कृति बत्तीस अष्टकयुक्त है। एक-एक अष्टक के आठ-आठ श्लोक हैं। उपसंहार प्रशस्ति आदि मिलाकर यह ग्रन्थ 276 श्लोक-परिमाण है। इसके बत्तीस अष्टकों के नाम निम्नांकित हैं — पूर्ण, मग्न, स्थिरता, मोहत्याग, ज्ञान, शम, इन्द्रियजय, त्याग, क्रिया, तृप्ति, निर्लेप, निःस्पृह, मौन, विद्या, विवेक, मध्यस्थ, निर्भय, अनात्मप्रशंसा, तत्त्वदृष्टि, सर्वसमृद्धि, कर्मविपाक-चिन्तन, भवोद्वेग, लोकसंज्ञात्याग, शास्त्रदृष्टि, परिग्रह, अनुभव, योग, नियाग, पूजा, ध्यान, तप और सर्वनयाश्रय। इनमें मेरे शोध-कार्य से सम्बन्धित **योगाष्टक** तथा **ध्यानाष्टक** का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

**योगाष्टक** — इस अष्टक के प्रथम श्लोक में कहा है कि मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ देने से वह सम्पूर्ण आचार—योग कहलाता है। विशेष रूप से स्थान, वर्ण, अर्थ, आलंबन और एकाग्रता<sup>132</sup> संसार की समस्त जीव—राशि में विकसित—अविकसित रूप से दो कर्मयोग<sup>133</sup> और तीन ज्ञानयोग रहते ही हैं और एक—एक के चार—चार भेद हैं, यथा— इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि। इन चारों की व्याख्या योगाष्टक के चतुर्थ श्लोक में की गई है।<sup>134</sup> फिर आलंबन और निरालंबन की चर्चा में निरालंबन की श्रेष्ठता का वर्णन किया है। तत्पश्चात्, योगनिरोध के द्वारा ही मोक्ष संभव है —इस प्रकार योगाष्टक में उल्लेख है।

**ध्यानाष्टक** — ध्यान—अष्टक के अन्तर्गत ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपदी में एकता का वर्णन<sup>135</sup> है और इन तीनों की एकता ही समापत्ति है तथा इस समापत्ति के फलस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है।

“ध्येय में जिसने चित्त की स्थिरतारूप धारा से वेग—पूर्वक बाह्य—इन्द्रियों का अनुसरण करने वाली मानसिक—वृत्ति को रोक लिया है, जो प्रसन्नचित्त है, प्रमादरहित है और ज्ञानानन्दरूपी अमृतास्वादन करने वाला है; जो अन्तःकरण में ही विपक्षरहित चक्रवर्तित्व का विस्तार करता है, ऐसे ध्याता की देवसहित मनुष्यलोक में भी सचमुच उपमा नहीं है।”<sup>136</sup> प्रस्तुत कृति साधकों के लिए ‘मार्गदर्शिका’ के रूप में है। कुछ विद्वानों ने इसका नाम ‘जैनधर्म की गीता’ रखा।<sup>137</sup>

**4. वैराग्यकल्पलता** — उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा प्रणीत ‘वैराग्यरति’ और ‘वैराग्यकल्पलता’ इन दोनों कृतियुगल का पूर्वापर संबंध है। वैराग्यरति अपूर्ण और

<sup>132</sup> मोक्षेण योजनाद् .....गोचरः ॥ —ज्ञानसार (योगाष्टक 2)

<sup>133</sup> कर्मयोग द्वयं.....परेष्वपि ॥ — वही, 2

<sup>134</sup> भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा—प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥ — ज्ञानसार, अष्टक—27, श्लो. 3—4  
‘इच्छा तद्वत् कथाप्रीतिः.....सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥ — ज्ञानसार, अष्टक—27, श्लोक—4

<sup>135</sup> ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं त्रयं यस्यैकतां गतम् । — वही, अष्टक—30, श्लोक—1

<sup>136</sup> प्रस्तुत व्याख्या ज्ञानसार, विवेचनकार भद्रगुप्तविजयगणि, ध्यानाष्टक के अन्तर्गत, पृ. 453

<sup>137</sup> उपाध्याय यशोविजय स्वाध्याय ग्रन्थ — सं. प्रद्युम्नविजयगणि, पृ. 81

वैराग्यकल्पलता पूर्ण कृति है। इस कृति को जैन संस्कृत-साहित्य में रूपक-साहित्य का उदगम-विकास के रूप में ख्याति प्राप्त है। यह भारतीय-साहित्य का सर्वोत्तम संस्कृत कथासार महाकाव्य है। रूपक-कथाओं में जैसे 'उपमितिभवप्रपंचा' सर्वोत्तम शिखर-रूप है, वैसे ही महाकाव्यों में 'वैराग्यकल्पलता' सर्वोत्तम है।

**5. गुरुतत्त्वविनिश्चय** — प्राकृत भाषा में विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ की 905 गाथाएँ हैं। उपाध्यायश्री स्वयं ने 7000 श्लोक-परिमाण संस्कृत गद्यरूप टीका लिखी, चार उल्लासों द्वारा गुरुतत्त्व के सत्य-स्वरूप का वर्णन किया।

**6. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका** — 'यथा नाम तथा गुण' — इस उक्ति को फलित करने वाला प्रस्तुत काव्य 1024 श्लोक-परिमाण है। यह पद्यात्मक-शैली की रचना है। महोपाध्याय यशोविजयजी द्वारा रचित यह 32-32 श्लोकों में 32 अलग-अलग विषय-वस्तु पर प्रकाश डालता हुआ 32 अल्पकायी रचनाओं का काव्य है। इस काव्य में स्थित प्रत्येक लघुग्रन्थ की यथार्थ विषय-वस्तु के नाम इस प्रकार हैं — दान, देशना, मार्ग, जिनमहत्त्व, भक्ति, साधुसामग्य, धर्मव्यवस्था, वाद, कथा, योगलक्षण, पातंजलयोगलक्षण, पूर्वसेवा, मुक्ति- अद्वेषप्राधान्य, अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि, ईशानग्रह, देवपुरुषकार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रातारादित्रय, कुतर्कग्रहनिवृत्ति, सद्दृष्टि, क्लेशहानोपाय, योगमहात्म्य, भिक्षु, दीक्षा, विनय, केवलीभुक्तिव्यवस्थापन, मुक्ति और सज्जनस्तुति आदि। इसमें विशेष बात यह है कि प्रत्येक बत्तीसी के अंतिम श्लोक में 'परमानन्द' शब्द का प्रयोग हुआ है। उपाध्यायश्री ने तत्त्वार्थदीपिका<sup>138</sup> नामवाली स्वोपज्ञ वृत्ति लिखी।

**6. नयोपदेश** — यह रचना सात नयों के स्वरूप को प्रतिपादित करती है।

**7. प्रतिमाशतक** — 'प्रतिमाशतक' नामक काव्यग्रन्थ की रचना मूर्तिपूजा के विरोध करने वाले को हितशिक्षा देने के सन्दर्भ में की गई है। इस काव्य का श्लोक-परिमाण 100 है। इसमें मुख्यरूप से चार वादस्थान की चर्चा है। यथा — 1. प्रतिमा की पूज्यता, 2. क्या विधिकारित प्रतिमा की ही पूज्यता है ?, 3. क्या

<sup>138</sup> यशोविजयजी नाम्ना तत्त्वराणाभ्योजसेविना। द्वात्रिंशिकानां विवृतिश्चक्रे तत्त्वार्थदीपिका-द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका की प्रशस्ति के नीचे का श्लोक

द्रव्यस्तव में शुभाशुभ मिश्रता है ? 4. द्रव्यस्तव पुण्यरूप है या धर्मरूप ? इस ग्रन्थ के आधार पर टीका की रचना भी की गई है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत ध्यान, समापत्ति समाधि, जय आदि की प्राप्ति के लिए जगह—जगह उपायों का वर्णन किया है।

**8. आराधक—विराधक—चतुर्भंगी** —इस ग्रन्थ का मूल विषय चार विषयों पर आधारित है— 1. देशतः आराधक, 2. देशतः विराधक, 3. सर्वतः आराधक और 4. सर्वतः विराधक।

**9. उपदेश—रहस्य** — प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृतभाषीय है। यह रचना आर्याछन्द में की गई है तथा इसमें 203 गाथाएँ हैं। इस रचना का आधार हरिभद्रसूरि द्वारा प्रणीत उपदेशपद नामक ग्रन्थ है। इसमें रहस्यभूत मार्गानुसारी आदि अनेक विषयों को प्रतिपादित किया है।

**10. एन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका** — इसमें चौबीस तीर्थकरों का वर्णन तथा स्तुति की गई है।

**11. कूपदृष्टान्त विशदीकरण** — इसमें कूप का उदाहरण, गृहस्थों के करने योग्य द्रव्यस्तव की निर्दोषता का वर्णन किया गया है।

**12. ज्ञानार्णव** — इसमें पाँच ज्ञान के स्वरूपों का वर्णन है।

**13. धर्मपरीक्षा** — इसमें उत्सूत्र—प्ररुपणा के निवारण का वर्णन किया गया है।

**14. महावीस्तव** — इसमें बौद्ध—नैयायिक के एकान्तवाद का निरसन है।

**15. भाषा रहस्य** — इस ग्रन्थ में प्रज्ञापनादि में निहित भाषा के भेद—प्रभेद की चर्चा है।

**16. सामाचारी—प्रकरण** — इस ग्रन्थ में इच्छा, मिथ्या आदि दस प्रकार का तर्कशैली में वर्णन है।

**17. देवधर्मपरीक्षा** — इसमें देवलोक में प्रभुप्रतिमा की पूजा होती है —इस बात की पुष्टि आगमिक—प्रमाण के आधार पर की गई है।

18. **जैनतर्क—परिभाषा** — यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में विभक्त है— 1. प्रमाण, 2. नय और 3. निक्षेप। इन विषयों को युक्तिसंगत विवेचित किया गया है।
19. **यत्तिलक्षणसमुच्चय**— इस ग्रन्थ में श्रमणों के सात लक्षणों को विस्तृत रूप से वर्णित किया है।
20. **नयरहस्य** — इस ग्रन्थ में सात नय का वर्णन है।
21. **नयप्रदीप** — इसमें 400—400 श्लोक—परिमाण में दो सर्गों का विभाजन कर एक में सप्तभंगी, दूसरे में नयसमर्थन है।
22. **ज्ञानबिन्दु** — इस ग्रन्थ में ज्ञान के प्रकार, लक्षण, स्वरूप का वर्णन है।
23. **न्यायखण्डनखण्डखाद्य** — इस ग्रन्थ में उपाध्यायश्री की नव्यन्यायशैली की विशिष्टता दिखाई देती है। यह ग्रंथ अर्थ—गंभीरता की अपेक्षा से कठिन है। इसकी श्लोक संख्या 5500 है।
24. **न्यायालोक** — इस ग्रन्थ की मुख्य विषय—वस्तु है —गौतमी—न्याय तथा बौद्ध—न्याय के एकांतवाद की समालोचना। यह प्रकरण तीन विभागों में बंटा हुआ है — 1. मुक्ति, आत्मविभूत्व, आत्मसिद्धि और ज्ञान — ये चार वाद—स्थान है। 2. ज्ञानद्वैत — खंडन, समवाय, चक्षु की अप्राप्तकारिता और अभाव इनका समीक्षणात्मक—अध्ययन तथा 3. धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्यों तथा उनकी पर्यायों का विश्लेषण किया गया है।
25. **वादमाला** — प्रस्तुत ग्रन्थ तीन प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम भाग में स्वत्ववाद, सन्निकर्ष, विषयतावाद का विश्लेषण। द्वितीय भाग में वस्तुलक्षण, सामान्य, विशेषवाद आदि छः विषयों का उल्लेख और तृतीय भाग में चित्ररूप, लैंगिक—भानवाद आदि सात विषयों का समावेश किया गया है।
26. **'अनेकान्त—व्यवस्था'** — इस ग्रन्थ में अनेकान्त के स्वरूप की चर्चा है।
27. **अस्पृशद्गतिवाद** — इसमें सिद्धात्मा का आकाश—प्रदेशों के स्पर्श के बिना लोकान्त पर स्थिरता का वर्णन है।



28. आत्मख्याति — इसमें आत्मा के विभु अणु—परिमाण का निवारण है।
29. आर्षमीयचरित्र — इसमें भरतचक्रवर्ती की जीवन—झांकी है।
30. तिङन्वयोक्ति — इसमें तिङन्तपद वाले शब्द का खुलासा है।
31. सप्तभंगीनयप्रदीप — इसमें भंगी और नय का वर्णन है।
32. निशाभुक्ति—प्रकरण — इसमें रात्रिभोजन का निषेध है।
33. परमज्योति पंचविंशिका — तथा
34. परमात्मपंचविंशिका — इन दोनों ग्रन्थों में परमात्मा की स्तुति का वर्णन है।
35. प्रतिमास्थापनन्याय — इसमें प्रतिमा में प्रभुत्व, पूज्यत्व की स्थापना वर्णित है।
36. प्रमेयमाला — इसमें अलग—अलग वादों का संकलन है।
37. मार्गपरिशुद्धि — इसमें मोक्षमार्ग की विशुद्धता वर्णित है।
38. यतिदिनचर्या — इसमें साधु की दिनचर्या का वर्णन है।
39. विषयतावाद — इसमें उद्देश्यता आदि का निर्देश है।
40. सिद्धसहस्रनामकोश — इसमें भगवान् के सहस्राधिक नामों का संकलन है।
41. स्तोत्रावली — इसमें ऋषभदेव, पार्श्वनाथ एवं महावीर स्वामी के आठ स्तोत्र का संकलन।
42. स्याद्वादरहस्यपत्र — इसमें पण्डितवर्ग पर प्रेषित पत्रों का संकलन है, जिसके अन्तर्गत स्याद्वाद की युक्तियों का वर्णन है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर जो टीकाएँ एवं वृत्तियाँ लिखी हैं, उनकी सूची इस प्रकार है —

1. षोडशकवृत्ति—योगदीपिका, 2. योगविंशिकावृत्ति, 3. स्याद्वादकल्पलता,
4. उत्पादादिसिद्धि, 5. कम्मपयडिबृहदटीका, 6. कम्मपयडिलघुटीका, 7. तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय पर टीका, 8. स्तवपरिज्ञा अवचूरि, 9. अष्टसहस्रीटीका, 10. पातंजल

योगसूत्रटीका, 11. स्याद्वादरहस्य, 12. काव्यप्रकाशटीका, 13. न्यायसिद्धान्तमंजरी आदि। गुजराती भाषा में रचित रचनाओं के नाम निम्नांकित हैं—1. जंबूस्वामी का रास, 2. द्रव्यगुणपर्यायनोरास 3. श्रीपालरास की रचना में सहयोग। 4. सवा सौ गाथा का स्तवन, 5. डेढ़ सौ गाथा का स्तवन—साढ़े तीन सौ गाथा का स्तवन, 6. त्रैसठ गाथा का मौन एकादशी का स्तवन, 7. तीन चौबीसी, 8. विहरमान बीस जिनेश्वर के स्तवन, 9. सज्जाय, 10. समुद्र—वाहनसंवाद, 11. समताशतक, 12. समाधिशतक, आदि। इस प्रकार, उपाध्यायजी ने गुजराती भाषा में विपुल साहित्य की रचना की है।

### अध्यात्मसार —

प्रस्तुत कृति आध्यात्मिक—जीवन की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यह कृति संस्कृतभाषीय है। इसकी श्लोक—संख्या 949 है। यह अनुष्टुप—छंद में निबद्ध है। उपाध्यायश्री की इस कृति का मुख्य प्रयोजन व्यक्ति के आध्यात्मिक—स्तर को विकसित करना है। 'अध्यात्मसार—अनुवाद'—डॉ.प्रीतिदर्शना पुस्तक की 'जैन अध्यात्मवाद भूमिका' में डॉ. सागरमल जैन ने कहा है—“अध्यात्मवाद से हमारा तात्पर्य क्या है ? अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति अधि+आत्म से है, अर्थात् वह आत्मा की श्रेष्ठता या उच्चता का सूचक है। आचारांगसूत्र में इसके लिए 'अज्झप्प' या अज्झत्थ शब्द का प्रयोग है, जो आन्तरिक—पवित्रता या आन्तरिक—विशुद्धि का सूचक है।”<sup>139</sup>

यह ग्रन्थ सात प्रबन्ध में बंटा हुआ है। प्रथम 53 श्लोकों में अध्यात्म—माहात्म्य तथा अध्यात्म—स्वरूप का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात्, प्रथम—प्रबन्ध की विषय—वस्तु अर्थात् दम्भ—त्याग और भवस्वरूप—चिन्ता का वर्णन मिलता है। द्वितीय प्रबन्ध में वैराग्य की संभावना, उसके भेद तथा उसके विषय की विवेचना की गई है। तृतीय प्रबन्ध के अन्तर्गत ममत्व—त्याग, समता, सदनुष्ठान, मनःशुद्धि के विषयों

<sup>139</sup> अध्यात्मसार—डॉ.प्रीतिदर्शना, जैन अध्यात्मवाद भूमिका, डॉ.सागरमल जैन, पृ. 7

का समावेश किया गया है। आगे के प्रबन्ध में सम्यक्त्व-ग्रहण, मिथ्यात्व-त्याग और असद्ग्रहण-त्याग के विषयों पर प्रकाश डाला है। पांचवां प्रबन्ध योग तथा ध्यान-विषयक है और यही विषय मेरे शोधकार्य का है। इसलिए यहां अध्यात्मसार के अनुसार योग तथा ध्यान का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है। 'योग-अधिकार' में कर्म तथा ज्ञान के दो भेदों का वर्णन करते हुए आवश्यकदि-क्रिया अर्थात् शारीरिक-चेष्टाएँ कर्मयोग तथा इन्द्रियों के प्रति अनासक्ति ज्ञानयोग है। श्लोक क्रमांक-इक्कीस में कहा गया है कि प्राथमिक-स्तर पर योगियों को सत्क्रिया की आवश्यकता रहती है और ऊँचे स्तर में तो मात्र शम की ही आवश्यकता रहती है।<sup>140</sup> आगे कहा है- क्रिया के अभाव में ज्ञान का और ज्ञान के अभाव में क्रिया का कोई अस्तित्व नहीं होता है। इसके मध्य श्लोकों में कर्म तथा ज्ञान-योग के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए अन्तिम श्लोक में कहा गया है -"कर्मयोग का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करके, ज्ञानयोग में अच्छी तरह स्थिर होकर ध्यानयोग पर आरुढ़ होकर मुनि मुक्तियोग को प्राप्त करे।"<sup>141</sup>

'ध्यान-अधिकार' में यशोविजयजी ने 'ध्यानशतक' के समान ही मन के एक ही विषय पर स्थिर होने को ध्यान कहा है और वही मन जब अलग-अलग विषयों में केन्द्रित होता है तब वह अस्थिर मन चित्त कहलाता है। पुनः, चित्त की तीन अवस्थाएं बताई हैं -1. भावना, 2. अनुप्रेक्षा और 3. चिन्ता।<sup>142</sup> तत्पश्चात्, ध्यान के चार प्रकारों का वर्णन किया है। आर्त और रौद्र-ध्यान को अशुभ तथा धर्म और शुक्लध्यान को शुभ की कोटि में गिना है। आर्तध्यान के चार प्रभेद, उसमें कौन-कौनसी लेश्या की सम्भावना, लक्षण और इस ध्यान की सत्ता किस गुणस्थान तक सम्भव है, तथा उसकी गति क्या है -इन सभी की चर्चा की गई है।<sup>143</sup> श्लोक क्रमांक-11 से 16 तक रौद्रध्यान का वर्णन, तत्पश्चात् धर्मध्यान का विश्लेषण करते

<sup>140</sup> अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा योगिनां ..... - अध्यात्मसार, 15/21

<sup>141</sup> कर्मयोगं समभ्यस्य ..... - वही, 15/83

<sup>142</sup> स्थिरमध्यवसानं यत् ..... तत्रिधामतम् ।। - अध्यात्मसार, 16/1

<sup>143</sup> आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं ..... तिर्यगगसिप्रदम् ।। - वही, 16/3 से 10

हुए श्लोक क्रमांक—18 से 72 तक भावना, देश, काल, आसन, आलंबन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल— इन बारह संबंधों का विस्तार से विवरण किया है।<sup>144</sup> धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान का वर्णन किया है। शुक्लध्यान के 1. सपृथक्त्वसवितर्कसविचार, 2. एकत्वसवितर्क अविचार, 3. सूक्ष्मक्रिया—अनिवृत्ति तथा 4. समुच्छिन्नक्रिया—अप्रतिपाती —इस प्रकार चार भेदों की चर्चा, प्रथम दो चरण का फल, स्वर्गलोक तथा चरम दो चरण का फल मोक्ष है --इस बात का उल्लेख किया गया है।<sup>145</sup> आगे, शुक्लध्यान की अनुप्रेक्षा, लक्षण, लेश्या पर प्रकाश डाला है और अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकार ने कहा है —“जो भगवान् की आज्ञा द्वारा शुद्ध ध्यान का यह क्रम जानकर इसका अभ्यास करते हैं, वे सम्पूर्ण अध्यात्म को जानने वाले होते हैं।”<sup>146</sup> इसी प्रबन्ध के सत्रहवें अधिकार में ध्यान की स्तुति की गई है। छठवें प्रबन्ध के अन्तर्गत आत्मनिश्चय और जिनमत की स्तुति की विवेचना की गई है। अन्तिम—प्रबन्ध में अनुभव तथा सज्जन—स्तुति का वर्णन करके ग्रन्थ को समाप्त कर दिया गया है। आत्मोपलब्धि के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए यह कृति अत्यन्त सहायकभूत है। साथ ही योग और ध्यान—साधना की अपेक्षा से यह एक बहुमूल्य कृति है।

## आधुनिक युग —

आधुनिक युग में मनुष्य तनावों से ग्रस्त है, उसका मुख्य कारण यह है कि वह भौतिक—सुख—सुविधाओं को ही यथार्थ सुख मानकर एक भ्रान्त जीवन जीने लगा है। इन भौतिक—सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए वह पागल—सा हो गया है। उसे न दिन में चैन है और न रात में आराम। दूसरे शब्दों में, भौतिकवादी जीवन—दृष्टि के कारण उसकी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और अपेक्षाएँ बहुत बढ़ गई हैं।

<sup>144</sup> भावनादेशकालौच.....प्रौढपुण्यानुबंधिनीम् ॥ — वही, 16/18 से 172

<sup>145</sup> सवितर्क सविचारं ..... आद्येयो सुरलोकाप्तिरत्ययोस्तु महोदयः ॥ — वही, 16/74 से 80

<sup>146</sup> एनं ध्यानक्रमं शुद्धं मत्वा भगवदाज्ञया। यः कुर्यादेतदभ्यासं संपूर्णध्यात्मविद् भवेत् ॥ — वही, 16/86

उनकी पूर्ति के अभाव में अथवा पूर्ति के साधनों की खोज में व्यक्ति तनावग्रस्त होता जा रहा है। असीम आनंद और शाश्वत शान्ति के स्रोत के प्राप्त न होने का मुख्य कारण मानसिक—तनाव तथा विपरीत धारणाएँ हैं। इस तनाव के कारण व्यक्ति की आत्मिक—शांति भंग हो चुकी है, अतः उस आत्मिक—शान्ति की खोज में वह पुनः आध्यात्म, ध्यान और योग की ओर आकर्षित हुआ है।

इस आकर्षण के कारण भारतवर्ष में अनेक प्रकार की ध्यान की विधाओं, पद्धतियों का विकास हुआ है, उसमें सर्वप्रथम आचार्य रजनीश ने पूर्व और पश्चिम की विविध ध्यान—पद्धतियों को एक—दूसरे से संबंधित करते हुए उनका विकास किया है। उन्होंने योग के सन्दर्भ में 'पतंजलि योग—सूत्र' के आधार पर पुस्तकें लिखीं। तत्पश्चात् ध्यान—साधना के लिए मार्गदर्शिका के रूप में उन्होंने 'ध्यानयोग' पुस्तक लिखी। जिसमें ध्यान क्या है ? साधकों के लिए प्रारंभिक सुझाव, ध्यान की विधियाँ, ध्यान में बाधाएँ और अंत में ओशो से पूछे गये प्रश्नोत्तर आदि विषय—वस्तु का समावेश किया गया है।<sup>147</sup> इसके बाद 'ध्यान—सूत्र' नामक पुस्तक में चित्त—शक्तियों के रूपांतरण द्वारा विचार—शुद्धि, भाव—शुद्धि, सम्यक्—समाधि, के सूत्र दिए गए हैं। ओशो का कहना है कि चित्त और शून्यता से समाधि फलित होती है।

'शुद्धि और शून्यता से समाधि' के सन्दर्भ में आचार्य रजनीश ने कहा है— "शरीर की शून्यता शरीर—तादात्म्य का विरोध है। हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हमारा शरीर है। किसी तल पर हमें प्रतीत होता रहता है कि मैं शरीर हूँ। मैं शरीर हूँ—यह भाव विलीन हो जाए, तो शरीर—शून्यता घटित होगी। शरीर के साथ मेरा तादात्म्य टूट जाए, तो शरीर—शून्यता घटित होगी।"<sup>148</sup>

इसी संबंध में 'समाधि के सप्त द्वार' नामक पुस्तक भी लिखी है। जिसमें अस्तित्व से तादात्म्य का विवेचन करते हुए मन के पार जाकर बोधिसत्व बनने की प्रेरणा है। ओशो ने उपसंहार में एक अनोखी बात से अवगत करवाया है—"एक ही

<sup>147</sup> ध्यानयोग — ओशो, पृ. 5 से 10

<sup>148</sup> ध्यान—सूत्र — आचार्य रजनीश, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 110

जगह अनवरत खुदाई करते रहें, तो ही जल मिलता है। ध्यान भी भीतरी खुदाई है, जो निरंतर चलनी चाहिए।<sup>149</sup> इस प्रकार उसने नानाविध ध्यान-पद्धतियों को विकसित किया। यह कहा जा सकता है कि ये सभी ध्यान-पद्धतियाँ ज्यादातर भौतिकवाद पर ही निर्भर हैं। स्वास्थ्यगत दृष्टि से ओशो ने कहा —“ध्यान के लिए सम्यक् स्वास्थ्य बहुत जरूरी है और उसके लिए सम्यक्-आहार, व्यायाम और विश्राम बुनियादी आवश्यकताएँ हैं।<sup>150</sup>

इसी प्रकार, पूज्य सत्यनारायणजी गोयनका बर्मा से भारत लौटे और उन्होंने विपश्यना की ध्यान-पद्धति को अधिक लोकप्रिय बनाया। कुछ हिन्दू-संन्यासियों ने पतंजलि की ध्यान और योग की साधना को पुनः जीवित किया। इस प्रकार जैन, बौद्ध और हिन्दू-धर्म की विविध साधना-पद्धतियाँ इस युग में अस्तित्व में आईं।

इन सभी का मूल लक्ष्य तो कहीं न कहीं व्यक्ति को तनावों से मुक्त करके आत्मशान्ति की ओर ले जाना ही था, क्योंकि इन सभी साधना-पद्धतियों ने चित्त की निर्विकल्पता को ही अपना लक्ष्य बनाया है।

जैन-धर्म में सर्वप्रथम विपश्यना से प्रभावित होकर आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षा-ध्यान विधि का विकास किया। आचार्यश्री ने सबसे पहले यह बताया कि ध्यान का प्रादुर्भाव कैसे होता है। उनका मतव्य है —“चंचलता जितनी सहज है, स्थिरता उतनी सहज नहीं है। शरीर, वाणी, और मन से परे जाने का अभ्यास सहज नहीं है। जो नहीं है, वह जब ‘है’ में बदलता है, तब होता है —ध्यान का जन्म।<sup>151</sup> आचार्य महाप्रज्ञजी ने ‘प्रेक्षा-ध्यान पद्धति’ द्वारा ध्यान-प्रक्रिया का प्रयोगात्मक-प्रतिपादन किया है। प्रेक्षा का तात्पर्य है —सूक्ष्मता से निरीक्षण करना, देखना, साक्षात्कार करना। मुनि किशनलालजी ने ‘प्रेक्षा : एक परिचय’ नामक एक लघु पुस्तिका में लिखा है —प्रेक्षा जैन-साधना का अर्वाचीन नाम भले ही हो; किन्तु

<sup>149</sup> ‘समाधि के सप्त द्वार’— भूमिका से, ओशो, पुस्तक से उद्धृत

<sup>150</sup> ध्यान-सूत्र, पृ. 33

<sup>151</sup> ‘तब होता है ध्यान का जन्म’ — आचार्य महाप्रज्ञ, पुस्तक से उद्धृत

मूलतः वह प्राचीन (प्रागैतिहासिक) युग से चली आ रही जैन साधना—पद्धति है। मानव—सभ्यता के आदि प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव, बाहुबलि, चक्रवर्ती भरत की साधना में प्रेक्षा के ही तत्त्व थे।<sup>152</sup>

मुनि किशनलालजी ने 'प्रेक्षाध्यान' (यौगिक क्रियाएँ) नामक पुस्तक में शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक—विकास के लिए करीब तेरह क्रियाओं का संकलन किया है, साथ ही स्वभाव—परिष्कार के लिए मेरुदण्ड की आठ क्रियाओं पर सचित्र प्रकाश डाला है।<sup>153</sup>

वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रतिपादित 'प्रेक्षाध्यान' पद्धति का विकास दिन—ब—दिन होता जा रहा है। साधक अन्तःकरण से इस विधि का प्रयोग कर रहा है, क्योंकि इसमें प्रेक्षा, विपश्यना के साथ—साथ हठयोग और आधुनिक मनोवैज्ञानिक—दृष्टि का समन्वय भी देखा जाता है।

इसी प्रेक्षा—ध्यान—पद्धति को आधार मानते हुए आचार्य नानालालजी ने समीक्षण ध्यान—विधि का विकास किया। आचार्य नानेश ने 'समीक्षण ध्यान साधना' पुस्तक में अपनी अनुभूतियों के आधार पर बताया है कि 'समीक्षण ध्यान', अर्थात् स्वयं के द्वारा स्वयं का अवलोकन करते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप (कर्मविहीन मुक्त अवस्था) को प्राप्त कर सकते हैं। इसी मार्ग को अपनाकर हम अपनी दूषित वृत्तियों का परिमार्जन करते हुए समता की ऊँचाईयों पर पहुँच सकते हैं।<sup>154</sup> समीक्षण वह दर्पण है, जो न केवल हमारी बाह्य—आकृति दिखाती है, अपितु हमारे आन्तरिक—भेदपन को भी मिटाती है। दूसरे शब्दों में, इस ध्यान—विधि में कषायों और राग—द्वेष की ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न देखा जाता है। 'समीक्षण ध्यान : एक मनोविज्ञान' पुस्तक में शान्तिमुनि ने आचार्य नानेश के समीक्षण—ध्यान के सन्दर्भ में दिए गए तेरह प्रवचनों का संकलन किया है।

<sup>152</sup> प्रेक्षा : एक परिचय — मुनि किशनलाल, पृ.2

<sup>153</sup> प्रेक्षाध्यान यौगिक क्रियाएँ — मुनि किशनलाल, विषयानुक्रम, पृ. 8—60

<sup>154</sup> समीक्षण ध्यान साधना — आचार्य श्री नानेश, पुस्तक से उद्धृत, पृ.7

इसी क्र. में, स्थानकवासी-परम्परा के आचार्य शिवमुनिजी ने आत्मध्यान का विकास किया। आचार्यश्री ने 'ध्यान एक दिव्य साधना' पुस्तक में कहा है —“ध्यान आध्यात्मिक-शक्तियों को विकसित करके मोक्ष पाने का अभ्यास है। शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना, स्वयं को जान लेना, अन्तर के सभी रहस्यों को उद्घाटित कर लेना ध्यान का लक्ष्य है।”<sup>155</sup> आचार्य शिवमुनि द्वारा लिखित 'ध्यानपथ' पुस्तक में ध्यान की पृष्ठभूमि, ध्यान का क्रियात्मक-स्वरूप तथा उपलब्धि, ध्यान सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ, ध्यानसाधना के सहयोगी शिविर, योगासन आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस आत्म-ध्यान की पद्धति में मूलतः विपश्यना और जैनधर्म की साधना का समन्वय देखा जाता है।<sup>156</sup> इसी प्रकार, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में मुनिश्री ललितप्रभसागरजी, मुनिश्री चन्द्रप्रभसागरजी ने सम्बोधि ध्यान-विधि का विकास किया है। उन्होंने बहुत ही सरल तरीके से ध्यान-विधि को प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा —“ध्यान का मूल अर्थ है, साक्षीभाव का प्रादुर्भाव होना। व्यक्ति हर कृत्य में साक्षी और दृष्टाभाव में लौट आए, तो तन-मन प्रतिक्रियान्वित नहीं होगा।”<sup>157</sup>

साधक को गीत और गाली —दोनों में साक्षीरूप (समभाव में) रहना है। इनसे परे होकर अपने-आप का अवलोकन करना है।<sup>158</sup> ध्यान में लीन होने के लिए सबसे पहले राग-द्वेषादि प्रवृत्तियों से दूर रहना होगा। ध्यान एक ओर जहाँ सतत उत्पन्न होने वाले बुरे विचारों से मुक्ति दिलाएगा तो दूसरी ओर वह जीवन में निर्विकल्प-स्थिति की प्राप्ति कराएगा।

मुनिश्री ने सम्बोधि-ध्यान-विधि के संबंध में ध्यान की जीवन्त-प्रक्रिया, ध्यान —विज्ञान आदि पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह विधि भी बौद्ध-विपश्यना, जैनप्रेक्षा एवं पातंजल योग-साधना का ही एक

<sup>155</sup> ध्यान एक दिव्य साधना। — आचार्य शिवमुनि, पृ. 32

<sup>156</sup> 'ध्यान पथ' पुस्तक से उद्धृत

<sup>157</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'ध्यान-योग' — महोपाध्याय ललितप्रभसागर, पुस्तक से उद्धृत, पृ.33

<sup>158</sup> ध्यान : साधना और सिद्धि — चन्द्रप्रभसागर, पृ. 110



मिश्रित रूप है। नवीन शाह द्वारा 'ध्यान ओ शान्ति नुं धाम' पुस्तक में और प.पू. निर्मला माताजी द्वारा 'निर्मल सुरभि' पुस्तक में ध्यान सम्बन्धी विषय-वस्तु को बहुत ही सरल पद्धति से साधकों को अवगत करवाया गया है। डॉ. चमनलाल गौतम ने 'ध्यान की सरल साधनाएँ' नामक पुस्तिका में ध्यानयोग का स्वरूप, प्रकार तथा शरीरस्थ, रूपस्थ, मन्त्रस्थ की ध्यान-साधना, ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी, ध्यान की अनुभवसिद्ध विधि और त्राटक का अभ्यास आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया है। ध्यान के सन्दर्भ में उनका कहना है — "संसार के सभी महत्त्वपूर्ण कार्यों की सफलता के लिए मनोयोग अथवा ध्यान की, एकाग्रता की आवश्यकता होती है। जब चित्त, भौतिक विषयों से हटकर अन्तःप्रदेश में प्रवेश करने लगता है तो समझना चाहिए कि ध्यान का उद्देश्य पूर्ण हो रहा है।"<sup>159</sup>

डॉ.नेमिचंद ने 'चयनिका' नामक मासिक पत्रिका में कुछ तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा — "1950 ई. के बाद से तीन ध्यान-पद्धतियाँ भारतीय क्षितिज पर आईं — 1. विपश्यना, 2. प्रेक्षा और 3. समीक्षण। इन पद्धतियों के अलावा अलग-अलग साधु-संतों साधकों ने किंचित् हेरफेर के साथ अपनी-अपनी लघुध्यान पद्धति विकसित की और कई शिविर आयोजित किए।"<sup>160</sup>

इस प्रकार, आधुनिक युग में जो विभिन्न ध्यान-साधना की पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, उनमें जैन, बौद्ध और हिन्दू-परम्परा का एक समन्वय ही प्रमुख रहा। ये सभी मानव को तनावों से मुक्त करने की दिशा में गतिशील हैं। इस प्रकार, 'ध्यानशतक' की ध्यान-पद्धति को अन्यान्य पद्धतियों से समन्वित करने का प्रयास हुआ है।

<sup>159</sup> ध्यान की सरल साधनाएँ। — डॉ. चमनलाल गौतम, पृ. 5, 7

<sup>160</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'चयनिका' डॉ. नेमिचंद जैन द्वारा आलेखित — जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम की 9 इकाई से लिया — पृ. 42-43

## जैनध्यान—साधना तथा बौद्धध्यान—साधना : एक तुलनात्मक अध्ययन —

जैनध्यान—साधना और बौद्धध्यान—साधना पर जब हम तुलनात्मक—दृष्टि से विचार करते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि दोनों में विशेष अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही साधना—पद्धतियाँ आत्मसजगता या अप्रमत्तता की बात करती हैं, साथ ही इन दोनों की ध्यान—साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य चित्त की सजगता से चेतना की निर्विकल्प—स्थिति को प्राप्त करना है, क्योंकि दोनों साधना—पद्धतियाँ यह मानती हैं कि जब तक चित्त निर्विकल्प नहीं होता, तब तक मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति संभव नहीं।

बौद्धसाधना में चित्त का निर्विकल्प हो जाना, अथवा विकल्पशून्य हो जाना ही साधना का लक्ष्य है, यानी भव का अभाव अथवा निर्वाण को प्राप्त करना है<sup>161</sup> और यह निर्वाण तब ही सम्भव है, जब तृष्णा और वेदनाजन्य दुःखों की पूर्ण शान्ति हो।<sup>162</sup>

इन्द्रियजन्य विकारों तथा मन के संसर्ग की आकांक्षा या अपेक्षा तृष्णा कहलाती है। इन कामनाओं, इच्छाओं पर विजय पाना बहुत कठिन है।<sup>163</sup> बौद्ध—ग्रन्थों में मोटे तौर पर तृष्णा को तीन रूपों में प्रतिपादित किया गया है —

1. कामतृष्णा, 2. भवतृष्णा और 3. विभवतृष्णा

भौतिक—पदार्थों को पाने की इच्छाएँ, कामनाएँ **कामतृष्णा** कहलाती हैं। पर—पदार्थों को ममत्वबुद्धि के कारण अपना मानना, अपनेपन का मिथ्या—आरोपण करना और उन पर—पदार्थों का वियोग न हो —ऐसी चाह **भवतृष्णा** है। दुःख, संवेदनरूप विषयों के संसर्ग के नष्ट होने की चाह **विभवतृष्णा** कहलाती है।<sup>164</sup> इन तीनों तृष्णाओं से दुःख का प्रादुर्भाव होता है अतः मूलतः इन तृष्णाओं की अभावता में ही

<sup>161</sup> संयुक्त निकाय, पृ. 117

<sup>162</sup> प्रस्तुत संदर्भ 'भारतीय दर्शन में योग — डॉ. मंगला, पुस्तक से उद्धृत, पृ. 283

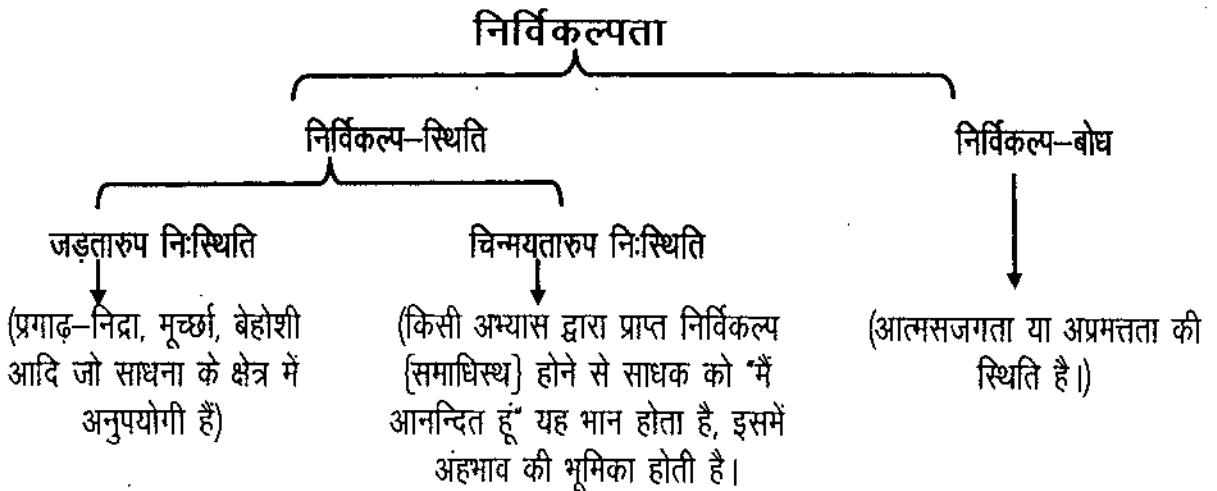
<sup>163</sup> कामा दुरतिककमा..... ।।, आचारांगसूत्र 1/2/5

<sup>164</sup> जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 302

मुक्ति का प्रगटीकरण है। संयुक्तनिकाय में स्पष्ट रूप से लिखा है कि तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सब बन्धन स्वयं ही कट जाते हैं।<sup>165</sup> जैन साधना का लक्ष्य मन, वचन, काया की प्रवृत्तियों का निरोध करना है, जिसे आगमिक भाषा में योग—निरोध कहा गया है। इस योग—निरोध के द्वारा मन को अमन बना देना है। चित्तवृत्तियों की निर्विकल्पदशा प्राप्त करना है, जिसे वीतरागदशा भी कहा जा सकता है।

डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में —“समग्र भारतीय साधनाओं का मुख्य लक्ष्य चेतना की निर्विकल्प—अवस्था को प्राप्त करना है। योगसूत्र की अपेक्षा से योग—साधना का लक्ष्य चित्तवृत्ति का निरोध है। बौद्धसाधना में चित्त की निर्विकल्प दशा को ही निर्वाण के रूप में परिभाषित किया गया है। उसमें माना गया है कि तृष्णा विकल्पजन्य है। विकल्पों के निरोध के बिना तृष्णा का उच्छेद सम्भव नहीं है। उसी प्रकार, जैन—परम्परा में भी यह कहा गया है कि योगनिरोध ही साधना का लक्ष्य है। यह योगनिरोध भी चित्तवृत्ति की निर्विकल्पता ही है। इसे समता या वीतरागता के रूप में भी माना गया है।”<sup>166</sup>

यहाँ निर्विकल्पता को थोड़ा विस्तार से समझना है। परमसुख—विपश्यना नामक पुस्तक में कन्हैयालालजी लोढ़ा ने निर्विकल्पता को दो विभागों में बांटा है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं —



<sup>165</sup> तण्हाय विप्पहानेन सव्वं छिन्दति बंधनं।। — संयुक्तनिकाय — 1/1/65

<sup>166</sup> परमसुख—विपश्यना — कन्हैयालाल लोढ़ा, पुस्तक की भूमिका, पृ.1

सामान्यतया निर्विकल्प-स्थिति प्रत्येक प्राणी में सामान्य रूप से निहित है, परन्तु निर्विकल्प-बोध तो मात्र विवेकशील तथा आध्यात्म-विकास के अधिकारी को ही प्राप्त होता है। निर्विकल्प-स्थिति में उपशम-श्रेणी के समान विषय-विकार का दमन होता है, वे समाप्त नहीं होते, परन्तु निर्विकल्प-बोध में सकल कर्मों तथा विषय-विकारों का नाश होता है, जिसे क्षपक-श्रेणी के समान कहा जा सकता है। निर्विकल्प-स्थिति, अस्थायी अर्थात् आती-जाती रहती है, पर निर्विकल्प-बोध स्थायी रहता है। व्यक्ति अपना आध्यात्मिक-विकास निर्विकल्प-स्थिति के माध्यम से नहीं, अपितु निर्विकल्प-बोध से ही कर सकता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि निर्विकल्प बोध कैसे होता है ?

कहा जाता है कि चित्तवृत्ति को किसी विषय, या साध्य से केन्द्रित करके रखने से निर्विकल्प बोध नहीं होता है। जैन तथा बौद्ध-परम्परा की मान्यता यह है कि मोक्ष या निर्वाण की इच्छा, आकांक्षा, चाह भी मोक्ष या निर्वाण में बाधा उत्पन्न करती है। ये सभी निजस्वरूप के प्रगट होने में बाधक तत्त्व हैं, जैसे - पशु में स्थित बाह्य-चंचलता को नियंत्रित करने के लिए उसे किसी एक स्थान पर बांध दिया जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि उसकी चंचलवृत्तियाँ स्वभावतः समाप्त हो गईं। यही बात हमारे मन पर भी लागू होती है। भिन्न-भिन्न साधना-पद्धतियों के माध्यम से मन के विकल्पों को समाप्त करने के लिए मंत्र जप, नाम जप आदि को स्वीकार किया गया, पर इन तथ्यों से मन की विकल्पता को निर्विकल्पता में परिवर्तित करने में असफल रहे, आंशिक रूप में विचार स्थिर जरूर हुए, परन्तु स्थायी निर्विकल्प-बोध को प्राप्त न कर सके। इस सन्दर्भ में डॉ. सागरमल जैन का कहना है --"साक्षीभाव अथवा ज्ञातादृष्टाभाव आत्मा या चित्त-सत्ता का स्वभाव है। यदि व्यक्ति की चेतना दृष्टाभाव में अवस्थित रहे, तो उसके दो परिणाम मिल सकते हैं। प्रथम तो यह कि चित्त के विकल्प समाप्त हो जाते हैं और यदि वे होते भी हैं, तो आत्मा या चित्त मात्र उनका साक्षी होता है, कर्ता नहीं होता। इस प्रकार,

विकल्प समाप्त होकर निर्विकल्प बोध की स्थिति बनती जाती है। इसमें चित्तवृत्ति की सजगता के परिणाम—स्वरूप निर्विकल्प स्थिति न होकर निर्विकल्पबोध होता है।<sup>167</sup>

जैन—साधना पद्धति और बौद्ध—साधना पद्धति — ये दोनों पद्धतियाँ यह मानकर चलती हैं कि राग—द्वेष और तज्जन्य मोह एवं तृष्णा ही दुःख का मूलभूत कारण है और यह विकल्परूप है। जैन—परम्परा का प्रथम आगम—अंग 'आचारांगसूत्र' में कहा है कि —कामनाओं का पार पाना बहुत कठिन है।<sup>168</sup> इसी बात को और गहराई से समझने के लिए आगे कहा है —“हे धीर पुरुष, आशा—तृष्णा और स्वच्छन्दता का त्याग कर। तू स्वयं ही इन कांटों को मन में रखकर दुःखी हो रहा है।<sup>169</sup> यही बात बौद्ध—ग्रन्थ में कही गई है कि इच्छावृद्धि पापवृद्धि का कारण है, इच्छावृद्धि से दुःख होते हैं, अतः इच्छा को दूर करने पर पाप स्वतः ही दूर हो जाएंगे और पाप के दूर होते ही दुःख दूर होने में समय नहीं लगता,<sup>170</sup> क्योंकि तृष्णा एक जैसी वस्तु है, जिससे उपाधि बढ़ती है और जहाँ उपाधि बढ़ी, वहाँ दुःख बढ़ता जाता है।<sup>171</sup> यह विकल्पता की स्थिति है, इसलिए निर्विकल्प को प्राप्त करना ही ध्यान—साधना का मूलभूत लक्ष्य है। इस हेतु जैन—परम्परा में शरीर की स्थिरता, वाणी का मौन, मन की एकाग्रता और अंत में व्युत्सर्ग की वृत्ति से ही ध्यान की पूर्णता होती है।

बौद्ध—परम्परा में इसे विपश्यना के माध्यम से किञ्चित् भिन्न रूप से समझाया गया है, वहाँ क्रम इस प्रकार है —

1. श्वासोश्वास के प्रति सजगता
2. शारीरिक—संवेदनाओं के प्रति सजगता

<sup>167</sup> 'परमसुख—विपश्यना' — कन्हैयालाल लोढ़ा, पुस्तक की भूमिका से उद्धृत, पृ.4

<sup>168</sup> कामा दुरतिककमा। — आचारांगसूत्र, 1/2/5

<sup>169</sup> आसं च छंदं च विगिंच धीरे! तुमं चेव सल्लमाहट्टू। — वही, 1/2/4

<sup>170</sup> छन्दजं अधं, छन्दजं दुक्खं, छन्दविनया, अधविनयो, अधविनया दुक्ख विनयो। — संयुक्त निकाय, 1/1/34

<sup>171</sup> ये तण्हं वड्ढंति ते उपधिं वड्ढंति। ये उपाधिं वड्ढंति ते दुक्ख वड्ढंति। — वही, 2/6/66

3. चित्तवृत्ति के प्रति सजगता और,
4. चित्तवृत्ति की निर्विकल्पता

इस क्रम को यदि गहराई से देखें, तो ऐसा लगता है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जैन-परम्परा में भी ध्यान के सन्दर्भ में श्वासोश्वास के प्रति तथा शारीरिक संवेदना के प्रति सजगता की चर्चा हमें मिलती है। जैन-परम्परा में 'आवश्यकचूर्णि' में कहा गया है—साधक सांवत्सरिक-प्रतिक्रमण के समय 1000 श्वासोश्वास का, चातुर्मासिक-प्रतिक्रमण के समय 500 श्वासोश्वास का, पाक्षिक-प्रतिक्रमण के समय 250 श्वासोश्वास का, दैवसिक-प्रतिक्रमण के समय 100 और रात्रिक-प्रतिक्रमण के समय 50 श्वासोश्वास का ध्यान करे।<sup>172</sup> इस प्रकार, 'योगशास्त्र' में हेमचन्द्राचार्य ने कहा है कि साधक को ध्यान में शारीरिक-संवेदनाओं के प्रति सजग होना चाहिए।<sup>173</sup>

दोनों ही पद्धतियों में ध्यान का अन्तिम चरण तो चित्त की निर्विकल्पता ही है और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दोनों साधना-पद्धतियाँ साधना के प्रायोगिक पक्ष में किंचित् मतभेद होते हुए भी एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर हैं और दोनों का अन्तिम लक्ष्य तो चित्त की निर्विकल्पता ही है। बौद्ध-परम्परा में इस ध्यान-विधि का विकास विपश्यना के रूप में हुआ, तो जैन-परम्परा में इसे प्रेक्षाध्यान कहा गया है। किन्तु वस्तुतः यह दोनों भी साक्षीभाव या ज्ञाता-दृष्टाभाव की साधना है और इस दृष्टि से दोनों के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं, यहाँ तक कि योगसूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग माना गया है।

जिसे जैन-परम्परा में योगनिरोध कहा गया है, उसे बौद्ध-परम्परा में चित्तवृत्ति का निरोध कहा है।

<sup>172</sup> आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पृ. 265 (कायोत्सर्ग अध्ययन)

<sup>173</sup> योगशास्त्र, प्रकाश 4, श्लोक 70, 73, 77, 116

अन्त में यही समझना है कि ध्यान आध्यात्मिक उर्ध्वीकरण का अनन्य हेतु है। ध्यान-साधना अकृत्रिम, अक्लिष्ट, उपादेय तथा सुसाध्य होना चाहिए।<sup>174</sup>

### पातंजल ध्यान की योगसाधना तथा जैनध्यान साधना : एक तुलनात्मक अध्ययन

पातंजल-योगसूत्र में यह उल्लेखित है कि अष्टांगयोग के अनुष्ठान से चित्त में स्थित अशुद्ध-वृत्तियों का नाश होते ही आत्मा में शुद्ध ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।<sup>175</sup> पातंजल-योगसूत्र के अनुसार, योग के आठ अंग निम्नांकित हैं -

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।<sup>176</sup>

जैसे-जैसे साधकात्मा इन अंगों का क्रमशः अनुष्ठान करती है, वैसे-वैसे उसके चित्त का शुद्धिकरण होता जाता है। ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है। अन्त में वीतरागता या केवलज्ञान का आविर्भाव हो जाता है।

अष्टांगयोग के अनुष्ठान से साधक को दो फलों की प्राप्ति होती है -

(1) चित्तगत अशुद्धता का निवारण, और (2) केवलज्ञान की प्राप्ति।<sup>177</sup>

इन आठ अंगों में पहले के पांच अंग बहिरंग साधन<sup>178</sup> कहलाते हैं तथा बाद के तीन अंग अन्तरंग साधन माने गए हैं।

प्रथम के पांच अंग-दोषों के निवारण में सहायक होते हैं तथा अन्तिम तीन केवल-ज्ञान की प्राप्ति में विशेष सहयोगी माने जाते हैं।

<sup>174</sup> कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 116

<sup>175</sup> योगांगनुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः। पातंजल सूत्र 28)

<sup>176</sup> 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि - पातंजल योगसूत्र 2/29

<sup>177</sup> योगांगनुष्ठानम्, अशुद्धेर्वियोगकारणं यथा परशु छेद्यस्य, विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथाधर्मः सुखस्य (व्यासभाष्य 2/29)

<sup>178</sup> 'उक्तानि पंच बहिरंगानि साधनानि' (व्यासभाष्य 3/1)

पातंजल-योगदर्शन के अनुसार, अन्तिम तीन अंगों की 'संयम' संज्ञा है, अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों अंग संयम कहलाते हैं।<sup>179</sup>

यमादि पांच अंग असम्प्रज्ञात समाधि के कारण हैं और धारणादि सम्प्रज्ञात-समाधि के अंतरंग कारण हैं।

इन आठों अंगों के स्वरूप, फलश्रुति एवं सम्यक् अनुष्ठान से मिलने वाली लब्धियों का 'पातंजलदर्शन' में सविस्तार तथा व्यवस्थित रूप से वर्णन किया गया है।

आध्यात्मिक-जगत् के आधारस्तंभ तथा भारतीय-दर्शनों में अपना विशिष्ट स्थान रखने वाले जैनधर्म में इन योगांगों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है या नहीं ? और यदि है, तो उसका आगम-निहित स्वरूप क्या है? जैनागमों में पातंजल-दर्शन के इन आठ अंगों का स्वरूप क्या है ? इनके अनुसार दोनों के मूलभूत योगांगों में कोई भेद है या नहीं ? यह जानना आवश्यक है।

इन आठ अंगों का जैन-आगमों में कैसा वर्णन है, इसका यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

### 1. यम :-

पातंजल-योगदर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों को 'यम' संज्ञा प्राप्त है, किन्तु उसमें उन यमों को व्रत भी कहा गया है।

पातंजल-योगसूत्र और जैनागमों में इनके स्वरूप की कुछ चर्चा भी मिलती है। दोनों परम्पराओं में इनके स्वरूप को लेकर अधिक अन्तर नहीं है।

पातंजल-योगसूत्र में पहले एवं दूसरे यम को क्रमशः अहिंसा और सत्य कहा गया है। जैनागमों के अन्तर्गत हिंसा से विरति या निवृत्ति एवं मृषावाद के त्याग का निर्देश किया गया है। दोनों में इनके स्वरूप में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

<sup>179</sup> 'त्रयमेकत्र संयमः वही 3-4



जहाँ सत्य शब्द प्रवृत्तिपरक है, तो वहीं दूसरी ओर अहिंसा निवृत्तिपरक। चाहे कोई भी व्रत क्यों न हो, लेकिन उसमें निवृत्तिपरक एवं प्रवृत्तिपरक—दोनों पक्ष होते हैं।

जैसे आगमानुसार धर्म—आचरण की परिपालना में अधर्माचरण का स्वतः ही त्याग हो जाता है, वैसे ही अधर्माचरण के त्याग की प्रतिज्ञा में धर्माचरण का स्वतः ही विधान हो जाता है। इसी कारण, अहिंसादि सत्प्रवृत्ति करने में हिंसादि की दुष्प्रवृत्ति से निवृत्ति स्वतः समाहित रहती है।

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुनसेवन तथा संग्रह—वृत्ति का मानसिक—वाचिक—कायिक रूप से परित्याग करना ही अहिंसा है, व्रत की पालना है।

**अहिंसा** :- मन, वचन और काया के माध्यम से बड़ी या छोटी सम्पूर्ण हिंसा रूप क्रिया से निवृत्त होना अहिंसाव्रत है।

**सत्य** :- मानसिक, वाचिक तथा कायिक—प्रवृत्ति में सर्वथा अप्रामाणिकता का त्याग ही सत्य—व्रत है।

**अस्तेय** :- कोई भी वस्तु बिना उसके स्वामी की आज्ञा के ग्रहण करना चोरी है और इसी का परित्याग अचौर्यव्रत है।

**ब्रह्मचर्य** :- सर्वथा मैथुनसेवन का त्याग ब्रह्मचर्य—व्रत है।

**अपरिग्रह** :- किसी भी प्रकार की वस्तु, चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म, उस पर मूर्च्छा, आसक्ति या भ्रमता का त्याग ही अपरिग्रह—व्रत कहलाता है।

जब तक इन पांचों का पालन आंशिक रूप से होता है, तब तक वे अणुव्रत कहे जाते हैं और जब इनका पालन पूर्णतः होता है, तो ये महाव्रत कहे जाते हैं।

‘गृहस्थ के लिए इनका पूर्णतः पालन शक्य नहीं है, पर साधु के लिए शक्य होता है। इनमें अहिंसा को प्रथम स्थान इसलिए मिला, क्योंकि वह इन सबमें प्रधान है। इस संदर्भ में पातंजल—योगसूत्र और जैनागमों का चिन्तन प्रायः समान है।<sup>180</sup>

<sup>180</sup> क) तत्र हिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोह ..... । —व्यासभाष्य 2/30

ख) 'एसा सा भगवती अहिंसा जासा भीयाण ..... विसत्थगमणं इत्यादि।

मुनि द्वारा धारण किए हुए इन महाव्रतों में स्थिरता हेतु आगम में प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ बताई गई हैं।<sup>181</sup>

ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान-भोजन — ये अहिंसा-व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।<sup>182</sup> इस तरह इन पाँचों यमों (व्रतों) की पाँच-पाँच भावनाएँ कही गई हैं। यथार्थ वस्तुतत्त्व का बार-बार स्मरण करना ही भावना है। इनका आंशिक रूप से पालन करने वाले श्रावक तथा पूर्णरूपेण पालन करने वाले साधु कहलाते हैं।

इनका पूर्णरूप से पालन करने वाले शीघ्र ही आत्मोन्नति के शिखर पर पहुँच जाते हैं। आंशिक रूप से इसका पालन करने वाले गृहस्थादि मंद गति से आत्मोन्नति की ओर बढ़ते हैं। योगसाधना के लिए आत्मोत्कर्ष हेतु दोनों मार्गों की उपयोगिता रही हुई है।

## 2. नियम :-

इच्छाओं को वश में करने के लिए ग्रन्थकारों ने विविध प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है। पातंजल योगसूत्र में पाँच नियमों का उल्लेख है, यथा— शोच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। देह और मन की शुद्धिकरण का नाम शोच है। शरीरनिर्वाह हेतु परपदार्थों के प्रति मूर्च्छा का त्याग सन्तोष है। चित्तविशुद्धि हेतु किया गया तपानुष्ठान ही तप है। सद्ग्रन्थों का मंथन स्वाध्याय है तथा परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन ईश्वरप्रणिधान है।

---

ग) 'एककचिय एत्थवयं निदिद्धं जिणवेरहिं सव्वेहिं।  
पाणातीवार्यविरमणवसेसा तस्स रक्खद्धा।। --निर्युक्ति

<sup>181</sup> 'पंचयामस्स पणवीसं भावणाओ पण्णत्ता'  
पंचयामस्य पंचविंशतिः भावनाः प्रज्ञप्ताः। --समवायांग, सम 25

<sup>182</sup> क) 'ईरिया समिई मणगुत्ती ..... हासविवेगे। --समवायांग

ख) प्रश्नव्याकरण सूत्र 2.5.163 पृष्ठ 250

आगम—सूत्रों में भी शोचादि का वर्णन मिलता है।<sup>183</sup> आत्म—परिणामों की शुद्धता के लिए नियमों की परमावश्यकता है। शोचभाव से सात्त्विक भावों की वृद्धि, सन्तोषभाव से उच्चतम आत्मिक—सुख की प्राप्ति, स्वाध्याय के माध्यम से अभीष्ट दर्शन की उपलब्धि, तप से इन्द्रियविजय तथा ईश्वरप्रणिधान से आत्म—समाधि का लाभ मिलता है। जैनदर्शन में इन पांचों का उल्लेख तो है ही, साथ ही बत्तीस योगसंग्रहों का उल्लेख भी नियम के रूप में मिलता है।<sup>184</sup>

### 3. आसन :-

योग के अष्टांगों में तीसरा स्थान आसन का है। पातंजल—योगसूत्र के अनुसार आसन—सुख एवं स्थिरतापूर्वक विभिन्न प्रकार की शारीरिक—मुद्राओं में बैठना आसन है।<sup>185</sup> ध्यान तथा योगमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए आसन—सिद्धि की परमावश्यकता मानी गई है।

जैनागमों में बहिरंग—तप का एक प्रकार है —कायक्लेश। कायक्लेश के अन्तर्गत आसनों का विवेचन आता है। उसमें भी विविध प्रकारों के आसनों का विवरण मिलता है।<sup>186</sup> वीरासन, पद्मासन, कमलासन, गोदोहासन, सुखासन इत्यादि अनेक प्रकारों के आसनों का जैन—ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है।<sup>187</sup>

इन आसनों के अभ्यास के द्वारा चित्त स्वतः ही अपनी अस्थिर प्रवृत्तियों को त्यागकर एकाग्र होने लगता है। आसन के संदर्भ में हेमचन्द्र ने एक महत्त्वपूर्ण बात

<sup>183</sup> 'किं ते भन्ते! जत्ता ? सोमिला। जमे तव नियमसंजमसज्जायज्जाणावस्समयादीएसु जोगेसु जयणा से ततं जत्ता'। —भगवतीसूत्र श.18, उत्तराध्ययन 10 सू. 646

<sup>184</sup> बत्तीस जोगसंगहा पं. तंजहा—1 आलोयण .....आराहणाय मरणंते' —समवायांग, समवाय 32

<sup>185</sup> 'स्थिरसुखमासनम्। —योगदर्शन, 2—46

<sup>186</sup> 'से किं तं कायकिलेसे। अणेगविहे पण्णते तं जहा—ठाणद्धितिए—ढाणाइए —औपपा.सू.बाह्यंत सू. 19

<sup>187</sup> इसके लिए दशाश्रुतस्कंधसूत्र की सातवीं दशा का अवलोकन करना चाहिए।

बताई है —जिस—जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का प्रयोग ध्यान के समय किया जाना चाहिए।<sup>188</sup>

#### 4. प्राणायाम :-

आसन के पश्चात् अष्टांगों में प्राणायाम का वर्णन आता है। पातंजल योगदर्शन में यह उल्लेख<sup>189</sup> है कि प्राणायाम की प्रक्रिया के माध्यम से ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञेयावरण क्षीण हो जाते हैं और मनोवृत्ति निश्चल एकाग्र हो जाती है।

बाहर की शुद्ध हवा को अन्दर खींचना तथा अन्दर की अशुद्ध हवा (वायु) को बाहर निकालना —यह श्वास—प्रश्वास की सहज प्रक्रिया है।

शरीरस्थ वायु के पाँच प्रकार और पाँच स्थान होते हैं —

शरीरस्थ वायु के प्रकार	प्राणवायु के रहने का स्थान
1. प्राण	— नाभि, हृदय और नासिका के अग्रभाग में।
2. अपान	— गर्दन के पीछे नाड़ियों में तथा गुर्दा स्थान में।
3. समान	— सन्धियों में।
4. उदान	— हृदय, कण्ठ, तालु, मस्तिष्क के मध्य में।
5. व्यान	— शरीर के समस्त भागों में।

पातंजलि के अनुसार, श्वास के आने—जाने में व्यवधान न हो, यही प्राणायाम है। यह तीन भागों में विभाजित है — (1) रेचक (2) पूरक, और (3) कुम्भक

1. **रेचक** — नाभि—प्रदेश में स्थित वायु को यत्नपूर्वक धीरे—धीरे नासारन्ध्र से बाहर निकालना रेचक है।

<sup>188</sup> योगशास्त्र, चतुर्थप्रकाश —134

<sup>189</sup> क) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् —2/52

ख) प्राणायामानभ्यस्तयोऽस्य योगिनः

क्षीयते विवेक ज्ञानावरणीयं कर्म ..... ॥ —व्यासभाष्य

2. **पूरक** – बाहर के वायु को यत्नपूर्वक नासारन्ध्र के द्वारा भीतर खींचना पूरक है।

3. **कुम्भक** – आकृष्ट वायु की नाभिप्रदेश में स्थापना करना कुम्भक प्राणायाम है।

नियमित प्राणायाम के अभ्यास से भीतर में धारणा की योग्यता बढ़ती है।

यहाँ एक बात समझने योग्य है कि जैन-परम्परा में हेमचन्द्राचार्यकृत **योगशास्त्र** एवं शुभचन्द्रगणिकृत **ज्ञानार्णव** में प्राणायाम के संदर्भ में काफी विस्तृत विश्लेषण है, किन्तु मूलागमों में प्राणायाम से संबंधित कोई ठोस वर्णन नहीं मिलता है। इससे यहाँ यह प्रतीत होता है कि प्राचीन जैनदृष्टि इस विषय में तटस्थ रही हो। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जैन-साधना पद्धति में प्राणायाम का वर्णन तो प्राप्त है, किन्तु उसे मुक्ति की साधना में जरूरी नहीं माना गया हो।<sup>190</sup> आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में<sup>191</sup> एवं उपाध्याय यशोविजय के 'जैनदृष्ट्या परीक्षितं पतंजलियोगदर्शन'<sup>192</sup> नामक ग्रंथ में मोक्ष-साधना के लिए प्राणायाम को अस्वीकार किया गया है। उनका कहना है कि प्राणायाम से मन शांत नहीं होता, अपितु क्षुब्ध हो जाता है। शारीरिक-दृष्टि से चाहे प्राणायाम उपयोगी सिद्ध हो सकता है, परन्तु मानसिक-दृष्टि से उपयोगी नहीं है।

फिर भी, आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग में श्वासों की जो प्रणाली बताई है, वह श्वासप्रेक्षा सदृश लगती है। जैनागमों के अन्तर्गत जो दृष्टिवादरूप बारहवां अंग है, उसमें विभंगपूर्व के बारहवें विभाग में जो प्राणवायु पूर्व के नाम से उद्धृत है, जिसमें प्राण, अपान का सविस्तार उल्लेख रहा था, इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जैन-मनीषी प्राणायाम से भलिभाँति परिचित थे, फिर भी मोक्षमार्ग में उसे आवश्यक नहीं मानते थे।

<sup>190</sup> योगसूत्र -2/9

<sup>191</sup> योगशास्त्र -6.4/5.5

<sup>192</sup> जैनदृष्ट्या परीक्षितं पतंजलि योगदर्शनम् -उ.यशोविजयकृत 2.55 अध्यात्मसार से उद्धृत

## 5. प्रत्याहार -

महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में प्रत्याहार की व्याख्या यह है कि अपने विषयों से सम्बद्ध इन्द्रियों का चित्त में एकीकरण हो जाना प्रत्याहार है।<sup>193</sup> इन्द्रियविजयी बनने हेतु प्रत्याहार अपेक्षणीय है, क्योंकि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त साधक समता को प्राप्त कर ध्येय पर अवस्थित होने की क्षमता को प्राप्त कर लेता है। जैन-ग्रन्थों में प्रत्याहार को प्रतिसंल्लीनता कहा गया है। जैनागमानुसार, प्रतिसंल्लीनता अर्थात् शरीर, इन्द्रिय तथा मन को अशुभ प्रवृत्तियों से लौटा लेना है।

जैनागमों में प्रतिसंल्लीनता को चार भागों में विभक्त किया है,<sup>194</sup> यथा -

- |                             |                          |
|-----------------------------|--------------------------|
| (1) इन्द्रिय-प्रतिसंल्लीनता | (2) कषाय-प्रतिसंल्लीनता  |
| (3) योग-प्रतिसंल्लीनता      | (4) विविक्तशयनासनसेवनता। |

## 6. धारणा -

पतंजलि ने धारणा की व्याख्या करते हुए कहा है - जैसे सूर्य, चन्द्रादि बाह्यदेश में स्थित हैं, वैसे ही हृदयकमल, नाभिचक्र, आज्ञाचक्रादि आभ्यन्तर-देश, अर्थात् शरीर में स्थित हैं। इनमें से किसी भी एक देश-स्थान पर चित्त का स्थिर हो जाना धारणा कहलाती है। आगमों में किसी एक पुद्गल-विशेष पर या किसी सूक्ष्म या स्थूल विषय-वस्तु पर चित्तवृत्ति को स्थिर करके मन की एकाग्रता सम्पादनार्थ धारणा का समर्थन किया है।<sup>195</sup> निष्कर्षतः, ध्येय पदार्थ में चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही धारणा है।

<sup>193</sup> 'स्वविषयासंप्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां ..... प्रत्याहारः।' - भोजवृत्ति 2.154

<sup>194</sup> 'से कि तं पडिसंलीणयाद्य ? चउव्विहा पण्णां तं - इदिअपडिसंलीणया, कसायपडिसंलीणया, जोगपडिसंलीणया, दिवित्तसयणासण सेवणया।' - औपपातिकसूत्र बाह्यतपोऽधिका

<sup>195</sup> भगवतीसूत्र श. 3 उ. 2 में भगवान महावीर स्वामी ने अपनी तपश्चर्या का वर्णन करते हुए ध्यान के लिए किसी एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थिर करने का निर्देश किया है।

## 7. ध्यान —

योग के अन्य अंगों की दृष्टि से देखा जाए, तो लगता है कि यह ध्यान सबसे महत्त्वपूर्ण है। चित्त की अनवरत एवं अबाधित रूप से ध्येय वस्तु पर एकाग्रता हो जाना ध्यान है।<sup>196</sup>

ध्यान से उत्पन्न होने वाली एकाग्रता से आत्मोत्कर्ष में अपूर्व प्रगति होती है। इसी हेतु जैन-सिद्धान्तों में ध्यान का विस्तारपूर्वक विश्लेषण हुआ है, साथ ही उसकी निजरवरूप के भान, आत्मोन्नति एवं सर्वज्ञता की भूमिका से निकटता दर्शायी गई है, अतः आठ योगांगों में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

शास्त्रों में ध्यान को चार विभागों में विभाजित किया गया है<sup>197</sup> —

### (1) आर्त्तध्यान (2) रौद्रध्यान (3) धर्मध्यान और (4) शुक्लध्यान।

इनमें भी प्रत्येक ध्यान के चार-चार उपभेद भी हैं। प्रथम दो आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार की परम्परा को बढ़ाने वाले होने से दुर्ध्यान माने गए हैं और ये साधक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं। अन्तिम के दो ध्यान तो मोक्ष-मार्ग के हेतुरूप होने से सुध्यान माने गए हैं। ये दोनों ध्यान ग्रहण करने योग्य हैं।<sup>198</sup>

1. आर्त्तध्यान — जिसमें मात्र दुःख का चिन्तन-मनन हो, वह आर्त्तध्यान है।
2. रौद्रध्यान — निष्ठुर तथा क्रूर प्रवृत्ति वाले प्राणी के व्यवहार को रौद्ररूप माना गया है। उसका ध्यान रौद्रध्यान है।
3. धर्मध्यान — जिसकी चित्तवृत्तियाँ मात्र धर्म-साधना में जुड़ी हुई रहती हैं, उसे धर्मध्यान कहा जाता है।

<sup>196</sup> तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (योग 3/2)

<sup>197</sup> 'चत्वारि ज्ञाणा पण्णत्ता, तंजहा — अट्टे ज्ञाणे, रोद्वे ज्ञाणे, धम्मे ज्ञाणे, सुक्के ज्ञाणे।' (व्याख्याप्रज्ञप्तिशत 25 उदे, 7 सू. 903)

<sup>198</sup> 'तेय विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहंच।

दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं।। —ध्यानशतक श्लोक 95

यह शुक्लध्यान का साधन या माध्यम है। इसके बिना शुक्लध्यान शक्य नहीं होता है। योगमार्ग में उद्यमशील साधक के लिए धर्मध्यान मानसिक—एकाग्रता हेतु परमोपयोगी है।

**4. शुक्लध्यान** — शुक्लध्यान सबसे उत्तम ध्यान है। आत्मसमाधि की संप्राप्ति इससे ही सम्पन्न होती है। इसमें सर्वोत्तम—संहनन<sup>199</sup>, सर्वोच्च चित्तविशुद्धिवृत्ति तथा पर्याप्त शारीरिक शक्ति एवं ऊर्जा की आवश्यकता होती है, क्योंकि साधारण बल वाले साधक के समक्ष असहनीय पीड़ा या कष्ट के प्रसंग उत्पन्न हो जाएं, तो ध्यान में व्यवधान आ जाता है।

**ध्यानशतक की टीका** में हरिभद्रसूरि शुक्लध्यान की व्याख्या करते हुए कहते हैं:— 'शोक—निवर्तक एकाग्र चित्तवृत्ति निरोध ही शुक्लध्यान है<sup>200</sup> अर्थात् जिसके माध्यम से स्थित शोक की सदा के लिए निवृत्ति हो जाए, ऐसा एकाग्रचित्तनिरोध ही शुक्लध्यान है। शुक्लध्यान के भी चार भेद हैं —

पृथक्त्ववितर्क—सविचार — त्रिविध योगयुक्त प्राणी को।<sup>201</sup>

एकत्ववितर्क—अविचार — एकयोगयुक्त प्राणी को।

सूक्ष्मक्रिया—अप्रतिपाती — सिर्फ काययोगयुक्त प्राणी को।

समुच्छिन्नक्रिया—निवृत्ति — सम्पूर्ण योगरहित अयोगी—केवली को।

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण छद्मस्थ अवस्था वाले योगी को होते हैं। ये ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती होते हैं। अन्तिम दो चरण एकमात्र केवली सर्वज्ञ में ही संभव है। प्रथम दो में सर्वोच्च श्रुतज्ञान तथा अन्त के दो में विशुद्धतम केवलज्ञान होता है।

<sup>199</sup> 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्।' —तत्त्वार्थ सूत्र —9/27

<sup>200</sup> शुचं क्लमयतीति शुक्लं—शोकं ग्लपयतीत्यर्थः,  
ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति—ध्यानमेकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः। —ध्यानशतक टीका, श्लोक 1

<sup>201</sup> त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥40॥ —तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय— 9



पातंजल-योगसूत्र में संप्रज्ञात-योग के वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत-रूप जो चार भेद बताए हैं,<sup>202</sup> वे शुक्लध्यानान्तर्गत आ जाते हैं। चौथे भेद में सम्पूर्ण मनोवृत्तियों का पूर्णरूपेण निषेध हो जाने पर आत्मा, अजर, अमर, अविचल, अविनाशी, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बन जाती है। यहाँ आत्मा को अतिविशुद्ध मूलस्थिति की प्राप्ति होती है और आत्मा लोक के अन्त भाग में जाकर विश्राम लेती है।

## 8. समाधि —

योगांगों का अन्तिम अंग समाधि है। समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित चित्तवृत्ति की जो निर्विकल्पता है, वही समाधि कहलाती है। जब ध्यान में चित्त एकरूपता या तन्मयता प्राप्त कर ध्येय के स्वरूप में लीन हो जाता है, वही समाधि है। इसमें आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में निमग्न रहती है और निजानन्द का अनुभव करती है।

पातंजल<sup>203</sup> योगसूत्र के माध्यम से यह बात सामने आती है कि जब ध्याता ध्येय वस्तु के स्वरूप से एकाकार होकर उस स्वरूप में लीन हो जाता है, तब वह समाधि को प्राप्त करता है। सारांश यह है कि ध्यान में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय भिन्न-भिन्न अवस्था में दिखते हैं, परन्तु समाधि-दशा में तीनों ही एक प्रतीत होते हैं। ध्यान से साध्य समाधि का यही संक्षिप्त स्वरूप है, जिसे पातंजल-दर्शन ने समाधि नामक योग का आठवां अंग कहा है।

<sup>202</sup> योगसूत्र

<sup>203</sup> क) 'तदेवार्थनिर्भासं स्वरूपं शून्यमिव समाधिः। -योगसूत्र 3/3

ख) 'ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्यात्मके स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति, ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते। - व्यासभाष्यम्

जैनागमानुसार मुक्तावस्था से पूर्व चौदहवें गुणस्थान में अयोगी-दशा वृत्ति निरोध है। यही शुक्लध्यान की सर्वश्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट दशा है। वास्तविकता तो यह है कि यहाँ समाधि के लिए भी प्रयत्न नहीं होता है।

महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र में योगांग के रूप में जिस समाधि का वर्णन किया है, वह तो शुक्लध्यान के प्रारंभिक-स्तर में ही समाहित हो जाती है। ध्यान तथा समाधि में जो भेद है वह भी शुक्लध्यान के प्रथम एवं द्वितीय भेद के अन्तर्गत ही आते हैं, अतः जैनदृष्टि के अनुसार ध्यान ही योग का दूसरा रूप है और उसकी सर्वोत्कृष्टता शुक्लध्यान में है। यदि अष्टांगयोग के जैनागमानुसारी इस संक्षिप्त स्वरूप पर एकाग्रता से अवलोकन करें, तो यह प्रतीत होता है कि योग के विषय में दोनों दर्शन एक-दूसरे के अतिनिकट हैं। इस विषय में शाब्दिक तथा पारिभाषिक-भिन्नता होने पर भी एक आन्तरिक-समानता दिखाई देती है।

महर्षि पतंजलि ने अविद्यादि क्लेशों के नाश तथा समाधि की प्राप्ति हेतु सबसे प्रथम स्थान तप को दिया है। जैन-शास्त्रों में भी आत्मविशुद्धि हेतु तप को प्रधानता दी गई है। योग के अंगरूप अंतरंग तथा बहिरंग जितने भी साधन हैं, वे सभी जैनदर्शन के धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में समाहित हैं। जैनागमों में ध्यानयोग तथा महर्षि पतंजलि का समाधियोग -दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट तथा परस्पर परिचित प्रतीत होते हैं।

### तांत्रिकसाधना और जैनध्यानसाधना -

जैन ध्यान-साधना पर तंत्र का प्रभाव अतिप्राचीनकाल से ही देखा जाता है। पातंजल 'योगसूत्र' की योग-साधना और जैन-योगसाधना के तुलनात्मक-अध्ययन में हमने देखा कि जैन-परम्परा में प्राणायाम की साधना को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु परवर्तीकाल में तांत्रिक-साधना के प्रभाव से हम देखते हैं कि जैन-परम्परा में न केवल प्राणायाम को स्थान मिला, किन्तु उसमें ईडा, पिंगला और सुषुम्ना के जागरण और षट्चक्र-भेदन की बात भी आ गई।

हठयोग और तन्त्र-साधना में देह में स्थित षट्चक्रों के भेदन और कुण्डलिनी-जागरण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचारांगसूत्र में एक बात मिलती है, वहाँ कहा गया है -साधक को अन्तःकरण में उतरकर देह के भीतरी भागों में अवस्थित ग्रन्थियों तथा उनके अन्तःस्रावों को देखना चाहिए,<sup>204</sup> लेकिन षट्चक्र-भेदन और कुण्डलिनी-जागरण की चर्चा लगभग 11वीं शताब्दी के पूर्ववर्ती जैन साहित्य में नहीं मिलती है। संभवतः तन्त्र और हठयोग के प्रभाव से ही जैन-परम्परा में शुभचन्द्र (11वीं शताब्दी) और हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) के ग्रन्थों में प्राणायाम और उनके विभिन्न रूपों के साथ-साथ पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार के ध्यानों तथा पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्ववती आदि पांच धारणाओं की चर्चा मिलती है। यद्यपि हेमचन्द्र ने कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन की कोई बात नहीं की है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, सर्वप्रथम 13 वीं शताब्दी में 'परमेष्ठिविद्यामन्त्रकल्प' में इसका निर्देश किया गया है। वे लिखते हैं कि -

कुण्डलिनीतन्तुद्युतिसंभृतभूर्तीनि सर्वबीजानि। शान्त्यादि-संपदे स्युरित्येषो गुरुक्रमोऽस्माकम्॥  
किं बीजैरिह शक्तिः कुण्डलिनी सर्वदेववर्णजनुः। रवि-चन्द्रान्तर्ध्याता मुक्त्यै च गुरुसारम्॥<sup>205</sup>

इसमें यह बताया गया है कि कुण्डलिनी नाड़ी सभी बीजाक्षरों और उनसे निर्मित मंत्रों की प्रकाशवान् मूर्ति है। यह शान्ति और सम्पदाओं का आधार है।

सूर्यनाड़ी, चन्द्रनाड़ी अथवा ईडा, पिंगला नाड़ी में बीजाक्षरों का ध्यान करने से भोग-सम्पदा और सुषुम्ना में ध्यान करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-परम्परा में तान्त्रिक-साधना के प्रभाव से लगभग 13 वीं शताब्दी में कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन आदि की चर्चा प्रारम्भ हुई।

इस काल के दिगम्बर-परम्परा में लिखे गए कुछ ग्रन्थों में भी इस प्रकार की चर्चा मिलती है। ऐसे निर्देश तो हमें मिलते हैं, किन्तु उनके मूलग्रन्थों के प्राप्त न

<sup>204</sup> आचारांगसूत्र, 1/2/5

<sup>205</sup> परमेष्ठिविद्यामन्त्रकल्प। - सिंहतिलकसूरि, श्लोक 72-74

होने के कारण हम उस संबंध में विशेष चर्चा नहीं कर पा रहे हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में लगभग 17 वीं शती में हुए अवधूत योगी आनंदघन जी महाराज ने अपने स्तवनों में इसकी चर्चा की है और इस साधना को जैन-अध्यात्म से जोड़ने का प्रयत्न किया है। अपने एक पद में वे लिखते हैं कि -

म्हारो बालूडो संन्यासी देह देवल मठवासी।

इडा पिंगला मारंग तजि जोगी, सुखमना धरि आसी।

ब्रह्मारंघ्र मधि आसणपूरी बाबू अनहद नाद बजासी ॥ म्हारो ॥ 1 ॥

जम नियम आसण जयकारी प्राणायाम अभ्यासी।

प्रत्याहार धारणा धारी ध्यान समाधि समासी ॥ म्हारो ॥ 2 ॥

मूल उत्तर गुण मुद्राधारी परयंकासनचारी।

रेचक पूरक कुंभककारी मन इन्द्री जयकारी ॥ म्हारो ॥ 3 ॥

थिरता जोग जुगति अनुकारी आपो आपविचारी।

आतम परमातम अनुसारी सीझे काज सवारी ॥ म्हारो ॥ 4 ॥

इस प्रकार मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञाचक्र इन 7 चक्रों की चर्चा भी हिन्दू तान्त्रिक साधना पद्धति के प्रभाव से जैन-परम्परा में आई है। हमारे शोध-ग्रन्थ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा प्रणीत 'ध्यानशतक' में इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती है इनके पश्चात् 8 वीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र, 11वीं शताब्दी के आचार्य शुभचन्द्र और 12 वीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने भी इन चक्रों की कोई चर्चा नहीं की है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि जैन-परम्परा में ध्यान का लक्ष्य मात्र आत्मविशुद्धि होने से कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन आदि की सामान्यतया कोई चर्चा नहीं हुई।

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया सर्वप्रथम आचार्य विबुधचन्द्र के शिष्य सिंहतिलकसूरि ने 'परमेष्ठिविद्यायंत्रकल्प' में 13 वीं शताब्दी में चक्रों का उल्लेख

किया है। यद्यपि उन चक्रों के नाम बौद्ध तान्त्रिक—परम्परा से भिन्न और हिन्दू तान्त्रिक—परम्परा से प्रभावित लगते हैं।

सिंहतिलकसूरि की विशेषता यह है कि उन्होंने इन षट्चक्रों के स्थान पर नवचक्र की कल्पना की है।<sup>206</sup> यद्यपि तान्त्रिक—परम्परा के अनुरूप उन्होंने भी इन चक्रों का स्थान शरीर में ही माना है। उनके अनुसार आधारचक्र गुदा के मध्यभाग में, स्वाधिष्ठानचक्र लिंग के मूलभाग में, मणिपूरकचक्र नाभि में, अनाहतचक्र हृदय के समीप, विशुद्धिचक्र कण्ठ में, ललनाचक्र तालु के कण्ठकूप के समीप, आज्ञाचक्र कपाल में दोनों भौंहों के बीच, ब्रह्मरन्ध्रचक्रम मूर्धा के समीप और सुषुम्नाचक्र मस्तिष्क के ऊर्ध्वभाग में स्थित है।<sup>207</sup>

इसी प्रकार उन्होंने चक्रों के दलों का भी उल्लेख किया है, किन्तु विस्तार भय से यहाँ वह चर्चा अपेक्षित नहीं है। इस संबंध में विशेष चर्चा सिंहतिलकसूरि के 'परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्प' में तथा डॉ. सागरमल जैन के 'जैनधर्म और तान्त्रिकसाधना' नामक ग्रन्थ में मिलती है।

आधुनिक युग में 'आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी' ने इन चक्रों को या ध्यानकेन्द्रों को शरीर में स्थिति विभिन्न ग्रन्थियों से जोड़ने का प्रयास किया है तथा प्रेक्षाध्यान के लिए शरीर में स्थित 13 शक्तिकेन्द्रों का भी उल्लेख किया तथा उन केन्द्रों को जागृत करने की प्रक्रिया भी बताई है, किन्तु विस्तारभय से उन सबकी चर्चा भी आवश्यक नहीं लगती है, क्योंकि हमारी शोध का मूल विषय आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित 'ध्यानशतक' और उसकी हरिभद्रीय टीका ही है जो जैन—परम्परा में ध्यानविधि का उल्लेख करने वाला आगमों पर आधारित प्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ है। इस पर हरिभद्र की टीका भी प्राचीन ही है। किन्तु इनमें प्राणायाम, षट्चक्र कुण्डलिनी भेदन की कोई चर्चा नहीं है।

<sup>206</sup> आध्यात्मसुखं स्वाधिष्ठान मणिपूर्ण महानाहतम्। विशुद्धि—ललना—ऽऽज्ञा—ब्रह्म—सुषुम्नाख्यानव।। —परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्पम्, श्लोक—5

<sup>207</sup> गुदमध्य—लिंगमूले नाभौ हृदि कण्ठ—घण्टिका भाले।

मूर्धन्यूर्ध्वं नव षट् कण्ठान्ता पंच भालयुताः।। — वही, श्लोक —58

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में हमने प्रथम तो जैन-परम्परा में ध्यान-साधना के ऐतिहासिक विकास की चर्चा करते हुए विभिन्न युगों में उसका स्वरूप क्या रहा है, यह बताया है और इसी आधार पर बौद्ध ध्यान-साधना, पातंजलयोग की ध्यान साधना और तांत्रिक ध्यान-साधना का तुलनात्मक विवरण देते हुए यह बताने का प्रयास किया है कि जैन-परम्परा पर अन्य ध्यान साधनाओं का प्रभाव किस रूप में आया है किन्तु समीक्ष्य शोध-ग्रन्थ प्राचीनतम होने के कारण उनके प्रभावों से कितना मुक्त रहा है।

—————000—————

जिनमद्रगणिकृत ध्यानशतक एवं उसकी हरिभद्रीय टीका :  
एक तुलनात्मक अध्ययन

**सप्तम अध्याय-उपसंहार**

1. विश्व की प्रमुख समस्याएँ और तद्जन्य तनाव
2. तनाव के कारण
3. तनाव-मुक्ति और ध्यान
4. व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास में ध्यान

## उपसंहार

भारत के सभी प्रमुख धर्मों का मुख्य लक्ष्य चेतना की निर्विकल्प-अवस्था को प्राप्त करना है।

इस चेतना की निर्विकल्प-अवस्था को समाधि भी कहा गया है। यह निर्विकल्प-अवस्था ध्यान के माध्यम से ही संभव है, अतः सभी भारतीय धर्मों और दर्शनों में ध्यान-साधना को एक प्रमुख स्थान दिया गया है, क्योंकि ध्यान का लक्ष्य चित्त की विकल्प-शून्यता ही है। कहीं ध्यान और समाधि को अलग-अलग करते हुए ध्यान को चित्त की एकाग्रता और समाधि को चित्त की निर्विकल्पता या चित्तवृत्ति की शून्यता माना गया है।

यही कारण है कि सभी भारतीय-धर्मों में ध्यान-साधना को एक प्रमुख स्थान दिया गया है। जैन-धर्म भी उसका अपवाद नहीं है। उसके अनुसार, मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति का अन्तिम कारण शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरणों की साधना है। जैन-धर्म में यद्यपि ध्यान का विवेचन अनेक आगमों में यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है, किन्तु ध्यान-साधना पर एक सुनियोजित प्रथम एवं प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में ध्यानशतक (ध्यानाध्ययन) ही मिलता है। जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है कि यह ग्रन्थ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा विक्रम की छठवीं शताब्दी में लिखा गया है। इस ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में हमने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विस्तार से चर्चा की।

इस ग्रन्थ के पश्चात् आगमिक-व्याख्याओं में एवं तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बर और दिगम्बर-टीकाओं में ध्यान का विवेचन हुआ है, किन्तु इसके बावजूद भी ध्यान-सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ हमारी जानकारी में नहीं है। ध्यान के सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा करने वाले ग्रन्थों में दिगम्बर-परम्परा के आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव और श्वेताम्बर-परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र का योगशास्त्र प्रमुख है, किन्तु यह स्पष्ट है कि इन दोनों ग्रन्थों की अपेक्षा ध्यानशतक न केवल प्राचीन है, अपितु अन्य परम्पराओं के प्रभाव से भी प्रायः मुक्त है। जहाँ ज्ञानार्णव और उसके बाद



रचित योगशास्त्र में ध्यान के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवेचना है, वह पातंजल-योगसूत्र, हठयोग-प्रदीपिका, ऐरण्डसंहिता आदि से प्रभावित है, वहीं तत्त्वार्थसूत्र मूल एवं ध्यानशतक (ध्यानाध्ययन) इन प्रभावों से पूरी तरह मुक्त हैं और जैन आगमिक-धारा का ही अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं।

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया कि शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव और हेमचन्द्र का योगशास्त्र ध्यान-साधना की अन्य परम्पराओं और विशेष रूप से हिन्दू-तन्त्र से प्रभावित हैं, क्योंकि इन ग्रन्थों में प्राणायाम के विविध रूपों के साथ-साथ ध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत —इन चार प्रकारों तथा पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी और तत्त्ववती —इन पांच धारणाओं का भी उल्लेख मिलता है, जो जैन आगमिक-परम्परा और विशेष रूप से ध्यानशतक में कहीं भी हमें प्राप्त नहीं होता है।

ध्यानशतक का वर्ण्य-विषय मूलतः जैन-परम्परागत ध्यान के चार प्रकारों उनके स्वरूप, लक्षणों, आलंबनों आदि को आधार बनाकर ही चलता है। जैन-परम्परा में ध्यान के चार प्रकारों में आर्त्त और रौद्र-ध्यान को संसार-परिभ्रमण का हेतु तथा धर्म और शुक्ल-ध्यान को मोक्ष का हेतु माना गया है। ध्यान का यह चतुर्विध-वर्गीकरण अन्य किसी भी भारतीय ध्यान-परम्परा में नहीं मिलता है। इस प्रकार, ध्यानशतक (ध्यानाध्ययन) प्राकृत-भाषा में निबद्ध जैन-धर्मदर्शन का एक मौलिक ग्रन्थ है। ध्यानशतक पर कुछ टीकाएँ भी लिखी गई हैं, जिनमें आचार्य हरिभद्र की टीका विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका निर्देश भी हमने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में किया है।

उपसंहार के रूप में हम यहाँ प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय की वर्ण्य विषय-वस्तु की चर्चा करेंगे —

## प्रथम अध्याय —

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का प्रथम अध्याय मुख्यतः परिचयात्मक ही है। इसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकार का परिचय दिया गया है। यह ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में एक सौ पाँच गाथाओं में निबद्ध है। इसकी प्राकृत अर्द्धमागधी है। मूल ग्रन्थ की विषय-वस्तु में जैन-परम्परागत चारों प्रकार के ध्यानों की चर्चा है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हमने ग्रन्थ-परिचय के पश्चात् ग्रन्थकार का परिचय दिया है। इसमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विस्तृत चर्चा करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत कृति जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की है और इसका रचनाकाल विक्रम की छठवीं शताब्दी ही है।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर कुछ टीकाएँ मिलती हैं, किन्तु जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेख किया है कि आचार्य हरिभद्र ही इसके प्रथम टीकाकार हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध के प्रथम अध्याय में टीकाकार आचार्य हरिभद्र का परिचय देते हुए उनके साहित्यिक-अवदान की भी चर्चा की गई है तथा हरिभद्र के ध्यान और योग-संबंधी ग्रन्थों का परिचय भी दिया गया है। अध्याय के अन्त में हरिभद्र के ध्यानशतक की टीका की क्या विशेषताएँ हैं—इसकी संक्षिप्त चर्चा की गई है।

## द्वितीय अध्याय —

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में जैन-परम्परा तथा अन्य-परम्परा के अनुसार ध्यान की परिभाषा का वर्णन, 'ध्यान' शब्द का सामान्य तथा विशेष अर्थ तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर ध्यान के स्वरूप का विवरण किया गया है। तत्पश्चात्, प्रस्तुत ग्रन्थ और उसकी टीका में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा है कि अध्यवसायों की स्थिरता ध्यान है तथा अध्यवसायों की अस्थिरता चित्त है। भावना चित्त की ध्यानाभिमुख-अवस्था है। आचार्य हरिभद्र ने अनुप्रेक्षा को ध्यान से भिन्न इसलिए माना है कि अनुप्रेक्षा ध्यान के बाद, अर्थात् उसके विचलन के बाद, होने वाली स्मृति है। इस प्रकार, उन्होंने मूल गाथा में वर्णित भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता—इन तीनों को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाया है। तदनन्तर, छद्मस्थ और जिनेश्वर के ध्यान का वर्णन, आर्त्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल—ध्यान के इन चार

प्रकारों तथा उनके शुभत्व और अशुभत्व की चर्चा करते हुए कहा गया है कि आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान अशुभ-ध्यान हैं, धर्मध्यान पुण्यबंध की अपेक्षा से निश्चय के अनुसार चाहे अशुभ कहा जाए, किन्तु वह भी मोक्ष का हेतु होने से और शुक्लध्यान की पूर्ववर्ती अवस्था होने से शुभ ही है। शुक्लध्यान का शुभत्व केवल कर्मों की निर्जरा और मोक्ष का हेतु होने से व्यवहार-नय से ही माना गया है। इस अध्याय के अन्त में साधना की दृष्टि से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान का स्थान और महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि धर्मध्यान अशुभ से निवृत्ति कराता है और शुक्लध्यान शुद्ध की प्राप्ति कराता है। अशुभ की निवृत्ति के बिना शुद्ध की प्राप्ति संभव नहीं है, अतः साधना के क्षेत्र में व्यक्ति धर्मध्यान के माध्यम से शुक्लध्यान अर्थात् आत्मा की शुद्ध-अवस्था या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

### तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय में मुख्य रूप से आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के स्वरूप तथा लक्षणों और चारों के चार-चार भेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। तत्पश्चात्, भावना, देश, काल, आसन, आलम्बन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल -धर्मध्यान के अन्तर्गत इन बारह द्वारों का वर्णन किया गया है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने साथ ही यह निर्देश किया है कि श्रमणों को उपर्युक्त द्वारों को जानकर, समझकर धर्मध्यान में अग्रसर होना चाहिए और इस धर्मध्यान के अभ्यास के पश्चात् उन्हें शुक्लध्यान की ओर प्रगति करना चाहिए। जिस प्रकार धर्मध्यान के द्वार बताए गए हैं, उसी प्रकार शुक्लध्यान के भी ध्यातव्य, ध्यातृ, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लक्षण, आलम्बन तथा क्रम -इन सात द्वारों की चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ के मूल ग्रन्थकार जिनभद्रगणि ने गाथा क्रमांक--उनसत्तर में शुक्लध्यान के आलम्बनों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिनमत में क्षमा, मार्दव, आर्जव तथा मुक्ति आदि गुणों की प्रमुखता रही है। इन आलम्बनों का आधार लेकर श्रमण शुक्लध्यान में आरूढ़ होता है।

चूँकि शुक्लध्यान का सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से है, इसलिए इन्हें शुक्लध्यान के आलम्बन के रूप में कहा गया है, फिर भी ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्लध्यान का मुख्य लक्ष्य मन को अमन की स्थिति में ले जाना और निर्विकल्प बनाने की पहली शर्त—उसे अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध में ले जाना है। तत्पश्चात्, आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान के चिन्तन के विषय का वर्णन किया गया है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में आलम्बन आवश्यक है अथवा नहीं है, इसकी चर्चा की गई है और अन्त में निरालम्बन को महत्त्व देते हुए इस अध्याय को समाप्त कर दिया गया है।

### चतुर्थ अध्याय

प्रस्तुत कृति का चतुर्थ अध्याय मुख्यतया आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल-ध्यान के स्वामी से सम्बन्धित रहा है। ध्यानशतक के अनुसार, आर्त्तध्यान की सम्भावना छठवें गुणस्थान तक बनी रहती है, क्योंकि छठवें गुणस्थान तक प्रमाद की सत्ता बनी रहती है और जहाँ प्रमाद होता है, वहाँ सजगता नहीं रहती। निदान को छोड़कर आर्त्तध्यान के प्रथम तीन भेद छठवें गुणस्थान में रहते हैं। आगे, ग्रन्थकार ने श्रमणों को आर्त्तध्यान के त्याग का निर्देश किया है।

रौद्रध्यान की सत्ता अविरत और देशविरत गुणस्थान में बनी रहती है। इन दोनों गुणस्थानों में आर्त्तध्यान भी रहता है, किन्तु अन्तर मात्र इतना है कि आर्त्तध्यान की अपेक्षा रौद्रध्यान अतिसंक्लिष्ट-अध्यवसाय वाला होता है।

धर्मध्यान के स्वामी के सन्दर्भ में प्राचीनकाल से दो सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न मान्यताएं रही हैं— (1) दिगम्बर-परम्परा में धर्मध्यान की सत्ता को चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक माना गया है, जबकि (2) श्वेताम्बर-परम्परा का यह मानना है कि धर्मध्यान सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थान तक ही सम्भव है। तत्पश्चात्, धर्मध्यान में पूर्ण रूप से अभ्यस्त हो जाने के बाद जो पूर्व के ज्ञाता और सुप्रशस्त-संहनन वाले श्रमण हैं, वे शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों पृथक्त्ववितर्क-विचार और एकत्ववितर्क-अविचार के अधिकारी होते हैं।

सयोगी-केवली तथा अयोगी-केवली क्रमशः सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति तथा व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती-शुक्लध्यान के स्वामी होते हैं। इसके बाद, ध्याता और ध्यातव्य के भेदाभेद का प्रश्न, ध्याता के चौदहवें गुणस्थान की अपेक्षा आध्यात्मिक-विकास, साथ ही आर्त्त-रौद्रध्यान की विभिन्न भूमिकाओं की विवेचना की गई है। तदनन्तर, धर्मध्यान के ध्याता को लेकर श्वेताम्बर तथा दिगम्बर-परम्परा के मतभेदों का विस्तार से उल्लेख किया गया है और अन्त में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत -इन चार ध्यानों तथा पार्थिवी, आग्नेयी, वारुणी, मारुती एवं तत्त्वभू - इन पाँच धारणाओं का स्वरूप और जैन- परम्परा में किस तरह ये विकसित हुईं, उसकी विवरणा की गई है।

### पंचम अध्याय

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के पंचम अध्याय का मुख्य विषय ध्यानशतक और स्थानांग, भगवती और औपपातिक, तत्त्वार्थ, मूलाचार, भगवती-आराधना, धवलाटीका तथा आदिपुराण का तुलनात्मक-अध्ययन रहा है।

इस अध्ययन में हमने अपनी परम्परा और कालक्रम के आधार पर प्रथम श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थों से, तत्पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र से, तदुपरान्त दिगम्बर-आगमतुल्य ग्रन्थों यथा धवला आदि से ध्यानशतक की तुलना की है। यहाँ दिगम्बर-ग्रन्थों की तुलना में श्वेताम्बर आगमिक टीका-साहित्य को परवर्ती कहने का उद्देश्य यह है कि 'ध्यानशतक', जो हमारा शोध-विषय रहा है, उसके रचनाकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण श्वेताम्बर-परम्परा के थे और लगभग 7 वीं शती में हुए थे।

इसी अध्याय में आगे, ध्यान-साधना और लब्धि के सन्दर्भ में चर्चा की गई है। भगवतीसूत्र की वृत्ति के अनुसार, -जिससे आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य आदि गुणों से उन-उन कर्मावरणों के क्षय व क्षयोपशम से स्वतः आत्मा में जो शक्ति प्रकट होती है, उसे लब्धि कहा है। लब्धि से यहाँ तात्पर्य लाभ अथवा शक्ति से है। इस क्रम में तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञभाष्य के आधार पर अणिमा, लघिमा आदि लब्धियों के स्वरूप का वर्णन, साधक को लब्धियों की प्राप्ति से दूर रहने का निर्देश

किया है। अन्त में, ध्यान और कायोत्सर्ग तथा कायोत्सर्ग और समाधि का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है कि ध्यान में चाहे विकल्पों की चंचलता समाप्त हो जाए, किन्तु निर्विकल्प-अवस्था तो मात्र शुक्लध्यान के अन्तिम दो चरणों में ही है, अतः धर्मध्यान के अन्तिम चरण और शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में चित्तवृत्ति की एकाग्रता के होते हुए भी वे निर्विकल्प-चेतना के प्रतिपादक नहीं हैं। ध्यान के बाद जब हम कायोत्सर्ग की बात करते हैं, तो उसमें मन-वचन-काया के प्रति ममत्वभाव का त्याग होता है, अतः इतना तो कहा जा सकता है कि कायोत्सर्ग निर्विकल्पता की ओर ले जाता है, किन्तु जहाँ तक समाधि का प्रश्न है, तो समाधि मूलतः निर्विकल्प-चेतना की अवस्था है।

जहाँ ध्यान में चित्तवृत्ति की एकाग्रता साधी जाती है, वहाँ कायोत्सर्ग में ममत्व के त्याग के माध्यम से निर्विकल्पता की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न होता है, किन्तु निर्विकल्प-दशा में स्थिरता -यह समाधि है, अतः हम कह सकते हैं कि ध्यान और कायोत्सर्ग निर्विकल्प समाधि के साधक हैं।

## षष्ठ अध्याय

इस कृति के षष्ठ-अध्याय में ध्यान के ऐतिहासिक विकास-क्रम की चर्चा मुख्य रूप से दो पक्षों के आधार पर की गई है - (1) साहित्यिक, (2) पुरातात्विक।

**साहित्यिक-ऐतिहासिक-क्रम** - साहित्यिक-दृष्टि से वेदों के बाद मुख्य रूप से उपनिषदों, बौद्ध-त्रिपिटक के ग्रन्थों तथा जैन आगम-ग्रन्थों में हमें किसी-न-किसी रूप में ध्यान-साधना के उल्लेख मिलते हैं, जैसे -आचारांग, सूत्रकृतांग, औपपातिक, ऋषिभाषित आदि।

डॉ. सागरमल जैन ने कहा है - "बौद्ध-परम्परा की विपश्यना और निर्ग्रन्थ-परम्परा की आचारांग में वर्णित ध्यान-साधना में जो कुछ निकटता प्रतीत होती है, वह यह सूचित करती है कि सम्भवतः दोनों का मूल स्रोत रामपुत्र की ध्यान-पद्धति रही होगी।"

## ध्यान के पुरातात्विक साक्ष्य एवं ऐतिहासिक विकास—क्रम —

जहाँ तक पुरातात्विक साक्ष्यों का प्रश्न है, हमें मोहनजोदड़ो—हड़प्पा से जो सीलें प्राप्त हुई हैं, उनमें ध्यान—साधना करते हुए व्यक्तियों का अंकन है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व भी मानव ध्यान—साधना करता था। भारत की निवृत्ति—परक परम्परा की जो जैन, बौद्ध, औपनिषदिक—धाराएँ हैं, उनके पूर्व—पुरुष भी ध्यान—साधनाएँ करते थे, ऐसे पुरातात्विक—प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आगे, ध्यान—साधना की परम्पराएँ निम्नांकित छह विभागों में बांटी गई हैं—

1. आगम तथा आगमिक—व्याख्यायुग — (ई.पू. 5 वीं शती से 7 वीं शती तक)
2. हरिभद्र—युग — (ईसा की 8 वीं शती से 10 वीं शती तक)
3. ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का युग—(ईसा की 11 वीं शती और 12 वीं शती तक)
4. तान्त्रिक—युग — (ईसा की 10 वीं शती से 16 वीं शती तक)
5. यशोविजय—युग — (ईसा की 17 वीं शती से 19 वीं शती तक)
6. आधुनिक—युग — (ईसा की 20 वीं शती से 21 वीं शती तक)

तत्पश्चात्, जैनध्यान—साधना तथा बौद्धध्यान—साधना के एक तुलनात्मक—अध्ययन का वर्णन किया गया है। उसके अन्तर्गत यह लिखा है कि जैनसाधना—पद्धति और बौद्धसाधना—पद्धति—ये दोनों पद्धतियाँ यह मानकर चलती हैं कि राग—द्वेष और तज्जन्य मोह एवं तृष्णा ही दुःख का कारण हैं। ये विकल्परूप हैं। संक्षेप में, यह समझना है कि दोनों ही पद्धतियों में ध्यान का अन्तिम चरण तो चित्त की निर्विकल्पता ही है। तदनन्तर पातंजल—ध्यान की योग—साधना तथा जैनध्यान—साधना की तुलना का विस्तार से वर्णन किया गया है और इस अध्याय के अन्त में तान्त्रिक—साधना और जैनध्यान—साधना की चर्चा करते हुए हमने लिखा है कि जैनध्यान—साधना पर तंत्र का प्रभाव अति प्राचीनकाल से ही देखा जाता है। जैन—परम्परा में प्राणायाम की साधना को कोई महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु परवर्तीकाल में तान्त्रिक—साधना के प्रभाव से जैन—परम्परा में न केवल प्राणायाम को स्थान मिला, किन्तु उसमें ईडा, पिंगला और सुषुम्ना के जागरण और षट्चक्र—भेदन की बात भी आ गई।

## तनाव के कारण —

वर्तमान युग में विश्व की प्रमुख समस्याओं में तनाव एक प्रमुख कारण है। आज विश्व में ढेरों सुख-सुविधाएँ होने के बावजूद भी मनुष्य चिन्तित, उदास एवं दुःखी है। सब कुछ होने पर भी मानसिक-अशान्ति से पीड़ित है। पूर्ववर्ती मानव इतना चिन्तित नहीं था, जितना आज है, क्योंकि पहले इच्छाएँ सीमित थीं, तो उलझनें भी कम थीं और जब इच्छाएँ, आकांक्षाएँ सीमित थीं, तो खर्च भी कम थे। जैसे-जैसे सुख-सुविधाएँ बढ़ती गई, वैसे-वैसे दुविधाएँ भी बढ़ती गई और साथ-ही-साथ संतोष, खुशी को नष्ट कर देने वाली चिन्ता भी बढ़ती गई। महोपाध्याय ललितप्रभसागरजी ने कहा है —“एक चिन्ता हजार चिन्ताओं से भी बदतर है। चिन्ता एक बार जलाती है, पर चिन्ता जिन्दगी में हजार बार जलने को मजबूर करती है।”

वर्तमान युग की भौतिकवादी जीवन-दृष्टि के कारण व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं में असीमित वृद्धि हुई है और आज का मानव उन इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न में ही संलग्न है। प्रथमतः तो, असीम इच्छाओं, आकांक्षाओं के कारण ही मानव-मन तनावग्रस्त है, साथ ही इन इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न और उनमें उपस्थित बाधाओं के कारण उसकी तनावग्रस्तता और अधिक बढ़ गई है।

जैन-आगम उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ‘इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं —“इच्छाहु आगास समा अणन्तिया” और उनकी पूर्ति सीमित जीवन और सीमित साधनों से सम्भव नहीं है। पुनः, उन पूर्ति के साधनों को उपलब्ध करने में जो बाधाएँ आती हैं, वे भी तनाव का कारण बन जाती हैं। यही कारण है कि आज विश्व का सबसे समृद्ध माना जाने वाला देश यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका (USA) सबसे अधिक तनावग्रस्त है।

तनाव हमारी मानसिक-एकाग्रता को भंग कर देता है, जीवन की शान्ति एवं प्रसन्नता हमसे छीन लेता है। हमारे भीतर पनप रही व्यर्थ की चिन्ताएँ तनाव का



मूल कारण हैं। तनावयुक्त व्यक्ति की दशा ठीक वैसी ही है —जैसी जाल में फंसी मकड़ी की।

भोगवादी जीवन—दृष्टि और आधुनिक अर्थ—व्यवस्था के कारण आज समग्र विश्व तनावग्रस्त है। आज का अर्थतन्त्र इन तनावों में वृद्धि कर रहा है, क्योंकि आज के अर्थतन्त्र का प्रमुख नारा है — मान या इच्छाओं को बढ़ाओ, अपना माल खपाओ तथा अधिक धन उपार्जित करो।

इस प्रकार आज की वैश्विक—व्यवस्था ही कुछ ऐसी हो गई है कि मानव—समुदाय तनाव में ही जी रहा है।

### पारस्परिक—विश्वास की कमी —

तनाव का दूसरा कारण पारस्परिक—विश्वास की कमी है और उस कमी के कारण प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक समाज ने अपने को दूसरों से भयभीत बना रखा है। भय स्वयं ही एक तनाव है, उसकी चर्चा आगे करेंगे। भय से सुरक्षा के साधनों को जुटाने में भी व्यक्ति और राष्ट्र तनावग्रस्त बने हुए हैं। आज विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक—विश्वास की कमी है, फलतः सभी एक—दूसरे से भयाक्रांत हैं और इस कारण अपनी सुरक्षा के साधन जुटाने के लिए तनावग्रस्त बने हुए हैं। जब राष्ट्र या राष्ट्र की शासन—प्रणाली तनावग्रस्त हो, तो जनता का तनावग्रस्त होना स्वाभाविक है। इस प्रकार, पारस्परिक विश्वास की कमी राष्ट्रों एवं व्यक्तियों को तनावग्रस्त बनाती है।

### भीतर का भय —

तनाव का एक कारण अपने भीतर बैठी हुई भय की वृत्ति है। भयग्रस्त मनुष्य स्वतः ही चिंताग्रस्त बन जाता है। उसकी शारीरिक तथा मानसिक स्थिति विकारग्रस्त तथा शक्तिविहीन बन जाती है। भयग्रस्त व्यक्ति न तो प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना कर पाता है और न ही किसी बात का सही तरीके से जवाब दे पाता है। चिन्ता, भय, अति लोभ, उत्तेजना, वैचारिक—असंतुलन, रोग, अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना —ये सभी तनाव के मुख्य कारण हैं।

## तनाव—मुक्ति और ध्यान —

तनाव से मुक्त रहने के लिए चिन्ताओं से बचना जरूरी है। हर छोटी—छोटी बात को लेकर जब व्यक्ति चिन्ता करता रहता है, तो उसका मुख्य कारण मन के विपरीत परिस्थिति का होना है। जब कोई कार्य हमारी इच्छा या अपेक्षा के अनुकूल नहीं होता, तब मानव—मन चिन्तित हो उठता है। बस ! इससे मुक्त होने के लिए हर हाल में खुश रहना होगा तथा छोटी—छोटी बातों को नजरअंदाज करते जाना होगा और बीती बातों के बारे में ज्यादा नहीं सोचना होगा।

आज सभी एक—दूसरे से भयभीत हैं और उस भय से मुक्ति के लिए उनका विश्वास अस्त्र—शस्त्र की दौड़ में ही लगा हुआ है। एक—से—बढ़कर—एक अस्त्र—शस्त्र खोजे जा रहे हैं, लेकिन जैन—परम्परा की मान्यता रही है कि शस्त्रों की इस दौड़ में मानव को तनावों से मुक्ति नहीं मिल सकती और उसका चित्त शान्त नहीं हो सकता। भय से मुक्ति का पारस्परिक—विश्वास के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं।

भगवान् महावीर ने कहा है कि शस्त्र तो एक—से—बढ़कर—एक खोजे जा सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर अन्य कोई विकल्प नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तनाव से मुक्ति के लिए पारस्परिक—सहिष्णुता, विश्वास और इच्छाओं को सीमित करना होगा।

इच्छाएँ और भय —दोनों ही विकल्पों से उत्पन्न होते हैं। विकल्पात्मक—चित्त तनावग्रस्त होता है और निर्विकल्प चित्त शान्त होता है। चित्त को निर्विकल्प और शान्त बनाने के लिए ध्यान अति—आवश्यक है। ध्यान आत्म—सजगता की स्थिति है। यह आत्म—सजगता की स्थिति तभी सम्भव है, जब चित्त निर्विकल्प हो, अतः तनाव—मुक्ति और ध्यान में एक सहज संबंध है। सम्यक् रूप से ध्यान की साधना से ही आज मानव—जाति तनाव से मुक्ति पा सकती है।

## व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास में ध्यान —

ध्यान न केवल तनावमुक्ति का साधन है, अपितु वह व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास का भी साधन है, क्योंकि जहाँ विकल्प होते हैं, वहाँ आध्यात्मिक-विशुद्धि सम्भव नहीं होती है।

इच्छा, राग-द्वेषादि चित्त को अशान्त बनाते हैं और अशान्त चित्त व्यक्ति के आध्यात्मिक-विकास में बाधक होता है। भगवान् बुद्ध ने एक उदाहरण दिया था कि यदि पानी गंदला हो और उसमें लहरें उठ रही हों, तो तल में गहराई अथवा नीचे रहा हुआ कुछ भी दिखाई नहीं देता है, किन्तु इसके विपरीत, यदि पानी निर्मल और शान्त हो, तो उसके तल में रही वस्तु भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। इस प्रकार, विषय-वासनारूपी गंदगी और इच्छा, आकांक्षा से चलायमान चित्त में स्वरूप का दर्शन संभव नहीं होता है और उसका आध्यात्मिक-विकास भी अवरुद्ध हो जाता है।

यदि व्यक्ति को आध्यात्मिक-विकास की दिशा में आगे ले जाना है तो उसके चित्त को निर्मल और शान्त बनाना होगा तथा चित्त की यह निर्मलता एवं शान्तता ध्यान के द्वारा ही संभव है। यही कारण है कि आज विश्व में ध्यान-साधना के प्रति एक आकर्षण बना हुआ है और विश्व में अनेक प्रकार की साधना-पद्धतियाँ अस्तित्व में आई हैं।

इस प्रकार, ध्यान की प्रासंगिकता पर आज कोई भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता। प्रस्तुत शोध-प्रबंध का उद्देश्य भी यही है कि ध्यान-साधना के प्रति सजगता उत्पन्न कर मानव-चित्त को निर्मल और शान्त बनाया जा सके तथा उसके फलस्वरूप व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र तनावमुक्त हो और विश्व में शान्ति की स्थापना हो।

## सन्दर्भ ग्रंथ सूची

क्र	ग्रन्थ का नाम	संपादक/अनुवादक	प्रकाशन	सन्
1.	अनुयोगद्वारसूत्र	संया. मधुकरमुनिजी	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1984
2.	अनुयोगद्वाराणि	सं. मलधारी हेमचंद्रसूरि	आगमोदय समिति, सूरत	सन् 1624
3.	आचारांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	
4.	आचारांगसूत्र	सं. आत्मारामजी	जैनागम प्रकाशन समिति, लुधियाना	
5.	आयारो	सं. महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती, लाडनूं	वि.सं. 2031
6.	आचारांगनिर्युक्ति	सं. शीलांककृत	आगमोदय समिति, सूरत	वि.सं. 1973
7.	आचारांगटीका	सं. शीलांकाचार्य	साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई	वि.सं. 1991
8.	आवश्यकसूत्र	सं. मधुकरमुनि	श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	
9.	आवश्यकसूत्र	सं. जिनेन्द्रगणि	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखा बाखल, शान्तिपुरी, सौराष्ट्र	सन् 1975
10.अ	आवश्यकनिर्युक्ति	सं. मलयगिरिसूरि	आगमोदय समिति, बम्बई	सन् 1928
10.ब	आवश्यकनिर्युक्ति	सं. डॉ. दामोदर शास्त्री	सोहनलाल जैन ग्रन्थ प्रकाशन अम्बाला	सन् 2010
11.	आवश्यकनिर्युक्ति दीपीका	सं. माणिक्यशेखर	विजयदत्तसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला	
12.	आवश्यकचूर्णि	सं. जिनदासगणि	जिनदासकृत चूर्णि, रतलाम	सन् 1929
13.	आवश्यकवृत्ति	सं. हरिभद्रसूरि	आगमोदय समिति, महेसाणा	सन् 1917
14.	इसिभासियाइं सुत्ताइं	सं. महोपाध्याय विनयसागर	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 1988
15.	उत्तराध्ययनसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1991
16.	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	सं. शान्तिसूरि	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई	सन् 1927
17.	उत्तराध्ययनचूर्णि	सं. जिनदासगणि महत्तर	जैनबन्धु मुद्रणालय	
18.	औपपातिकसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1992
19.	नंदीसूत्र	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 1997
20.	प्रश्नव्याकरणसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1993
21.	प्रज्ञापनासूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1993
22.अ	भगवई	सं. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 2005
22.ब	भगवतीसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	
23.	स्थानांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1992
24.	स्थानांगवृत्ति			
25.	सूत्रकृतांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1991

26.	समवायांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1991
27.	दसवेआलियं	सं. मुनि नथमल	जैन विश्वभारती लाडनूं द्वि.सं.	सन् 1974
28.	दशवैकालिक	सं. पुण्यविजयमुनि	महावीर जैन विद्यालय, बम्बई	सन् 1977
29.	जीतकल्पभाष्य	संशोधक पुण्यविजयमुनि	बबलचंद्र केशवलाल मोदी हाजा पटेल की पोल, अहमदाबाद	वि.सं. 1994
30.	विशेषावश्यकभाष्य	अनु. सं. डॉ. दामोदरशास्त्री	मुनि मायाराम सम्बोधि प्रकाशन, प्रीतमपुर, दिल्ली	सन् 2009
31.	षट्खण्डागम	रचनाकार कुन्दकुन्दाचार्य	जैन संस्कृति संरक्षण, सोलापुर	

<u>क्र</u>	<u>ले. सं. अनु. रच.</u>	<u>ग्रन्थ का नाम</u>	<u>प्रकाशन</u>	<u>सन्</u>
1.	अकलंकदेव	राजवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ	सन् 1993
2.	सं. अजितशेखरविजयगणि	प्रतिमा-शतक	दिव्यदर्शन ट्रस्ट धोलका (गुज.)	वि.सं. 2056
3.	सं. अनिल जैन	ध्यानोपदेशकोष	बाकलीवाल धार्मिक ट्रस्ट शुभम सन्मतिनगर, रायपुर	सन् 2003
4.	सं. अनिल सोनकर	तुलसी-प्रज्ञा	जैन विश्वभारती लाडनूं	
5.	ले. अनेकांतलताश्री	आ. हरिभद्र के दार्शनिक चिन्तन का वैशिष्ट्य	राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद	सन् 2008
6.	सं. अमरमुनि	जैन योग सिद्धांत और साधना	आत्म ज्ञानपीठ, मानसा मंडी (पंजाब)	सन् 1983
7.	सं. अमरमुनि	श्रमणसूत्र	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	सन् 1966
8.	सं. अमरमुनि	सूक्ति त्रिवेणी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	सन् 1988
9.	ले. अमितगतिसूरि	पंचसंग्रह (संस्कृतभाषा)	माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुम्बई	
10.अ	सं. अमृतलाल दोशी	योगप्रदीप	जैन साहित्य विकास मण्डल मुम्बई	सन् 1960
10.ब	सं. अमोलकऋषि	ध्यानकल्पतरु	गोविन्दराम मोडूराम ट्रस्ट, धुलिया पं. संस्क.	सन् 1998
11.	दिवे. अभयशेखरविजय	योगविंशिका (यशोविजयकृत)	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 38, कलिकुंड सोसायटी, धोलका	वि.सं. 2055
12.	सं. अभयशेखर विजय	हरिभद्र योगभारती	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, 38, कलिकुंड सोसायटी, धोलका	वि.सं. 2055
13.	अनु. अक्षयचन्द्रसागर	तत्त्वार्थधिगमसूत्र (सभाष्य) उमास्वाति वाचक	शारदाबेन चीमनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर	

14.	अनु. आनंदनंदन लालन	ज्ञानार्णव में नौकारूप सवीर्यध्यान	झवेरी माणेकलाल, घेलाभाई, मुम्बई	सन् 1803
15.	सं. इंदूकला हीरालाल	योगशतक	गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद	
16.	ले. उदयमुनि	क्रान्तदृष्टि	उदयराज इन्द्रसिंह आढतिया, विजयनगर	सन् 2008
17.	ले. डॉ. उदितप्रभा	जैनधर्म में ध्यान का ऐतिहासिक विकासक्रम	प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर	सन् 2007
18.	सं. उदयवीर शास्त्री	पातंजल योगदर्शनम्	गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली	
19.	रचनाकार उमास्वाति	प्रशमरति-प्रकरण	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, मुम्बई	सन् 1950
20.	रचनाकार उमास्वाति	तत्त्वार्थसूत्र	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 2007
21.	सं. कीर्तियशसूरि	ध्यानशतक (हरिभद्रीयवृत्ति)	सन्मार्ग प्रकाशनम्, अहमदाबाद	सन् 2009
22.	प्रवचनकार कीर्तियशसूरि	ज्ञाणं-ध्यानं स्वरूप अने साधना	सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
23.	प्र. कीर्तियशसूरि	ज्ञाणं-63 दुध्यानौ	सन्मार्ग प्रकाशन, अहमदाबाद	वि.सं. 2054
24.	रचनाकार कुन्दकुन्दश्री	समयसार	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	वी.सं. 2501
25.	रचनाकार कुन्दकुन्दश्री	नियमसार	श्री कुन्दकुन्द कहान जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर	सन् 1984
26.	सं. कलहंसविजय	आओ विधि से प्रतिक्रमण करें	महेन्द्रकुमार गुगलिया, बड़ा सराफा, इन्दौर	सन् 1996
27.	विवेचनकार कलापूर्णसूरि	ध्यानविचार-सविवेचन	श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मन्दिर, हरिद्वार	1997
28.	सं.कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रय, अगास	सन् 2005
29.	सं.कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री	धर्मात सागर	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	सन् 1996
30.	सं.कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री	भगवती-आराधना	हीरालाल खुशालचंद्र दोशी, फलटन	सन् 1990
31.	ले. कन्हैयालाल लोढ़ा	कायोत्सर्ग	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 2007
32.	सं. कन्हैयालाल लोढ़ा	जैनधर्म में ध्यान	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर	सन् 2007
33.	ले. कन्हैयालाल लोढ़ा	पातंजल योगसूत्र (अभिनव निरूपण)	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 2009
34.	ले. कन्हैयालाल लोढ़ा	वीतराग योग	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 2007
35.	संशोधक कल्याणप्रभविजय	प्रबोध टीका-1	जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई	सन् 2000
36.	सं. कश्यप जगदीश	मज्झिमनिकाय	बिहार राजकीय पालि प्रकाशन	सन् 1958

37.	सं. किशनलाल मुनि	प्रेक्षा : एक परिचय	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 1995
38.	ले. किशनलाल मुनि	प्रेक्षा ध्यान यौगिक क्रियाएँ	बी. जैन पब्लिशर्स, नईदिल्ली	सन् 1999
39.	सं. केशरसूरीश्वर	योगशास्त्र	श्री मुक्तिचंद्र श्रमण आराधना ट्रस्ट गिरिविहार पालीताणा	वि.सं. 1963
40.	सं. केशरसूरीश्वर	ध्यानदीपिका	विजयचंद्रसूरीश्वर जैन ज्ञान मंदिर ट्रस्ट अहमदाबाद	सन् 1976
41.अ	ले. चन्द्रप्रभ	ध्यान : क्यों और कैसे	श्री जितयशाश्री फाउण्डेशन कलकत्ता	सन् 1993
41.ब	व्याख्याकार मुनि चन्द्रशेखर	ज्ञानसार-विवेचन	प्रसन्नचन्द्र चौरडिया, कृष्णा निवास, भानपुरा	सन् 1993
42.	रचयिता पं. चम्पालालजी	चर्चासागर	भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया	सन् 1994
43.	चरित्र चक्रवर्ती शान्तिसागर	श्रावकाचार-संग्रह	जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था फलटण	सन् 1976
44.	सं. डॉ. छगनलाल शास्त्री	जैनयोग ग्रन्थ चतुष्टय	मुनिश्री हजारीलाल स्मृति प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1982
45.	भिक्षु जगदीश काश्यप	संयुक्तनिकाय	पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार	सन् 1956
46.	जिनदास शास्त्री	महापुराण	श्री शान्तिसागर दिगम्बर जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार, फलटण	सन् 1982
47.	सं. जिनविजयमुनि	समदर्शी आचार्य हरिभद्र	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर	सन् 1983
48.	सं. जिनविजयमुनि	मंत्रराज रहस्यम्	भारतीय विद्याभवन, मुम्बई	सन् 1980
49.	सं. जिनेन्द्रवर्णी	जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	सन् 1987
50.	सं. जयचन्द्र छाबड़ा	अष्टपाहुड (कुन्दकुन्द)	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	1923
51.	ले. ज्योतिप्रसाद जैन	भारतीय इतिहास	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन द्वितीय संस्करण	सन् 1966
52.	ले. आचार्य तुलसी	जैनतत्त्वविद्या	आदर्श साहित्य संघ, चूरु	सन् 2000
53.	ले. आचार्य तुलसी	मनोनुशासनम्	आदर्श साहित्य संघ, चूरु	
54.	अनु. दीनानाथ शर्मा	पंचाशक प्रकरणम्	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	सन् 1997
55.	सं. मुनि दुलहराज	जैनयोग	आदर्श साहित्य संघ, चूरु	सन् 2000
56.	टीका. दौलतराम	परमात्मप्रकाश	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	सन् 1988
57.	श्रीमद्. देवनन्दी	इष्टोपदेश (पूज्यपाद)	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	सन् 1986
58.	पूज्यपाद देवनन्दी	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	सन् 1955
59.	देवेन्द्रमुनि	जैन जगत् के ज्योतिधर आचार्य	श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	सन् 1985

60.	ले. देवेन्द्रसूरि	कर्मग्रन्थ-1	मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर	सन् 1974
61.	देवेन्द्रसूरिरचितवृत्तिसहित	षडशीति-प्रकाश	जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा राजनगर, अहमदाबाद	
62.	सं. भिक्षु धर्मरत्न	सूत्रनिपात (हिन्दीपालि)	महाबोधि वाराणसी	सन् 1960
63.	सं. धर्मरक्षित	धम्मपद	मास्टर खेलाडीलाल एंड सन्त, बनारस	
64.अ	सं. धर्मरक्षित	विसुद्धि-मार्ग	महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी	सन् 1957
64.ब	सं. धर्मरक्षित	मज्झिम निकाय	महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी	सन् 1964
65.	प्रस्तुति निधि-कृपा साध्वी	मृत्यु पाथेय	मैत्री चैरिटेबल फाण्डेशन, दिल्ली	सन् 2008
66.	ले. आचार्य नानेश	समीक्षण ध्यान-साधना	नानेश समता विकास ट्रस्ट चितौड़गढ़	सन् 2003
67.	सं. नैनमल सुराणा	आनंदघन-पदावली	जैन श्वेताम्बर सकल संघ, मेड़ता सिटी	
68.	नेमिचन्द्र	गोम्मटसार	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, तृतीय संस्करण	सन् 2000
69.	उ. नेमिचन्द्र	धर्मालंकार	दिलिपभाई, 5 गांधी, सूरत	सन् 1989
70.	नेमिचन्द्र	अध्यात्मसार	श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली	
71.	डॉ. नेमिचंद जैन	बातचीत : ध्यान, योग विशेषांक	हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर	सन् 1996
72.	डॉ. नेमिचंद	चयनिका	हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर	सन् 1996
73.	डॉ. नेमिचंद	पर्युषण उषः पान जीवन का	हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर	सन् 1996
74.	निर्मला माताजी	निर्मल-सुरभि	निर्मल ट्रांसफॉर्मेशन प्रा.लि., पुणे	सन् 2007
75.	सं. पं. नरेन्द्रशास्त्री	समाधिशतक (पूज्यपाद)	पद्मश्री पं. सुमतिशाह श्राविका संस्थानागार सोलापुर	सन् 1983
76.	ले. नरेन्द्रसेनाचार्य	सिद्धान्तसार-संग्रह	लालचंद हिराचंद दोशी जैन संस्कृत संरक्षक संघ, सोलापुर	वि.सं. 1972
77.	ले. आचार्य पूज्यपाद	समाधितंत्र	वीरसेवा मंदिर, दिल्ली	वि.सं. 2020
78.	सं. पद्मसेनविजय	योगदृष्टिसमुच्चय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट गुलालवाड़ी, मुम्बई	वि.सं. 2042
79.	सं. पन्नालाल जैन	आदिपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	सन् 1963
80.	अनु. पन्नालाल जैन	हरिवंशपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	सन् 1944
81.	अनु. पन्नालालजी शास्त्री	पंचास्तिकाय	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	सन् 1986
82.	अनु. पं. परमेश्वरीदास	समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)	श्रीमती सोनीदेवी पाटनी कल्याणमल राजमल पाटनी सिद्धचेतना ट्रस्ट, कलकत्ता	सन् 1998
83.	अनु. डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री	अध्यात्मसार	श्री राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद	सन् 2009
84.	ले. डॉ. प्रीतिदर्शनाश्री	उ. यशोविजयजी का अध्यात्मवाद	श्री राजेन्द्रसूरि जैन शोध संस्थान	सन् 2009



85.	संकलनकर्ता प्रार्थनासागर	मंत्र यंत्र और तंत्र	मुनि प्रार्थनासागर फाउण्डेशन	सन् 2008
86.	ले. पं. प्रभुदास	श्री जैन शासन संस्था : एक महत्त्वपूर्ण संशोधन	विनियोग परिवार, सूरत	वि.सं. 2049
87.	सं. प्रद्युम्नविजयगणि	उपाध्याय यशोविजयजी स्वाध्याय ग्रन्थ	श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई-6	सन् 1993
88.	अनु. मुनि प्रियदर्शनश्री	स्वाध्याय-सूत्र (आ. सुदर्शन)	श्री श्वेताम्बर स्थानक जैन स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा (राज.)	सन् 2003
89.	अनु. प्रवीणचंद	योगावतारद्वात्रिंशिका	गीतार्थ गंगा पालड़ी, अहमदाबाद	सन् 2008
90.	विवे. प्रवीणचंद खीमाजी	योगसार-प्रकरण	गीतार्थ गंगा पालड़ी, अहमदाबाद	वि.सं. 2534
91.	सं. फूलचंद सिद्धांताचार्य	सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद)	भारतीय ज्ञानपीठ, न्यू दिल्ली, संस्करण-7	सन् 1997
92.	विवे. फूलचंद सिद्धांताचार्य	तत्त्वार्थसूत्र	श्री गणेशवर्णी दि.जैन संस्थान, वाराणसी	सन् 1991
93.	सं. बच्छराजदुगड़	जैन-भारती	तेरापंथ भवन महावीर चौक, गंगाशहर (वर्ष-58, अंक-2)	सन् 2010
94.	ले. बुद्धघोष	विसुद्धिमग्ग	बौद्धभारती, वाराणसी	सन् 1977
95.	रचनाकार बुद्धिसागर	ध्यान-विचार	श्री अध्यात्मज्ञान प्रचारक मंडल, पादरा	सन् 1924
96.	अनु. बालचंद शास्त्री	ध्यानशतक	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली	सन् 1976
97.	अनु. बालचंद शास्त्री	ध्यानस्तव	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली	सन् 1976
98.	अनु. बालचंद शास्त्री	ज्ञानार्णव (शुभचंद्र)	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	सन् 1977
99.	रचित ब्रह्मदेव	बृहत्त्रयसंग्रह (टीका सहित)	श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, अगास	वि.सं. 2022
100.	सं. भट्टाकलंकदेव	तत्त्वार्थराजवार्तिकम्	यूनिवर्सल एजेन्सी, देरगांव आसाम	
101.	विवे. भद्रगुप्तविजय	ज्ञानसार (उ.यशोविजय)	विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा	वि.सं. 2042
102.	वि. भद्रगुप्तसूरि	शान्तसुधारस	विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा	सन् 1997
103.	अनु. भद्रबाहुविजय	प्रशमरति (उमास्वाति)	विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा	सन् 1997
104.	विवे. भानुविजयगणि	ध्यानशतक	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वि.सं. 2027
105.	वि. भानुविजयगणि	ललितविस्तरा	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वीर सं. 2525
106.	सं. आ.भरतसागर	ध्यान-सूत्राणि (माघनन्दी)	भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, लोहारिया	सन् 1994
107.	ले. डॉ. मुक्तिप्रभा	योग-प्रयोग-अयोग	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 1993
108.	ले. डॉ. मंगला	भारतीय दर्शन में योग	सहयोगी प्रकाशन भदैनी, वाराणसी	सन् 1983
109.	सं. समश्री मंगलप्रज्ञा	आर्हतीदृष्टि	आदर्श साहित्य संघ, चुरु	सन् 2003
110.	सं. मार्डन थॉट	योगवसिष्ठ	बी.एल. अत्रे, द इण्डियन बुक शॉप, बनारस	सन् 1954

111	अनु. मणिप्रभसागर	ज्ञानसार (यशोविजय)	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 1995
112	रचनाकार मणिप्रभसागर	सुधारस	कान्ति प्रकाशन, बाड़मेर, द्वितीय संस्करण	
113	संयोजक मणिप्रभसागर	पंचप्रतिक्रमणसूत्र	जैन श्वेताम्बर श्री संघ, मोकलसर	वी.सं. 2047
114	सं. मधुसूदन सोनी	ध्यान (तृ. संस्करण)	मधुसूदन सोनी गोकुल सोनीवाडो पाटण	सन् 2003
115	सं. मनीष मोदी	ध्यानशतक	हिन्दी ग्रन्थ कार्यालय, मुम्बई	सन् 2009
116	संग्रहिका मुक्तिश्री	श्री राजेन्द्र विद्याभाव स्वाध्याय	आदिनाथ जैन श्वेताम्बर संघ, चिकपेट, बैंगलोर	सन् 1992
117	सं. पं. मनोहरलाल शास्त्री	मूलाचार (वड्डकेरस्वामी)	मुनि अनंतकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, मुम्बई	सन् 1919
118	ले. डॉ. मोहनलाल महेता	जैन साहित्य का बृहत्इतिहास, भाग 2/3	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी	सन् 1966-67
119	सं. आ. महाप्रज्ञ	निर्युक्ति पंचक, खंड-3	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 1999
120	सं. आ. महाप्रज्ञ	मंत्र : एक समाधान	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 2003
121	निर्देशक आ. महाप्रज्ञ	प्रेक्षा ध्यान : सिद्धान्त और प्रयोग	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 1997
122	ले. आ. महाप्रज्ञ	संस्कृति के दो प्रवाह	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 1991
123	ले. आ. महाप्रज्ञ	प्रेक्षा ध्यान : आधार और स्वरूप	जैन विश्वभारती लाडनूं	सन् 1985
124	ले. आ. महाप्रज्ञ	महावीर की साधना का रहस्य	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु	सन् 1998
125	ले. आ. महाप्रज्ञ	तब होता है ध्यान का जन्म	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन, चुरु	सन् 1999
126	ले. आ. महाप्रज्ञ	अमूर्त-चिन्तन	जैन विश्वभारती, लाडनूं, संशोधित संस्करण	सन् 1892
127	स. पं. महेन्द्रकुमार	षड्दर्शन समुच्चय	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	सन् 1997
128	सं. पं. महेन्द्रकुमार पाटनी	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़	वी.सं. 2505
129	सं. स्वामी योगचिन्मय	ओशो बुलाते हैं फिर तुम्हे पतंजलि योगसूत्र	रेबल पब्लिशिंग हाउस, कोरेगांव, पुणे	सन् 1997
130	प्रणीत उ. यशोविजय	अध्यात्मोपनिषद्	केशरबाई ज्ञान भंडार	वि.सं. 1944
131	प्रणीत उ. यशोविजय	जैनतर्कभाषा	त्रिलोकरत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदनगर	
132	ले. यशोविजयसूरि	ध्यान अने कायोत्सर्ग	श्री कालन्द्री जैन संघ	वी.सं. 2063
33	सं. मुनि राकेशकुमार	जैन योग परम्परा	तुलसी अध्यात्म नीडम्	सन् 1982
34	ले. रजनीश (ओशो)	ध्यान-सूत्र	ताओ पब्लिशिंग कोरेगांव पार्क, पुणे	सन् 1980

135	ले. रजनीश (ओशो)	ध्यानयोग	ताओ पब्लिशिंग कोरेगांव पार्क, पुणे	सन् 1988
136	सं. राजकिशोर जैन	आत्मावलोकन	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ	वी.सं. 2523
137	ले. रणजीतसिंह कूमट	देह और मन से परे	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 2004
138	रचयिता रत्नशेखरसूरि	गुणस्थानक क्रमारोह	देवचंद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था	सन् 1916
139	सं. पं. श्रीराम शर्मा	ध्यानबिन्दुपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली	
140	सं. रामशंकर भट्टाचार्य	पातंजलयोगशास्त्र (भोजवृत्ति)	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	सन् 1969
141	ले. स्वामी रामसुखदास	गीता का ध्यानयोग	गोविन्दभवन, गोरखपुर	वि.सं. 2041
142	अनु. लालचंद हीराचंद	श्रावकाचारसंग्रह	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	सन् 1974
143	प्रकाशक डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	भगवत धर्म प्राचीन केन्द्र, राजस्थान	
144अ	ले. डॉ. विजयकुमार	जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 2003
144ब	ले.डॉ. विजया गोसाईं	ध्यान-दर्पण	सुमेरू प्रकाशन, डोंबिवली	सन् 2008
145	सं. विजयजिनेसूरिश्वर	निर्युक्ति-संग्रह	श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शांतिपुरी	सन् 1989
146	सं. विद्यानन्दी	तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार	कुन्धुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर	सन् 1984
145	अनु. विनोद जैन	ध्यानसार (यशःकीर्ति)	जैन साहित्य प्रकाशन समिति, भोपाल	सन् 2002
146	उ. विनयविजय	लोकप्रकाश	जैन प्रचारक सभा, भावनगर	सन् 1934
147	सं. महो. विनयसागर	गणधरवाद	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	सन् 1982
148	अनु. वीरपुत्र आनंदसागरजी	आगमसार	वीरपुत्र श्री आनंदसागर ज्ञान भंडार	सन् 1948
149	सं. आर्यिका विशुद्धमतिजी	समाधिदीपक (शिवसागर)	जिनराज जैन, दरियागंज, न्यूदिल्ली	सन् 1975
150	सं. विज्ञानभिक्षु	योगसारसंग्रह	थिओसोफिकल पब्लिक हाउस	सन् 1933
151	ले. शान्ता जैन	लेश्या और मनोविज्ञान	जैन विश्वभारती, लाडनू	सन् 1996
152	अनु. शोभाचंद्र भारिल्ल	प्रमाणनयतत्त्वालोक	जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी, अहमदनगर	सन् 1972
153	ले. आ. शिवमुनि	ध्यान : एक दिव्यसाधना	प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, मुम्बई	सन् 2000
154	प्रवक्ता आ. शिवमुनि	संबुद्धह किं ण बुद्धह	प्रज्ञा ध्यान एवं स्वाध्याय केन्द्र, पुणे	सन् 2002
155	रचित शिवार्थ	भगवती-आराधना	जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर	
156	ले. उ. सकलचन्द्र	ध्यानदीपिका	देवीदास हेमचंद्र बोरा, खडगपुर	सन् 1961
157	सं. सुखलालजी	योगविवेचिका	शारदाबेन चीमनभाई एज्यूकेशनल रिसर्च	

सेन्टर, शाहीबाग, अहमदाबाद

158	सं. सुखलाल सिंघवी	तत्त्वार्थसूत्र	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 6 संस्करण	सन् 2007
159	सं. डॉ. सागरमल जैन	जैन साधना पद्धति में ध्यान	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1991
160	सं. डॉ. सागरमल जैन	जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति	प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर	सन् 2008
161	सं. डॉ. सागरमल जैन	सागर जैन विद्याभारती	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 2002
162	सं. डॉ. सागरमल जैन	हरिभद्र का अवदान	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	
163	सं. डॉ. सागरमल जैन	हरिभद्रसूरि का समय-निर्णय	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1988
164	ले. डॉ. सागरमल जैन	जैन धर्म में तांत्रिक साधना	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1997
165	ले. डॉ. सागरमल जैन	गुणस्थानसिद्धांत : एक विश्लेषण	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1996
166	ले. डॉ. सागरमल जैन	अभिनंदन ग्रंथ : डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	सन् 1998
167	ले. डॉ. सागरमल जैन	जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग	प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर	सन् 1982
168	सं. साध्वी संघमित्रा	जैनधर्म के प्रभावक आचार्य	जैन विश्वभारती लाडनूं, द्वि.संस्करण	सन् 1986
169	सं. सुजुको ओहिरा	ध्यानस्तव	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	सन् 1973
170	सं. डॉ. सुदर्शनलाल जैन	द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्राचार्य)	सिद्ध सरस्वती प्रकाशन, वाराणसी	सन् 2000
171	कृत सिद्धसेनगणि	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र	हीरालाल रसिकलाल कापड़िया	
172	ले. सौभाग्यमुनि	चिन्तनामृत	श्री अम्बागुरु शोध संस्थान, उदयपुर	सन् 2004
173	सं. मुनि समदर्शीजी	योगशास्त्र	ऋषभचन्द्र जौहरी किशनलाल जैन, दिल्ली	सन् 1963
174	सोमदेवसूरि (लेखक)	यशस्तिलकचम्पू	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	
175	रचित आ. सोमदेव	योगमार्ग	सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था महावीरजी	
176	संकलनकर्त्री सुलोचनाश्री	प्रेम तेज-पुष्प स्वाध्याय स्तोत्र सरिता	मुद्रक गौतम आर्ट प्रिन्टर्स, ब्यावर	वी.सं. 2507
177	टीका स्याद्वादमती माताजी	मोक्षशास्त्र (विमल प्रश्नोत्तर) टीका	भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, वाराणसी	सन् 1998
178	अनु. स्याद्वादमती माताजी	रयणसार	भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद, वाराणसी	सन् 1998
178	ले. डॉ. हुकुमचंद भारिल्ल	ध्यान का स्वरूप	पं.टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	सन् 2009

179	सं. हेमचन्द्राचार्य	अभिधान चिन्तामणि	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	सन् 1964
180	अनु. हेमप्रभाश्री	प्रवचनसारोद्धार	प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर	सन् 2000
181	ले. हेमप्रज्ञा	कषाय : एक तुलनात्मक अध्ययन	श्री विचक्षण प्रकाशन, इन्दौर	सन् 1999
182	कृत हरिभद्रसूरि	योगबिन्दु	बुद्धिसागर सूरि ज्ञान मंदिर, बीजापुर	
183	कृत हरिभद्रसूरि	षोडशक प्रकरण	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई	सन् 1911
184	कृत हरिभद्रसूरि	ललितविस्तरा	जैन एसोसिएशन ऑफ इंडिया, अहमदाबाद	सन् 1990
185	टीका हरिभद्रसूरि	तत्त्वार्थसूत्र टीका	ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम	वि.सं. 1662
186	सं. डॉ. हीरालाल जैन	धवलाटीका (भूतबलि)	अमरावती	वि.सं. 1662
187	सं. डॉ. हीरालाल जैन	धवलाटीका (भूतबलि)	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	सन् 1993
188	सं. डॉ. हीरालाल जैन	कसायपाहुडसुत्त	श्री वीरशासन संघ, कलकत्ता	
189	सं. क्षेमराज	भागवत	कृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई	सन् 1882
190	आत्मारामजी म.सा.	दशाश्रुतस्कंध	जैनशास्त्रमाला कार्यालय लाहौर	सन् 1936
191	आर्य भद्रबाहुस्वामी	बृहदकल्पसूत्र	श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	1936
192	जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	विशेषावश्यकभाष्य	प्राकृत विद्यापीठ, वैशाली बिहार	1972
193	विज्ञान भिक्षु	सांख्यदर्शनम्	भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी	सं. 2022
194	आ. सिद्धसेन दिवाकर	सन्मति तर्क	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद	सन् 1952
195	संपा. शतावधानी जैनमुनि रत्नचंदजी म.सा.	अर्धमागधी कोष भाग 1-4	श्री श्वेताम्बर स्था. जैन कॉन्फरन्स केसरीचंद भंडारी राजवाड़ा चौक इंदौर	सं. 1923
196	संपा. महो. विनयसागर	कल्पसूत्र	देवेन्द्रराज मेहता प्राकृतभारती जयपुर	सं. 1977
197	श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वर	खवग-सेढी (सोपज्ञवृत्ति विभूषिता)	श्री भारतीय प्राच्यतत्व प्रकाशन समिति पिण्डवाड़ा, प्रथम संस्करण	वि.सं. 2022
198	श्रीमद् रत्नशेखरसूरि (स्वोपज्ञकृति)	गुणस्थान क्रमारोह	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, बम्बई	वि.सं. 2038
199	यशोविजय	द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशिका	रामचंद्रसूरि आराधना भवन, रतलाम	1981
200	पं. आशाधर	धर्मामृत (अनगर)	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी	1965
201	पं. आशाधर	धर्मामृत (सागर)	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी	1978
202	भास्कर नंदी	ध्यानस्तव	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी	1973
203	ब्रह्मलीन मुनि	पातंजल योग-दर्शनम्	चेतन प्रकाशन मंदिर, बड़ौदा	
204	चिरंतनाचार्य	पंचसूत्र	दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद	वि.सं. 2027
205	नेमिचन्द्रसूरि	प्रवचनसारोद्धार (1-2)	साराभाई नवाब (हरकोर चत्रभुज) पालीताणा	

206	आ. तुलसी	मनोनुशासनम्	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन	
207	लेखक मुनि नथमल	महावीर की साधना का रहस्य	आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन	सन् 1975
208	निरंजनजी	योगवाशिष्ठ (भाग 1-2)	तेजकुमार बुक डिपो प्रा.लि. लखनऊ	1975
209	आ. मलयगिरि	शब्दानुशासनम्	लालभाई दलपतभाई भारतीय विद्यामंदिर, अहमदाबाद	1975
210	संकलन मुनि जम्बूविजय	सूरिमंत्रकल्प समुच्चय	जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई	1977
211	वसुनंदाचार्य	श्रावकाचार	गांधी देवचंद चतुरचंद, कोल्हापुर	1907
212	डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन	भारतीय इतिहास : एक दृष्टि	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण	1966
213	संपादन डॉ सागरमल जैन	जीव समास	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1998
214	अमितगति	पंचसंग्रह (संस्कृत)	श्री माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, मुम्बई	
215	टीका सम्पादक यशोविजय	षोडशक प्रकरण (हरिभद्रसूरि)	अंधेरी गुजराती संघ	वि.सं. 2052
216	दीपरत्नसागरजी	समवायांगसूत्र टीका	आगमश्रुत प्रकाशन	सन् 2000
217	विवेचक धीरजलाल डायालाल मेहता	कर्मग्रन्थ (भाग 1-4)	जैनधर्म प्रसारण ट्रस्ट, सूरत	1965
218	रामनाथ शर्मा	सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा	केदारनाथ रामनाथ 132, कालिज रोड, मेरठ	1980
219	ओझा एवं भार्गव	शारीरिक मनोविज्ञान	हरप्रसाद भार्गव पुस्तक प्रकाशन, आगरा	1983
220	अनुवादक श्री मुनिलाल गुप्त	श्री विष्णुपुराण (सचित्र)	गोबिन्दभवन कार्यालय गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. 2057
			22 संस्करण	
221	History of Anciant India			
222	MohanJodaro and the Civilization : Part I			

